हरिभाऊ उपाध्याय

सत्साहित्य-प्रकाशन

भागवत-धर्म

—श्रीमद्भागवत के एकादश स्कंध का लोकसुलभ अनुवाद एवं टीका—

•

हरिभाऊ उपाध्याय

१९६२
सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

प्रकाशकीय

'मंडल' का बराबर प्रयत्न रहा है कि वह पाठकों को ऐसी सामग्री प्रदान करे, जो उनके जीवन को ऊपर उठाने में सहायक हो। वैसे तो 'मंडल' का सारा साहित्य ही इस भावना से प्रेरित है, लेकिन उसका आध्यात्मिक साहित्य तो इस दिशा में बहुत ही उपयोगी है।

प्रस्तुत ग्रंथ 'मंडल' द्वारा प्रकाशित आध्यात्मिक साहित्य में अपना विशेष स्थान रखता है। पुराणों में श्रीमद्भागवत की महिमा सबसे अधिक मानी गई है। यह ग्रंथ उसीके एकादश स्कंध का हिन्दी-अनुवाद है। ग्रंथ के आकार की सुविधा की दृष्टि से पूरी सामग्री इसमें नहीं दी गई। यह पूर्वार्द्ध है। उत्तरार्द्ध बाद में निकालने की योजना है।

इस ग्रंथ का महत्त्व केवल इसलिए नहीं है कि यह एक महान् ग्रंथ का रूपान्तर है, बल्कि इसलिए भी कि इसमें वह मार्ग बताया गया है, जिसपर चलकर हमारा जीवन कृतार्थ बन सकता है। हम किसी भी मान्यता अथवा विचारधारा के क्यों न हों, इस ग्रंथ के अध्ययन एवं इसके विचारों के मनन से अपने जीवन में बहुत-कुछ प्राप्त कर सकते हैं।

आज हम विज्ञान के युग में रह रहे हैं; लेकिन सभी विवेकशील व्यक्ति मानते हैं कि विज्ञान का पूरा लाभ तभी मिल सकता है, जबकि उसके साथ आध्यात्मिकता समन्वित हो।

ग्रंथ का यह द्वितीय संस्करण है। पहले संस्करण की उन पाद टिप्पणियों को, जो विषय को अधिक स्पष्ट करने के लिए दी गई थीं, इस संस्करण में अलग परिशिष्ट में दे दिया गया है।

हमें इस बात की बड़ी प्रसन्नता है कि पाठकों में आध्यात्मिक साहित्य की भूख आज भी बनी हुई है और विश्वास है कि इस ग्रंथ का सर्वत्र स्वागत होगा तथा सभी वर्गों के पाठक इससे लाभान्वित होंगे।

—मंत्री

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय
मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल,
नई दिल्ली

दूसरी बार : १९६२
मूल्य
सजिल्द : सात रुपये

मुद्रक
राष्ट्रभाषा प्रिन्टर्स
दिल्ली-६

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत्परम् ।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम् ॥ (२।९।३२)

सृष्टि से पूर्व मैं ही था, मैं केवल था, कोई क्रिया न थी । उस समय सत् अर्थात् कार्यात्मक स्थूल भाव न था, असत्—कारणात्मक सूक्ष्म भाव न था, यहांतक कि इनका कारण-भूत प्रधान भी अन्तर्मुख होकर मुझमें लीन था । सृष्टि का यह प्रपंच मैं ही हूं और प्रलय में सब पदार्थों के लीन हो जाने पर मैं ही एक-मात्र अवशिष्ट रहूंगा ।

इसी एक सत्य अद्वय तत्व को 'भगवान्', 'ब्रह्म', 'वासुदेव'[1] कहा है ।

इसी तरह उनकी प्राप्ति का एक-मात्र मार्ग भक्ति बताया गया है—

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव ।
न स्वाध्यायस्तपो त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता ॥ (भा० ११।१४।२०)

भगवान् कृष्ण उद्धव से कहते हैं—

मेरी सुदृढ़ भक्ति मुझे जिस प्रकार प्राप्त करा सकती है, उस प्रकार न तो योग, न सांख्य, न धर्म, न स्वाध्याय, न तप और न दान ही करा सकता है । भागवत में भगवान् के अनेक अवतारों की, उनकी लीलाओं तथा चरित्रों की तथा अन्य कथाओं को निमित्त बनाकर व्यास भगवान् ने इन्हीं दो बातों—अद्वैत और भक्ति—को पाठक के मन पर अंकित करने का सफल यत्न किया है ।

भागवत में काव्य एवं साहित्य के गुणों की काफी मात्रा होने के कारण यह

---

[1] वदन्ति तत् तत्त्वविदस्तत्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥ (१-२-११)
ज्ञानं विशुद्धं परमार्थमेकमनन्तरं त्वबहिर्ब्रह्म सत्यम् ।
प्रत्यक् प्रशान्तं भगवच्छब्द-संज्ञं यद् वासुदेवं कवयो वदन्ति ॥ (५।१२।११)
ज्ञानमात्रं परं ब्रह्म परमात्मेश्वरः पुमान् ।
दृश्यादिभिः पृथग्भावैर्भगवानेक ईयते ॥ (भाग० स्कन्ध ३।३२।२६)
(उपनिषदों में परब्रह्म, योग में परमात्मा, ईश्वर, सांख्य में पुरुष, भक्ति-शास्त्र में भगवान् कहा जाता है ।)

ज्ञान, विज्ञान, शास्त्र, इतिहास, कवित्व और कल्पना से मिश्रित बहुत रोचक ग्रंथ बन गया है।

इसकी रचना-शैली पौराणिक है। आधुनिक ऐतिहासिक एवं आलोचनात्मक दृष्टि से ही देखेंगे तो शायद पूरा संतोष किसीको भी न हो सके। यह भक्ति-प्रधान ग्रंथ है, अतः इसे एक भक्त की दृष्टि से ही देखना और उससे लाभ उठाना चाहिए। हां, इनमें ऐसी सामग्री जरूर है, जिससे इतिहास, काव्य, कथा, दर्शन, सबके प्रेमियों को थोड़ा-थोड़ा लाभ मिल सकता है।

मैंने इसे भक्त की भावना के साथ-ही-साथ एक सुधारक की दृष्टि से भी पढ़ा है। पुराणों की रचना जिस काल के लिए की गई थी वह अब नहीं रहा। वह पद्धति अब पढ़े-लिखे लोगों को उतनी युक्ति-युक्त और हृदयंगम नहीं मालूम होती, जितनी आधुनिक विवेचन-पद्धति मालूम होती है। अतः मैंने अपने विवेचन में आधुनिक बुद्धिगम्य शैली का ही अवलम्बन किया है। फिर यह विवरण केवल ११वें स्कन्ध का है। जहांतक ज्ञान-विज्ञान, धर्म, नीति, भक्ति-निष्ठा एवं आचार से सम्बन्ध है, इसे सारी भागवत का उपसंहारात्मक स्कंध कह सकते हैं। कथाओं को, वंशावलियों को तथा इतर उपाख्यानों को छोड़ दें तो सारी भागवत का ही नहीं, सारे आर्य शास्त्रों का निचोड़ इस एक ही स्कंध में आ जाता है और इसीलिए मैंने अपने विवरण के लिए इसीको चुना है। भागवत का, विशेषकर उसके ज्ञान-विज्ञान आदि का लाभ आधुनिक समाज किस प्रकार उठा सकता है, इस बात को ध्यान में रखकर मैंने यह विवेचन किया है। मैं यह नहीं कहता कि भागवतकार के कथन को मैंने ज्यों-का-त्यों रखने या विशद करने का प्रयत्न किया है, पर यह मैं निःशंक रूप से कह सकता हूं कि भागवतकार ने जिन दो स्तंभों—अद्वैत और भक्ति पर अपनी विशाल इमारत खड़ी की है, उन्हींपर मैंने भी अपने इस विवेचन का आधार रक्खा है। उनके मर्म की, हार्द की, मैंने हर तरह रक्षा ही नहीं की है, बल्कि आधुनिक समाज और जगत् को उपयोगी होने-योग्य भाषा तथा शैली में रखकर उसको अधिक लोकप्रिय बनाने का यत्न किया है। आधुनिक जगत् की समस्याओं का विचार करते हुए मैं स्वतंत्र रूप से इस नतीजे पर पहुंचा कि समाज की रचना की यदि कोई न्याययुक्त, सुख-शान्तिप्रद, स्वस्थ, स्वातन्त्र्य रक्षक, विकासशील,

सजीव पद्धति हो सकती है तो वह अद्वैत-सिद्धान्त पर ही कायम की जा सकती है, और यदि कोई वृत्ति मनुष्य एवं समाज को अपने लक्ष्य तक पहुंचा सकती है, सुख, आनन्द, शांति प्रदान कर सकती है तो वह भक्ति-वृत्ति ही है, भले ही उस अद्वैत-सिद्धान्त को आप सामाजिक भाषा में समता का सिद्धान्त कहें और भक्ति-वृत्ति को लगन, एकनिष्ठता, तन्मयता, प्रेमपरिपूर्णता कहें। मुझे इन दो तत्त्वों का साक्षात्कार जितना भागवत में हुआ उतना किसी ग्रंथ में नहीं हुआ और यह बात मेरे हृदय में अच्छी तरह अंकित हो गई कि क्यों श्री वल्लभाचार्य ने इसे व्यास भगवान् की 'समाधि-भाषा' कहा है। मनुष्य और समाज की सर्वोच्च अभिलाषाओं की पूर्ति के लिए इन दो से बढ़कर कोई उत्तम साधन नहीं हो सकता। मेरा यह मन्तव्य या आशय इस पुस्तक में पाठकों को तरह-तरह से विशद होता हुआ दिखाई देगा।

जगत् में दो विचार के लोग थे, हैं और रहेंगे। एक आस्तिक—ईश्वरवादी, दूसरे नास्तिक—अनीश्वरवादी। समाज से हम एक दल का बहिष्कार करके केवल दूसरे का ही विचार नहीं कर सकते। दोनों की व्यवस्था, उन्नति, सुख का विचार हमें करना होगा तभी वह समाज-व्यवस्था सम्पूर्ण और उपयोगी हो सकेगी। इसी आवश्यकता को ध्यान में रखकर मैंने इसमें इन दोनों सिद्धान्तों का विवेचन इस तरह से किया है कि दोनों वर्गों को लाभ पहुंचे। आस्तिकों के लिए आध्यात्मिक और धार्मिक भाषा, नास्तिकों के लिए सामाजिक और लौकिक भाषा का प्रयोग किया है। इन दोनों भाषाओं का कलेवर भले ही पृथक् हो, मेरे निकट इनकी आत्मा में कोई अन्तर नहीं है। दोनों को जोड़नेवाली कड़ी मुझे स्पष्ट दीखती है, अतः दो भाषा बोलकर भी मैंने एक ही आशय को प्रकट किया है। यदि इसके द्वारा मेरे बुद्धिवादी, अनीश्वरवादी, आलोचक-बुद्धि पाठक उस मूल स्रोत तक पहुंच पावें तो मुझे बहुत सन्तोष होगा। साथ ही यदि भावुक, भक्त, धार्मिक वृत्ति के पुरुष आधुनिक जगत् की समस्याओं के महत्त्व एवं हल को इसके द्वारा समझ व ग्रहण कर सकें तो मेरा श्रम बहुत-कुछ सफल हो जायगा।

प्राचीन हिन्दू-समाज वर्णाश्रम-व्यवस्था या चातुर्वर्ण्य पर खड़ा था। वह अब तितर-बितर हो गया, हो रहा है, और शायद उसी रूप में अब न उठ सके। पर जिन तत्त्वों पर वह खड़ा था, वे अब भी उपयोगी हैं और रहेंगे। उन्हींके सहारे

नवीन समाज की रचना बड़े मजे में की जा सकती है, यह मेरा विश्वास है और उसीको इसमें समझाने का यत्न किया गया है। समाज-रचना के जो अन्यान्य तत्त्व और योजनाएं पेश की जा रही हैं, उनकी तुलना, छानबीन करके मैंने अपना विचार स्थिर तथा पुष्ट करने का यत्न किया है।

प्राचीन समय में अनेक कारणों से 'संन्यास' आश्रम रूढ़ किया गया था। उसका मूलभूत सिद्धान्त तो आज भी मुझे सही और उपयोगी मालूम होता है, परन्तु इससे कर्म-योग एवं कर्म-संन्यास का एक विवाद उठ खड़ा हुआ था, जो कि अब दब गया है और प्रायः सभी लोग कर्म-योग की महत्ता को एकस्वर से स्वीकार करते हैं। कर्म-योग की अनिवार्यता, उपयोगिता और व्यावहारिकता को ध्यान में रखकर तो मैंने भक्त के जीवन को कर्म-प्रधान माना और समझा है, तथा वैसा ही पाठकों के सामने उपस्थित करने का प्रयत्न किया है।

मनुष्य के सामने व्यक्तिगत प्रश्न है उसकी सुख-समृद्धि या शान्ति-सन्तोष-समाधान का एवं सामाजिक प्रश्न है समाज की सुव्यवस्था का। ये दोनों इस तरह हल होने चाहिए, जिससे इनमें विरोध न हो और ये परस्पर सहायक-पूरक हो सकें। व्यक्ति और समाज में, आखिर व्यक्ति को ही प्रधानता देनी पड़ेगी; क्योंकि समाज आखिर व्यक्तियों के ही लिए तो है। हमारी प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था का लक्ष्य व्यक्ति का चरम उत्कर्ष ही हो सकता है। इसलिए हमारे प्राचीन धर्म-ग्रन्थों और शास्त्रों में जीवन की व्यक्तिगत साधना पर बहुत जोर दिया गया है और सामाजिक व्यवस्थाओं को अपेक्षाकृत गौण स्थान मिला है। वर्णाश्रम-व्यवस्था में दोनों के हित का ध्यान रखा गया है व उनका सामंजस्य किया गया है। आश्रम—व्यक्तिगत जीवन को बनाने के लिए, वर्ण—सामाजिक संगठन एवं सुव्यवस्था के लिए। इस ग्रन्थ में मैंने इस बात को भी अपनी निगाह से ओझल नहीं होने दिया है।

बचपन में मैं 'भागवत-सप्ताह' में पौराणिकों के मुंह से भागवत की कथाएं सुना करता था। वे रोचक मालूम होती थीं। जब अपने गांव से उड़कर काशी पढ़ने के लिए पहुंचा तो 'आर्य-समाज' एवं 'सनातन-धर्म' के शास्त्रार्थों का युग था। सनातन-धर्मियों में भी बुद्धिवादी विचारक पैदा हो गये थे और वे पौराणिक कथाओं और कृष्ण की लीलाओं की आलोचना-विवेचना करने लगे थे। बंकिम बाबू का

'कृष्ण-चरित', वैद्य का 'महाभारत-मीमांसा' और 'कृष्ण तथा राम-चरित' आदि पढ़ने को मिले। इस समय भागवत के बारे में, उसके समग्र बिना पढ़े ही, ऐसा खयाल बन गया कि यह कृष्ण की अश्लीलता हद तक पहुंचनेवाली लीलाओं से भरी पुस्तक है। इसलिए कभी पढ़ने की रुचि नहीं हुई। किन्तु सन् ४२ की जेल-यात्रा में सारी भागवत दो बार पढ़ने का अवसर आ गया। महाराष्ट्र के प्रसिद्ध सन्त एकनाथ ने इसी ग्यारहवें स्कन्ध पर विस्तृत भाष्य 'ओवी' नामक छन्द में लिखा है। वह बहुत सरस, सुबोध, विवरणात्मक एवं हृदयग्राही है। उसका नाम ही 'एकनाथी भागवत' पड़ गया है। एकनाथ और तुकाराम के प्रति मेरी श्रद्धा-भक्ति बचपन से हो चली थी। जब कुछ घटनाओं व व्यक्तियों के कारण मेरे 'छुई मुई' हृदय को आघात पचहुंचता और मैं विकल हो उठता तो मेरे पू० स्व० चाचा मुझे एकनाथ और तुकाराम की शान्ति, सहन-शीलता एवं क्षमा-वृत्ति का उदाहरण देकर शान्त किया करते। ये दोनों शान्ति के मानो अवतार ही थे। मेरे जीवन पर इनके आदर्श एवं उदाहरण का गहरा असर पड़ा है और पड़ रहा है। एक रोज एकनाथ महाराज नदी से स्नान करके घर लौट रहे थे तो एक मुसलमान ने शरारत से उनपर थूक दिया। वे फिर शान्तिपूर्वक स्नान करने चले गए। लौटती बार फिर उसने थूका। इस तरह ग्यारह बार थूक चुकने पर भी वह बिना क्षुब्ध हुए स्नान करके लौटे। जब आखिरी बार शायद थककर उसने नहीं थूका तो एकनाथ ने स्नेहपूर्वक उससे पूछा, "भैया, अबकी बार तुमने मुझे गंगा-स्नान का अवसर क्यों नहीं दिया ? मेरा कौन-सा कसूर हो गया ?" वह मुसलमान तो उनके चरणों पर गिर पड़ा, मेरे भी हृदय में एकनाथ सदा के लिए बस गये।

तुकाराम की पत्नी बड़ी कर्कशा थी। उनके बनाये अभंगों—पद्यों—को वह चिढ़कर चूल्हे में जला दिया करती। तुकाराम बड़ी शान्ति से इन उपद्रवों को सहकर फिर अपने भजन-भाव में लग जाते। एक बार उनकी भैंस किसीकी बाड़ तोड़कर खेत में घुस गई। वह व्यक्ति तुकाराम से बहुत चिढ़ता और जलता था। तुकाराम भैंस खोजने उसकी तरफ पहुंचे तो उसने बाड़ की कांटेदार झाड़ियां उखाड़कर उन्हें इतना पीटा कि लहूलुहान कर दिया। शाम को तुकाराम ने अपनी कथा में उस व्यक्ति को गैर-हाजिर देखा तो दौड़े उसके घर पहुंचे और बोले कि

भाई अपराध तो मेरी भैंस ने किया, तुमने भी उसको दण्ड दे लिया, अब कथा में क्यों नहीं आते ? भगवान् से किस बात का वैर है ? मेरा और कौन-सा कसूर बाकी रह गया, जिसकी यह सजा दे रहे हो ?

जेल में अवसर मिला तो एकनाथ-चरित और तुकाराम-चरित ही नहीं, एकनाथी भागवत एवं तुकाराम-गाथा भी चाव और भक्तिभाव से पढ़ी। भागवत पढ़कर यह प्रेरणा हुई कि हिन्दी में ११वें स्कन्ध का एक विस्तृत अनुवाद तैयार किया जाय। उसके बाद ही डा० भगवानदासजी-लिखित 'पुरुषार्थ' नामक पुस्तक 'सस्ता साहित्य मंडल' से मिली। उसमें उन्होंने भागवत के पद्यानुवाद की प्रेरणा की है। मुझे याद पड़ता है कि अपने 'औदुम्बर' में (१९१२-१३ में) मैंने डाक्टर साहब के भागवतानुवाद (पद्य) का कुछ अंश प्रकाशित किया था। इन सब प्रसंगों से भागवत की ओर रुचि तथा श्रद्धा और बढ़ गई। आलोचक दृष्टि से भी कुछ स्थलों को छोड़ दें तो कहना होगा कि सारा ग्रंथ एक अनुपम रत्न है, और एकादश स्कन्ध तो उसका मुकुटमणि या सार-सर्वस्व है। 7803

यह ११वां स्कन्ध श्रीकृष्ण एवं उनके भक्त उद्धव के संवाद के रूप में लिखा गया है, जैसा कि भगवद्गीता श्रीकृष्ण और अर्जुन के सम्भाषण-रूप में है। इसलिए उसे उद्धव-गीता कहते हैं।

भागवत के सम्बन्ध में गांधीजी अपनी 'आत्मकथा' पृ० ४९[1] में लिखते हैं—"आज मैं देखता हूं कि भागवत ऐसा ग्रंथ है कि जिसे पढ़कर धर्म-रस उत्पन्न किया जा सकता है। मैंने तो उसे गुजराती में बड़े रस के साथ पढ़ा है। पर मेरे इक्कीस दिनों के उपवास में जब भारतभूषण पण्डित मदनमोहन मालवीयजी के श्रीमुख से मूल संस्कृत के कितने ही अंश सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ तब मुझे मालूम हुआ कि बचपन में उन जैसे भगवद्भक्त के मुंह से भागवत सुना होता तो उसपर भी मेरी गाढ़ प्रीति बचपन में ही जम जाती।"

अपनेको भगवान् के समर्पण कर देने का मार्ग—भक्ति-मार्ग—श्रीकृष्ण ने गीता में दिखलाया है। पौराणिकों के अनुसार तो वह बहुत प्राचीन मार्ग है और नारद इसके प्रणेता या प्रवर्तक हैं। उनके भक्ति-सूत्र प्रसिद्ध हैं। किन्तु गीता और

[1] यह पृष्ठ 'मंडल' से प्रकाशित संपूर्ण आत्मकथा का है।

भागवत के एकादश स्कन्ध दोनों के उपदेशक श्रीकृष्ण ही हैं। यदि ऐतिहासिक दृष्टि से महाभारत एवं भागवत दोनों के रचयिता एक ही व्यास हों तो गीता में जहां श्रीकृष्ण ने आत्म-समर्पण-योग का संकेत करके छोड़ दिया है, वहां भागवत में उन्होंने उसपर काफी ज़ोर दिया है और नाम-संकीर्तन-नामक आगे का सूत्र भी जोड़ दिया है। अतएव भागवत कोरा भक्ति-मार्गपरक नहीं, बल्कि उसमें भी नाम-जप या संकीर्तन की ओर विशेष ध्यान दिलाया है, क्योंकि भागवतकार की राय में भक्ति के अन्यान्य साधनों की अपेक्षा नाम-जप या संकीर्तन बहुत ही सरल साधन है। इसके तत्त्व के विवेचन और उपयोगिता पर भी भागवत-धर्म में प्रकाश डाला गया है।

अद्वैत-सिद्धान्त के दो पहलू हैं—व्यक्तिगत, सामाजिक अथवा व्यष्टिगत और समष्टिगत। व्यक्तिगत रूप में वह व्यक्ति को सबसे ऊंचा उठा देता है, सबसे बड़ा बना देता है, इसके आगे उसके आदर्श की कक्षा खतम हो जाती है। सामाजिक दृष्टि में वह व्यक्ति को समाज रूप ही बना देता है। वह कहता है कि सब-कुछ आत्मा ही है और सबमें एक ही आत्मा है।

सब-कुछ आत्मा ही है—यह तो परम सत्य बताया। तब सवाल होता है कि जगत् में तो भिन्न-भिन्न वस्तुएं दीखती हैं यह सब-कुछ एक ही—आत्मा ही—कैसे है? तो कहते हैं कि सबके भीतर एक ही आत्मा पिरोई हुई है। व्यक्ति जब सोचने या मानने लगता है कि सब-कुछ मैं हूं—आत्मा है—तो उसकी उड़ान की हद नहीं रहती—यह परमसत्य उसका अन्तिम आदर्श हो गया। अपने लिए यह सत्य ही उसका परम आलम्बन हुआ। अब वह संसार के नाना-रूप पदार्थों को देखता है और उसके अन्दर भी उसे अपने ही दर्शन होते हैं तो उनमें उसका साम्य-भाव दृढ़ हो जाता है। यह समभाव ही जगत् के प्रति उसके देखने की दृष्टि, वृत्ति या भावना हुई। इससे उसके और जगत् के वैषम्य या भेद में सामंजस्य और अभेद-सम्बन्ध हो जाता है। इस समभाव को इस्लाम में बन्धु-भाव कहा गया है। ईसा के दया-भाव में भी यही समता का भाव काम करता हुआ दिखाई देता है। आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीयवाद या विश्वबन्धुत्व भी इसीका दूसरा नाम है। साम्य-वादी जिस वर्गहीन समाज की कल्पना करते हैं, वह इस 'सम-भाव' का ही एक अंग है। गांधीजी की अहिंसा भी इसीका दूसरा नाम है, या इसीकी प्रेरणा का फल

है। उनके रामराज्य की बुनियाद यही है। भले ही इनमें से कुछ लोग इस आध्यात्मिक तत्त्व या सत्य को स्वीकार न करते हों, परन्तु इसमें कोई शक नहीं कि इस अध्यात्म-दर्शन, समभाव या सर्वात्मभाव में इन सबका समावेश बड़े मजे में हो जाता है, ये सब उसीके बच्चे मालूम होते हैं। व्यक्तियों, देशों, जातियों, समूहों एवं समाजों में परस्पर समता-भाव रहे, समता की नींव पर ही इनके पारस्परिक सम्बन्धों की निश्चिति और स्थिरता रहे, इस भावना, नीति या सिद्धान्त की उपपत्ति 'सर्वात्मभाव' से जितनी अच्छी तरह युक्तिसंगत एवं बुद्धिगम्य रूप से हो सकती है, या संगत लग सकती है, उतनी किसी दूसरी नीति या सिद्धान्त से नहीं। इसका भी विवेचन इस पुस्तक में स्थान-स्थान पर मिलेगा।

यह मान लेने पर भी कि समभाव या आत्मभाव हमारे पारस्परिक सम्बन्ध को तय करने, व समाज-व्यवस्था को कायम करने के लिए उचित व अच्छा सिद्धान्त है, यह प्रश्न बाकी ही रहता है कि उस व्यवस्था का ढांचा कैसा हो ? सारी दुनिया के लिए एक ही ढांचा हो या अलग-अलग ? अलग-अलग हो तो उसका आधार क्या रहे ? संस्कृति, आर्थिक परिस्थिति, भौगोलिक स्थिति या धर्म-संस्था ? इसका जवाब भी इस पुस्तक में यथा-प्रसंग पाठकों को मिलेगा।

जैसा कि मैंने ऊपर कहा है, भागवत में ज्ञान, इतिहास, काव्य और कल्पना सबका मिश्रण है। सर्वजनसुलभ और लोकोपयोगी बनाने की दृष्टि से ही भागवतकार ने अन्य पुराणों के जैसा रूप इसे दिया है। अब आधुनिक जन-समाज को यदि इससे पूरा लाभ पहुंचाना हो तो उसके ज्ञान की नये सिरे से छान-बीन करनी होगी, इतिहास को कल्पना से अलग छांटना होगा, और काव्य को उसके स्थान पर बिठाना होगा। और इन सब चीजों को आधुनिक जगत् के चौखटे में बिठाना होगा, और वैसी ही भाषा बोलनी होगी जैसी कि आजकल की दुनिया समझ सके। चूंकि मेरा विषय इस समय सारी भागवत नहीं है, सिर्फ ११वां स्कन्ध है, मेरी खोज या छानबीन इस सीमा से आगे नहीं जायगी। फिर मैंने यह अनुवाद इतिहास या काव्य-साहित्य की दृष्टि से नहीं बल्कि व्यक्ति एवं समाज की उन्नति—श्री किशोरलालभाई की भाषा में धारण, पोषण और सत्व-संशुद्धि—की दृष्टि से किया है, अतः तत्पोषक विवेचन ही इसमें अधिक दिखाई देगा।

मुझसे यदि पूछा जाय कि मनुष्य-जीवन की कृतार्थता किसमें है, तो मैं कहूंगा कि अद्वैत-सिद्धि में है। और पूछा जाय कि उसका श्रेष्ठ उपाय क्या है तो मैं निसंकोच कहूंगा कि भक्ति-भाव से अपनी उद्देश्य-सिद्धि में लगना और तदनुकूल कार्य करना। कार्य या कर्म तो मनुष्य सदा करता ही रहता है और रहेगा भी। मुख्य प्रश्न यही है कि वह किस भाव से और किसलिए कर्म करे। यदि कर्म अच्छा भी हो, पर भाव या उद्देश्य बुरा हो तो अमृतमय कर्म भी विष-रूप हो जायगा; किन्तु यदि उद्देश्य अच्छा और भावना पवित्र—वृत्ति शुद्ध हो और दैववशात् बुरा भी कर्म हो गया तो वह अवश्य बहुत जल्दी शुभ में परिवर्तित हो सकेगा और हो जायगा। **'नहि कल्याणकृत कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति'** उसका दुष्परिणाम थोड़ा होगा और उसे हँसते हुए सहने का बल कर्त्ता को मिल जायगा।

यों तो कार्य-सिद्धि के लिए उद्देश्य की पवित्रता, उच्चता, भावना की निर्मलता और प्रबलता तथा कर्म की निर्दोषता एवं कुशलता तीनों की त्रिपुटी अपेक्षित है, परन्तु पहली दो बातें यदि सिद्ध हों तो तीसरी को अपने-आप उनके अनुरूप बनना ही पड़ता है। अतः यदि इसमें ज्ञान एवं भक्ति का ही अधिक विवेचन मिले तो उससे असंतुष्ट होने की जरूरत नहीं है। भागवत में तो ज्ञान से भी भक्ति की महिमा और विस्तार अधिक बताया है। भागवत-माहात्म्य में भक्ति की श्रेष्ठता—ज्ञान और वैराग्य से, यहांतक कि मुक्ति से भी—बड़े सुन्दर एवं रोचक रूपक के द्वारा दिखाई गई है।

१९४२ की जेल-यात्रा में इसके २३ अध्याय लिखे गए। उनमें से १८ अध्यायों का यह पूर्वार्द्ध प्रकाशित हो रहा है। यदि यह पाठकों को उपयोगी मालूम हुआ तो उत्तरार्द्ध भी छापने का प्रबन्ध किया जायगा। यद्यपि इसका मूल आशय प्रस्तुत करने की तो जिम्मेदारी मेरी ही है—जैसा मैंने समझा वैसा पाठकों के सामने पेश किया है; परन्तु इसको पल्लवित करने और सजाने के लिए मुझे कई ग्रन्थ पढ़ने पड़े हैं। पिछले जेल-जीवन में जो कुछ पढ़ पाया, उसका पूरा-पूरा लाभ मैंने इसकी रचना में उठाया है। अब तो उन सब ग्रन्थों और उनके रचयिताओं के पूरे नाम-धाम भी याद नहीं रहे। उन सबके प्रति मैं अपनी कृतज्ञता प्रकाशित करता हूं।

गांधी-आश्रम, हटूंडी (अजमेर) **—हरिभाऊ उपाध्याय**

कार्तिक पूर्णिमा, २००७ वि०

विषय-सूची

ॐ

मंगलाचरण

दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्र मूर्तये ।
स्वानुभूत्यैकसाराय नमः शान्ताय ब्रह्मणे ।।

देश[1] और काल[2] से अमर्यादित, अनन्त, चिन्मात्र[3] जिसका स्वरूप है, जो अपने अनुभव के सार-रूप में प्राप्त होता है, उस शान्त ब्रह्म[4] को नमस्कार है ।

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो ।
बौद्धाः बुद्ध इति प्रमाण-पटवः कर्त्तेति नैयायिकाः ।।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरता कर्मेति मीमांसकाः ।
सोऽयं वो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः ।।

शैव[5] लोग जिसको 'शिव' के नाम से, वेदान्ती 'ब्रह्म' के नाम से, बौद्ध लोग

[1] **देश**—चिद् अणु का भास जिसमें हो, वह देश है या सारा ब्रह्माण्ड जिसमें व्याप्त है, उसे देश कहते हैं । स्थूल रूप से उसे आकाश कह सकते हैं ।

[2] **काल**—जिस समय में चिद् अणु का भास हो, वह काल है । देश में जब एक स्थान से पदार्थ दूसरे स्थान में गति करते हैं तो उसमें जितनी देर लगती है, उसे काल कहते हैं । आयु की सीमा को भी काल कहते हैं । ईश्वर की संहारक शक्ति भी काल कहलाती है ।

[3] **चिन्मात्र**—चित् का अर्थ क्रिया व ज्ञान है । चिन्मात्र=जो क्रिया व ज्ञान-स्वरूप है ।

[4] **ब्रह्म**—इसका अर्थ है फैलने या व्यापक होनेवाला । जो सबमें व्यापक है, वह ब्रह्म है । 'बृहत्वाद् बृंहणत्वाच्च तद्ब्रह्मेत्यभिधीयते ।' (विष्णुपुराण) 'बृहति बृंहयति-इति तत्परं ब्रह्म ।' (रहस्याम्नाय ब्राह्मण)

[5] **शैव**—शिव के उपासक शैव कहलाते हैं । इनका सिद्धान्त है कि अपर-ज्ञान-रूप वेद केवल मुक्ति का—ऐहिक सुख-भोग का—साधन है; परन्तु पर-ज्ञान-रूप शिव-शास्त्र मुक्ति का एकमात्र उपाय है ।

'बुद्ध' के नाम से, प्रमाण-पटु नैयायिक 'कर्त्ता' के नाम से, जैन-सम्प्रदाय के लोग 'अर्हत्'[1] के नाम से तथा मीमांसक 'कर्म' के नाम से उपासना करते हैं, वह तीनों लोकों का नाथ हरि हमें इच्छित फल दे।

नमोस्त्वनंताय सहस्रमूर्तये सहस्रपादाक्षशिरोरुबाहवे।
सहस्रनाम्ने पुरुषाय शाश्वते सहस्रकोटीयुगधारिणे नमः॥

जो अनन्त है, जिसकी (जड़-चेतन नाम-रूपात्मक) हजारों मूर्तियां हैं, जिसके हजारों पांव, आंखें, सिर, हाथ और नाक हैं, जो करोड़ों युगों को धारण करने-वाला है, उस शाश्वत पुरुष[2] को मेरा नमस्कार है।

नमो ब्रह्मण्य देवाय गोब्राह्मण[3] हिताय च।
जगद्धिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमो नमः॥

●

---

[1] **अर्हत्**––जैन-धर्म में सर्वज्ञ, राग-द्वेष के विजयी, त्रैलोक्य-पूजित, यथास्थितार्थ-वादी तथा सामर्थ्यवान् सिद्ध पुरुषों को 'अर्हत्' कहते हैं।

[2] **पुरुष**––परमात्मा, विराट् रूप ईश्वर।

[3] **गो-ब्राह्मण**––'गो' का साधारण अर्थ गाय है, परन्तु यहां सारे घरेलू पशुओं––ऐसा व्यापक अर्थ लेना चाहिए।
'ब्राह्मण' में समस्त सज्जनों व सत्पुरुषों का समावेश हो जाता है।

भावगत-धर्म

: १ :

श्रीकृष्ण—अन्तिम कसौटी पर

[महापुरुष संसार में बुराइयों को मिटाने व भलाई को फैलाने के लिए आते हैं। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे जरूरत होने पर खद अपने आत्मीयों का भी त्याग करने में नहीं हिचकिचाते। अपने उद्देश्य के प्रति एकाग्रता व अपने-पराये के भेद से परे रहने की उनकी वृत्ति की यही कसौटी है। श्रीरामचन्द्र का सीता-परित्याग प्रसिद्ध ही है। श्रीकृष्ण भी इस कसौटी पर अपनेको खरा उतारते हैं।]

श्री शुकदेवजी परीक्षित से बोले—"हे राजन् ! बलरामजी के सहित तथा यादवों से घिरे हुए श्रीकृष्णचन्द्र ने दैत्यों को मारकर और (कौरव-पाण्डवों में) घोर युद्ध (महाभारत) कराकर पृथ्वी का भार उतार दिया था ॥१॥"

यह प्रसिद्ध है कि अधर्म के उच्छेद व धर्म की स्थापना तथा सज्जनों की रक्षा व दुर्जनों को दण्ड देने के लिए श्रीकृष्ण का अवतार हुआ था। उन्होंने खुद बलरामजी से कहा था—"एतर्थ हि नो जन्म साधूनामीश शर्मकृत्" (भा० स्कं० १० अ० ५ श्लो० १४[1]) भागवत, गीता, आदि ग्रन्थों में इसके प्रमाण भरे पड़े हैं। धार्मिक

---

[1] "ये व्रजवासी मेरे शरणागत हैं। ये मुझे ही अपना एकमात्र आश्रय व रक्षक समझते हैं। अतः मैं अपने योग-सामर्थ्य से उनकी रक्षा करूंगा। यही मेरा व्रत है।"

इन्द्र—"धर्म की रक्षा और दुष्टों का दमन करने के लिए आप दण्ड धारण करते हैं।"

"जो असुर केवल अपना ही भरण-पोषण करनेवाले और पृथ्वी पर महान्

पुरुष यह मानते हैं कि सर्वशक्तिमान् भगवान् समय-समय पर पृथ्वी का भार उतारने के लिए जन्म लेते हैं। वे अपने सच्चिदानन्द-रूप परम ऐश्वर्य में उतरकर मनुज या दूसरे जीव रूप में आते हैं। इसलिए उसे अवतार कहते हैं। जो बुद्धि-वादी हैं या आध्यात्मिक तत्त्वों पर विश्वास नहीं करते, वे ऐसे विभूतिमान् पुरुषों को 'महापुरुष' के नाम से सम्बोधन करते हैं। उनका मत है कि ऐसे पुरुषों को बाद के लोग, खासकर वे जो शास्त्रों व पुराणों में विश्वास करते हैं, या जो भावुक हैं 'अवतार' मानने लगते हैं। यदि यह बात सच है कि ईश्वर घट-घट में व्याप्त है—घट-घट में वह राम रमैया—तो संसार का प्रत्येक पदार्थ, जिसका कोई-न-कोई नाम या रूप (आकार, शकल) है, उस ईश्वर का ही अंश या रूप है, यह माने बिना गति नहीं है। तो फिर सभीको, भूत-मात्र को, प्रत्येक जड़-चेतन पदार्थ को अवतार क्यों नहीं कहते? इस अर्थ में सब अवतार ही हैं; परन्तु जिसमें भगवान् के छः गुण—ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, कीर्ति, शक्ति और तेज सब या कुछ विशेष रूप से प्रकट होते हैं, उसीको आमतौर पर अवतार कहते हैं।

इस परम्परा के अनुसार श्रीकृष्ण ने अनेक दैत्यों[1] को मारा, कौरव-पाण्डव

भार की उत्पत्ति के कारण हैं, उनका नाश करने के लिए तथा अपने चरण-चिह्नों का अनुवर्तन करनेवाले भक्त जनों की रक्षा के लिए ही आपका यह अवतार हुआ है।"

सुरभि—"हम सब ब्रह्माजी की प्रेरणा से आपको अपना इन्द्र मानकर अभिषेक करेंगी। हे विश्वात्मन्, आपने पृथ्वी का भार उतारने के लिए ही भूमण्डल में अवतार लिया है।"

"वास्तव में तो भगवान् अव्यय, अप्रमेय, निर्गुण और गुणों के अधिष्ठान हैं; मनुष्यों के कल्याण के लिए ही उनका सगुण रूप से अवतार होता है।"

परीक्षित—"भगवन्, जगत्पति भगवान् कृष्ण ने धर्म की स्थापना और अधर्म के उच्छेद के लिए ही अपने पूर्ण अंश से अवतार लिया था।"

—भागवत।

"परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म-संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥ (गीता)

[1] दित के पुत्र, आसुरी सम्पत्ति से युक्त, अत्याचारी व दुराचारी लोग;

दोनों भाई-बन्धुओं में महाभारत का युद्ध कराया, जिसमें अत्याचारी कौरवों की हार हुई। अब वे अपने शेष कर्तव्य का विचार करने लगे।

"इसके लिए श्रीकृष्ण ने पाण्डवों को निमित्त बनाया था, जो कि कपट-द्यूत, अपमान और द्रौपदी के केश खींचने आदि के कारण अपने शत्रुओं (कौरवों) द्वारा अत्यन्त कुपित कर दिये गए थे। उनकी सहायता से दोनों ओर से युद्ध में आये हुए राजाओं को मारकर भगवान् ने पृथ्वी का भार हर लिया।" ॥२॥

श्रीकृष्ण को पृथ्वी का भार हरना मंजूर था। लेकिन भगवान् हों या महापुरुष, सदा दूसरों को निमित्त बनाकर उनकी सहायता से, उनके द्वारा अपना कार्य किया या कराया करते हैं। भगवान् समाज की जो कुछ भलाई या सुधार करना चाहते हैं, वह मनुष्यों के द्वारा ही होता है। वृष्टि की तरह या सूर्य के तेज की तरह वह आसमान से नहीं बरस पड़ता। उसकी इन प्राकृतिक शक्तियों से हमें नाना प्रकार के बल, प्रेरणा अवश्य मिलती हैं, परन्तु प्रत्यक्ष कार्य तो मनुष्य या जीव अर्थात् चेतन व्यक्ति के द्वारा ही होता है। श्रीकृष्ण को अपने जीवन-कार्य की सिद्धि के लिए पाण्डव अच्छे साधन मिल गये। महाभारत के द्वारा न केवल अत्याचारियों का विनाश हुआ, बल्कि कृष्णार्जुन-संवाद के रूप में भगवद्गीता जैसा अनमोल ग्रन्थ-रत्न भी संसार को प्राप्त हुआ।

जब हम कोई काम करना चाहते हैं तो पहले उसका संकल्प मन में उठता है, फिर बुद्धि उसकी अनुचितता-उचितता का निर्णय करके कार्य-योजना सुझाती है व अनुकूल साधन जुटाने तथा प्रतिकूलताओं को मिटाने की प्रेरणा करती है। जो कार्य-सिद्धि के लिए उत्सुक रहता है, वह सदैव एकाग्रता व एकनिष्ठा से उसीकी धुन में लगा रहता है। दिन-रात उसीके सोच-विचार, उधेड़-बुन, जोड़-तोड़ में लगा रहता है। उसके संकल्प की प्रबलता वायुमण्डल में तदनुकूल तरंगें पैदा करती हैं व वे न जाने कहां-कहां, किस-किसपर, अपना असर डालती हैं। तदनुकूल प्रेरणाएं व वृत्तियां मनुष्य के मन में पैदा करती हैं और वे व्यक्ति उसी प्रकार काम करने में जुट जाते हैं। ये ही हमारे सहायक, साधन या माध्यम सिद्ध होते हैं। हमारा संकल्प जिन्हें जान व अनजान में प्रिय होता है, वे अनुकूलता उत्पन्न करने में लग जाते हैं, जिन्हें अप्रिय व नापसन्द है, वे प्रतिकूलता बढ़ाने में व विरोध-प्रतिकार में जुट पड़ते हैं। यह प्रियता और अप्रियता सर्वदा निरपेक्ष, शुद्ध भावमय, नहीं होती। अक्सर मनुष्य का स्वार्थ उसमें मिला रहता है। हमारे

संकल्प या योजना से जिसके स्वार्थ पर चोट पड़ती है, वह विरोधी होता है, जिनका स्वार्थ सधता है, इष्ट-सिद्धि होती है, वे साथी हो जाते हैं। जैसे हमारे मन में अच्छे व बुरे संकल्पों का युद्ध सदैव होता रहता है वैसे ही भौतिक संसार में भी अच्छी व बुरी शक्तियों, राम व रावण, ईश्वर व शैतान, दैवी व आसुरी सम्पत्तियों का युद्ध होता रहता है।

यहां श्रीकृष्ण को जो पाण्डव सहायक मिले, वे सौ कौरवों के आगे में कुपित थे। ये धार्मिक, न्यायप्रिय, पापभीरु व सदाचारी थे। इसके विपरीत कौरव धर्माज्ञाओं के विपरीत चलनेवाले, अन्यायी, पाप-प्रिय व अभिमानी थे। वे कपट-जुए से महाराज युधिष्ठिर को हराके द्रौपदी का अपमान भरी सभा में कर चुके थे। यद्यपि उस समय भले लोग, भिन्न-भिन्न कारणों से, चुप हो रहे; कमजोर व असहाय बनकर उस सती का अपमान चुपचाप देखते रहे; परन्तु सबके दिल पर चोट जबरदस्त लगी। पाण्डव तो इसका प्रतिकार करने की सोच ही रहे थे। द्रौपदी के हृदय में दिन-रात उस अपमान की ज्वाला धधकती रहती थी। वह उसका बदला लेने के किसी भी प्रसंग को चूकना नहीं चाहती थी। अतः श्रीकृष्ण ने उनको अपनी कार्य-सिद्धि का सुपात्र समझा व उनकी सहायता से अनेक दुष्ट पुरुषों को खतम कराके समाज में दुर्वृत्तियों के प्रति तिरस्कार व सद्वृत्तियों के प्रति प्रेम व आदर बढ़ाया। साथ ही संसार को यह शिक्षा भी दी कि यदि हमारा उद्देश्य शुभ है, पवित्र है, तो बड़ी-से-बड़ी जोखिम उठाने में भी न हिचकिचाना चाहिए और यदि अत्याचारी हमारे बन्धु-बान्धव भी हों तो भी उनको परास्त करना ही उचित है।

"अपनी भुजाओं से सुरक्षित यादवों द्वारा पृथ्वी की भारभूत अन्य राजाओं की सेना का संहार कर अप्रमेय भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने विचारा कि यद्यपि (दूसरों की दृष्टि में) पृथ्वी का भार उतर गया है, तो भी मैं उसे नहीं उतारने के समान ही समझता हूं; क्योंकि अभी मेरा असह्य यादव-कुल तो बना ही हुआ है।" ॥३॥

महाभारत के पहले, व महाभारत के सिलसिले में अनेक दुष्टों व उनकी सेनाओं को मिटाकर भी श्रीकृष्ण को सन्तोष न हुआ। उनकी दृष्टि में अभी पृथ्वी का सम्पूर्ण भार नहीं हटा था। अभी खुद उनका ही यदुकुल बाकी था, जिसमें बड़े-बड़े मदान्ध, असंयमी, दुर्व्यसनी लोग भर गये थे। कपूर आग को सुलगाने में निमित्त होता है, परन्तु वह आग फिर सारे कपूर को ही खा जाती है। इसी तरह

जिस यदुवंश के सहारे उन्होंने पृथ्वी से दुष्टों का निकन्दन किया था, वही यादव अब दुनिया को तबाह करने में प्रवृत्त हो रहे थे।

जिसका हृदय शुद्ध होता है, उसे अपने में तथा अपने बाहर थोड़ी भी गंदगी असह्य हो जाती है। जो बलवान या विद्वान् है, उसे निर्बलता या मूर्खता बरदाश्त नहीं होती। जो पुण्यात्मा होता है, उसे संसार का पाप असह्य हो जाता है, व तब-तक उसे शान्ति नहीं मिलती, चैन नहीं पड़ती, जबतक कि वह जड़-मूल से न उखाड़ दिया जाय। श्रीकृष्ण ने और तो तमाम दुष्टों को दण्ड दे डाला; परन्तु खुद उनके घर में ही जब दुष्टता छिपी व घुसी हुई पाई तो उन्होंने उसे भी मिटाने का संकल्प कर लिया। जिसे बाहरी बुराई बरदाश्त न हुई, वह घर की बुराई को कैसे सह सकता है, भले ही उसे मिटाने में अपने सारे वंश-परिवार का ही क्षय क्यों न हो जाय? जो सह सकता है, समझ लो वह बुराई से घृणा नहीं करता। सत्पुरुष या महापुरुष के सामने तत्त्व, सिद्धान्त, धर्म, नीति, उद्देश्य, आदर्श का प्रश्न रहता है। इनकी सिद्धि या स्थापना के मार्ग में मनुष्यों का—इष्ट-मित्र, सगे-संबंधी, किसीका मोह वे बाधक नहीं होने देना चाहते। व्यक्ति व समाज की स्थिति, पुष्टि व उन्नति नियमों, आदर्शों, सिद्धान्तों पर ही हो व रह सकती है। व्यक्ति तो इन तत्त्वों—नियमों आदि को संचालित करने व इनसे संचालित होने के लिए है। व्यक्तियों के या समाज के प्रति कर्तव्य का भाव होना एक वस्तु है, व मोह होना दूसरी। कर्तव्य का आधार नियम व नीति पर है, जबकि मोह हमारे स्वार्थ व सुख की भावना से उत्पन्न होता है। कर्तव्य में हमारे प्रिय व्यक्ति के शुभ, उन्नति का भाव निहित होता है, हमें उसके लिए कुछ त्याग करने, कष्ट उठाने की जरूरत है। मोह में हमारी भावना उस व्यक्ति से या उसके साधनों से अपना स्वार्थ साधने की, अपने आनन्द-भोग की, अपनी प्रेय-सिद्धि की रहती है। पहले में हम उसके उपयोगी पड़ते हैं, दूसरे में हम उसका उपयोग अपने लिए करते हैं। अत: श्रीकृष्ण ने इस मोह से ऊपर उठकर, अपने महान् व श्रेष्ठ जीवन-कार्य की सिद्धि के लिए, अपने तमाम प्रियजनों के नाश का उपाय सोचा।

"नित्य मेरे आश्रित रहनेवाले और वैभव से उच्छृङ्खल हुए इस यदुकुल का दमन किसी दूसरे से किसी तरह भी नहीं हो सकता। इसलिए बांसों के वन में उत्पन्न अग्नि के समान इनमें पारस्परिक कलह उत्पन्न कर मैं शान्तिपूर्वक अपने धाम को जाऊंगा।" ॥४॥

उन्होंने मन में कहा—ये यादव केवल उच्छृंखल, स्वेच्छाचारी ही नहीं हैं, बल्कि खुद मेरे कुल के व मेरे ही आश्रित भी हैं। जो वैभव मैंने इनकी उन्नति व सदुपयोग के लिए जुटाया था, उसीसे उल्टे ये मदान्ध हो गये हैं। इसकी जिम्मेवारी से मैं बच नहीं सकता। मेरे 'स्वजन' होने के कारण दूसरा कौन इनके दण्ड के लिए अग्रसर होने का हौसला करेगा? और शायद कोई सफल भी न हो। तब यही उचित है कि मैं खुद ही इनके विध्वंस का उपाय सोचूं। भले ही लोग यह कहें कि जैसे बांस अपने ही वंश को जला डालता है, वैसे ही कृष्ण ने अपने ही वंश का विनाश कर दिया। महाभारत में कौरव-पाण्डवों को—भाई-बन्धुओं को—लड़ाकर ही इसे सन्तोष न हुआ। खुद अपने घर में भी आग लगा दी। यह ऐसा ही बखेड़िया—विध्वंसक है। परन्तु मैं जानता हूं कि मेरा उद्देश्य पवित्र है। दुनिया के लोग बाहरी आचार, बाहरी फल को देखकर राय बनाते हैं, आलोचना करते हैं; परन्तु जो मर्मज्ञ हैं, अन्तर्दृष्टि रखते हैं, लोगों को तथा उनके कार्यों व उद्देश्यों को पहचानने की वास्तविक शक्ति व योग्यता रखते हैं, उन्हें कदापि मेरे इस कार्य में गलतफहमी नहीं हो सकती।[1] समाज को सुधारने के लिए, स्वस्थ बनाने के लिए, बिगड़े अंगों को कठोर चित्त से काट ही डालना पड़ता है। सबके लाभ के लिए थोड़े का बलिदान जरूरी हो जाता है। अतः मैं ही अकेला इनके दमन में सफल हो सकता हूं। और खुद मुझीको यह जिम्मेवारी लेनी चाहिए। तभी मुझे शान्ति मिलेगी और तभी मैं सुखपूर्वक निजधाम को जा सकूंगा। क्योंकि मरते समय मेरा यह काम यदि बाकी रह गया, यह संकल्प अधूरा रह गया तो मुझे शान्ति न मिलेगी। जीवन-कार्य पूरा न हो पाया तो यह कसक मन में बनी रहेगी। मरते समय जिसके मन में यह सन्तोष रहे कि मैंने अपने सब कर्त्तव्यों को पूरा कर लिया उसीको आखिरी शान्ति मिलती है।

"हे राजन्, सत्य-संकल्प और सर्व-समर्थ परमेश्वर भगवान् कृष्ण ने इस प्रकार निश्चय कर ब्राह्मणों के शाप के बहाने अपने कुल का संहार कर डाला।" ॥५॥

महापुरुष सत्य-संकल्प हुआ करते हैं। वे जो संकल्प करते हैं, वह सत्य—सफल—हो जाता है या उन्हें उसके सफल होने का आत्म-विश्वास रहता है।

---

[1] "गुणी गुणं वेत्ति न वेत्ति निर्गुणो, बली बलं वेत्ति न वेत्ति निर्बलः।"

भक्त और आस्तिक इसे परमात्मा की देन—"सत्य-संकल्पाचा दाता भगवान्। सर्व मनोरथ करी पूर्ण" समझते हैं। बुद्धिवादी इसे इस तरह समझाते हैं—सत्य-संकल्प हमेशा दूसरों के, समाज या समष्टि के उपकारी होते हैं। अतः उनकी तरंगें सारे समाज में अनुकूल प्रति-तरंगे उपजाती हैं, जिससे अधिकांश समाज का बल उसे प्राप्त होता है। अनुकूलताएं दिन-दिन बढ़ती जाती हैं, प्रतिकूलताएं घटती जाती हैं और अन्त में परास्त हो जाती हैं। दोनों में शब्दों का ही अन्तर है, भाव एक है। बुद्धिवादी के संकल्प जिस वायु-मण्डल में तरंगें उपजाते हैं, उसीका अध्यक्ष या अधिष्ठाता, भक्तों के शब्दों में, ईश्वर है।

अतः श्रीकृष्ण को यह निश्चय था कि मैं इस शुभ कार्य में अवश्य सफल होऊंगा; क्योंकि इसकी क्षमता भी वह अपने में मानते थे। जिन्होंने महाभारत में अगणित नर-संहार कराया, उन्हें थोड़े-से यादवों का विनाश करने में क्या दिक्कत हो सकती थी? तब उन्होंने उसका एक अप्रत्यक्ष उपाय सोचा। मुझे अपने दैवी बल को प्रेरित करने के लिए कोई निमित्त जरूर चाहिए। यदि सीधे राज-दण्ड-शक्ति से काम लेना चाहूं तो सम्भव है, पिताजी व बलदादा का समर्थन न मिले। पिताजी इस वंश-विनाश को नहीं देख सकेंगे व बलभैया तो स्वयं भी मद्य का व्यसन रखते हैं। ऐसी दशा में कोई और ही तरकीब निकालनी चाहिए। अतः उनके इस संकल्प से यादवों के मन में एक कुचेष्टा करने की बुद्धि पैदा हुई। अथवा बुद्धिवादी की भाषा में—यादवों के कुकर्मों ने ही उनके मन में अपने विनाश के लिए दुर्बुद्धि की प्रेरणा की। उन्होंने एक ब्राह्मण ऋषि को चकमा दिया, जिससे क्रुद्ध होकर उन्होंने उन्हें शाप दे डाला।

जो ब्रह्म को जानता हो, (ब्रह्म जानातीति ब्राह्मणः) जिसे ब्रह्म का ज्ञान हो गया हो, जो ब्राह्मी स्थिति को पहुंचने के योग्य हो, वह ब्राह्मण है। बड़ी साधना व तप से मनुष्य इस स्थिति को पहुंचता है। साधना से उसे ऐसी शक्ति प्राप्त हो जाती है कि उसके मुंह से जो निकल जाता है, वह सच हो जाता है। पतंजलि के योग-सूत्रों (विभूतिपाद) में ऐसी सिद्धियों के उदाहरण व उपाय बताये गए हैं। मैस्मिरिज़्म व हिप्नाटिज़्म—मोहिनी विद्याओं में—भी संकल्प-सिद्धि ही काम करती है। एक ही संकल्प का निरंतर चिन्तन, जप करते रहने से उसमें एक महान् बल का संचार होता है। एक सतत तरंग-प्रवाह वातावरण में उठता रहता है, जिसके प्रत्युत्तर के रूप में वैसी ही तरंगें साधक के अन्तःकरण में प्रविष्ट होकर

उसकी भावना को फलीभूत करती हैं।

जब किसी निर्मल चित्त, सरल हृदय व्यक्ति को कोई धोखा देता है, उसके साथ कपट-व्यवहार करता है तो उसे औरों की अपेक्षा ज्यादा आघात पहुंचता है। जो खुद कपटी होते हैं, उन्हें दूसरों के कपट से सहसा इतनी चोट नहीं पहुंचती। अतः जब यादवों ने उन ऋषि को धोखा देने की चेष्टा की तो उनके शुद्ध चित्त से सहसा उनके अशुभ की भावना प्रकट हो गई। या यों कहें कि उनका जो भावी अशुभ उन्हें अपनी भविष्यदर्शिनी या दिव्य-दृष्टि में दिखाई दिया, उसकी घोषणा उन्होंने कर दी। वास्तव में मनुष्य फल तो अपनी ही करनी का पाता है, दूसरे तो उसमें निमित्त भर हो जाया करते हैं। इस तरह शाप दण्ड और प्रतिफल दोनों हो सकता है।

"संसार के सौंदर्य को तिरस्कृत करनेवाली अपनी मूर्ति से लोगों के नेत्रों को तथा अपनी दिव्य वाणी (उपदेश) से उन वाणियों का स्मरण करनेवाले भक्त-जनों के चित्तों को अपने वश में करके और अपने चरण-चिह्नों से उनका दर्शन करनेवालों की अन्य क्रियाओं को रोककर (मुग्ध करके) तथा अपनी कविजन-कीर्तित कमनीय कीर्ति का लोक में इस विचार से विस्तार कर कि 'इसके द्वारा लोग अनायास अज्ञानान्धकार के पार हो जायंगे' भगवान् अपने धाम को चले गए।" ॥६-७॥

यदुवंश के इस प्रकार विनाश के बाद श्रीकृष्ण स्वधाम को चले गए। उनका रूप संसार के समस्त सौंदर्य को मात करता था। महापुरुषों के चेहरे पर एक दिव्य तेज छाया रहता है, जिससे वह सुन्दर व मनोमोहक हो जाता है। यह तेज उनके शौर्य का, पराक्रम का, दुर्दमनीयता का चिह्न है और सौंदर्य उनके चित्त की प्रसन्नता, आत्म-सन्तोष, समाधान, स्नेह का। "श्रीकृष्णचन्द्र का सौन्दर्य तो पुराण-प्रसिद्ध है।" उनका रूप—सौन्दर्य ही लोगों को लुभाने के लिए काफी था, परन्तु इसके साथ ही उनकी वाणी भी दिव्य उपदेशों से भरी हुई है, जिसका प्रमाण गीता तथा भागवत का यह स्कन्ध प्रत्यक्ष है। दोनों के द्वारा वे भक्तों के चित्त को वश में कर लेते थे। इससे संसार में उनकी कीर्ति अमर हो गई है और कवियों के कीर्तन का विषय बन गई है। उनकी कीर्ति-कथा, उनका सारा जीवन-चरित्र इस प्रकार का ज्ञान, उपदेश व स्फूर्तिमय है कि जिसे सुनकर व देखकर लोग अनायास अपने अज्ञान को हटा लेते हैं। जब श्रीकृष्ण को इस प्रकार अपनी समस्त चरित्र-

लीला से कृतार्थता अनुभव हुई तभी वह अपने धाम को चले गए। क्योंकि अब संसार में उनका कोई कर्त्तव्य बाकी नहीं रहा था। संसार की दृष्टि से उनकी उपयोगिता समाप्त हो गई थी। अतः बुद्धिमान् पुरुष उस वस्तु को छोड़ देते हैं, जिसकी उपयोगिता नष्ट हो चुकी हो। महापुरुष और तो ठीक अपने जीवन तक को निरुपयोगी समझ चुकने पर छोड़ देते हैं।

राजा परीक्षित ने कहा---"भगवन्, जो यादव बड़े ब्राह्मण-भक्त, उदार और नित्य गुरुजनों की सेवा करनेवाले थे तथा जिनका चित्त सदा कृष्ण में ही रत रहता था, उनको ब्राह्मणों का शाप कैसे हुआ?" ॥८॥

श्रीकृष्ण के इस अद्भुत कर्म को देखकर---विप्र-शाप की बात सुनकर---परीक्षित को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसे लगा---जो इतने सत्पुरुष-जैसे थे, उन्हें कुमति कैसे उपजी? सत्पुरुषों को उनके अच्छे संस्कारों व आचारों के कारण सन्मति ही सूझती है तो यह विपरीत कार्य यहां कैसे हुआ?

"हे द्विज श्रेष्ठ! वह शाप जैसा था और जो उसका कारण था, कैसे उन एक-चित्त यादवों में फूट पड़ी, ये सब बातें मुझसे कहिये।" ॥९॥

जब मनुष्य को आश्चर्य व जिज्ञासा होती है तो उसका निवारण या समाधान हुए बिना उसे शांत नहीं मिलती। अतः परीक्षित ने उस घटना को व उसके कारणों को जानना चाहा।

श्री शुकदेवजी बोले---"हे राजन्, ऐसा (अति सुन्दर) शरीर धारण कर, जिसमें सम्पूर्ण सामग्रियों का समावेश है, पूर्णकाम होने पर भी लोक में अनेकों मंगल कृत्य करते हुए तथा श्री द्वारकापुरी में रहकर लीला विहार करते हुए उदारकीर्ति भगवान् कृष्ण ने अपने कुल का नाश करने की इच्छा की, क्योंकि अब उनके लिए यही एक कार्य शेष रह गया था।" ॥१०॥

श्रीकृष्ण पूर्णकाम थे। उनकी सब इच्छाएं पूर्ण हो चुकी थीं। उन्होंने अनेक मंगल कृत्य किये थे। उनके शरीर में सकल सौन्दर्य-सामग्री एकत्र थी। महापुरुषों के जीवन में शुभ के साथ सौन्दर्य मिला रहता है। इस सौन्दर्य से ही उनमें अद्भुत आकर्षण आ जाता है। यह केवल रूप-सौन्दर्य नहीं है, हृदय-सौन्दर्य भी है। हृदय उनका मधुर, सुकोमल भावनाओं से भरा रहता है। वही सौन्दर्य के रूप में उनके मुख-मण्डल पर दमक जाता है। ऐसे श्रीकृष्ण ने अपने कुल-नाश का आयोजन किया; क्योंकि इसमें उन्हें अपने कुल का व संसार का मंगल मालूम होता था।

"ऐसे अनेकों पुण्यप्रद मंगलमय कर्म करके, जिनका गान जगत् के समस्त कलिमल को नष्ट करता है, जब भगवान् श्रीकृष्ण यदुराज वसुदेवजी के गृह में (यदुकुल संहारक) काल रूप से निवास करने लगे उस समय (जो लोग भगवान् की इच्छा से उनकी लीलाओं में सहायक होकर आये थे वे) विश्वामित्र, असित, कण्व, दुर्वासा, भृगु, अंगिरा, कश्यप, वामदेव, अत्रि, वशिष्ठ और नारद आदि मुनिजन भगवान् से बिदा होकर (द्वारका से निकट ही) पिण्डारक क्षेत्र में जाकर रहने लगे।" ॥११-१२॥

इस समय श्रीकृष्ण ने मानो काल-रूप धारण कर लिया। उनकी विध्वंसात्मक शक्ति अपने अन्तिम कार्य को करने के लिए तैयार हो गई थी। जब ऋषियों ने देखा कि अब द्वारका उजड़नेवाली है तो वे पास ही एक क्षेत्र में चले गए। जब यादव वहां नहीं रहेंगे व श्रीकृष्ण भी इहलीला समाप्त कर देंगे तब वे ऋषि लोग उस 'कुग्राम' में रहकर क्या करते? वे तो श्रीकृष्ण के जीवन-कार्य में सहायक होने के लिए आये थे। उसे पूरा होते हुए देख वे वहां से बिदा हो गये।

"एक दिन वहां खेलते हुए यदुवंश के कुछ उद्दण्ड राजकुमारों ने स्त्रियोचित वस्त्राभूषणों से जाम्बवती-नंदन साम्ब का स्त्री-वेष बनाकर उन मुनीश्वरों के पास जा अति विनीत पुरुषों के समान उनके चरण छूकर पूछा, 'हे विप्रगण, यह श्यामलोचना सुन्दरी गर्भवती है," यह आपसे एक बात पूछना चाहती है; किन्तु स्वयं पूछने में इसे लज्जा मालूम होती है (अतः हमारे ही मुख से यह प्रश्न करा रही है।) हे अमोघ-दर्शन-मुनिगण, यह पुत्र-कामा बाला अब प्रसव करनेवाली है, आप बतलाइये, यह कौन-सी संतान उत्पन्न करेगी? (पुत्र या कन्या?)'" ॥१३-१४-१५॥

"हे राजन्, उनके द्वारा इस प्रकार धोखे में डाले जाने पर मुनियों ने कुपित होकर कहा—रे मन्द-मति बालको, यह एक मूसल जनेगी, जिससे तुम्हारे कुल का नाश हो जायगा।" ॥१६॥

"यह सुनते ही वे बालक अत्यन्त डर गये और उन्होंने तुरन्त ही साम्ब का पेट खोलकर देखा तो वास्तव में उसमें एक लोहे का मूसल मिला।" ॥१७॥

"तब वे चिन्ता से घबराये हुए यह कहकर कि हम मन्द भाग्यों ने यह क्या किया, लोग हमें क्या कहेंगे? उस मूसल को लेकर घर को चले गए।" ॥१८॥

"तदनन्तर वे यादव-कुमार, जिनके मुख की कांति अति मलीन हो गई थी, उस

मूसल को लेकर राज-सभा में आये और समस्त यादवों के समीप राजा उग्रसेन से वह सारा प्रसंग कह सुनाया।"॥१६॥

"हे राजन् ब्राह्मणों का अमोघ शाप सुनकर और मूसल को देखकर समस्त द्वारकावासी विस्मित होकर भय से व्याकुल हो गये।" ॥२०॥

चूंकि ब्राह्मणों का शाप खाली नहीं जाता, अपने कुल के भावी विनाश के भय से यादव व्याकुल हो गये व उसके निवारण का उपाय खोजने लगे। श्रीकृष्ण का वह संकल्प ही मानो यह मूसल-रूप में प्रकट हुआ।

"तब यदुराज उग्रसेन ने उस मूसल को चूरा कराके उसे और बाकी बचे हुए लोहे के टुकड़े को समुद्र में फिकवा दिया।" ॥२१॥

अपने मन में शायद वे निश्चिन्त हो गये कि अब कुछ बिगड़ नहीं सकेगा; परन्तु प्रकृति के नियम या भगवान् की लीला अपना काम करती ही रहती है। उसने बड़ी अचिन्त्य व विचित्र रीति से यहां अपना काम किया।

"उस लोहे के टुकड़े को कोई मछली निगल गई तथा मूसल का चूरा तरंगों से बहकर समुद्र-तट पर लग गया। उससे वहां एरका पौधे उपज आये। मछुओं ने समुद्र में जाल फैलाकर उस मछली को दूसरी मछलियों के साथ पकड़ लिया और उसके पेट में जो लोहे का टुकड़ा था, उसे उस (जरा नामक) व्याध ने अपनी बाण की नोंक पर लगाया।" ॥२२-२३॥

"इन सब बातों को जाननेवाले भगवान् ने, उस विप्र-शाप को बदलने में समर्थ होकर भी, उसे अन्यथा न करना चाहा, प्रत्युत् उन काल-रूप प्रभु ने उसका अनुमोदन ही किया।" ॥२४॥

खुद श्रीकृष्ण का ही यह संकल्प था कि यदुवंश का विनाश हो, अतः जब उन्होंने यह मूसलवाली शाप की घटना सुनी तो उन्होंने उसका अनुमोदन ही किया। उनमें विप्र-शाप को व्यर्थ कर देने का सामर्थ्य तो था; परन्तु विप्र-शाप ने तो वही काम किया था, जो उन्होंने चाहा। क्योंकि उस समय उन्होंने काल-रूप धारण कर रखा था।

: २ :

भागवत-धर्म का मर्म

[इस अध्याय में वसुदेवजी ने नारदजी से भागवत-धर्म जानना चाहा। नारदजी ने जनक व नौ ऋषियों के संवाद के रूप में उसका प्रवचन किया। 'कवि' ने बारह और 'हरि' ने ग्यारह श्लोकों में क्रमशः भागवत-धर्म और भक्त का लक्षण बताया है। 'सब कर्मों को परमात्मा नारायण के अर्पण करना' अर्थात् भक्ति भागवत-धर्म का मर्म है। 'नाम-संकीर्तन' उसका सरल साधन तथा भगवत्प्रेम, विषयों में वैराग्य और भगवत्स्वरूप बोध उसका फल है। 'हरि' ने 'जो सबमें अपनेको व अपने में सबको देखे' उसे श्रेष्ठ भक्त बताया है। जो 'योग्यता' देखकर व्यवहार करता है, उसे मध्यम व जो केवल अर्चा-विग्रह (प्रतिमा आदि) की पूजा करता है, स्थूल व बाहरी आचार व व्यवहार को महत्व देता है वह साधारण है।]

श्री शुकदेवजी बोले—"हे कुरुकुल-नन्दन, भगवान् की भुजाओं से सुरक्षित द्वारिकापुरी में देवर्षि नारद श्रीकृष्णोपासना की लालसा से प्रायः सदा ही रहा करते थे। हे राजन्, सब ओर मृत्यु से घिरा हुआ ऐसा कौन इन्द्रियवान् प्राणी होगा, जो भगवान् मुकुन्द के सुरवर-संसेव्य चरण-कमलों को न भजेगा?"॥१-२॥

"एक दिन नारदजी वसुदेव के घर पधारे। वसुदेव ने उनकी पूजा की व सुखपूर्वक आसन पर बैठाया। फिर देवर्षि को प्रणाम कर वे इस प्रकार कहने लगे—"॥३॥

इधर तो वह शाप-घटना हुई, उधर एक दिन नारदजी वसुदेवजी के घर आये। नारद श्रीकृष्ण के ऐसे भक्त थे कि छाया की तरह सदैव उनके निकट मौजूद रहते थे। जो जिसका प्रेमी या भक्त होता है, वह सदैव उसे अपने नजदीक ही दीखता है।

पुराणों में नारदजी ब्रह्मा के मानसपुत्र माने गए हैं। उनका चरित्र विलक्षण चित्रित किया गया है। वह इधर-उधर बहकाकर लड़ानेवाले बताये गए हैं। मुझे नारद भगवान् की ऐसी शक्ति मालूम होती है, जो भगवान् का अभीष्ट सिद्ध करने के लिए सदा तैयार रहती है। यदि जमाने से काम बनता हो तो बात जमाते हैं, नहीं तो बिगाड़कर भी भगवान् का कार्य साधते हैं। 'मानस-पुत्र' होने से वह मन की तरह एक जगह नहीं ठहरते। वह परम-भक्त, विद्वान् व गायक थे। 'नारद पांचरात्र', 'नारद भक्तिसूत्र', 'नारद स्मृति', 'नारदीय पुराण' इनके बनाये मुख्य ग्रंथों में हैं।

श्री शुकदेवजी कहते हैं कि कौन ऐसा प्राणी होगा, जो भगवान् को भजना न चाहेगा ? प्रत्येक प्राणी दुःख को मिटाना व सुख को पाना चाहता है। वह अपने को बुढ़ापा, रोग व मृत्यु का शिकार हुआ देखता है। वह सोचता है कि मैं इनसे कैसे छूटूं और चिरस्थायी सुख को प्राप्त करूं। बहुतों का, खासकर साधु-सन्तों व भक्तों का अनुभव है कि भगवान् की शरण जाने से, सब बाहरी साधनों के अव-लम्बन को गौण मानकर अपने हृदय में बसे परमात्मा पर विश्वास रखकर काम करने से उस सुख की उपलब्धि हो सकती है। जब यह इलाज मनुष्य के लिए सुगम है तो फिर मनुष्य क्यों न उसका आश्रय लेगा ?

वसुदेवजी बोले—"हे भगवन्, आपका आगमन समस्त पुरुषों के कल्याण के लिए ही हुआ करता है। जैसे कि पुत्रों के लिए माता-पिता का व दीन-दुखियों के लिए महात्माओं का आगमन होता है।" ॥४॥

सत्पुरुषों के जीवन का उद्देश्य संसार के कल्याण के अलावा दूसरा नहीं होता। सभी जाति, धर्म व देश के लोग इस सत्य को स्वीकार करते हैं। माता-पिता जो पुत्रों पर स्नेह रखते हैं, उसमें तो उनके भावी सुख की आशा छिपी रह सकती है, परन्तु सत्पुरुष तो सदैव दीन-दुखियों की भलाई में ही रत रहते हैं। उन्हें उनसे बदला पाने की और अपने सुख-स्वार्थ में सहायक होने की आशा-अपेक्षा नहीं रहती। वास्तव में तो जबतक हमारे मन में अपने स्वार्थ की या सुख की भावना है तबतक हमारी गिनती सत्पुरुषों में नहीं हो सकती। जब हम प्राणि-मात्र के स्वार्थ व सुख को अपना ही स्वार्थ-सुख समझने लगेंगे तभी हम उस पद के अधि-कारी हो सकेंगे। नारदजी ऐसे ही सत्पुरुषों में शिरोमणि थे।

"देवताओं के चरित्र तो प्राणियों के सुख-दुःख दोनों के कारण होते हैं; परन्तु

आप जैसे भगवत्प्राण साधु-पुरुषों के आचरण उनके सुख ही के लिए होते हैं।" ॥५॥

सत्पुरुष देवताओं से भी बढ़कर होते हैं। देवताओं में तो राग-द्वेष पाया जाता है। असुरों के साथ उनकी लड़ाइयां व छल-कपट प्रसिद्ध ही हैं। उनके कामों में उनका अपना स्वार्थ मिला रहता है। जिनसे उनका स्वार्थ या हित टकराता है, उन्हें वे सम-दृष्टि से नहीं देखते। इसीसे उनके कार्य संसार के लिए अकेले सुखदायी नहीं होते। परन्तु साधु पुरुष, सज्जन तो भगवान् अर्थात् सारी जड़-चेतन समष्टि को ही अपना प्राण समझते हैं। अतः न तो उनका आचरण दुःख देने के उद्देश्य से ही होता है, न उसका फल ही प्रायः ऐसा निकलता है। सज्जनों के आचरण से कभी-कभी कुछ लोगों को दुःख पहुंचता हुआ या हानि होती हुई देखी जाती है। परन्तु इसकी जिम्मेवारी उनपर नहीं होती। हमारे हेतु पर जितना हमारा अधिकार है, उतना फल-सिद्धि पर नहीं। फल-सिद्धि पांच बातों पर अवलम्बित रहती है—स्थान, कर्त्ता, साधन, क्रियाएं और अन्त में दैव। अर्थात् किस स्थान या देश में कर्म हुआ है, कर्म करनेवाले व्यक्ति यानी कर्त्ता की अधिकारपात्रता कितनी है, उसने कौन-से साधनों से काम लिया है, किस-किस प्रकार की क्रियाएं या उद्योग उसने किया है, इनके अलावा दैव अर्थात् अपने पिछले अज्ञात कर्म व तत्सम्बन्धी दूसरों के अच्छे-बुरे संकल्प व कर्म, जिनतक हमारी बुद्धि व जानकारी की पहुंच नहीं हो सकती, उनके प्रभावों का समूह। फिर भी जो सत्पुरुष होते हैं, वे अपने निर्मल हेतु के कारण उपयुक्त कर्त्ता माने जाते हैं। देशकाल का विचार विवेक में शामिल है और सत्पुरुष विवेकवान ही हुआ करते हैं। वे सदा शुद्ध साधनों का ही अवलम्बन करते हैं, गन्दे, भ्रष्ट, पापयुक्त साधनों की वे सदा निन्दा करते हैं। क्रियाएं भी उनकी शुद्ध सात्विक होती हैं, अर्थात् इस बात को ध्यान में रखकर कि उनके द्वारा दुःख किसीको न पहुंचे व सुख सभीको मिले, की जाती हैं। अतः उसकी विधि निर्दोष होती है। और यही सब कारण हैं, जिनसे सत्पुरुष को आचरण या कर्म में अधिकतर सिद्धि मिलती हुई देखी जाती है।

पश्चिमी विद्वानों की राय है कि प्राकृतिक शक्तियों जैसे सूर्य, वायु आदि को वैदिक साहित्य में देवता कहा गया है। पर वास्तव में एक परमेश्वर की भिन्न-भिन्न शक्तियों को देवता माना गया है। यास्क की सम्मति में देवतागण एक ही मुख्य देव की मुख्य-मुख्य शक्तियों के प्रतीक हैं।

"महाभाग्यात् देवताया एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते ।
एक स्यात् मनोऽन्ये देवाः प्रसङ्गानि भवन्ति ।।"
(निरुक्त ७।४, ८-९)

देवता का अर्थ है प्राण-शक्ति-सम्पन्न । इन्द्र, वरुण, सविता, उषा आदि देवता हैं। वे बल-रूप हैं। अविनश्वर शक्ति-मात्र हैं। सकल देवताओं के भीतर सकल कार्यों के अन्तर में ऋत् अर्थात् कारण-सत्ता रहती है। विश्व में सुव्यवस्था, प्रतिष्ठा, नियमन का कारणभूत तत्त्व 'ऋत्' है। ऋत् सत्यभूत ब्रह्म है, या यों कहिये कि व्यापक तत्त्व 'ऋत्' है और केन्द्रित तत्त्व सत्य है। इन सूक्ष्म-रूप देवताओं के स्थूल रूप की भी कल्पना हमारे यहां की गई है।

ब्रह्मा, इन्द्र, विष्णु, अग्नि, सोम आदि वैदिक देवता हैं। सृष्टि की उत्पत्ति के समय जो नाम-रूपात्मक ज्योति प्रकट हुई, उसे इन्द्र कहते हैं। यह सृष्टि-रूपी यज्ञ का एक भाग हुआ। दूसरा भाग है यज्ञ में अन्न को आकर्षित करनेवाला सूत्र। उसे विष्णु कहते हैं। तीसरा भाग है अन्न, जिसे सोम कहा है। अब तत्त्व की दृष्टि से विचार करें तो स्थिति-तत्त्व ब्रह्मा है! गति-समुच्चय को स्थिति कहते हैं। जब वस्तु चारों ओर गति करती है तो वह स्थिर हो जाती है। गति-तत्त्व इन्द्र है। यही जब किसी वस्तु को आकर्षित करता है तो इसे 'विष्णु' कहते हैं। अर्थात् 'आगति' भाव में वह विष्णु है। अब स्थिति-तत्त्व के गर्भ में जो गति (इन्द्र) है, वह अग्नि है। इसी तरह स्थिति-गर्भित आगति (विष्णु) सोम है। सृष्टि के मूल में एक अक्षर-तत्त्व है। अक्षर उसे कहते हैं, जिसका नाश न हो, जिसमें कमी या टूट-फूट न हो। यह अक्षर-तत्त्व गत्यात्मक है। निरन्तर गति करता रहता है। यही पांच भावों में परिणत होकर ब्रह्मा, इन्द्र आदि पांच देवता बन जाता है। जैसे गति-समुच्चय रूप में 'ब्रह्मा', शुद्ध गति के रूप में 'इन्द्र', शुद्ध आगति के रूप में 'विष्णु', स्थिति-गर्भिता गति के रूप में 'अग्नि' व स्थिति-गर्भिता आगति के रूप में 'सोम' नाम धारण कर लेता है।

'गीतामन्थन'कार बताते हैं—

"हम साधारणतया विश्व की परम-शक्ति को ब्रह्म, चैतन्य, पुरुष तथा आत्मा आदि वेदान्ती नामों से अथवा ईश्वर, परमेश्वर, परमात्मा, भगवान् इत्यादि भक्ति-मार्गी नामों से पहचानते हैं। परन्तु यह जो मूल वस्तु है, उसके लिए शक्ति शब्द के बदले 'देव', 'देवत', 'देवता' आदि शब्द भी पाये जाते हैं। इससे हम परम-

शक्ति को ब्रह्म आदि नामों से पहचानते हैं। इस प्रकार शक्ति व देव एक ही अर्थ के शब्द हैं।

"इस परम देव, परम-शक्ति परमेश्वर द्वारा संसार में उत्पत्ति,स्थिति व संहार का काम चला करता है। अर्थात् परमेश्वर के इन तीन कामों को करनेवाली अवान्तर (उप) शक्तियां अथवा देव हैं, जिन्हें क्रमश: ब्रह्मदेव, विष्णुदेव, महादेव (शिव) इन नामों से पुकारने का रिवाज है। पुराने ग्रन्थों में शक्ति के बदले 'देव' शब्द का प्रयोग साधारणत: हुआ है। जैसे मेघ-शक्ति को इन्द्रदेव, जल-शक्ति को वरुणदेव, पवन-शक्ति को वायुदेव कहा जाता है। बल्कि इन्द्रियों की शक्तियों को भी देव कहा गया है। अत: देव कोई प्रकाशवान, रूपवान पुरुष अथवा स्त्री-आकार का कोई चमत्कारी व्यक्ति नहीं, वरन् जिस प्रकार बिजली में, गर्मी में और इन्द्रियों में जुदा-जुदा शक्तियां हैं, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न देवताओं का अर्थ है भिन्न-भिन्न शक्तियां।"

एक और कल्पना भी देवताओं के विषय में है। ब्रह्मदेव ने ब्रह्म-तत्त्व या ब्रह्म-विद्या के आधार पर सृष्टि की व्यवस्था की। उसके उन्होंने कई विभाग बनाये, जिसमें एक का नाम, पुराणों के अनुसार, 'पाद्म-भुवन-कोष' है। उसमें उन्होंने दो संस्थाएं बनाईं—देव-त्रिलोकी व आसुर-त्रिलोकी। यह ब्रह्मदेव की दूसरी सृष्टि थी, जो लोक-सृष्टि कहलाई। इससे पहले वह एक मन्त्रात्मक वेद-सृष्टि भी कर चुके थे। लोकसृष्टि के बाद उन्होंने प्रजाओं का विभाग करके प्रजा-सृष्टि व प्रजा को प्रकृति के नियमानुसार चलाने के लिए धर्म-सृष्टि बनाई। इसके लिए अग्नि, इन्द्र, वरुण आदि प्रकृतिस्थ देवताओं के नमूने पर भौम देवता निर्माण किये गए हैं। हैहय, कालकेय, दौर्हृद, मौर्य, वृत्र, नमुचि, त्वष्टा, वृषाकपि आदि असुरों की भी व्यवस्था की। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, इन चार वर्णों का एवं अन्त्यज, अन्त्या-वसायी, दस्यु, म्लेच्छ, इन चार अवर्णों का विभाग किया। चातुर्वर्ण्य के साथ-साथ व्यक्तियों के विकास के लिए ब्रह्मचर्य आदि चार आश्रमों की भी व्यवस्था की।

नव्वे अंशात्मक भारतवर्ष को देव-त्रिलोकी का मनुष्य-लोक माना गया। वैवस्वत मनु सम्राट् व अग्नि वाइसराय बनाये गए। शर्यणावत (शिवालिक पर्वत) से आरम्भ कर हिमालय तक का सारा प्रान्त भौम-त्रिलोकी का अन्तरिक्ष लोक माना गया। वायु यहां के शवसोनपात (वाइसराय) बनाये गए। यहां की प्रजा यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, पिशाच, गुह्यक, सिद्ध, किन्नर आदि विभागों में विभक्त

की गई।

जयपुर के स्व० श्री मधुसूदनजी ओझा के मतानुसार सृष्टि के विकास में तमोयुग, प्राणी-युग व आदि युग के बाद एक मणिजा नाम का युग आया, जिसमें मानव-सभ्यता का एक प्रकार से पूर्ण विकास हुआ। ग्राम-निर्माण, कृषि-कर्म, कपास, रेशम आदि के वस्त्रों का निर्माण, पंचायती-व्यवस्था, लोक-सत्तात्मक शासन, वापी-कूपतडागादि का निर्माण, उद्यान-उपवन आदि की व्यवस्था, गन्धर्व-विवाह-पद्धति, दान-क्रिया-अर्थ-शिल्प के आधार पर मानव-समाज का चार भागों में विभाजन, विविध वैज्ञानिक आविष्कार आदि इस युग की प्रधान-प्रधान विशेषताएं हैं। इस युग की चार श्रेणियां साध्य, महाराजिक, आभास्वर, तुषित इन नामों से प्रसिद्ध थीं। आगे चलकर देव-युग में आविष्कृत होनेवाली वर्ण-व्यवस्था का मूल यही चार श्रेणियां थीं। परम वैज्ञानिक-ज्ञान-प्रधान 'साध्य' लोग उस युग के ब्राह्मण थे। महाराजिक क्षत्रिय, आभासुर वैश्य व शिल्प-विद्या में पारंगत, समाज-सेवा में निःस्वार्थ बुद्धि से संलग्न तुषित उस युग के शूद्र थे। इन चारों जातियों का नेतृत्व साध्य-जाति के ही हाथों में था। अपनी अपूर्व प्रतिभा के बल से इसने प्राकृतिक तत्त्वों की परीक्षा द्वारा सर्वप्रथम यज्ञ-विद्या (Chemistry) का आविष्कार किया था। इन्हींके द्वारा आविष्कृत यज्ञ-विद्या के आधार पर आगे जाकर (देवयुग में) भौम देव-व्यवस्था के प्रवर्तक 'ब्रह्मा' के आदेश से उनके ज्येष्ठ-पुत्र 'अथर्वा' ने ब्रह्म को मूल बनाते हुए देव-त्रिलोकी में यज्ञ-विद्या का प्रचार किया था। देव-युग से पहले सम्पूर्ण विश्व में साध्यों का ही प्रभुत्व था। ये ईश्वरवादी भौम देवताओं के विरोधी भी थे। अतएव आर्य-साहित्य में 'पूर्वे देवाः' 'सुरद्विष' इत्यादि नामों से प्रसिद्ध हुए। साध्य-जाति का ईश्वर-सत्ता पर विश्वास न था। वे केवल प्रकृति-सिद्ध क्षणिक विज्ञान के उपासक थे। जो स्थान आज क्षणिकवादी नास्तिकों को मिल रहा है, वही साध्यों का था। वे अभिमान के साथ मानते थे कि प्रकृति के नियत नियमों से ही विश्व-रचना हुई है। उन नियमों को भली प्रकार समझकर ठीक पद्धति से काम करने पर मनुष्य भी नवीन विश्व का निर्माण कर सकता है। इस विज्ञान के आधार पर नवीन सूर्य, चन्द्रमा आदि भी बनाये जा सकते हैं। इनके प्रभाव के कारण मणिजा-युग 'साध्य युग' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। मणिजा उस समय के मानव-समाज की सामान्य संज्ञा थी। इस काल में सद्वाद, असद्वाद, सदसद्वाद, व्योमवाद, अपरवाद, रजोवाद, अंभिवाद, आवरणवाद,

अहोरात्रवाद व संशयवाद नाम से ऋग्वेद में प्रसिद्ध दस भिन्न-भिन्न वाद प्रचलित थे। इनमें परस्पर संघर्ष व कलह हो रहा था। तब तुषित जाति में जन्मे महापुरुष ब्रह्मा ने दश वादों का खंडन करके एकत्त्व-मूलक ब्रह्मवाद की स्थापना की। उसने सिद्ध किया कि ईश्वर-सत्ता के बिना इन वादों की कोई भी प्रतिष्ठा नहीं रह सकती। ब्रह्मवाद की स्थापना करने के कारण ही इस महापुरुष को ब्रह्मा उपाधि से विभूषित किया गया, यही देव-युग के प्रवर्त्तक हुए।

उस युग में यह नियम था कि जो विद्वान् जिस तत्त्व की सर्वप्रथम परीक्षा करता था, उसे उसी नाम से विभूषित किया जाता था। वशिष्ठ, अगस्त्य, मत्स्य, अत्रि, भृगु, अंगिरा आदि वस्तुतः तत्त्वों के नाम हैं। जिन महापुरुषों ने इन तत्त्वों की परीक्षा की वे एवं उनके वंशधर भी उन्हीं नामों से प्रसिद्ध हुए।

एकेश्वरवाद की स्थापना के अनन्तर ब्रह्मा ने, प्रकृति-सिद्ध नित्य ब्रह्मा के अनुसार, यहां भी पूर्वोक्त प्रकार की सृष्टि-संस्थाएं प्रतिष्ठित कीं। इसके अन्तर्गत लोक-सृष्टि में 'देवत्रिलोकी' एवं 'असुरत्रिलोकी' बनाई गई। हिमालय-प्रान्त एवं प्राग्मेरु (पामीर) यहां का स्वर्गलोक हुआ। इन्द्र यहां के शवसोनपात बनाये गए। यहां की प्रजा देवता कहलाई।

इसी प्रकार अफ्रीका, अमरीका, यूरोप नाम के तीन महाप्रान्त असुरों को दिये गए—यही असुर-त्रिलोकी कहलाई।

देव-युग में देव व देवयोनि-भेद से दो श्रेणियां थीं। 'स्वर्ग' में रहनेवाली प्रजा 'देव' किंवा 'देवता' नाम से प्रसिद्ध थी एवं शर्यणावत पर्वत से आरम्भ कर हिमालय-पर्यन्त हिमालय की श्रेणियों में निवास करनेवाली जाति देव-योनि नाम से प्रसिद्ध थी। यही देव-युग में अंतरिक्ष लोक था। इसमें रहनेवाली जाति विद्याधर, अप्सरा, यक्ष, राक्षस आदि नामों से प्रसिद्ध थीं। 'सिद्धि'-जाति में ही सांख्य-दर्शन के प्रणेता महामुनि 'कपिल' का जन्म हुआ था। इसीसे इनकी ज्ञान-विद्या, 'सिद्ध-विद्या' के नाम से व्यवहृत हुई।

देवयुग-काल में देव-लोक में (स्वर्ग) आदित्य, सूर्य इत्यादि नामों से प्रसिद्ध इन्द्र, धाता, भग, पूषा, अर्यमा, त्वष्टा, वरुण, अंशु, विवस्वान्, सविता, विष्णु, मित्र ये बारह देव-जातियां प्रसिद्ध थीं। इन बारह सूर्यों किंवा आदित्यों में 'विवस्वान्' नाम की जाति को विशेष गौरव प्राप्त था। इसी जाति-विशेष के पुरुषों को आगे जाकर भारतवर्ष का साम्राज्य मिला था। इन्हींमें प्रबल प्रतापी

स्वयम्भू ब्रह्मा के मानस-पुत्र स्वायम्भुव नाम के विवस्वान् आदित्य सूर्य-वंश के आदि प्रवर्तक हुए। स्वयम्भू ब्रह्मा योग्य व्यक्तियों को अपना दत्तक पुत्र बना लेते थे। यही दत्तक पुत्र पुराण-इतिहास में मानस-पुत्र नाम से प्रसिद्ध हैं। जैसे भृगु वरुण के औरसपुत्र थे, किन्तु आगे जाकर ब्रह्मा के मानस-पुत्र कहलाने लगे।

देव-त्रिलोकी में रहनेवाली प्रजा के उन्होंने पांच वर्ग बनाये—ऋषि, पितर, देवता, देवयोनि व मनुष्य। प्राकृतिक प्राण-तत्त्व ऋषि कहलाता है। वशिष्ठ, विश्वामित्र आदि सब प्राणात्मक ऋषि हैं, सृष्टि-प्रवर्त्तक मौलिक तत्त्व हैं। जिन्होंने अपने तपोयोग से प्राणात्मक जिस ऋषि-तत्त्व का आविष्कार किया, वे उसी नाम से प्रसिद्ध हुए। ये पृथ्वी (भारत) अंतरिक्ष स्वर्ग सबमें भ्रमण व विचरण करते थे। ब्रह्मा, ऋषि, देव, ब्राह्मण, विप्र इनके पांच अवांतर विभाग थे।

इस ऋषि-प्राण को यजुः-तत्त्व कहते हैं। यजु में यत् + जू दो विभाग हैं। यत् गति-तत्त्व है, यही प्राण है; जू स्थिति-तत्त्व है, यही 'वाक्' कहलाता है। प्राण-ऋषि के व्यापार से वाक् द्रुत होकर अप् स्वरूप में परिणत हो जाती है। यही ऋषि-प्राण की यौगिक अवस्था है। अनेक मौलिक (ऋषि) प्राणों के रासायनिक संयोग से उत्पन्न होनेवाला यौगिक आत्म-प्राण, किंवा सौम्य प्राण ही 'पितर' है। ऋषि से सर्वप्रथम इस सौम्य-प्राण-रूप पितर का ही विकास होता है। जिन मनुष्यों के अन्तरात्मा में इतर प्राणों की अपेक्षा पितर प्राण विशेष रूप से विकसित था, ये ही मनुष्य देव-युग में 'पितर' नाम से प्रसिद्ध थे। यह एक स्वतन्त्र-जाति थी। यही पितृ-लोक आज दिन 'मंगोलिया' नाम से प्रसिद्ध है। इस पितर प्रजा पर स्वायम्भुव विवस्वान् के कनिष्ठ पुत्र वैवस्वत 'यम' का शासन था।

यह पितर प्राण 'स्नेह व तेज' भेद से दो भागों में विभक्त हुआ। स्नेह-तत्त्व भृगु कहलाया, तेज-तत्त्व अंगिरा। भृगु की अवस्था—विशेष रूप दाह्य सोम के सम्बन्ध से अंगिरा—अग्नि ही प्रज्वलित होकर सूर्य रूप में परिणत हुआ। इस सोमाग्निमय ज्योतिर्घन सौर-प्राण का नाम ही देवता हुआ। यह देव-प्राण ही आगे जाकर आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य प्रजापति वषट्कार-भेद से तेतीस विभागों में परिणत हुआ। यही तेतीस प्राकृतिक नित्य-प्राण देवता कहलाये। जिन मनुष्यों के अंतरात्मा में जिस प्राण-देवता का विकास था, वे उसी नाम से प्रसिद्ध हुए। जिस युग में स्वयम्भू के द्वारा यह अपूर्व अन्वेषण होकर पृथ्वी पर मनुष्यों में ही देव-व्यवस्था प्रतिष्ठित हुई, वही देव-युग कहलाया। हिमालय पर्वत

की श्रेणियों से उस पार (४७।। अक्षांश से ९० तक) का स्थान स्वर्ग कहलाया जैसा कि 'उत्तरे हिमवत् पार्श्वे पुण्ये सर्वगुणान्विते' इत्यादि भारत-वचनों से स्पष्ट है। इसी स्वर्गलोक में यह जाति निवास करती थी। बारह आदित्यों में से प्रसिद्ध इन्द्र नामक देव-जाति के व्यक्ति-विशेष इन्द्र समय-समय पर स्वर्गाध्यक्ष बनाये जाते थे। ये इन्द्र स्वर्ग के स्वाराट शासक थे।

किन्तु यहां 'देवता' से अभिप्राय सुरलोक या स्वर्गवासी व्यक्तियों से है—पौराणिक देवताओं से है। सुख की कामना से जो लोग साधना या तप करते हैं, वे स्वर्ग में जाते हैं। स्वर्ग में तो देवता ही रहते हैं। पुण्य क्षीण होने पर, सुख-काल की अवधि पूरी होने पर वे फिर वहां से दूसरे लोक या स्थान को जाते हैं। उनमें से कई नरक में भी जाते हैं—दुःख भी भोगते हैं। यह सुख-दुःख-भोग का फेरा तबतक लगा ही रहता है जबतक कामना या वासना से प्रेरित होकर वे कर्म करते रहते हैं। जहां कामना-वासना है, वहां राग-द्वेष का डेरा पड़ा हुआ ही समझिये। जहां राग-द्वेष है, वहां स्वतः को अशान्ति, सन्ताप, परिताप व दूसरों को समय-प्रसंगानुसार दुःख-भोग बना ही हुआ है। इसीलिए वसुदेवजी ने साधुओं को देवताओं से भी श्रेष्ठ ठहराया है।

"देवताओं को तो जो लोग जिस प्रकार भजते हैं, वे उन्हें वैसा ही फल देते हैं। वे छाया की तरह कर्मों का अनुसरण करनेवाले हैं, किन्तु साधु जन (स्वभाव से ही) दीनों पर कृपा करनेवाले होते हैं।" ॥६॥

देवता तो न्याय की तराजू हाथ में लेकर बैठते हैं, व कर्म देख-देखकर उसका वैसा फल देते हैं। परन्तु सत्पुरुष दया की नाव लेकर निकलते हैं और संसार-सागर में गोता खाते हुए असहाय मनुष्यों को उबारते हैं। भले के साथ भलाई करना कोई बड़ी बात नहीं है। बुरे के साथ बुराई दुनिया में आमतौर पर की जाती है। परन्तु सत्पुरुष समाज की इस सामान्य सतह से ऊपर उठे हुए होते हैं। वे बुरे के साथ भी भलाई ही करते हैं। वे सारे व्यक्ति को सदैव बुरा नहीं मानते। व्यक्ति के जो कर्म बुरे होते हैं, उन्हींकी निन्दा करते हैं व व्यक्ति पर तो सदा अपने दयामृत की वृष्टि ही करते हैं। जहां मानवता है, वहां न्याय की भूमिका तो आमतौर पर अपेक्षित ही रहती है। ज्यों-ज्यों मनुष्य का विकास होता है, त्यों-त्यों वह दया-भूमिका की ओर अग्रसर होता है। न्याय में अपने व सामनेवाले दोनों के स्वार्थ या हित का विचार रहता है। दया में अपने सुख-स्वार्थ की विस्मृति व दूसरों के, खासकर

दीन-दुखियों के, उद्धार व सहायता का भाव रहता है। दया-भाव से ऊपर की भूमिका आत्म-भाव—आत्मवत् सर्वभूतेषु—अद्वैत-स्थिति है।

"ब्रह्मन् (यद्यपि आपके दर्शन-मात्र से मैं पवित्र हो गया हूं तो भी) आपसे भागवत-धर्मों के विषय में पूछना चाहता हूं, जिनका श्रद्धापूर्वक श्रवण करने से मनुष्य सब प्रकार के भय से मुक्त हो जाता है।" ॥७॥

वसुदेव ने नारदजी से धर्म के विषय में प्रश्न किया। यह सब तरह से उचित ही था। एक तो वह बूढ़े हो चले थे, दूसरे जब सत्पुरुष का समागम हो तो धर्म व ज्ञान की चर्चा करना ही उनसे यथोचित लाभ उठाना है। हिन्दू-धर्म की आश्रम-व्यवस्था के अनुसार चौथेपन में सर्व-संग त्याग कर जीवन को भगवान्मय बनाकर रहने का विधान है। परन्तु यह कोई आवश्यक नहीं है कि मनुष्य अपने जीवन के अन्तिम समय में ही भगवान् की ओर अग्रसर हो। जैसे बुढ़ापा मानव की आयु के विकास की अन्तिम सीढ़ी है वैसे ही वह ज्ञान व अनुभव की भी है। धर्म का ज्ञान मनुष्य को तभीसे मिलना चाहिए जबसे उसकी बुद्धि उसे ग्रहण करने के योग्य होने लगे। धार्मिक संस्कार तो बचपन से ही शुरू हो जाने चाहिए; बल्कि हिन्दू-समाज में तो गर्भाधान से ही शुरू हो जाते हैं। यह प्राचीन लोगों के दीर्घ व विशाल अनुभवों का परिणाम है। ठेठ जड़ से ही उन्होंने मनुष्य को ठीक बनाने का उपाय किया है।

धर्म से अभिप्राय यहां कर्म-काण्ड या धार्मिक बाहरी विधि-विधान या क्रिया-कलाप से नहीं है, बल्कि उस नियम या मार्ग से है, जिससे मनुष्य की आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति होकर वह परम शान्ति व सुख का अनुभव कर सके। धर्म का यह वैयक्तिक पहलू हुआ। धर्म का सामाजिक पहलू यह है कि उसके द्वारा समाज का उत्थान होता रहे। भागवत-धर्म[1] से अभिप्राय यहां शाश्वत, सनातन-धर्म से है, किसी सम्प्रदाय विशेष से नहीं।

धर्म का यह दावा है कि वह मनुष्य को सब भयों से मुक्त कर देगा। परन्तु शर्त यह है कि श्रद्धापूर्वक उसका अनुसरण किया जाय। जब धर्म का विवरण श्रद्धापूर्वक सुना जायगा तभी उसके आचरण की स्फूर्ति मनुष्य को हो सकती है। यहां श्रद्धा में दोनों भाव लिये गए हैं—१. मन लगाकर सुनना व जो समझ में आ गया उसपर दृढ़ता के साथ अमल करना, २. यदि अपनी समझ में न आता हो तो श्रद्धेय आत्मजनों के उपदेश पर विश्वास रखके चलना। दूसरे अर्थ में 'श्रद्धेय

[1] देखिये परिशिष्ट १

आप्त' का चुनाव अच्छा होना चाहिए। जो हमें सदैव सत्पथ की ओर अग्रसर करता रहे, सदैव जिसके मन में हमारे हित की ही भावना रहे, जो धर्म-अधर्म, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, नीति-अनीति, पाप-पुण्य का आवश्यक ज्ञान रखता हो व तद-नुसार अपना जीवन बनाता रहता हो, उसे हम अपना आप्त मान सकते हैं।

"मैंने देव-माया से मोहित होकर अपने पूर्वजन्म में मुक्ति-प्रद भगवान् का सन्तान के लिए ही पूजन किया था, मोक्ष के लिए नहीं।" ॥८॥

वसुदेव को अपने पिछले जन्म-कर्म पर पश्चात्ताप-सा हो रहा है। यों तो विचारशील मनुष्य हर अवस्था में, खासकर कष्टों व कर्त्तव्य-मूढ़ता के विशेष अव-सरों पर, अपने जीवन का सिंहावलोकन करता ही रहता है, परन्तु बुढ़ापे में, जबकि उसे मृत्यु नजदीक आती दिखाई देती है, तत्सम्बन्धी तथा उसके बाद क्या होगा, इस विषय के विचार ज्यादा जोर से आने लगते हैं, वे पिछले जीवन का सिंहावलोकन करने के लिए मजबूर करते हैं। वह सिंहावलोकन उसे आगे प्रगति में सहायता व उत्साह देता है। यदि उसके शुभ कर्म अधिक हैं तो भविष्य के लिए वह निश्चिन्तता व शान्ति अनुभव करने लगता है। यदि बुरे अधिक हैं तो अबसे अधिक शुभ कर्म में प्रवृत्त होने की प्रेरणा मिलती है।

वसुदेवजी महसूस करने लगे कि मैंने तो भगवान् का पूजन केवल सन्तान के लिए किया था। जब स्वायम्भुव मनु का राज्य था तब मैं सुतपा नामक प्रजापति था व देवकी, मेरी पत्नी, का नाम पृश्नि था। ब्रह्माजी ने जब मुझे प्रजा उत्पन्न करने की आज्ञा दी तो मैंने ईश्वर के सदृश पुत्र-प्राप्ति के लिए घोर तप किया, जिससे प्रसन्न होकर भगवान् ने ऐसा ही वर दिया और आज वह श्रीकृष्ण के रूप में मेरे घर की शोभा बढ़ा रहे हैं। मुझे उस समय संसार का अनुभव नहीं था और सन्तान भी नहीं हुई थी। इसलिए मोहवश यही वर मांग लिया। लेकिन मैं सम-समझता हूं कि मुझे मोक्ष का वर मांगना चाहिए था, जिससे मैं संसार की तमाम आपत्तियों, दुःखों, क्लेशों से छुटकारा पा जाता। खैर तब भूल की तो अब उसे सुधार लेना चाहिए। यह विचार कर उन्होंने नारदजी से धर्म-मार्ग बतलाने के लिए प्रार्थना की।

"अतः हे सुव्रत, हमें ऐसा स्पष्ट उपदेश दीजिये कि हम आपको निमित्त बना-कर नाना प्रकार के दुःखों से पूर्ण और सब ओर भ्रमों से व्याप्त इस संसार

से[1] अनायास ही मुक्त हो सकें ।" ॥६॥

संसार सुखमय है या दुःखमय, इसके विषय में दो मत हैं । जो सुखमय मानते हैं, उनकी दलील यह है कि यदि संसार सचमुच ही दुःखमय होता तो मनुष्य जीवित रहने का इतना उद्योग न करता, आत्म-हत्या कर लेता । वे कहते हैं कि संसार में सुख स्वतःसिद्ध है । दुःख आगन्तुक है । सुख के विपरीत जब कोई स्थिति होती है तो दुःख महसूस होता है । अपने जीवन की सुख की व दुःख की घड़ियों का हिसाब लगावें तो सुख का ही पलड़ा भारी बैठेगा । दुःखवादी कहता है कि हर आदमी सुख के लिए छटपटाता है । इससे साबित होता है कि दुःख अधिक है । यदि सुख स्वभावसिद्ध है तो आगन्तुक दुःख की निवृत्ति के लिए मनुष्य इतना आकाश-पाताल एक नहीं कर डालता । मोक्ष की कल्पना भी दुःख के छुटकारे के रूप में ही हुई है । अधिकांश लोग मोक्ष चाहते हैं । इससे सिद्ध होता है कि दुःख अधिक है ।

चाहे सुख अधिक हो व दुःख, इसमें शक नहीं कि संसार में दुःख व भय हैं और मनुष्य चाहता है व यह उचित भी है कि वह उनसे छूटे । वसुदेवजी ने अपने जीवन में प्रत्यक्ष ही भिन्न-भिन्न प्रकार के दुःखों व भयों का अनुभव किया था। विवाह होते ही कैदखाने में डाल दिये गए, उनके आठ पुत्र मार डाले गए, मथुरा छोड़कर ठेठ द्वारका जाकर रहना पड़ा । कौरव-पाण्डवों का दारुण युद्ध देखा, अब यादवों का नाश का दृश्य सामने उपस्थित है, ऐसी दशा में उन्हें शान्ति की आवश्यकता थी । अतः उन्होंने नारदजी से यही चाहा कि वह उन्हें तमाम भयों व दुःखों से छुटकारे का मार्ग दिखावें । फिर वह मार्ग सरल हो, अनायास ही जिससे

---

[1]**संसार विश्व या जगत्**—"जीव-समष्टि और प्रकृति अर्थात् जड़-समष्टि के सम्मिश्रण को जगत् कहते हैं । परिवर्तन या एक भाव से दूसरे भाव में जाना (Change) ही संसार का स्वरूप है । नित्य परिवर्तनशील या परिणम्यमान भाव ही जगत् है । प्रवृत्ति-आविर्भावादि विकार या परिणाम ही जगत् का स्वभाव है, जगत् का अव्यभिचारी धर्म है । एक मुहूर्त के लिए भी जगत् प्रवृत्ति-शून्य नहीं है । क्षणकाल के लिए भी कोई जागतिक पदार्थ एक भाव में, (परिवर्तन हुए बिना) अपने स्वरूप में, नहीं रह सकता ।

"संसार' व 'जगत्' दोनों गतिसूचक हैं' । यह बाह्य जगत् मूल-रूप से देश, काल व वस्तु के सिवा कुछ नहीं ।"

काम बन जाय।

शुकदेवजी बोले—"हे राजन्, बुद्धिमान वसुदेवजी के इस प्रकार प्रश्न करने पर भगवान् के गुणों द्वारा भगवान् का स्मरण करा दिये जाने के कारण देवर्षि नारद उनसे प्रसन्न होकर बोले।" ॥१०॥

नारदजी बोले—"हे यादवश्रेष्ठ, आपका यह विचार बहुत ही उत्तम है, क्योंकि आप सबको पवित्र करनेवाला भागवत-धर्म पूछ रहे हैं। वसुदेवजी, श्रवण, बार-बार पठन, स्मरण, आदर अथवा अनुमोदन किये जाने पर यह भागवत-धर्म विश्व के द्रोहियों को भी तत्काल पवित्र कर देता है। जिन परम-कल्याणकारी भगवान् नारायण का नाम व लीलाओं के श्रवण-कीर्तन से मनुष्य पवित्र हो जाते हैं, उनका आज आपने मुझे स्मरण करा दिया है। यह मुझपर बड़ा उपकार किया है।" ॥११-१२-१३॥

नारदजी को वसुदेव की धर्म-जिज्ञासा पसन्द आई, क्योंकि भागवत-धर्म और तो ठीक मनुष्य ही नहीं सारे विश्व के द्रोहियों को भी तत्काल पवित्र कर देता है। जो भले व साधु पुरुष हैं, सच पूछिये तो धर्म व व्यवस्था की उन्हें क्या जरूरत है? उनका तो सारा जीवन ही धर्ममय, नियमित व व्यवस्थित रहता है। धर्म या सदाचार की वास्तविक आवश्यकता उन्हींके लिए है, जो अज्ञान, मोह, स्वार्थान्धता के चक्कर में पड़कर दूसरों का द्रोह करते हैं व परिणाम-स्वरूप स्वतः अनेक प्रकार के कष्ट भोगते हैं। दूसरे धर्म सज्जनों को सद्गति व दुर्जनों को अधोगति देते हैं; यह भागवत-धर्म ही है, जो दुर्जनों को भी पवित्र बनाने का आश्वासन देता है। जिनका हृदय दोष, पाप, कुकर्म, परपीड़न, अत्याचार आदि से कलुषित हो जाता है, उन्हें उद्धार के कष्टकर मार्ग पर चलने का साहस व उत्साह नहीं होता। उनमें इतनी शक्ति भी नहीं रह जाती। इसलिए सरल मार्ग की आवश्यकता हुई। नारदजी कहते हैं कि भागवत-धर्म से बढ़कर कोई सरल मार्ग नहीं है। 'अपनेको सब तरह भगवान् के अर्पण करके संसार में रहना' भागवत-धर्म का मुख्य सिद्धान्त है।

महापुरुषों के सद्गुणों, सत्कार्यों के श्रवण, स्मरण से हमारे मन में भी वैसी ही स्फूर्ति पैदा होती है। इसलिए उनके श्रवण-मनन का माहात्म्य है। तब स्वतः भगवान् नारायण के गुणों का श्रवण करने से नारदजी का प्रसन्न होना स्वाभाविक ही था।

"इस विषय में महात्मा राजा विदेह और ऋषभ-पुत्रों के संवाद-रूप प्राचीन इतिहास का उदाहरण देता हूं।" ॥१४॥

राजा जनक (विदेह) जीवन्मुक्त माने जाते हैं। ऐतिहासिकों का कहना है कि 'विदेह' किसी एक राजा का नाम नहीं था, बल्कि राजा की पदवी या विशेषण था। उस गद्दी पर बैठनेवाले सभी राजा विदेह कहलाते थे। हमें यहां प्रयोजन भागवत-धर्म के तात्पर्य से है, ऐतिहासिक निर्णय से नहीं।

"स्वायम्भुव मनु के जो प्रियव्रत नामक पुत्र थे, उनसे आग्नध्रि का जन्म हुआ तथा आग्नध्रि के नाभि व नाभि के ऋषभजी हुए।" ॥१५॥

इन्हीं ऋषभदेव को जैन लोग अपना आद्यतीर्थंकर[१] मानते हैं। ब्राह्मण-धर्म में ये चौबीस अवतारों में गिने गए हैं, इस तरह जैन तथा ब्राह्मण दोनों धर्मों में ऋषभदेव का आदर किया जाता है।

"कहते हैं, ऋषभजी[२] भगवान् वासुदेव के अंश थे; उन्होंने मोक्ष-धर्म का उपदेश करने के लिए ही अवतार लिया था। उनके सौ पुत्र थे और वे सभी वेद के पारगामी थे। उनमें सबसे बड़े भरतजी थे, जो भगवान् नारायण के परम भक्त थे। उन्हींके नाम से यह अद्भुत देश भारतवर्ष[3] नाम से विख्यात हुआ है।" ॥१६-१७॥

मोक्ष कहते हैं––तापत्रय (आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक) से सदा के लिए छुटकारा पाने को। कहीं-कहीं पुनर्जन्म से छुटकारा पाना भी मोक्ष का हेतु बताया गया है। 'आनन्दरूप ब्रह्म की प्राप्ति तथा शोक-निवृत्ति' को भी मोक्ष कहा है (वे० प० पृ० १९७) मोक्ष ज्ञान का फल है। संसार के समस्त बन्धनों का कारण अविद्या––अज्ञान है। भारत के सभी दर्शन-सम्प्रदाय इसे एक-रूप से मानते हैं। योग-सूत्र (२।५) में अविद्या की व्याख्या इस प्रकार की गई है––अनित्य, अशुचि, दुःख और अनात्मा को क्रमशः नित्य, शुचि, सुख तथा आत्मा मान बैठना अविद्या है। यही सारी अस्मिता, राग-द्वेष तथा अभिनिवेश-क्लेशों की जननी है। वस्तु या पदार्थ के वास्तविक स्वरूप का निश्चय न कर पाना

[१] धर्म-प्रचारक सिद्ध पुरुषों को जैन लोग 'तीर्थंकर' कहते हैं।

[२] इनका विस्तृत जीवन भागवत के पांचवें स्कन्ध में (अ० ४-६) देखिये।

[3] देखिये परिशिष्ट २

अविद्या का सामान्य लक्षण है। 'सर्वज्ञता का संकोच या अल्पज्ञता' भी अविद्या है। अविद्या से छूटने का उपाय विद्याज्ञान है। यही बन्धनों से छूटने का, मुक्ति का, एकमात्र उपाय है। नानात्व के ज्ञान से बन्धन—संसार—है। एकत्व के ज्ञान से मुक्ति है।

ऋषभदेव ने मोक्षमार्ग का उपदेश व प्रचार किया। इसके आधार पर जैन-धर्म का काफी विकास आगे चलकर हुआ है। इनके सभी पुत्र ज्ञानी व पंडित थे। वेद से अभिप्राय यहां सारे ज्ञान-विज्ञान से विशेषकर ब्रह्म-विद्या से है। उनमें भरतजी भक्ति-मार्गी थे—भगवान् नारायण में उनकी परम भक्ति थी। 'जल में व्याप्त जो चेतन रूप है, उसे नारायण कहते हैं।'[1] जल का अर्थ जीवन भी है। अतः इसका भावार्थ हो सकता है—जो जीवनमय है, रसमय है, (जल की तरह) पवित्र करनेवाला है। जल एक महाभूत भी है, अतः महाभूत पर सत्ता चलाने-वाला भी लिया जा सकता है। अद्वैत सम्प्रदाय के लोग भगवान् नारायण को ही अपना आद्य आचार्य मानते हैं। श्री शंकराचार्य तक उनकी आचार्य-परम्परा इस प्रकार है—श्री नारायण, श्री ब्रह्मा, वशिष्ठ, शक्ति, पराशर, व्यास, शुकदेव, गौडपादाचार्य व शंकराचार्य। सामान्यतः 'नारायण' से भगवान्, ईश्वर, विष्णु का भाव लिया जाता है।

"उन्होंने इस भुक्तभोगा पृथिवी को त्यागकर, वन में जा, तपस्या-द्वारा श्रीहरि की उपासना की और तीन जन्म पश्चात् मोक्ष-पद प्राप्त किया।" ॥१८॥

प्राचीन भारत में राजपाट, गृहस्थ जीवन को छोड़कर वन में जा तप करके ईश्वर या मोक्ष-प्राप्ति की प्रणाली व उसके उदाहरण बहुत पाये जाते हैं।

---

[1] श्रीमद्भागवत (२।१०।१०-११) में 'नारायण' की व्युत्पत्ति इस प्रकार बतलाई गई है—"जब विराट् पुरुष ब्रह्मांड को फोड़कर निकला तो अयन (निवास-स्थान) की इच्छा से इस शुद्ध-संकल्प पुरुष ने जल की सृष्टि की। पुरुष अर्थात् 'नर' से उत्पन्न होने के कारण जल का नाम नार है। उस अपने रचे हुए नार में वह पुरुष एक सहस्र वर्ष रहा, अतः उसका नाम नारायण हुआ।"

विष्णु-पुराण (३।४।६) में लिखा है—

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
अयनं तस्य ताः पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥

संन्यास[1] या वैराग्य की यह परंपरा अब भी जारी है, हालांकि अब उसमें वास्तविकता कम व बाह्याचार—ढोंग अधिक रह गया है।

आजकल की बहुतेरी साधुओं की जमातें व संन्यासियों का झुण्ड इसीका परिचायक है। परन्तु भरतजी सच्चे मोक्षसाधक थे। मोक्ष तबतक असंभव है जबतक कि पहले तो बुद्धि को आत्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान न हो, दूसरे उस ज्ञानानुरूप जीवन या वृत्तियां न बन जायं, दूसरे शब्दों में आत्मनिष्ठता या ब्रह्मनिष्ठता न

---

[1]**संन्यास**—विषय-सुख की खोज से निवृत्त होने का नाम 'संन्यास' है। संन्यासी विषय-सुख को छोड़कर आत्म-सुख की प्राप्ति के लिए चेष्टा करता है। उसके सुख का पता विषय-लोलुपों को नहीं लग सकता। उसकी दृष्टि में सारा जगत् सुखमय हो जाता है। उसको आत्मानंद अपार होता है। प्राचीन काल में जब भारत में वैदिक धर्म तथा जैन व बौद्ध धर्मों का बोलबाला था, अधिकांश भारतवासी निजानन्द का अनुभव करने के लिए सब प्रकार के विषय-सुख का परित्याग कर संन्यास ग्रहण किया करते थे। शंकराचार्य ने इसे संस्था का रूप दिया व भारत के चार कोनों में शृंगेरी, शारदा, ज्योतिः व गोवर्धन चार मठ स्थापित किये। संन्यासियों के दश नाम गिरी, पुरी, भारती, तीर्थ, आश्रम, सरस्वती, वन, अरण्य, पर्वत, सागर हैं।

श्री कि० घ० मश्रुवाला के मतानुसार जब कर्मकाण्ड और उपनयनादि संस्कारों की विधियों का इतना महत्त्व था कि उनको न पालन करनेवाला समाज में निन्दा या दण्ड-पात्र समझा जाता था, तब जो व्यक्ति अपने जीवन के सच्चे ध्येय की सिद्धि में इन्हें बाधक मानता था, वह संन्यास लेकर इनकी जिम्मेवरी से बरी हो जाता था। अब कोरे नामवेशधारी संन्यासियों की बहुतायत होने से व देश-काल बदल जाने से वह कहते हैं कि संन्यास-प्रथा अनावश्यक हो गई है। संन्यास के मूल में स्थित त्याग, अपरिग्रह, सादगी, अनासक्ति, वैराग्य, ब्रह्मचर्य, क्षमा-शान्ति, नम्रता की भावना तथा तप और आत्मज्ञान-सम्बन्धी व्याकुलता की वह सराहना करते हुए उनपर तो जोर देते हैं; किन्तु इस परिपाटी को अनुपयोगी मानते हैं।

(देखिये जीवन-शोधन खंड ५, संन्यास-प्रकरण)

प्राप्त हो जाय। दैवी सम्पत्ति[1] अर्थात् सात्विक गुणों के विकास के बिना ऐसी निष्ठा किसी प्रकार नहीं हो सकती। सभीके लिए यह एक जन्म में साध्य नहीं हो सकता।[2] इसकी अवधि मनुष्य के संस्कारों पर, वृत्तियों पर अवलम्बित रहती है। मोक्ष-प्राप्ति कितनी दुर्लभ है, उसके लिए कितना पुरुषार्थ करने की जरूरत है, यह इसी बात से साबित होता है कि वेद-पारगामी भरतजी जैसों को भी मुक्ति पाने के लिए तीन जन्म लेने पड़े।

अन्य बातों को छोड़कर जब किसी एक ही वस्तु पर संयम या एकाग्रता की जाती है व उसके मार्ग में आनेवाले तमाम मोहों, कष्टों, संकटों, क्लेशों को शान्ति के साथ सहकर अपनी साधना में अडिग रहा जाता है, तब उसे तप कहते हैं।[3] किसी सदुद्देश के लिए तप किया जा सकता है। जो अपनी आत्मा को संकुचितता से ऊपर उठाकर सर्वव्यापक बनाना चाहते हैं, वे सर्वव्यापक ब्रह्म पौराणिकों की भाषा में, हरि, राम, कृष्ण, नारायण, विष्णु आदि की उपासना करते हैं। आत्मा की इस सर्वव्यापकता—सिद्धि का ही दूसरा नाम मोक्ष है। 'उपासना' का शब्दार्थ तो 'समीप होना', 'सदृश होना' है; परन्तु अब लक्षणार्थ से वह भक्ति, साधना, तप आदि भावों में भी व्यवहृत होता है। यहां अभिप्राय भक्ति से ही है।

---

[1] **दैवी सम्पत्ति**—गीता के सोलहवें अध्याय में दैवी सम्पत्ति के लक्षण बताये गए हैं—अभय, सत्व-संशुद्धि, ज्ञान व योग में स्थिरता, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, चुगली न खाना, प्राणियों पर दया, लालच न होना, मृदुता, लज्जा, अचंचलता, तेज, क्षमा, धृति, पवित्र आचार, द्रोह का अभाव व निर्मानिता (श्लो० १ से ३ तक)

[2] 'अनेक जन्म संसिद्धस्ततो याति परांगतिम्।'

[3] निरालम्बोपनिषद् के अनुसार 'ब्रह्म' सत्य है और जगत् मिथ्या है। इस प्रकार के अपरोक्ष ज्ञान-रूप अग्नि से ब्रह्मादि के ऐश्वर्य की कामना-सिद्धि के संकल्प-बीज को दग्ध कर देना ही तप है।

'तपस्' क्या है? 'आंच', 'गर्मी' जो शक्ति या गति का एक रूप है। गर्मी से गति पैदा होती है। अतः 'तपस्' है शक्ति को अपने प्रयोग के योग्य बनाकर संचित रखना। सभी लोग शक्ति-संचय के लिए तपस्या करते हैं और अभीष्ट पा सकते हैं।

"उन शेष निन्नानवे में से नौ इस भूमंडल के सब ओर नवों द्वीपों के अधिपति हुए और इक्यासी कर्मतंत्रों के रचयिता ब्राह्मण हो गये।" ॥१९॥

प्राचीन काल में यह सारा भूमण्डल नवद्वीपों से घिरा हुआ माना जाता था।

'तन्त्र' का अर्थ वह शास्त्र है, जिसके द्वारा ज्ञान का विस्तार किया जाता है (तन्यते विस्तार्यते ज्ञानमनेन इति तन्त्रम्) और जो साधकों का त्राण या रक्षा करता है। शैव-सिद्धान्त में तन्त्र की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी गई है—

तनोति विपुलानर्थान् तत्व-मन्त्र-समन्वितान्।
त्राणं च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते॥

अतः तन्त्र का व्यापक अर्थ शास्त्र, सिद्धान्त, अनुष्ठान, विज्ञान, विज्ञान-विषयक ग्रन्थ आदि हैं। शंकराचार्य ने सांख्य को (स्मृतिश्चतन्त्राख्या परमर्षि-प्रणीता) तन्त्र माना है। और महाभारत में न्याय, धर्म-शास्त्र, योग-शास्त्र आदि तन्त्र माने गए हैं। 'न्याय तन्त्राण्यनेकानि तैस्तैरुक्तानि वादिभिः', 'यतयो योग-तन्त्रेषु यान् स्तुवन्ति द्विजातयः।' किन्तु यहां तन्त्र से अभिप्राय उन धार्मिक या कर्मकाण्ड-विषयक ग्रन्थों से है, जो तन्त्र-मन्त्र आदि से युक्त एक खास साधन-मार्ग का उपदेश देते हैं। तन्त्रों का दूसरा नाम आगम है। तन्त्र जीवात्मा को परमात्मा के साथ मिलाने की व्यावहारिक साधना है। भूत-सिद्धि तथा विभिन्न प्रकार के न्यास उसके खास अंग हैं। इसमें शरीर को भगवान् या भगवती का आसन मानते हैं। उसके साथ अपना तादात्म्य करना पड़ता है। आगे चलकर पूजन की सारी सामग्री के साथ अपनी तन्मयता सिद्ध करनी पड़ती है। सरल भाषा में कहें तो प्राप्त ज्ञानानुकूल जीवन बनाने के विधि-विधानों और साधनों का नाम तन्त्र है।

"तथा नौ परमार्थ का निरूपण करनेवाले महाभाग मुनिवर हुए; वे आत्म-विद्या में श्रम करनेवाले, दिगम्बर और अध्यात्म-विद्या में कुशल थे।" ॥२०॥

व्यक्ति के अपने संकुचित, भौतिक, शरीर सुख-सम्बन्धी इच्छा व भाव को 'स्वार्थ' तथा परोपकार, समाज-सेवा, दया-वृत्ति, मानसिक या आध्यात्मिक सुख के भाव को परमार्थ कहते हैं। मोक्ष के अर्थ में भी 'परमार्थ' शब्द का व्यवहार होता है। यहां परमार्थ से अभिप्राय आत्म-विद्या से है। जिस विद्या का सम्बन्ध आत्मा से, आत्म-ज्ञान से है, वह 'आत्म-विद्या' व जिसका सम्बन्ध स्थूल जगत के

मूल या कारणभूत सूक्ष्म तत्त्व[१] या वस्तु-तत्त्व-विज्ञान से है, वह अध्यात्म-विद्या है। यहां तीनों शब्दों से एक ही आशय ब्रह्म-विद्या या ब्रह्म-ज्ञान है।

उन्होंने बाह्य त्याग को पराकाष्ठा पर पहुंचा दिया था। वस्त्र तक छोड़ दिये थे—दिशाओं को ही उन्होंने अपना वेश मान लिया था, अतः वे दिगम्बर हुए। जैनियों में एक सम्प्रदाय भी 'दिगम्बर' नाम से है। ईसा-पूर्व तीसरी सदी में श्वेताम्बर तथा दिगम्बर नामक दो सम्प्रदाय जैनियों में हो गये। प्राचीन संघ नग्नता के आदर्श को मानता था, लेकिन सुधारक मागध-संघ ने श्वेताम्बर (सफेद कपड़ा) धारण का विधान किया। दोनों के तत्त्व-ज्ञान में भेद नहीं है—सिर्फ आचार में ही है। दिगम्बरों में धार्मिक नियमों की उग्रता और श्वेताम्बरों में मानव कमजोरियों के खयाल से उदारता या शिथिलता कर दी गई है। दिगम्बरियों के मतानुसार केवली—केवल ज्ञान-सम्पन्न—भोजन नहीं करता, न स्त्रियों को मोक्ष प्राप्त हो सकता है। उन्हें मोक्ष के लिए पुरुष जन्म लेना पड़ता है। दिगम्बर-सम्प्रदाय के साधु नंगे रहते हैं, वैरागियों में भी 'नागा' साधुओं की एक जमात है। यों जैनियों के 'नंगे' साधुओं का मजाक उड़ाया जाता है। समाज की ओर से कहीं-कहीं इस प्रथा के विरुद्ध आवाज भी उठाई जाती है। परन्तु विचार करने से मालूम होगा कि 'नग्नता' की साधना कोई मामूली बात नहीं है। कृत्रिम साधनों से जननेन्द्रिय को निर्वीर्य बना डालना 'नग्नता' की साधना नहीं, विडम्बना है। शम, दम और तितिक्षा के द्वारा जब सब इन्द्रियों पर हमारा आधिपत्य हो जाता है तभी ऐसी स्थिति प्राप्त हो सकती है। सचमुच जो समाज में निर्विकार रहकर नंगा रह सकता है, वह महान् अद्भुत पुरुष है। 'नग्नता' का अर्थ है अ-मिश्र अनावृत सत्य। जो भीतर-बाहर सत्य से परिपूर्ण होगा, उसीको नग्न रहने का अधिकार प्राप्त हो सकता है।

"उनके नाम ये थे—कवि, हरि, अंतरिक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, आविर्होत्र, द्रुमिल, चमस और कर-भाजन।" ॥२१॥

"वे सत् और असत् रूप सम्पूर्ण संसार को अपने से अभिन्न भगवद्रूप देखते हुए पृथ्वी पर विचरते थे।" ॥२२॥

---

[१] वस्तु या पदार्थ का असली व मूल रूप जिसका विभाजन न हो सके, और जो सब प्रकार के मिश्रण से रहित हो, अकेला, स्वतन्त्र हो, तत्त्व कहलाता है।

'सत्', 'असत्' के दो-दो अर्थ मिलते हैं। १. 'सत्' याने जो 'है' अर्थात् 'दीखता है' और 'असत्' माने जो 'नहीं है' 'नहीं दीखता है'। २. 'सत्' अर्थात् जो वास्तव में 'है' और सर्वकाल में रहता है (जो दीखता है वह नहीं) और 'असत्' अर्थात् जो दीखता है पर वास्तव में ऐसा नहीं है। हमें जो कुछ दीखता है, वह नाम-रूपात्मक संसार या सारी बाह्य सृष्टि है। इसके भीतर, इस सृष्टि का कारण-रूप तत्त्व छिपा हुआ है। अतः बाह्य सृष्टि 'व्यक्त' और आन्तर तत्त्व जिसे आत्मा 'कहते हैं अव्यक्त' कहा जाता है। अव्यक्त आत्मा का ही व्यक्त-रूप यह जगत् है। इस तरह भीतरी और बाहरी दोनों जगत् से उन्होंने अपनी एकता सिद्ध कर ली थी। उन्होंने सारी जड़-चेतन-सृष्टि में अपनेको मिला दिया था। इतना आत्म-विस्तार उन्होंने कर लिया था। अतः सबको भगवद्रूप देखने लगे थे। वह भगवान् की सरूपता को प्राप्त हुए।

"ये जीवन्मुक्त महात्मा, जिनकी स्वेच्छागति की कहीं रोक-टोक नहीं थी, देवता, सिद्ध, साध्यगण, गन्धर्व, यक्ष, किन्नर और नागों के लोकों में तथा मुनि, चारण, भूतनाथ, विद्याधर, ब्राह्मण और गौओं के स्थानों में यथेच्छ विचरने लगे।" ॥२३॥

जीवन्मुक्त के दो अर्थ हैं—१. वह जो जीते-जी मोक्ष को प्राप्त हो गया, २. वह, जो जीवन से अर्थात् संसार के आवागमन-चक्र से छूट गया। मुक्ति के बारे में भी दो कल्पनाएं हैं—एक तो यह कि शरीर के रहते हुए ही मुक्ति हो सकती है। दूसरे यह कि शरीर छोड़ने के बाद ही मुक्ति सम्भव है।

देवता, सिद्ध, आदि जातियों के नाम हैं जैसाकि पहले बताया जा चुका है। उन्हींके नाम से ये लोक विख्यात हुए हैं। किन्नर मुख तथा शरीर की आकृति से कुछ-कुछ मनुष्य के समान प्राणी थे। नृत्य-कला में निपुण थे। नागा-जाति की कन्याएं सौन्दर्य के लिए प्रसिद्ध थीं। अर्जुन द्वारा खाण्डव वन जलाये जाने पर नागा लोग दिल्ली के आस-पास से इधर-उधर भाग निकले। आसाम की पहाड़ियों में रहनेवाली नागा जाति शायद इन्हींमें से हो। जयपुर राज्य में नागा एक साधुओं की जाति है, जो बड़े वीर हैं। उनकी एक सेना ही बनी हुई है। ये दादू-पन्थी हैं। जन्मेजय का किया सर्प-यज्ञ नागा जाति के लोगों का स्वाहाकार था।

मौन-साधना से मनन करनेवाले को मुनि, बिरुदावली के रूप में वंश-इतिहास को सुनानेवाले चारण कहलाते थे। भूतनाथ सम्भवतः भूत-प्रेत-विद्याओं के जान-

कार थे व विद्याधर कलाकारों की एक जाति थी।

"एक बार वे अजनाभ-खण्ड (भारतवर्ष) में महात्मा राजा निमि के यहां, जो ऋषियों द्वारा यज्ञ करा रहे थे, अचानक जा पहुंचे।" ॥२४॥

ये राजा निमि 'विदेह' ही थे, जिनका जिक्र ऊपर आ चुका है।

"उन सूर्य सदृश्य तेजस्वी महा भागवतों को देखकर यजमान (राजा) ब्राह्मण गण और (मूर्त्तिमान आहवनीय आदि) अग्नि सब-के-सब खड़े हो गये।" ॥२५॥

महा भागवत के दो अर्थ हो सकते हैं—१. भागवत-धर्म के अनुयायी, २. भगवान् के भक्त।

यजमान कहते हैं—यज्ञ का अनुष्ठान करनेवाले को। आजकल घर के मालिक (Host) के अर्थ में इसका प्रयोग होता है। मराठी में स्त्री अपने पति को यजमान कहती है।

अग्नि कई तरह के कामों में आती है। उनके अनुसार उसके कई नाम पड़ गये हैं। जो अग्नि हवन में काम आती है, उसे आहवनीय कहते हैं। यहां मतलब या तो अग्नि के अधिष्ठाता व्यक्ति से है, या फिर यह काव्य भाषा है।

तप और ज्ञान के कारण वे बहुत तेजस्वी दीखते थे। विभूतिमान पुरुषों के मुखमंडल के आस-पास एक प्रभा-मंडल या तेजोवलय छाया रहता है। वह उनके ज्ञान, तेज व प्रकाश का सूचक होता है। महापुरुषों के चित्रों में अक्सर यह दिखाया जाता है।

"महाराज विदेह ने आसनों पर विराजमान उन नारायण-परायण मुनिगण का अति प्रेमपूर्वक यथायोग्य पूजन किया। अपने शरीर के तेज के कारण ब्रह्माजी के पुत्रों के समान उन नौ योगीश्वरों से राजा जनक ने अति प्रसन्न चित्त से नम्रता-पूर्वक पूछा।" ॥२६-२७॥

ब्रह्मा ने जब सृष्टि-रचना शुरू की तो पहले दस मानस पुत्र उत्पन्न किये— मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलह, ऋतु, भृगु, वसिष्ठ, दक्ष और नारद। यहां निमि, जनक, विदेह तीनों से एक ही व्यक्ति का अभिप्राय है।

विदेह बोले—"भगवन्, आप लोगों को मैं साक्षात् भगवान् मधुसूदन के पार्षद ही समझता हूं; क्योंकि भगवान् विष्णु के पार्षद संसार के प्राणियों को पवित्र करने के लिए घूमा करते हैं।" ॥२८॥

दुर्गा सप्तशती के अनुसार 'मधु' नामक दैत्य को मारने के कारण भगवान् मधुसूदन कहलाते हैं। भगवान् का परम धाम बैकुंठलोक कहलाता है। भागवतकार कहते हैं कि उसमें उनके पार्षदगण निवास करते हैं। वह सब प्रकार के क्लेश, मोह और भय से रहित हैं। शुद्ध सत्व का निवास है। वहां काल की दाल नहीं गलती, न कोई विकार ही है, न मोहिनी माया का लेश है। वहां सुरासुर-पूजित भगवत्-परायण पार्षदगण निवास करते हैं। उन पार्षदों के श्यामता लिये हुए धवल शरीर हैं। कमल के समान नेत्र हैं, शरीर पर पीताम्बर है, सभीके चार-चार भुजाएं हैं। वे बड़े ही कान्तिमान हैं। वे सदा लोकोद्धार के लिए जगत् में घूमा करते हैं। नन्द, सुनन्द, सुबल, अर्हण, जय, विजय आदि उनमें मुख्य हैं।

"जीव को प्रथम तो यह क्षण-भंगुर मनुष्य-शरीर ही मिलना मुश्किल है (जो कि मोक्ष का साधन है) और उसमें भी भगवद्भक्तों का दर्शन तो मैं और भी दुर्लभ समझता हूं।" ॥२६॥

शरीर-बद्ध चैतन्य जीव कहलाता है। (ममैवांशो जीवलोके जीव-भूतः सनातनः। इति स्मृतिरियं जीवः प्रतिबिम्बः परमात्मनः ॥)

इसे प्रत्यगात्मा भी कहते हैं। परमात्मा के तीन गुण या विशेषण हैं—सत्, आनन्द, जीवात्मा में सिर्फ दो—सत्, चित्—पाये जाते हैं। जीव सुख-दुःखमय है। जीव अणु, बिन्दुपरमात्मा विभु (सिन्धु) है। या यों कहें कि परमात्मा की संकुचित केन्द्रस्थ अहन्ता का नाम जीव है। श्री शंकराचार्य की सम्मति में शरीर तथा इन्द्रिय-समूह के अध्यक्ष और कर्मफल के भोक्ता आत्मा को ही जीव कहते हैं। देश-काल से मर्यादित परमात्मा को जीवात्मा कहा जाता है। 'माया के परिणाम-स्वरूप स्थूल और सूक्ष्म शरीर-सहित आत्मा जीव कहलाता है।' जीव परमेश्वर की पराप्रकृति अर्थात् उत्कृष्ट विभूति या अंश है। इसे क्षेत्रज्ञ भी कहते हैं (गीता)। जैनधर्म में जीव 'आत्मा' का वाचक है। जैनी जीव को सामान्यतः दो प्रकार का मानते हैं—बद्ध (संसारी) और मुक्त। आमतौर पर जीव उसे कहते हैं, जिसमें चलन-वलन-क्रिया दिखाई पड़े।[1]

सृष्टि चार प्रकार की है—उद्भिज, स्वेदज, अण्डज, जरायुज, अर्थात् पृथ्वी

---

[1]जीव का विस्तृत विवेचन आगे अ॰ ६, श्लोक १६ में देखिये।

को फोड़कर निकलनेवाले जीव––वृक्ष, वनस्पति आदि; अण्डा फोड़कर निकलने-वाले––मुर्गी, कबूतर, पक्षी आदि; पसीने तथा नमी से पैदा होनेवाले कृमि, कीट आदि; जरा यानी झिल्ली या जेर को खोलकर निकलनेवाले पशु, मनुष्य आदि। पृथ्वी पर मनुष्य सर्वोपरि सृष्टि है। इसमें मन, बुद्धि का विकास सबसे अधिक पाया जाता है। कई योनियों––श्रेणियों––में विकास पाता-पाता या भटकता हुआ जीव मनुष्य-योनि में आता है। 'वह अज्ञान, कामना व कर्मों के कारण ऊंची-नीची योनियों में भ्रमता हुआ अपनी वास्तविक गति को नहीं जान पाता।' (भागवत १०।२६।१३),इसीलिए यह दुर्लभ माना जाता है। फिर मनुष्य-देह में ही वह सुकृत का अधिकारी है। इसीलिए मानव-देह का विशेष महत्व है। यह देह सदा कायम नहीं रहती। देखते-देखते गिर जाती है। इसलिए इसे क्षण-भंगुर (अस्थायी) कहा है। जनकराज कहते हैं कि मनुष्य-देह से भी अधिक दुर्लभ है साधु-सन्तों का, भक्तों का दर्शन। गीता में भगवान् ने कहा है कि "मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चित् यतति सिद्धये। यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः"।

इन्हींके लिए तुलसीदास ने कहा है—"बिछुरत एक प्राण हरि लेहीं"। फिर घूमते-फिरते 'तीर्थराज' कहा है। किसी कवि की उक्ति है—

"सज्जन सङ्गो मा भूत् यदि सङ्गो मास्तु पुनः स्नेहः।
स्नेहो यदि मा विरहो यदि विरहो मास्तु जीवितस्य॥"

वे ऐसे दुर्लभ पुरुषों में थे।

"अतः हे निष्पाप महाबाहो, मैं आपसे यह पूछता हूं कि संसार में आत्यन्तिक (निस्सीम) कल्याण किसमें है? क्योंकि इस जगत् में महात्माओं का आधे क्षण का सत्संग भी मनुष्यों के लिए बड़े भारी खजाने के समान है।" ॥३०॥

"यदि हमारे सुनने योग्य हो तो हमें वह भागवत-धर्म सुनाइये, जिससे प्रसन्न होकर अजन्मा भगवान्—अपने शरणागत भक्त को अपना स्वरूप तक दे डालते हैं।" ॥३१॥

जनकजी का विनय यहां देखने योग्य है। कहते हैं कि हम सुनने के अधिकारी हों तो सुनाइये। पात्रता के लिए सबसे पहले हार्दिक जिज्ञासा देखी जाती है, फिर दृढ़ता, तल्लीनता। बौद्धिक योग्यता, संस्कार भी देखे जाते हैं। जो जिसका पात्र नहीं हुआ है, उसे वह वस्तु देने से उसका दुरुपयोग व खुद को हानि ही हो सकती है।

श्री नारदजी बोले––"वसुदेवजी, निमि के इस प्रकार पूछने पर उन

महात्माओं ने प्रसन्नता-पूर्वक धन्यवाद देकर सभासद और ऋत्विजों सहित राजा निमि से कहा ।" ॥३२॥

राजा जनक ने नौ प्रश्न किये—'भागवत-धर्म' क्या है ? 'भगवद्भक्ति' किसे कहते हैं ? 'माया' का स्वरूप क्या है ? उससे 'तरने का उपाय' क्या है ? 'परब्रह्म' क्या वस्तु है ? 'कर्म' किसे कहते हैं ? 'अवतार-चरित्र' कौन-कौन-से हैं ? 'अभक्तों की क्या गति' होती है ? और किस युग में 'कौन-सा धर्म मानना' चाहिए ? नवों ऋषियों ने एक-एक प्रश्न का अलहदा उत्तर दिया है । पहले कवि बोले—

"हे राजन्, इस संसार में तो भगवान् अच्युत के चरण-कमलों की नित्य उपासना को ही सर्वथा भय-शून्य मानता हूं, जिससे कि उनका भी सम्पूर्ण भय नष्ट हो जाता है, जिनकी बुद्धि असत् (देहादि) में आत्म-भावना के कारण विचलित हो गई है ।" ॥३३॥

अच्युत = जिसमें कोई त्रुटि, गिरावट या विकार न हो । असत्-सत् से उलटा है । आत्मा सत् अर्थात् सदा रहनेवाला है । इसके विपरीत देहादि भौतिक प्रपञ्च बनता-बिगड़ता, आता-जाता है, विनाश या परिवर्तनशील है । इस तथ्य को समझ लेना ही ज्ञान है । इसके विपरीत जो देहादि को आत्मा अर्थात् जीव मानकर उसी-के लिए जीवन-व्यापार करते हैं, उनकी बुद्धि भटकती रहती है । हरि कहते हैं कि भगवान् की भक्ति में ऐसा बल है कि ऐसे भ्रमित लोगों को भी सन्मार्ग पर ला-कर भय-रहित कर देती है ।

यहां असत् (देहादि) में आत्मभावना रखने की भूल को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए । यह भूल मनुष्य क्यों करता है ? मनुष्य जैसा संकल्प करता है वैसा परिणाम उसके सामने आता है, जो उसके लिए बन्धनकारक हो जाता है । जब हम यह संकल्प करते हैं—मानने लगते हैं कि यह शरीर ही सबकुछ है, इसका सुख ही अन्तिम सुख है, तो यह देह-बुद्धि हमें आत्मा से दूर करती चली जाती है और फिर हम संसार के द्वन्द्वों, झगड़ों, अनिष्टों से त्रस्त होते रहते हैं । देह-भाव से पहले जिन्हें हम अपना समझते हैं, उनके प्रति ममता, जिन्हें ग़ैर समझते हैं उनके प्रति अरुचि उत्पन्न होने लगती है । यही राग-द्वेष है । यही कलह, झगड़े, उत्पात की जड़ है । इससे बचने का सरल उपाय है कि हम अपनी इन्द्रियों व विषयों को भगवान् में लगा दें । योगी इन्द्रियों का निरोध करते हैं, किन्तु हम—भक्त उन्हें भगवान् की सेवा-पूजा में, भगवान् के कार्यों में, लगा दें । योगी जिन विषयों को

त्यागते हैं, उन्हें हम भगवान् के अर्पण कर दें। योगी को ऐसा त्याग करते हुए दुःख व कष्ट सहन करना पड़ता है, किन्तु भक्त उन्हें भगवान् के अर्पण करते हुए नित्य मुक्ति का अनुभव करता है। दारा, सुत, गृह, प्राण—सबकुछ भगवान् के अर्पण करना ही भागवत-धर्म है व यही भगवान् का भजन है।

"अज्ञ पुरुषों को भी तुरन्त आत्मलाभ कराने के लिए जो उपाय भगवान् ने बताये हैं, उन्हींको भागवत-धर्म समझो।" ॥३४॥

"हे राजन्, (उन भागवत-धर्मों का) आश्रय लेने पर मनुष्य कभी प्रमाद में पड़ता। उसपर कभी विघ्नों का आक्रमण नहीं होता। वह इस संसार में आंख मूंदकर दौड़ने पर भी न तो फिसलता है, न गिरता ही है।" ॥३५॥

भक्ति के लिए केवल भावना, भावुकता की जरूरत है जो कि मनुष्य-मात्र में होती है। ज्ञान-मार्ग बुद्धि का विषय है व तीक्ष्ण-बुद्धिवालों की ही उसमें पहुंच हो सकती है। योग-साधना में बहुत क्लेश है। कर्म-मार्ग में विवेक की, योग्या-योग्य-विचार की और बड़ी सावधानी की जरूरत है। परन्तु भक्ति-मार्ग में सब-कुछ केवल भगवान् पर छोड़ देने की ज़रूरत है। फिर बेखटके होकर संसार-सागर में तैरते रहो। यह अपढ़-कुपढ़, बालक-वृद्ध, स्त्री-पुरुष, पतित-पीड़ित सबके लिए सुलभ है। किसीके लिए इसका दरवाजा बन्द नहीं है। सरलता, सुगमता व सर्व-लोक-सुलभता इसका विशेष गुण है। यह ऐसी नाव है, जो डूबती नहीं। बल्कि यों कहें कि बिना तैरे ही पार होना है। बिना प्रयास के ही सिद्धि पाना है।[1]

---

[1] रामकृष्ण परमहंस का कथन है कि ईश्वर का नाम-गुण-कीर्तन करना और उन्हींके चरणों में मन को लगाये रखना ही भक्ति है। कलियुग में भक्तियोग ही सहज-मार्ग है। (यज्ञ-यागादि युक्त) कर्मयोग बड़ा कठिन है। शास्त्रों में अनेक प्रकार के कर्म-काण्ड का विधान है। अब उनका युग भी नहीं है। आयु कम है। फिर फल-कामना छोड़कर अनासक्त भाव से सब कर्म करना महा कठिन है। ज्ञान-योग भी इस युग में महान् कष्ट-साध्य है। जीव का अन्न-गत प्राण है, आयु कम है। फिर देह-बुद्धि किसी तरह छूटती नहीं। देह-बुद्धि के नष्ट हुए बिना ज्ञान होना असंभव है। ज्ञानी कहता है—'मैं ब्रह्म हूं, शरीर नहीं, मुझे क्षुधा-तृषा, रोग-शोक, जन्म-मरण, सुख-दुःख, कुछ भी नहीं है।' यदि रोग-शोकादि का बोध हो तो ज्ञान कहां?

इसमें खास बात यह है कि भगवान् का भक्त निश्चिन्त हो जाता है। न वह प्रमाद में पड़ता है, न उसे किसी बात का खटका रहता है। जो अपने अहंकार के बल पर चलता है, वह अपनी ही बल-बुद्धि पर भरोसा रखकर चलता है। साथ ही वह अपनेको अल्पबल भी मानता है। इससे निश्चिन्तता का अनुभव नहीं करता। वह फलाफल के चक्कर में पड़ता रहता है और कर्माकर्म के जाल में फंसता जाता है। इसके विपरीत जिसने अपनी नाव भगवान् पर छोड़ दी है—'किश्ती खुदा पै छोड़ दो, लंगर को तोड़ दो' वह अजीब मस्ती, निर्द्वन्द्वता, निश्चिन्तता का आनन्द व सुख प्राप्त करता है। मन में सद्भावना रखकर सदैव शुभ कर्म व सेवा-परोपकार के कार्य करता रहता है व बेफिक्र रहता है कि भगवान् इसका सुफल अवश्य देगा। न भी दे तो वह किसी उलझन में नहीं पड़ता। और जो कुछ शुभाशुभ फल मिलता है, उसे खुद ग्रहण न करके भगवान् के अर्पण कर देता है। इससे उसके सुख-दुःख के प्रभावों से बच जाता है और बचा रहता है।

"इस धर्म के पालन करनेवाले को चाहिए कि शरीर से, वाणी से, मन से, इन्द्रियों से, अहंकार से अथवा अनुगत स्वभाव से जो कुछ कर्म करे वह सब परमात्मा नारायण के ही लिए है—इस प्रकार समर्पण कर दे।" ।।३६।।

मनुष्य किसी-न-किसी भावना से प्रेरित होकर किसी-न-किसी उद्देश्य के लिए कर्म करता है। पहले मन में कोई इच्छा स्फुरती है, फिर बुद्धि उसका निश्चय करती है और कार्य में प्रेरती है। इस कर्म की सिद्धि में मनुष्य अपनी सब इन्द्रियों को व सारी शक्तियों को लगाता है। जो इच्छाएं स्फुरती हैं, वे कभी संस्कारों से, कभी अहन्ता से, कभी विषय-सुख से, कभी प्रतिहिंसा से, कभी पवित्र सेवाभाव से व कभी दीन-दया से प्रेरित होती हैं। जिस किसी कारण से, जिस किसी भावना से, आपने जो कुछ किया है, वह सब भगवान् के अर्पण कर दीजिये। यदि आप हाथ से दान देते हैं, तो यह समझिये कि दान पानेवाला नारायण है, दान की वस्तु

हाथ में कांटा चुभ गया है, बड़ी पीड़ा हो रही है; फिर भी कहता है कि हाथ में कांटा नहीं लगा। इसलिए मैं कहता हूं कि इस युग में केवल भक्ति-योग ही सहज है। ज्ञान-योग व कर्म-योग द्वारा भी ईश्वर-दर्शन हो सकता है, परन्तु है महा कठिन।

"ज्ञानयोग अपने शत्रु से सामने होकर लड़ना है; भक्तियोग किले में बैठकर लड़ना है।"

नारायण है, देने की क्रिया भी नारायण है व देनेवाला भी नारायण ही है। इस प्रकार नारायणमय हो जाना ही सच्चा समर्पण है। ज्ञानी ज्ञान के द्वारा व तपी तप के द्वारा जिस अद्वैत स्थिति को पहुंचते हैं, वही यह है। इस छोटी-सी तरकीब से मानो अनजान में ही हम कहां-से-कहां पहुंच जाते हैं। या ऐसी भावना रखिये कि मैं तो केवल काम करनेवाला यन्त्र हूं। जिसके लिए ये सब काम करता हूं वह मेरा अन्तर्यामी, हृदयवल्लभ है। इनकी सब जिम्मेवारी उसपर है। मुझे इनका कोई फल भी नहीं चाहिए। सिवा उस आनन्दकंद के मुझे किसी फल की जरूरत ही नहीं है। इस भावना से कर्तापन का अभिमान, अहन्ता-ममता, सुखभोग में आसक्ति, राग-द्वेष सब बड़ी आसानी से छूट जाता है व मनुष्य परमात्मा की शरण में अपनेको निर्भय, अदम्य, निश्चिन्त, अशोक, दैवी तेज व प्रसाद से युक्त अनुभव करता है। इसका यह अर्थ नहीं कि इससे हमें कोई फल नहीं मिलता। बल्कि कई गुना ज्यादह मिल जाता है। लेकिन चूंकि हमने उसकी अभिलाषा या आसक्ति छोड़ दी है, अतः उसमें हमें लोभ या लोलुपता नहीं होती, जिससे कि मनुष्य दुःख, भय, शोक, चिन्ता में पड़ा रहता है। 'लोभ मूलानि पापानि' फिर भक्तों को तो भगवान् ने पहले ही आश्वासन दे रखा है।

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।

ज्ञान द्वारा मोक्ष के लिए पहले वैराग्य चाहिए। कर्म द्वारा मोक्ष के लिए अनासक्तियोग। अर्थात् चित्त की समता दोनों में अपेक्षित है। वैराग्य और अनासक्ति दोनों निषेधात्मक हैं। दोनों कहते हैं 'छोड़ो'। पर छोड़कर ग्रहण क्या करें ? ज्ञान से आत्मा को पाते हैं, जो स्थूल तो ठीक सूक्ष्म इन्द्रियां मन-बुद्धि आदि का भी विषय नहीं है। कर्म से चित्त-शुद्धि होती है, जीवन बनता है। परन्तु कर्म किसके लिए ? और चित्त-शुद्धि के बाद क्या ? पहले का उत्तर भक्ति-मार्ग ने दिया—परमेश्वर के लिए। दूसरे का उत्तर गीता ने दिया है—लोक-संग्रहार्थ कर्माचरण। भक्ति ने कहा—वैराग्य, अनासक्ति, चित्त-शुद्धि, चित्त की समता सब चाहते हो तो अलग-अलग साधनों को ग्रहण करने की जरूरत नहीं है। एक मेरा पल्ला पकड़ लो। मैं तुमको सूक्ष्म ही नहीं, स्थूल इन्द्रियों से अनुभव कर सको, ऐसी अद्भुत वस्तु बताती हूं। वह है भगवान् के सगुण रूप की उपासना। षड्-गुणयुक्त भगवान् की पूजा-अर्चा करो। उन्हींको अपना जीवन समर्पण करो।

अपने आराध्य, लक्ष्य के रूप में उन्हींको स्वीकार करो। यह कितना ऊंचा, कितना दिव्य ध्येय है? सांसारिक सुख-भोग, देश-सेवा, स्वराज्य-प्राप्ति, परोपकार, विश्वबन्धुत्व, वर्ग-हीन-समाज, राम-राज्य इनतक हमारा आदर्श समाप्त हो जाता है। परन्तु भक्त का आदर्श इससे भी ऊंचा है। देश, भूमण्डल व सारे विश्व के प्रभु तक उसने छलांग मारी है। सगुण के बाद फिर निर्गुण या गुणातीत तक पहुंचना एक आगे का ही कदम है।

"जो पुरुष भगवान् से विमुख है, उसको उनकी माया से भगवान् के स्वरूप की विस्मृति और (मैं देह हूं ऐसा) विपरीत ज्ञान हो जाता है। फिर आत्मा के अलावा दूसरी वस्तु की सत्ता का अभिमान होने से भय पल्ले पड़ता है, अतः बुद्धिमान् पुरुष को चाहिए कि अपने गुरुदेव में इष्टबुद्धि रखके उन श्रीहरि को ही अनन्य भाव से भजे।" ॥३७॥

जिनका मन भगवान् की तरफ नहीं है, वे शरीर व शरीर-सुख को ही सबकुछ समझते हैं। भगवान् को जानने, उनतक पहुंचने की उन्हें इच्छा ही नहीं होती। उनके भोगादि के संस्कार इतने प्रबल होते हैं कि वे भगवान् की तरफ उसे झुकने ही नहीं देते। यह भगवान् की माया ही है कि भगवान् का ही एक अंश या रूप होकर जीव उसीसे विमुख हो जाता है। अपने असली भगवान्-रूप को भूलकर प्राप्त शरीर को ही सच्चा रूप मान लेता है। इस प्रकार उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और उसे विपरीत ज्ञान होने लगता है। फिर जो सबका निर्भय, निःशंक स्थान आत्मा है, उसे छोड़कर वह दूसरे पदार्थ अर्थात् देह में अभिमान रखने लगता है, जिससे दुःख व भय के सागर में गोते खाता है। जहां शरीर व उसके सुख-भोग का लक्ष्य है, वहां भय व दुःख मौजूद ही रहेंगे। जहां कोई ऐहिक कामना होगी वहां क्रोध ज़रूर आ जायगा। कामना-सिद्धि में विघ्न उपस्थित हुआ तो जिसे हम उसका कारण मान लेते हैं, उसपर क्रोध आता है। क्रोध से प्रतिहिंसा, बदला लेने की इच्छा होती है। प्रतिहिंसा के जवाब में हमारे साथ प्रतिहिंसा होने लगती है। अब तो भय व दुःख के लिए राज-मार्ग ही खुल गया। अतः मनुष्य को उचित है कि सुख-भोग के आदर्श को छोड़कर भगवत्प्राप्ति के आदर्श को स्वीकार करे, जो संसार के सभी आदर्शों से ऊंचा, महान्, विशाल व पवित्र है।

लेकिन श्रीहरि दीखें कैसे? मिलें कैसे? जबतक चित्त तन्मय नहीं हो जाता, न तो वह दीख ही सकते हैं न मिल ही सकते हैं। तबतक क्या करें? उसका भी सरल

उपाय बताते हैं। गुरुदेव में इष्ट-बुद्धि रक्खो। ऐसा व्यक्ति ढूंढ़ लो, जो ज्ञान, भक्ति, सदाचार, विवेक में तुमसे बहुत बढ़ा-चढ़ा हो, व जिसके साथ तुम्हारा ऐसा संबंध हो कि तुम्हारे हित की ही सदा चिन्ता रक्खे। तुम्हें भी जिसपर इतना विश्वास हो कि यह कभी मुझे गुमराह न करेगा। संसार में इसे कोई स्वार्थ-साधना बाकी नहीं रही है, अतः न मुझसे अपना स्वार्थ साधेगा, न मुझे स्वार्थ-साधन में लीन होने देगा। फिलहाल उसे अपना इष्ट या आराध्य मान लें। उसे भगवान् का प्रतीक या प्रतिनिधि मान लें। यदि सच्चा व योग्य सद्गुरु हाथ लग जाय तो फिर भगवान् के लिए अलग प्रयास करने की जरूरत नहीं है। कबीर तो गुरु को भगवान् से भी पहले प्रणाम करते हैं—

गुरु गोविंद दोनों खड़े, काके लागूं पांय।
बलिहारी है गुरू की, जिन गोविंद दिया बताय।

भक्त तुलसीदास, ज्ञानदेव व ज्ञानी भक्त एकनाथ आदि ने भी गुरु की महिमा बहुत गाई है। "जिनके कारण मैं इस संसार-रूपी जाल से पार हुआ, वह मेरे सद्-गुरु मेरे हृदय में हैं; इसलिए विवेक पर मेरा विशेष प्रेम है। जैसे आंख में अंजन लगाने से दृष्टि फैलती है और देखते ही भूमि में गड़ा हुआ द्रव्य दिखाई देता है अथवा जैसे चिन्तामणि के हाथ लगने से सम्पूर्ण मनोरथ पूर्ण होते हैं वैसे ही श्री निवृत्ति—ज्ञानदेव के बड़े भाई व गुरु के कारण मेरे सब मनोरथ पूर्ण हुए हैं। इस-लिए जो बुद्धिमान् हैं, उन्हें चाहिए कि गुरु-सेवा करें और कृतार्थ हों। त्रिभुवन में जितने तीर्थ हैं, उन सबका पुण्य जैसे समुद्रस्नान से प्राप्त हो जाता है, किंवा अमृत-रस के स्वाद से जैसे सब रसों का आस्वाद मिल जाता है, उसी न्यायानुसार मैं बारम्बार श्रीगुरु की ही वंदना करता हूं।"

"वन्दौं गुरु-पद-कंज, कृपासिंधु नररूप हरि।
महामोह तम-पुंज, जासु बचन रविकर निकर॥"

(तुलसीदास-रामायण)

"अज्ञानान्धस्य लोकस्य ज्ञानाञ्जन-शलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥"
"ब्रह्मानंदं परम सुखदं केवलं ज्ञान-मूर्ति।
द्वन्द्वातीतं गगन-सदृशं तत्त्वमस्यादि लक्ष्यम्॥"
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधी साक्षिभूतम्,

भावातीतं त्रिगुण-रहितं सदगुरुं तं नमामि ।।

श्री अरविंद लिखते हैं, "जिस प्रकार पूर्ण योग का परम शास्त्र प्रत्येक मनुष्य के हृदय में छिपा हुआ सनातन वेद है, उसी प्रकार उसके परम पथ-प्रदर्शक और गुरु वे ही अन्तर्यामी जगद्गुरु हैं, जो हमारे अन्दर गुप्त रूप से विराजमान हैं। इस पूर्ण-योग की सिद्धि के मार्ग में इन अन्तर्यामी गुरु को, जो योग के ईश्वर, सब यज्ञों और कर्मों के प्रभु, प्रकाश, भोक्ता और लक्ष्य हैं, पूर्ण रूप से वरण करना अत्यन्त आवश्यक है। आरम्भिक अवस्था में हमें चाहे किसी भी रूप में उनके दर्शन हों इससे कुछ आता-जाता नहीं; क्योंकि अन्त में तो यह अनुभव होता ही है कि भगवान् सब-कुछ हैं और सबसे अधिक हैं।" परन्तु कनफुंकवा ढोंगी गुरुओं से बचने की सख्त ज़रूरत है।[1]

भक्ति-मार्ग विधेयात्मक है। इसमें परमेश्वर की भक्ति का विधान इसीलिए किया गया है कि वह सर्वोपरि शक्ति और सर्वांगपूर्ण आदर्श है। जो ऐसी किसी सत्ता या गुरु-स्थान को न मानता हो, वह अपनी भक्ति या समर्पण की भावना के लिए किसी दूसरे तत्त्व, सिद्धान्त, वस्तु, स्थान आदि को आराध्य या प्रतीक बना सकता है, जैसे सत्य, न्याय, समता, स्वराज्य, वेद, भारतवर्ष आदि। क्योंकि भक्ति चित्त की एक वृत्ति है। उसे कोई आश्रय चहिए। यदि तन्मयता के साथ वह किसी एक को पकड़ लेती है तो फिर सबके मूल आश्रय, आधार तक वह पहुंचे बिना नहीं रहेगी। अतः देश-भक्ति का परमेश्वर-भक्ति से विरोध नहीं हैं; बल्कि मातृ-पितृ-भक्ति, गुरु-भक्ति की तरह वह भी भगवद्भक्ति की सहायक ही है, उसका एक अंग है—बशर्ते कि भक्त की शुद्ध व एकनिष्ठ भावना उसमें हो।

"यह द्वैत-प्रपंच वास्तव में न होने पर भी इसी प्रकार परमार्थ-रूप भासता है जैसे स्वप्न और मनोरथ के पदार्थ न होते हुए भी चिन्तन करनेवालों की बुद्धि में सत्यवत् प्रतीत होते हैं, अतः विचारवान् को चाहिए कि वह पहले कर्मों के संकल्प-विकल्प करनेवाले चित्त को रोके, तभी उसे अभय-पद की प्राप्ति होगी।" ।।३८।।

---

[1]भक्ति, उपासना का स्वरूप समझने व गुरु की योग्यत की परीक्षा जानने के लिए श्री कि० घ० मश्रुवाला-लिखित 'जीवन-शोधन' का चौथा खण्ड, नवजीवन मुद्रणमलय, अहमदाबाद से प्रकाशित 'भक्ति-शोधन' अवश्य पढ़ लीजिये।

संसार में हम दो चीज़ें देखते हैं––एक तो यह सारा विश्व जो नाम-रूपात्मक है, व दूसरे वह शक्ति जो इस सारे में निहित व इसका संचालन करती दिखाई देती है। इन दो को पृथक् समझना द्वैत है। या यों कहिये कि शरीर-स्थित जीव व ब्रह्माण्ड-व्यापी आत्मा दो को अलग-अलग समझना द्वैत है। यहां द्वैत-प्रपंच से अभि-प्राय इस द्वन्द्वात्मक संसार से है। यह वास्तव में नहीं है, फिर भी 'है' भासित होता है। अव्यक्त ब्रह्म का व्यक्त रूप यह जगत् है। ब्रह्म चैतन्य का महान समुद्र है जिसमें आग की चिनगारियों की या विद्युत् की लहरों की तरह स्फुरणा होती रहती है, क्षोभ या स्पन्दन होता रहता है। जब क्षोभ हुआ, तरंग या स्फुरण उठी, या स्पन्दन का प्रसरण हुआ तो विश्व बन गया; जब तरंग बैठी, शान्त हुई, स्पन्दन का संकोच हुआ, क्षोभ मिटकर शान्त अवस्था प्राप्त हुई तो विश्व मिट गया, ब्रह्म-गुणातीत-शेष रह गया। इस ब्रह्म की दृष्टि से स्फुर-णाओं या तरंगों को देखें तो वे अस्थायी, क्षणिक विनाश-शील, ब्रह्म का केवल एक अंग अतएव अ-वास्तविक, असत्, नहीं जैसी, है। इसे पारमार्थिक दृष्टि कहते हैं। इसी दृष्टि से जगत् मिथ्या, भासमान है। स्फुरणओं, तरंगों या जगत् की दृष्टि से देखें तो जगत् ब्रह्म से भिन्न मालूम होता है। दो-पन का अनुभव होता है, हालांकि तत्त्वरूप में, अंगागीभाव से, दोनों परस्पर एकसम्बद्ध हैं। यह ब्रह्म की व्यावहारिक सत्ता अर्थात् व्यवहारपुरती दिखाई देनेवाली सत्ता है। पारमार्थिक सत्ता असली निर्गुण ब्रह्म है। चूंकि हम जगत् को देखते हैं, परिवर्तन होते हुए भी उसमें एक सत्ता यह वस्तु वही है, ऐसा भान सर्वदा रहता है, अतः हमारे व्यवहार के लिए वह 'है'ही। इसमें हमारा सारा व्यवहार-व्यापार चलता है। इस व्यावहारिक या प्रति-भासिक जो 'है' नहीं, पर भासित होती है––सत्ता अर्थात् संसार को ही यहां द्वैत-प्रपंच कहा है, जो कि वास्तव में 'असत्', 'अविद्यमान' है।

जबतक हम स्वप्न देखते हैं तबतक स्वप्नगत वस्तुओं या दृश्यों को हम सत्य ही मानते हैं। जाग्रत होने पर हमें वे असत्य मालूम होते हैं। मन में जिस पदार्थ का हम ध्यान करते हैं, उस समय तो वह प्रत्यक्ष मालूम होता है, परन्तु ध्यान हटते ही वह असत्य, गायब हो जाता है। इस प्रकार मानव-जीवन एक महान् लम्बा स्वप्न या मनोरथ है। इसमें हम अपनी इन्द्रियों द्वारा जो कुछ देखते या अनुभव करते हैं, वह हमें सत्य मालूम होता है, क्योंकि हम अ-ज्ञान रूपी नींद में सोये हुए हैं। जब ज्ञान––यह कि जगत् क्षणिक है, यह परमेश्वर का ही व्यक्त-रूप है, ये दो

नहीं, वास्तव में एक ही है, मैं भी परमात्मा-रूप ही हूं, जीवात्मा परमात्मा से भिन्न नहीं है—रूपी जागृति होती है तो ये सारे अनुभव मिथ्या मालूम होते हैं और एक सत्य, ब्रह्म, परमेश्वर, परमात्मा ही सब जगह व्याप्त मालूम होता है। यह सब हमारे मन की क्रिया है। मन जो संकल्प करता है, वही आगे चलकर प्रत्यक्ष होता है। भगवान् के मन में संकल्प-प्रेरणा हुई कि 'एक से अनेक होऊं', और यह विराट्-विश्व बन गया। यही हाल मनुष्य के मन का है। संकल्प-विकल्प ही मनुष्य को कर्म में प्रेरित करते हैं। इनका उतार-चढ़ाव तबतक जारी रहेगा जबतक मनुष्य शान्ति,समता, एकता, प्रसन्नता, समाधान का अनुभव नहीं कर सकता। दूसरी ओर बातों से जबतक मन को, संकल्प-विकल्पों को,रोका नहीं जायगा तबतक वह किसी एक लक्ष्य में नहीं लगेगा। परमात्मा ही हमारा महान् लक्ष्य है। अतः परमात्मा में उसे लगाने के लिए पहले व्यर्थ के,निरर्थक संकल्प-विकल्पों को रोकना चाहिए, जिससे ऊट-पटांग कर्मों में प्रवृत्ति ही न हो। एकमात्र भगवान् में ही मन लगा रहे। ऐसा करने से वह शीघ्र अभय-पद को प्राप्त हो जायगा।

"तथा लोक में जो चक्रपाणि भगवान् विष्णु के कल्याणकारी जन्म और कर्म हैं, उन्हें सुनता हुआ एवं उनकी विचित्र लीलाओं के अनुसार रक्खे गये नामों का निःसंकोच होकर गान करता हुआ असंग भाव से संसार में विचरे।" ॥३६॥

पुराणों के अनुसार विष्णु, भगवान् की तीन शक्तियों में, (सृष्टि का) पालन-पोषण करनेवाली शक्ति है। वेद-विज्ञान के अनुसार अव्यक्त परमात्मा में जब विकार हुआ तो कुछ भाग सघन, स्थूल होने लगा। उसकी प्राथमिक क्रिया से जो भेद, अन्तर हुआ वह 'क्षर' कहलाया व शेष भाग 'अक्षर' रहा। क्षर भाग द्रव्य-रूप लेकर विश्व का उपादान कारण बना। अक्षर क्रियावान होने से निमित्त-कारण-रूप में सृष्टि-कर्त्ता हुआ। किसी वस्तु को बनाने में जो सामग्री लगती है, जिस चीज से वह बनाई जाती है, उसे उस वस्तु का उपादान-कारण व जिस व्यक्ति या शक्ति के द्वारा वह बनाई जाती है, उसे उसका निमित्त-कारण मानते हैं। अक्षर ब्रह्म ने क्षर द्रव्य से जो सृष्टि रची, उसमें पहले प्रतिष्ठा, फिर ज्योति व पश्चात् यज्ञ—ऐसे तीन प्रकार हुए। यह सृष्टि क्रियारूप गतिमयी थी। प्रतिष्ठा स्थिति को कहते हैं। गति-समुच्चय का नाम ही स्थिति है। जब पदार्थ चारों ओर गति करता हो तो वह स्थिर रहता है। स्थिति का अर्थ है पदार्थ की सत्ता-मात्र। उसके बाद ज्योति प्रकटी, जिससे नाम, रूप, कर्म बने। फिर यज्ञ उत्पन्न हुआ। यह यज्ञ

तत्त्व, विष्णु, अग्नि, सोम, मय है। सारी सृष्टि, सृष्टि-व्यापार, परमात्मा का एक महान् यज्ञ ही है। यह यज्ञ अन्नादान-विसर्गात्मक है, स्थिति लयात्मक है। विष्णु यज्ञ-रूप, अन्न का आकर्षक सूत्र है, जिससे यज्ञ सिद्ध होता है। यह पालक तत्त्व है। सोम अन्न है, जो आहुति का काम देता है। अग्नि वह वस्तु है, जिसमें आहुति डाली जाती है। इस तरह अग्नि सोम तो हुआ यज्ञ, व विष्णु हुआ उसके लिए अन्न का आकर्षण करनेवाला, जिसके बल यज्ञ जारी रहता है। अतः इस महान् सृष्टि-व्यापार में सृष्टि को कायम रखनेवाला तत्त्व विष्णु है। दूसरी भाषा में कहें तो अग्नि व सोम यज्ञ का वस्तु-रूप है व विष्णु (ब्रह्मा तथा इन्द्रसहित) अन्तर्यामी संचालक रूप है।

यहां विष्णु से अभिप्राय भगवान् की स्थिति या पालक शक्ति से है, जिसके जन्म-कर्म संसार के कल्याण के लिए हुआ करते हैं। इस विष्णु-शक्ति का उत्तम व सुबोध विवेचन 'गीता-मन्थन' कार ने किया है। वह लिखते हैं—

"आत्मा ज्ञानरूप होने के कारण संकल्पों का जनक है और सत्य-रूप होने के कारण इसके संकल्प सत्य होते हैं। अतः ऋषियों ने आत्मा को सत्य-काम, सत्य-संकल्प कहा है। किन्तु प्राणीजन अपने चित्त की अशुद्धि, चंचलता और अव्यवस्थितता के कारण इस सत्य-संकल्पता, सत्य-कामता को नहीं जानते और इसलिए वे अपनेको पामर, अज्ञान एवं असमर्थ-सा जानते हैं। किन्तु ज्यों-ज्यों चित्त की शुद्धि बढ़ती जाती है, वह स्थिर तथा स्वस्थ बनता जाता है, त्यों-त्यों वह अपनी सत्य-कामता व सत्य-संकल्पता को पहचानने लगता है। वह समझने लगता है कि मेरी जो-कुछ स्थिति है, वह मेरी कामना व संकल्प का ही परिणाम है।

विश्व-व्यापी वह परमात्मा इस तरह अनेक प्रकार के कामों और संकल्पों का आधारभूत है। ये काम-संकल्प विविध गुण, शक्ति तथा परस्पर मेल, विरोध रखनेवाले होते हैं। ऐसे अनेक संकल्पों के परिणाम-स्वरूप यह अनेक प्रकार की सृष्टि उत्पन्न और नष्ट होती रहती है। परमात्मा के आधार पर विश्व में पाई जानेवाली कामनाओं में एक स्थिर, सात्विक, शुद्ध कामना ऐसी भी है, जो यह इच्छा रखती है कि संसार में सदैव धर्म की विजय हो, अधर्म का विनाश हो, सत्पुरुषों का उत्कर्ष हो, असुरों का पराभव हो और विश्व का पालन हो और अपनी इच्छा की सिद्धि के लिए क्रियावान होने का संकल्प करती रहती है। ऋषिगण जिसे विष्णु के नाम से पहचानते हैं, वह इस पालन-कर्त्ता संकल्प का ही नाम

है। यह शुद्ध, सात्विक व कल्याणकर है; अतः विविध रूप से संसार में सिद्ध होता है। पृथ्वी पर जब-जब धर्म की ग्लानि होकर अधर्म का ज़ोर बढ़ता है, साधु पीड़ित व दुर्जन बलवान्न होते हैं, तब-तब परमात्मा में स्थित इस संकल्प में क्षोभ होता है और वह क्रियावान होकर प्रकट होने का प्रयत्न करता है। फिर जिस प्रकार अधर्म का विनाश होकर पुनः धर्म की स्थापना हो, उसी प्रकार स्थूल रूप में प्रकट होता है।" (अ० ४ श्लोक ४-८) यही अवतार कहा जाता है।

इस तरह विष्णु या परमात्मा के वैष्णवी संकल्प के कई अवतार हुए हैं। श्रीकृष्ण उनमें पूर्णावतार माने जाते हैं। अवतार अनेक नामों से हुए हैं व उन्होंने अनेक लीलाएं की हैं। कवि कहते हैं कि मनुष्य उन नामों का उच्चारण व संकीर्तन करता रहे। भगवान् में मन को रमाने का यह सरल तरीका है। नाम-धुन में मनुष्य बहुत जल्दी एकाग्रता व तन्मयता का अनुभव करने लगता है। क्लेश व श्रम-युक्त ध्यान-धारणादि से भी जो तल्लीनता सहसा नहीं प्राप्त होती, वह नाम-संकीर्तन की मस्ती से प्राप्त हो जाती है। सभी भक्तों ने नाम की महिमा गाई है। तुलसी-दास ने तो नाम को राम से भी बड़ा बताया है।

"राम एक तापस तिय तारी,
नाम अमित खल कुमति सुधारी।"

अन्त में इस भय से कि नाम-गुण-गान करते हुए भक्त कहीं संसार के मोह आसक्ति में न फंस जाय,कवि चेतावनी देते हैं कि वह विषयों के संग से बचा रहे। इस एकखतरे बचना बहुत जरूरी है।

"इस प्रकार के व्रत (आचरण) वाला पुरुष अपने परम प्रिय प्रभु के नाम-संकीर्तन से अनुराग उत्पन्न हो जाने पर द्रवित चित्त होकर संसार की परवा न कर कभी खिलखिलाकर हँसता है, कभी रोता है, कभी चिल्लाता है, कभी गाने लगता है, कभी उन्मत्त के समान नाच उठता है।"॥४०॥

जब भक्त भगवान के रंग में रंगने लगता है तो संसार की अर्थात् लोक-व्यवहार या निन्दा की परवाह नहीं रहती। कोई बुरा-भला कहे तो उससे चिढ़ता नहीं, उद्विग्न नहीं होता। अपनी ही धुन में मस्त रहता है। निन्दा करनेवालों को भी वह भगवद्रूप ही देखता है। भगवान् की भिन्न-भिन्न लीलाओं का चिन्तन करता रहता है। अतएव भिन्न-भिन्न भावों से अभिभूत होता रहता है, जिससे हँसने, रोने, गाने की भिन्न-भिन्न चेष्टाएं प्रकट होती रहती हैं। चिन्तन मनोमय होने के कारण बाहरी

दुनिया उसे उन्मत्त——पागल समझने लगती है। किन्तु वह अपने मन में दृढ़ता से एक केन्द्र को साधे हुए रहता है। मनुष्य जब एक बात में तल्लीन हो जाता है तो स्वभावत: दूसरी बातों की ओर से ध्यान छूटकर उदासीनता आ जाती है। इससे लोग उसे सनकी, खब्ती, पागल, कहने लगते हैं। वास्तव में इनमें कोई लोक-विलक्षण पुरुष होते हैं। ऐसा पुरुष जब प्रेम से प्रभावित होने लगता है तो अपनेको प्रेममय देखने लगता है। उसकी भीतरी-बाहरी सब इन्द्रियां, सब अवयव, प्रेमरूप हो जाते हैं। जब वह नाम-संकीर्तन करने लगता है तो फिर नाममय या नामीमय हो जाता है। बच्चा बहुत दिन के वियोग के बाद जब माता से मिलता है तो वह उसकी गोद में इस तरह जा बैठता है मानो मातामय हो गया है। वह अपने शरीर की सुध-बुध भूल जाता है। इसी तरह जब किसीके दु:ख, क्लेश, कष्ट की बात सुनता, देखता या अनुभव करता है तो वह करुणामय हो जाता है, व आंखों से आंसू झरने लगते हैं। महात्मा गांधी के सामने जब किसीका दु:ख या विपत्ति आ जाती थी तो वह यह अनुभव करने लगते थे कि यह कष्ट उनपर ही आ पड़ा है और वह विह्वल हो जाते थे। जब हम दूसरों की भावनाओं या आत्मा में इतना घुल-मिल जायं तभी इस स्थिति का अनुभव कर सकते हैं। इसी तरह किसीके हर्ष को देखकर या उसकी कल्पना या भावना से वह हर्षोन्मत्त होकर नाचने-कूदने लगता है। शरीर-युक्त होते हुए भी वह भावना-मय, भावाभिभूत हो जाता है। जब भक्त भगवान् के कीर्तन में मग्न हो जाता है, स्वप्न में भी उसकी मग्नता नहीं टूटती तब हरिनाम का स्मरण होते ही या मुख से निकलते ही वह गद्‌गद हो जाता है। जब उसे यह ख्याल होने लगता है कि अरे मैं अपने प्रियतम भगवान् से बहुत दूर पड़ गया हूं तो विकलता से रोने लगता है। जब यह ख्याल आता है कि भगवान् आये हैं, सामने खड़े हैं, मुझे बुला रहे हैं तो वह हर्ष से अपने इस सौभाग्य पर नाच उठता है। थोड़ी शराब पीकर जब मनुष्य नाचने-कूदने लगता है तब जिसने भगवत्प्रेम की, जड़-चेतन-विश्वप्रेम की मदिरा पी ली वह उसमें मस्त हो रहे तो क्या आश्चर्य है? जब यह विचार मन में आता है कि अरे मैं तो उसी चैतन्य परमात्मा का अंश हूं, उसीका एक रूप हूं, फिर भी कैसा पामर अपनेको समझता हूं तो मन में अपार ग्लानि होने लगती है व अपने आपपर हँसने लगता है। मतलब यह कि जिस एक लक्ष्य के ध्यान में वह डूब गया है, उसीसे सम्बद्ध भिन्न-भिन्न भावों में प्रसंगानुसार वह इतना निमग्न हो जाता है कि उसे काल, वस्तुस्थिति का या दूसरी बाहरी बातों का व आचारों का ध्यान नींह

रहता। इस एकाग्रता में ही जीवन व जीवन-कार्यों की सफलता है। जब इस एकाग्रता का कोई केन्द्र नहीं रहता तब मनुष्य पागल हो जाता है। बाज लोग यह मानते हैं कि ऐसे भाव-विशेष में मस्त हो जाना ही जीवन की कृतार्थता है। ऐसे लोगों के लिए अब कुछ पाना या साधना बाकी नहीं रहा। वे भूल करते हैं। वास्तव में समस्त भावों की परिसमाप्ति भगवान् में कर देना जीवन की कृतार्थता है—भावविशेष की नहीं! परन्तु जीवनभर ऐसी स्थिति बनी रहना जरूरी नहीं है। साधना-काल में अर्थात् जब भगवान् व भक्त के बीच का पर्दाफाश नहीं हुआ है तबतक भावों का ऐसा उतार-चढ़ाव आता रहता है। यह वृत्तियों की चचंलता का चिह्न है। सम्पूर्णतः भगवान् में लीन हो चुकने पर समुद्र की तरह शान्त, अचल, गम्भीर, प्रसन्न हो जाता है तब भक्त मुक्त या सिद्ध पदवी को पा जाता है। फिर उसके सब जगत्-व्यवहार, जीवन्मुक्त विदेह के जैसे होने लगते हैं। ज्ञानी व भक्त दोनों की अन्तिम दशा या स्थिति यह एक ही है। सिर्फ प्रवेशद्वार व आरम्भिक मार्ग भिन्न-भिन्न हैं। भावना-प्रधान व सरल साधना चाहनेवाले व्यक्ति भक्ति से आरम्भ करते हैं—बुद्धिप्रधान व श्रम-कष्टप्रिय योग से। अस्तु। इस प्रकार जब उसकी वृत्ति एकाग्र हो जाती है तब—

"आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, नक्षत्र, प्राणि, दिशाएं, वृक्ष आदि, नदियां और समुद्र जो कुछ भी हैं, वे सब भगवान् हरि का शरीर ही हैं, ऐसा मानकर सबको अनन्य भाव से प्रणाम करें।" ॥४१॥

भूत-मात्र में नारायण-भाव रखकर सबके प्रति नम्र होकर रहें। वेदान्त में इसीको ब्रह्म-भाव की साधना कहते हैं। यहां भक्त भगवान् से अपनेको अलग मानता है, वहां जीवात्मा परमात्मा से जुदा नहीं है। इस भाव में मनुष्य को यत्र-तत्र सर्वत्र भगवान् ही भगवान् दिखाई देते हैं। वह जिस किसी वस्तु को देखता है वही चैतन्यमय, भगवान्मय दिखाई देती है। आतिशबाजी में बारूद के ज़ोर से कई तरह के खेल उछलने व नाचने लगते हैं। लोग समझते हैं कि असल में यह बारूद का खेल है। उसी तरह वह दुनिया के चलते-फिरते लोगों व वस्तुओं को देखकर यह समझता व मानता है कि ये उसी चेतनसत्ता से घूम-फिर रहे हैं, जिससे कि मैं। अतः उनमें वह आत्मीयता-अद्वैतभाव अनुभव करने लगता है। उसके नज़दीक न हिन्दू हिन्दू, न मुसलमान मुसलमान, न पारसी पारसी, न राजा राजा, न रंक रंक, न पशु पशु, न पेड़ पेड़। इन सबको वह एक ही चेतन प्रभुमय देखता है और

सबके प्रति समभाव से रहता है। अतः भक्ति कोरी वैयक्तिक साधना नहीं है। वह सामाजिक, मानवीय, विश्वजनीन भी है। भगवान् जैसे सर्वव्यापी के अर्पण अपनेको करने की भावना में समाज, मनुष्य-जाति व सारे विश्व के प्रति समर्पण-भाव अपने-आप आ जाता है। उसकी व्यक्तिगत साधना चुपचाप इस तरह समष्टि-गत हो जाती है। भक्त होने का अर्थ समाज व मानव-जाति को भूल जाना नहीं है, बल्कि बड़े लक्ष्य की सिद्धि के लिए कुछ काल तक उसे गौण समझना है। जब भगवान् की प्राप्ति हो जाती है, भक्त भगवान् में मिल जाता है, उसकी भावना सर्वव्यापिनी हो जाती है तब उसमें समाज व मानव-जाति के कल्याण की अनन्त गुना शक्ति आ जाती है, व वह उसकी सेवा या उद्धार-सुधार के लिए वास्तविक अधिकारी हा जाता है। जो भक्त भगवान् को चाहता है, वह उसकी सृष्टि, प्रजा-सन्तति को कैसे भूल सकता है? उनके दुःखों, क्लेशों, विपत्तियों, भयों को देख-कर कैसे शान्ति से चुप बैठ सकता है? हां, संसार के मोहों, विषयभोगों में वह लिप्त नहीं होता। इसी अर्थ में वह संसार से अलिप्त रहता है।

"जो भगवान् का भजन करता है, उसको परमेश्वर में प्रेम, उनके स्वरूप का अनुभव और अन्य वस्तुओं में वैराग्य ये तीनों बातें एक साथ प्राप्त होती हैं, जिस प्रकार भोजन करनेवाले को प्रत्येक ग्रास के साथ ही तुष्टि, पुष्टि व क्षुधा-निवृत्ति तीनों एक साथ प्राप्त हो जाती हैं।" ॥४२॥

दो जीवों को परस्पर आकर्षित करनेवाली जो शक्ति है, उसे प्रेम कहते हैं। इसका अन्तिम परिणाम दोनों का एक-दूसरे में घुल-मिल जाना है। यह प्रेम जब प्रगाढ़ होता है व सामनेवाला व्यक्ति हमारे लिए पूज्य, आदरणीय व इष्ट होता है तो भक्ति का रूप धारण कर लेता है। नाम-संकीर्तन या नाम-धुन से पहले तो भगवान् के प्रति प्रेम उमड़ता है, फिर विषय-भोगों से अरुचि होती है, जिससे मन केवल भगवान् में ही केन्द्रित हो रहता है। तब उसे भगवान् के स्वरूप का बोध होने लगता है। जब वह भगवान् को पहचानने लगा तो उसे शान्ति मालूम होने लगेगी। क्योंकि तब चंचल मन स्थिर होता जायगा। मन की स्थिरता और व्यवस्थितता का ही दूसरा नामं शान्ति है। स्थिरता से वृत्ति में समता आती है, यह शान्ति का पूर्व स्वरूप है। समता जब स्थिर हो जाती है तो वही शान्ति है।

भूख लगने पर जब हम पहला कौर लेते हैं तो बड़े संतोष (तुष्टि) का अनु-भव होता है और खाने में रुचि बढ़ जाती है। भगवान् की भक्ति का भूखा भक्त

जब पहले राम-नाम की धुन लगाता है—'रघुपति राघव राजाराम, पतित पावन सीताराम।', 'राधा कृष्ण जय कुञ्जबिहारी, मुरलीधर गोबर्धनधारी', 'जय जय रामकृष्ण हरि', 'विट्ठल-विट्ठल'—तो शुरू में ही वह भगवत्प्रेम का रसपान करने लगता है, यही उसकी तुष्टि है। जब अन्न पेट में गया तो दूसरी सब बातों की तरफ से ध्यान हट गया। भगवान् के मधुर-प्रेम-रस की प्रगाढ़ता से मन में विराग उत्पन्न होने लगा, यह पुष्टि हुई। पेटभर खा लेने से भूख मिट गई। यहां भगवान् के प्रेम से छक जाने पर उनके स्वरूप का ज्ञान हुआ, इससे उसकी भक्ति-भूख बुझी। अब वह तृप्ति, शान्ति का अनुभव करने लगा।

जब एक बात में मन लग जाता है तो दूसरी बातों की ओर से अपने-आप ध्यान हट जाता है। यही विराग की बुनियाद है। अच्छी बातों में मन लगाने से बुरी बातों के प्रति विराग होता है। बुरी बातों में मन लगायंगे तो अच्छी बातों की तरफ से विराग हो जायगा। बुद्धिमान् मनुष्य, जो सुख चाहते हैं, व दुःखों से त्रस्त हैं, अच्छी बातों में मन लगाते हैं। उन्होंने संसार की तमाम अच्छी बातों के समूह को 'भगवान्' 'परमात्मा' आदि नाम दिया है। अतः जब यह कहते हैं कि भगवान् से प्रेम करो व दुनिया से विराग रक्खो तो उसका अर्थ होता है कि संसार की सब अच्छी बातों, अच्छे भावों, अच्छी शक्तियों से प्रेम करो व बुरी बातों से मन हटालो। इस तरह जब हमारा प्रेम व भक्ति भगवान् में दृढ़ हो जाती है तो उससे तुष्टि, पुष्टि व शान्ति—एकनाथ महाराज के शब्दों में 'भक्ति' 'विरक्ति' व 'प्राप्ति' तीनों एक साथ प्राप्त होते हैं। 'भक्ति' का अर्थ है भूत-मात्र के प्रति प्रेम। 'विरक्ति' का अर्थ है अशुद्ध, निस्सार, बुरी बातों से अरुचि व 'प्राप्ति' से मतलब है भगवान् की प्रतीति—जड़-चेतन विश्व के रूप में अपना रूप देखना। केवल कुटुम्ब, जाति, देश, व समाज व मानव-मात्र में ही नहीं, जीव-मात्र में ही नहीं, बल्कि जड़-चेतन, सृष्टिमात्र में अपनेको विलीन कर देना। स्वार्थ-त्याग या आत्म-त्याग की यह पराकाष्ठा है। जो यह कहते हैं कि व्यक्ति को समाज में लीन हो जाना चाहिए, यही व्यक्ति-जीवन का उत्कर्ष है, वे देखें कि भागवत-धर्म का आदर्श उनसे केवल समरस ही नहीं बल्कि आगे बढ़ा हुआ है।

"इस प्रकार हे राजन्, भगवान् अच्युत के चरण-कमलों का निरन्तर भजन करनेवाले भक्त को भगवत्प्रेम, विषयों में वैराग्य, तथा भगवत्स्वरूप का बोध ये सब अवश्य प्राप्त होते हैं और वह साक्षात् परम शान्ति को प्राप्त हो जाता

है।"।।४३।।

इस तरह राम-धुन की रट जब निरन्तर लगी रहती है तो पूर्वोक्त तीनों लाभ और निश्चित हो जाते हैं व अन्त में भक्त साक्षात् परम शान्ति——अखण्ड सुख——को पा जाता है। मानो शान्ति-स्वरूप ही हो जाता है।

यहां याद रखना चाहिए कि नाम-संकीर्तन या धुन भगवान्——अपने इष्ट या आराध्य——में मन लगाने का सरल साधन है। परन्तु जिनका इष्ट कोई देश, वस्तु, तत्त्व या सिद्धान्त आदि हो वे क्या करें। वे अपने ध्येय को सदा-सर्वदा याद रक्खें——एक क्षण के लिए भी अपनी आंखों से उसे ओझल न होने दें। जैसे गोपियों के मन में कृष्ण समा गये थे——

> नाहिं न रह्यो हिय मंह ठौर।
> नन्द नन्दन अछत कैसे आनिए उर और।
> चलत, चितवत, दिवस जागत, सुपन सोवत राति।
> हृदय में वह स्याम मूरति, छिनन इत-उत जाति।।

> जित देखो तित स्याममयी है।
> स्याम कुंजवन, जमुना स्यामा, स्याम गगन घन घटा छई है।
> सब रंगन में स्याम भरो है लोग कहत यह बात नई है।।
> मैं बौरी की लोगन ही की स्याम पुतरियां बदल गई हैं।
> चन्द्रसार रविसार स्याम है मृगमद स्याम काम विजई है।।
> नीलकण्ठ को कण्ठ स्याम है मनो स्यामता बेल बई है।
> श्रुति को अक्षर स्याम लेखियत दीप शिखा पर स्यामतई है।।
> नर देवन की कौन कथा है अलख ब्रह्म छवि स्याममयी है।।

श्रीकृष्ण की मनोहर मूर्ति व काली-घुंघराली अलकों को एकटक देखते रहने में आंख की पलक को बाधक जानकर गोपी से उनको बनानेवाले ब्रह्मा को मूर्ख——अरसिक——कहे बिना नहीं रहा जाता है——'कुटिल कुन्तलं श्री मुखञ्च ते। जड उदीक्षतां पक्ष्मकृद् दृशाम्।' ——यही उनका नाम-स्मरण हुआ। दिन-रात अपने लक्ष्य की सिद्धि के लिए साधन जुटाने, उनकी योग्यायोग्यता की छान-बीन करने, लक्ष्य के स्वरूप का निश्चय करने, अपने कार्यक्रम को पूरा करने के जोड़-तोड़ भिड़ाने में उनका समय व शक्ति लगनी चाहिए।

"वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायां।
हस्तौ च कर्मसु मनस्तव पादयोर्नि:
स्मृत्यां शिरस्तव निवास जगत् प्रणामे
दृष्टि: सतां दर्शनऽस्तु भवन्तनूनाम्॥"

भक्ति का असली मर्म या स्पिरिट यही है कि मनुष्य किसी शुद्ध व ऊंचे ध्येय के लिए अपने-आपको समर्पण करदे व दिन-रात प्रेम-अनुराग-उत्साहपूर्वक उसीकी सिद्धि में लवलीन रहे। इससे उन्हें भी भगवद्भक्त की तरह तुष्टि, पुष्टि व मुक्ति तीनों का लाभ होगा। आज समाज या देश की सेवा में, जो लोग तन-मन से लगे हुए हैं, नाना प्रकार के कष्ट, असुविधाएं, अपवाद सहते हुए अपने उद्देश्य की सिद्धि में लगन से जुटे हुए हैं, वे सब भक्त-श्रेणी में आ जाते हैं। हां, भगवद्भक्ति का आदर्श सबसे ऊंचा है, यदि वह सच्चे व व्यापक अर्थ में जैसा कि पहले बता चुके हैं, लिया जाय।

भक्त भगवान् से कुछ नहीं चाहता। पहले तो वह भगवान् को चाहता है, उसके लिए दूसरी सब बातें छोड़ देता है। फिर भगवान् की चाह भी छूट जाती है, क्योंकि वह भगवानमय हो जाता है। जबतक वस्तु दूर रहती है तबतक उसकी चाह होती है, जब वस्तु व मैं एकरूप हो गये तो चाह किसकी रहेगी? इस तरह भक्त चाहे या न चाहे यदि उसका सर्वार्पण सच्चा है तो उसे सफलता सुख, शान्ति अवश्य मिलते हैं। उसने अपने शरीर-सुख की चाह छोड़ दी है। अपनी कोई महत्वाकांक्षा नहीं रखी। अब दुनिया में उसका झगड़ा किससे व क्यों हो? उसकी सफलता, शान्ति में बाधाएं क्यों आवें? वह जो कुछ सोचता है, करता है, वह भगवान् के लिए---संसार की सेवा के लिए। इसमें जो लोग बाधा डालते हैं, संसार के हित में लीन शक्तियों का विरोध व प्रतिकार उन बाधाओं को हटा देता है। इसमें समय लग सकता है, पर सिद्धि निश्चित है। इसमें देर हो सकती है, अन्धेर नहीं।

राजा निमि बोले---"अब आप भगवद्भक्त का वर्णन कीजिये। उसके जो धर्म हैं, मनुष्यों में जैसा उसका स्वभाव होता है, वह जैसा आचरण करता है, जो कुछ बोलता है और जिन लक्षणों के कारण वह भगवान को प्रिय होता है वह सब बतलाइये।" ॥४४॥

जब भागवत्-धर्मों का परिचय पा लिया तो भगवत् भक्तों से पहचान कर

लेना चाहते हैं। जबतक कोई नमूना सामने न हो तबतक कोरे बौद्धिक ज्ञान या निश्चय से आचरण में उत्साह नहीं होता। अतः भक्तों के लक्षण पूछना इस बात का संकेत है कि जनक राजा धर्म का परिचय पाकर ही सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहते——इस कान से सुना व उस कान से निकाल दिया——ऐसे नहीं हैं, वह सच्चाई व उत्सुकता के साथ उनका पालन भी करना चाहते हैं। आचरण ही, पालन ही तो मनुष्य की सच्चाई का सबूत है।

गीता में भी अर्जुन ने श्रीकृष्ण से 'स्थित-प्रज्ञ' के लक्षण पूछे। स्थित-प्रज्ञ के आदर्श में प्रज्ञा के स्थिर होने पर ज़ोर है तो भक्त के आदर्श में 'सर्वार्पण' पर, 'सर्वात्मभाव' पर। पहला बुद्धि को लक्ष्य करके है, दूसरा भावना को। जब बुद्धि स्थिर होती है तो सबमें आत्म-भाव होने लगता है। इस प्रकार यह भी कह सकते हैं कि जैसे-जैसे सर्वात्मभाव होता जाता है वैसे-वैसे बुद्धि या प्रज्ञा अपने-आप स्थिर होने लगती है। आगे चलकर तो बुद्धि व भावना का यह भेद ही खतम हो जाता है। केवल स्थिति, स्वभाव, स्वरूप ही शेष रह जाता है। अर्थात् भक्त, भगवान, नर नारायण हो जाता है। अतः स्थित-प्रज्ञ का, गुणातीत का, भक्त का, ज्ञानी का, सिद्ध का, आदर्श ऊंचा व अच्छा है या महामानव का, निर्वाण का, अर्हत का——यह विवाद ही फजूल है। जो आदर्श जीवन को पूर्णता की ओर ले जाता हो, वह सच्चा है। इस दृष्टि से प्रत्येक आदर्श को देखना चाहिए व अपनी मनःप्रवृत्ति, संस्कार, स्वभाव, रुचि, विकास आदि का विचार करके जो आदर्श ठीक लगे वह चुन लेना चाहिए। इसमें महत्त्व की बात है दृष्टि का सही होना, व साधना में तन्मय हो जाना।

हरि बोले——"जो समस्त प्राणियों में वर्तमान आत्मा के भगवद्भाव को देखता है——यह जानता है कि मैं परब्रह्मस्वरूप और सब पदार्थों में व्यापक हूं——तथा जो अपने भगवत्स्वरूप में ही समस्त प्राणियों को——अध्यस्त——देखता है, वही भगवद् भक्तों में श्रेष्ठ है।" ॥४५॥

अब दूसरे बन्धु, हरि, इसका जवाब देने के लिए प्रस्तुत होते हैं। सबसे पहले उन्होंने श्रेष्ठ भक्त का लक्षण बताया। भक्त की अन्तिम अभिलाषा है भगवान में मिल जाना——

"दिया हमने जो अपनी खुदी को मिटा,
वह जो परदा था बीच में अब न रहा।

रहा परदे में अब न वह परदानशीं,
कोई दूसरा उसके सिवा न रहा।"

इसीको दूसरी भाषा में कहें तो सबमें भगवान को भगवान में सबको देखना है। वह अपनेको भगवान में व भगवान को अपने में सर्वदा देखता है। वह मानता है, मैं ही परमात्मा हूं। परमात्मा मुझमें है, मुझसे अलग नहीं। उसका मैं-पन जो केवल उसके शरीर, कुटुम्ब आदि में सीमित था, अब सारे विश्व-ब्रह्माण्ड तक व्याप्त हो गया है। अत: जिसमें अहन्ता का लेशमात्र नहीं रह गया है, जीव-भाव निकलकर शिव-भाव आ गया है, जैसे घी या घी के कण में कोई भेद नहीं है. पिघलने पर दोनों एकरस, एकजीव हो जाते हैं, वैसे ही जिसकी स्थिति भगवान में हो जाती है, वह भक्तों में, योगियों में, ज्ञानियों में श्रेष्ठ, सर्वोपरि उत्तम है। ऐसी अद्वैत, अभेद-सिद्धि श्रेष्ठ भक्त का प्रथम लक्षण है।

"जो भगवान से प्रेम, उनके भक्तों से मित्रता, अज्ञानियों पर कृपा, और भगवान से द्वेष करनेवालों की उपेक्षा करता है, वह मध्यम भक्त है।" ॥४६॥

पहले नम्बर का भक्त सबमें एकभाव को देखता है। यह दूसरे नम्बर का भक्त भेद-भाव रखनेवाला है। भगवान को, उनके भक्तों को, अज्ञानियों को, भगवान के द्रोही को—सबको—खुद अपनेको भी—अलग-अलग देखता है। इसकी दृष्टि में अभी सबके कर्मों की योग्यता-अयोग्यता का भाव है। जो जिस योग्य है वैसा ही उसके साथ यह व्यवहार करना चाहता है। मुंह देखकर तिलक लगाता है। आत्मत्व, अभेदत्व इसकी कसौटी नहीं है, मूल प्रेरणा नहीं है। जो सबको आत्ममय देखता है वह सबके प्रति प्रेम से सराबोर रहता है। जो कुछ करता है, उनके प्रति प्रेम से प्रेरित होकर करता है। भले ही वह साधुपुरुष हो, दुष्ट-दुरात्मा हो, जगत् में उसका शत्रु या विरोधी समझा जाता हो। यह दूसरा मध्यम भक्त भगवान के भक्तों का सत्कार करेगा, उनसे नेह लगावेगा; लेकिन जो भगवान को नहीं मानते या उसकी निन्दा करते हैं, उनसे असहयोग रक्खेगा, उनकी उपेक्षा करता रहेगा, यदि उनका अहित नहीं करेगा तो उनके हित में भी प्रवृत्त नहीं होगा 'साहब सलामत दूर की अच्छी', इस तरह रहेगा। जो नासमझ है, अपढ़ अज्ञानी है, उनपर वह कृपा जरूर रखेगा।

"और जो भगवान् के अर्चाविग्रह-प्रतिमा आदि की पूजा में ही श्रद्धा से प्रवृत्त होत है, उनके भक्तों की अथवा अन्य किसीकी पूजा में प्रवृत्त नहीं होता, वह

साधारण भक्त कहा गया है।" ।।४७।।

अब तीसरे नम्बर का—साधारण भक्त—आया। यह केवल भगवान की मूर्ति आदि की पूजा-अर्चा में निमग्न रहता है। यह नौसिखिया है—अभी इसका भक्ति-मार्ग में प्रवेश ही हुआ है। इसका मन अभी बाहरी उपचारों में ही लगता है। भक्ति की स्पिरिट में नहीं घुसा है। प्रतिमा में ही वह भगवान का निवास मानता अभी है। अतः दूसरे जीवों या मनुष्यों की पूजा में प्रवृत्त नहीं होता। इनमें अभी उसकी भगवद्भावना नहीं हुई है। अतः यह प्रारम्भिक भक्त हुआ।

"इन्द्रियों के द्वारा विषयों को ग्रहण करता हुआ भी 'यह सब भगवान की माया ही है' ऐसी दृष्टि रखकर जो न उनसे द्वेष करता है न उन्हें पाकर खुश ही होता है, निश्चय ही वह भगवद्भक्तों में उत्तम है।" ।।४८।।

अब फिर उन्होंने उत्तम भक्तों के सविस्तर लक्षण बताना शुरू किये। यह भक्त विषय-भोग तो करता है, पर उनमें लिप्त नहीं होता, उनसे प्रभावित नहीं होता, अतः उसके मन में उनके या लोगों के प्रति राग-द्वेष नहीं पैदा होता, न उनके सुख-दुःखों का ही भागी होता है। यह सब 'भगवान की माया या प्रारब्ध का फल' है ऐसा समझकर वह तटस्थ रहता है। सुख-भोग पास आते हैं तो इन्कार नहीं करता, नहीं आते या चले जाते हैं तो दुःखी नहीं होता, उसके लिए विषयों का भोग व त्याग दोनों मिथ्या हैं। इस प्रकार विषय-भोग में चित्त की समानता या तटस्थता उत्तम भक्त का लक्षण है।

"जो हरिचरण में तल्लीन रहने के कारण क्रमशः देह, इन्द्रिय, प्राण मन और बुद्धि के सांसारिक धर्म, जन्म-मरण, क्षुधा, भय, तृष्णा और परिश्रमादि से मोहित नहीं होता, वह भगवद्भक्तों में श्रेष्ठ है।" ।।४९।।

विषय-भोगों से तटस्थता तो ठीक वह देहादिक के जन्म-मरणादि सांसारिक धर्मों से भी मोहित नहीं होता; इनके प्रभाव में नहीं आता। क्योंकि उसका ध्यान तो ईश्वर के चरणों में लगा हुआ है। वह उसीमें गरकाब हो रहा है। जिसके मन ने महामहिमान्वित अखण्डैश्वर्यसम्पन्न भगवान को ग्रहण कर लिया है, उसपर फिर इन्द्रियों के धर्म अपनी सत्ता कैसे चला सकते हैं?

हाथ, पांव आदि दस इन्द्रियां[1] कहलाती हैं। इन्द्रियों से युक्त जो हमारे

---

[1] इन्द्रियां—जीव की भिन्न-भिन्न क्रिया-शक्तियों के प्रकट होने के शरीरस्थ

शरीर का ढांचा है, यह देह कहलाता है। दस इन्द्रियां बाहरी हैं। इसी तरह भीतरी इन्द्रियां भी हैं, जिन्हें मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार (अंतःकरण चतुष्टय) कहते हैं। शरीर के भीतर हृदय, फेफड़े, मूत्रपिण्ड (गुर्दे), जठर, यकृत (जिगर) प्लीहा (तिल्ली) छोटी-बड़ी आंतें, आदि छोटे-बड़े अवयव भी हैं, जो शरीर की स्थिति, पोषण व संचालन का काम करते हैं। इनका सम्बन्ध बाहरी जगत से नहीं होता, जैसा कि कर्मेन्द्रियों व ज्ञानेन्द्रियों का होता है। देह, इन्द्रियां, मन, बुद्धि, प्राण ये मनुष्य के या जीव के बन्धन के पांच कारण हैं। क्षुधा, तृषा, भय, क्लेश, जन्म, मरण ये मनुष्य के संसार-धर्म हैं, अर्थात् प्रत्येक मनुष्य के साथ ये लगे ही हुए हैं। परन्तु उत्तम भक्त इनसे दुःखी व प्रभावित नहीं होता। वह भगवद्भजन में या अंगीकृत सेवा-कार्य में इतना तल्लीन हो जाता है कि उसे भूख-प्यास का भान ही नहीं रहता। उसके मन का स्वतन्त्र अस्तित्व ही मानो नहीं रहता। उसमें द्वैत-भाव स्फुरित नहीं होता। अतः उन्हें भव-भय बाधा नहीं पहुंचाता। जबतक देह-भाव कायम है तभी तक मन में अनेक तृष्णाएं उठती हैं। भक्त उनसे अलिप्त

साधनों को इन्द्रियां कहते हैं, ये यों दस हैं किन्तु मन भी एक अन्तरिन्द्रिय माना जाता है, अतः ग्यारह कह सकते हैं। इनमें पांच——आंख, कान, नाक, जीभ, चमड़ी ज्ञानेन्द्रियां हैं, जो बाह्य जगत का ज्ञान मन को देती हैं, और पांच कर्मेन्द्रियां—— वाणी, हाथ, पांव, गुदा, लिंग हैं, जो मन की प्रेरणानुसार उसके आदेश का बाहरी जगत में पालन करती हैं। जीव मन के मार्फ़त इन इन्द्रियों से काम लेता है।

मन——का कार्य, संकल्प-विकल्प करना है। यह रजोगुण-प्रधान है।

बुद्धि——कार्य-अकार्य, कर्तव्य-अकर्तव्य, भला-बुरा का निर्णय करनेवाली शक्ति। यह सत्त्व गुण-प्रधान है।

चित्त—प्रेरक शक्ति चैतन्य की ज्ञान व क्रिया-शक्ति शरीर में आकर जब ज्ञाता, कर्त्ता, भोक्ता, इच्छावान्, वासनावान्, भावनावान् बनती है तब उसे चित्त कहते हैं। विषयों का अनुसन्धान करनेवाला।

अहंकार——भेद-बुद्धि, अपनी स्वतन्त्र पृथक्ता, अस्तित्व का भान। श्री मश्रुवाला के मतानुसार प्रत्येक नामरूप में स्थित स्वरूप धृति (Stability) व प्रत्याघात-धर्म (Resistance) वास्तव में मन ही के ये चार रूप कर्म-भेद से हैं।

रहता है; क्योंकि उसका देहभाव नष्ट हो जाता है। उसे इन्द्रिय-क्लेश भी नहीं होते। इन्द्रियों का प्रत्येक कर्म उसके लिए ब्रह्म-स्फुरण हो जाता है। आंख से यदि कुछ देखता है तो वह दृश्य नारायण का रूप हो जाता है। कान से जो-कुछ सुनता है, वह नारायण-ध्वनि होती है। किसी वस्तु को छूता है तो उसे भगवान के स्पर्श का अनुभव होता है। वह वस्तु उसे जड़ नहीं बल्कि चिन्मात्र चैतन्यमय मालूम होती है। छाया को यदि पालकी में बैठावें तो उसे उसका क्या सुख-दुःख होगा? आकाश में यदि कोई तलवार चलावे तो आकाश पर उसका क्या असर होगा? भक्त यह मानता ही नहीं कि मेरा जन्म हुआ है और मैं मरूंगा। पानी के गढ़े में सूर्य-प्रकाश दीखता है। क्या प्रकाश यह मान लेता है कि मैं पानी का गढ़ा हूं? इस तरह भक्त को देह-जनित सुख-दुःख बाधक नहीं होते।

"कामना और कर्म के बीजों, वासनाओं का जिसके चित्त में उद्भव नहीं होता और एकमात्र भगवान् वासुदेव का ही जिसे सहारा है, वह निश्चय ही भगवद्भक्तों में श्रेष्ठ है।" ॥५०॥

अब भक्त और आगे बढ़ता है। शरीर-धर्मों के प्रभाव से अपनेको बचा लेना एक बात है, कामना व कर्म के सब बीजों को मिटा देना दूसरी बात है। किसी कामना को लेकर ही कर्म होता है, शरीर-धर्म प्रकट होते हैं। तो अब भक्त उन धर्मों या कर्मों के मूल को ही काट देता है। कामना व वासना को ही त्याग देता है। स्वतन्त्ररूप से अपनी कोई इच्छा नहीं रखता। भगवान् की महान् इच्छा में उसने अपनी इच्छा मिला दी है। अब तो भगवान् इच्छा करते हैं, वह नहीं। वह जो कुछ करता है, भगवान् के इच्छानुसार करता है। अतः वह कर्त्तापन के बन्धन से नहीं बंधता, फल-भागी नहीं होता। उसके सुख-दुःख, हर्ष-शोक से बच जाता है। जब वह इच्छा नहीं करता तो उनका फल-भोग भी नहीं करता। अच्छा फल हुआ तो भगवान् के अर्पण, बुरा हुआ तो भगवान् के अर्पण। वह एकमात्र वासुदेव को ही कर्ता, भोक्ता सब-कुछ समझता है। बल्कि उसकी कामना-वासना भगवान् का ही रूप ले लेती है। तब तो न वासना का भय रहा न उसके फल-भोग की चिन्ता रही।

साधारण कामना 'कामना' कहलाती है, व विशेष भोग की कामना 'वासना' कहलाती है।

"जिसका जन्म अथवा कर्म से तथा वर्ण-आश्रम अथवा जाति के कारण इस

देह में अहंभाव नहीं होता, वह अवश्य भगवान् को प्रिय होता है।" ।।५१।।

कामना-वासना ही नहीं, अब वह अहंभाव 'मैं हूं', इस भावना को मिटा देता है, उसे हरिचरण में लीन कर देता है। यह शरीर मेरा है, यह शरीर मैं हूं, मैं जन्मा हूं, मैं कुछ करता हूं, मैं अमुक वर्णी हूं, अमुक जाति का हूं, ऐसा अभिमान या भाव नहीं रखता। वह 'सबै जात गोपाल की' हो जाता है।

इन संकुचितताओं, सीमाओं से वह परे और भगवान् की सर्वव्यापकताओं में लीन होता जाता है।

वह जन्म लेकर भी नहीं मानता कि मेरा जन्म हुआ है। सोने का यदि कुत्ता बनाया जाय तो कुत्ते का आकार होते हुए भी वह अपनेको कुत्ता नहीं मानता। उसका अभिमान नहीं रख सकता। वह अनेक कर्म और क्रियाएं करता है तो भी अपनेको उनका कर्त्ता नहीं मानता। सूर्य आकाश में उगता है तो भी आकाश अपनेको सूर्य का कर्त्ता नहीं मानता। देहादि से जो कुछ हुआ करता है, उसकी जिम्मेदारी वह अपने ऊपर न लेकर भगवान् पर डाल देता है। इस तरह जब भक्त का देहाभिमान बिलकुल नष्ट हो जाता है तब भक्त जो कुछ करता है, भगवान् को प्रिय ही होता है। उसकी जो इच्छाएं होती हैं, भगवान् उनका रूप धारण कर लेता है। उसके सुख में ही वह अपनेको सुखी अनुभव करता है। वह जहां कहीं जाता है, भगवान् उस रास्ते में अपनेको बिछा देता है। भक्त जिस पदार्थ को चाहता है, वह पदार्थ भगवान् बन जाता है। मां को जैसे सदैव यह चिन्ता रहती है कि बच्चे को कहीं नज़र न लग जाय इसी तरह भगवान् भक्त की चिन्ता रखता है। देहाभिमान जाने से भक्त का देह खुद भगवान् ही हो जाता है।

वर्ण से मतलब यहां ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र से है, परन्तु व्यापक अर्थ में, गोरी, पीली, काली, जाति से भी लिया जा सकता है। इसी प्रकार आश्रम से अभिप्राय ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास से है, परन्तु जीवन की सभी अवस्थाएं बालक, युवा, बुढ़ापा ली जा सकती है। जाति से अभिप्राय तेली, कुम्हार नाई, नागर, औदिच्य आदि से है, परन्तु स्त्री, पुरुष, पशु, पक्षी आदि से भी लिया जा सकता है। मतलब यह कि वह अल्प से महान्, अणु से विभु होता जाता है।

"जिसका धन में अथवा शरीर में 'यह अपना है, यह पराया है' ऐसा भेद-भाव न हो, जो समस्त प्राणियों में समदृष्टि और शान्त-चित्त हो, निश्चय ही वह

भगद्भक्तों में श्रेष्ठ है।" ॥५२॥

अब भक्त और ऊपर उठा। जाति, वर्ण अर्थात् मनुष्य-जाति ही नहीं, जग के समस्त प्राणियों को समदृष्टि से देखता है, और भेद-भाव नष्ट होता जाता है। देह और उसके अर्थ-धन, दारा आदि में ही मनुष्य की प्रधान आसक्ति होती है। आसक्ति से यह स्वार्थ-भाव उत्पन्न होता है कि इनका उपभोग मैं ही करूं। कहीं दूसरा इनका उपयोग या उपभोग न कर ले, इस भय से उनके प्रति स्वामित्व की भावना उत्पन्न होती है। यही अपना-पराया भेद मानने की जड़ है। भक्त ने जब अपनेको भगवान् के अर्पण कर दिया, व्यक्ति ने जब अपनेको किसी उच्च उद्देश्य या कार्य के हाथों में सौंप दिया, तब किसी दूसरे विषय में उसे रुचि ही नहीं, तो आसक्ति कहां से हो? न अपने-पराये का भेद, न स्वामित्व की भावना। सब ओर उसकी समान दृष्टि है, कोई राग-द्वेष नहीं, इसलिए किसी प्रकार की चंचलता, विकलता, अव्यवस्थितता नहीं, सब जगह शान्ति ही शान्ति का राज्य है।

आग की चिनगारी और आग में जैसे कोई फर्क नहीं रहता वैसे ही भक्त और भगवान् में भेद नहीं रहता। बाएं हाथ की चीज जैसे दाहिने हाथ को दी जाय तो व्यक्ति यह अनुभव नहीं करता कि वह वस्तु किसी दूसरे को दी गई है, इसी तरह जीव-मात्र के प्रति उसके मन की भावना हो जाती है? और इससे उसको अपूर्व शान्ति का अनुभव होता है।

"त्रिभुवन के राज्य-वैभव के लिए भी जिसका भगवच्चिन्तन नहीं छूट सकता, भगवान् में ही मन लगाये रखनेवाले देवता आदि भी जिन्हें खोजा करते हैं, उन भगवच्चरणारविन्दों की सेवा से जो आधे पल के लिए भी विचलित नहीं होता, वह भगवद्भक्तों में अग्रगण्य है।" ॥५३॥

अब भक्ति की, साधक की, सेवक की, सुधारक की परीक्षा शुरू होती है। लोभ और भय दो उसके रूप होते हैं। भय पर मनुष्य एक बार हावी हो जाता है; परन्तु लोभ-सुन्दरियों, धन-दौलत, पद-ऐश्वर्य, राज्य-वैभव का लोभ छूटना बहुत मुश्किल है। राज, समाज, गुरु, देवता का कोप, दण्ड, जेल, फांसी, वध, धन-दौलत का अपहरण, निन्दा, बदनामी आदि भय के साधन हैं। ये सब एक-एक करके उसके सामने आ जायं तो भी वह भगवान् के चरणों को, अपने प्रिय लक्ष्य को नहीं छोड़ता। जब इसमें पास हो जाता है तब वह वैष्णवों में, भक्तों में या साधकों में अग्रगण्य हो जाता है।

सारे त्रिभुवन की संपत्ति उसके सामने लाकर रख दी जाय तो भी भगवान् के आगे वह तुच्छ मालूम होती है।

"भगवान् विष्णु के उरु विक्रम बड़े-बड़े दृगोंवाले चरणों की अंगुलियों के नख-रूप मणियों की शीतल कान्ति से जिसका कामादि ताप शान्त हो गया है, भगवान् की शरण में पड़े हुए पुरुषों के उस हृदय में पुनः वह ताप कैसे हो सकता है? रात में चन्द्रमा के उदय होने पर भी क्या सूर्य का ताप ठहर सकता है।" ॥५४॥

परीक्षा के बाद अब भक्त को आश्वासन दिया जाता है। भक्त कहीं इस शंका में या चिन्ता में न पड़ जाय कि इतने भयों व प्रलोभनों के चक्कर में कहीं मेरे कामादि ताप फिर बढ़ न जायं। फिर मन के विकार, दोष, कमजोरियां हावी न होने लगें, जिससे सब किया-कराया गुड़-गोबर हो जाय। तो यकीन दिलाया जाता है, ढाढस बंधाया जाता है कि जिसने सच्चे दिल से, पूरी लगन से भगवान् के चरण पकड़ लिये हैं,उसे फिर ऐसे ताप में नहीं जलना पड़ता। 'नहिं कल्याण कृत कश्चित् दुर्गति तात गच्छति।' जब अर्जुन के मन में इसी प्रकार की शंका हुई तो भी कृष्ण भगवान् ने उसे ऐसा ही आश्वासन दिया था।

"जो विवश होकर अपना नाम उच्चारण किये जाने पर भी संपूर्ण पाप-समूह को ध्वंस कर देते हैं साक्षात् वे ही हरि प्रेम-पाश से अपने चरण-कमलों के बंध जाने के कारण, जिसके हृदय को कभी नहीं छोड़ते, वह भगवद्भक्तों में श्रेष्ठ कहा गया है।" ॥५५॥

पहला आश्वासन अब और दृढ़ किया जाता है। अरे लाचारी से, अचानक, यहांतक कि शत्रु-भाव से भी जिन्होंने भगवान् को याद किया, उनके संपूर्ण पाप नष्ट कर डाले। तो फिर जिन प्रिय भक्तों ने उसके चरण-कमलों को अपने प्रेम-पाश से बांध रक्खा है, उन्हें कैसे अधर में, अकेला, पाप, दुःख, शोक, ताप में छोड़ सकते हैं? जिसने पाहन पशु, विटप विहंग, अपने कर लिये हैं—वह अपने परम भक्तों को कैसे भव-सागर में डूबता हुआ छोड़ सकते हैं? "योऽसौ विश्वंभरो देवः स भक्तान् किमुपेक्षते?"

: ३ :

माया, ब्रह्म और कर्म

[इस अध्याय में राजा निमि ने भगवान् की माया और उससे तरने का उपाय तथा ब्रह्म व कर्म का स्वरूप पूछा है। पहली बात का जवाब अन्तरिक्ष ने, दूसरी का प्रबुद्ध ने, तीसरी का पिप्पलायन तथा चौथी का आविर्होत्र ने दिया है। अन्तरिक्ष कहते हैं---आदिदेव नारायण ने अपने स्वरूप-भूत जीवों के भोग व मोक्ष के लिए अपने रचे पञ्चभूतों से यह सारी सृष्टि रची। फिर सबमें खुद ही जीव-रूप से प्रविष्ट हुआ। बाद में विषयोपभोग से शरीर को आत्मा मानकर जीव उसमें आसक्त हो जाता है, जिससे वासनायुक्त कर्म करता हुआ सुख-दुःखमय फल भोगता है। महा-प्रलय-पर्यन्त संसार में भटकता रहता है। फिर प्रलय के समय वह विराट् पुरुष अपने ब्रह्माण्ड-शरीर को छोड़कर सूक्ष्म-रूप (अव्यक्त) में लीन हो जाता है। जगत् की उत्पत्ति, स्थिति लय करनेवाली गुणमयी यही भगवान् की माया है। फिर प्रबुद्ध ने बताया---स्त्री, पुत्र, धन आदि को नश्वर समझकर इनमें मोह न रखना चाहिए और शब्द-ब्रह्म---वेद---तथा परब्रह्म में परिनिष्ठित शान्तचित्त गुरु की शरण ले। फिर दैवी सम्पत्तियों की साधना करते हुए अपनेको जो कुछ प्रिय हो, वह सब परमात्मा के अर्पण कर देना चाहिए। इस तरह प्रेम, भक्ति के द्वारा नारायण-परायण होकर पुरुष अनायास इस दुस्तर माया को पार कर लेता है। तदनन्तर पिप्पलायन बोले ---सृष्टि के आदि में एक ब्रह्म ही था। सत्-असत् उसके परे जो कुछ है सब वही है। वह एक ही ब्रह्म संसार में विविध रूप से दिखाई दे रहा है। वह ज्ञान-स्वरूप है। भक्ति से जब चित्त शुद्ध हो जाता है तब उसे आत्मतत्त्व स्पष्ट रूप से भासने लगता है। फिर आविर्होत्र ने कहा---कर्माकर्म का प्रकरण गूढ़ है। यह वेदों से ही जाना जा सकता है। निःसंग होकर ईश्वरार्पण-भाव से कर्म करते रहने से मनुष्य ज्ञान को प्राप्त कर लेता है। प्रारंभिक अवस्था में भगवान् की प्रतिमा की यथा-विधि पूजा-अर्चा, ध्यान आदि करे। इस प्रकार जो भगवान्

श्रीहरि का पूजन करता है वह शीघ्र मुक्त हो जाता है।]

राजा ने कहा––"भगवन्, अब मैं बड़े-बड़े मायावियों को भी मोहित कर देनेवाली भगवान् विष्णु की माया को जानना चाहता हूं। आप लोग उसका वर्णन कीजिये। मैं संसार-ताप से संतप्त एक मरण-धर्मा मनुष्य हूं। इसलिए उस ताप को मिटाने की जो एकमात्र ओषधि है, उस हरिकथामृतरूप आपके मुखार-विन्द से निकले हुए वचन को सुनते हुए मेरी तृप्ति नहीं होती।" ॥१-२॥

संसार-ताप से अभिप्राय यहां संसार के विविध दुःखों व क्लेशों से है। यह मान लेने पर भी कि संसार में दुःख की अपेक्षा सुख अधिक है या सुख स्वतः-सिद्ध है, दुःख आगन्तुक है, जबतक मनुष्य दुःख का अनुभव करता है तबतक उसे दूर करने का उपाय वह करता ही है व करना भी चाहिए। ज्ञानियों, अनुभवियों और साधु-संतों-भक्तों का कहना है कि वह एकमात्र भगवान् की शरण जाने से ही हट सकता है। न्यायोचित उपाय करते-कराते भी जो ताप बच रहे, अपने काबू के बाहर हो जाय, उसे शान्तिपूर्वक किसी दूसरे को उसका जिम्मेदार या निमित्त न ठहराते हुए सह लेना चाहिए। और दुःखों के साथ ही जब मनुष्य अपने आस-पास नित्य सैकड़ों-हजारों जीवों को मरते देखता है तो उसे सहज ही इस कष्ट से छूटने-छुटाने की प्रेरणा होती है। भगवान् बुद्ध को संसार के इन्हीं रोग, बुढ़ापा, मृत्यु आदि कष्टों ने विरक्त करके उनको निर्वाण का मार्ग खोजने में प्रवृत्त किया था।

भागवत-धर्म व भक्तों के लक्षण जानने के बाद स्वभावतः उन्हें यह प्रेरणा हुई कि मुझे अब इसका उपाय करना चाहिए। तो सबसे पहले संसार व उसके बन्धन—मोह-माया–– उसमें बाधक होती हुई दिखाई दी। उन्होंने पहले भगवान् की इस अद्भुत शक्ति या माया का ही स्वरूप समझ लेना चाहा।

अन्तरिक्ष ने कहा––"सर्वभूतात्मा आदिदेव नारायण ने अपने ही स्वरूप-भूत जीवों के भोग व मोक्ष के लिए अपने रचे हुए पंच-भूतों से ही नाना प्रकार की उत्कृष्ट व निकृष्ट भूतों की सृष्टि की है।" ॥३॥

यह सारा सृष्टिचक्र भगवान् की माया ही है। अतः अन्तरिक्ष ने पहले सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति, लय का तत्त्व बताया। पहली बात यह बताई कि यह सृष्टि भगवान् की रची हुई है। इसके विषय में मुख्य दो मत संसार में फैले हुए हैं। एक तो यह कि प्रकृति से ही अपने-आप सृष्टि उत्पन्न होती है। उसके सिवा संसार में कोई दूसरा तत्त्व या शक्ति नहीं है। दूसरा यह कि भगवान् जो प्रकृति का स्वामी

है, सृष्टि रचता है। किसी वस्तु का रचना में तीन चीज़ें होनी चाहिए—१. रचना में सहायक (कोई तत्त्व-शक्ति या व्यक्ति) २. सामग्री जिससे वस्तु बनाई जाय ३.वह शक्ति या क्रिया या व्यापार जिसके बल पर वह रची या बनाई जाय। इन तीनों को लेकर अनेक वाद व मत-मतान्तर हैं। भारत में पहले लोकायत चार्वाक् या बार्ह-स्पत्य नामक एक मत प्रचलित था जो बृहस्पति द्वारा चलाया माना जाता है। यह एक प्रकार से आधुनिक विज्ञानवादियों कीश्रेणी में आते हैं। विज्ञानवादी उसी वस्तु को सत् मानते हैं, जिसका ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा हो सके। उनकी राय में इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्षीकृत जगत् ही सत् है, अन्य पदार्थ नितरां असत् हैं। जगत् की उत्पत्ति तथा विनाश का मूल कारण (प्रकृति का) स्वभाव है। वस्तु-स्वभाव जगत् की विचि-त्रता का कारण है,अन्य कुछ नहीं 'अपरे लौकायतिकः स्वभावं जगतः कारणमाहुः। स्वभावादेव जगत् विचित्रमुत्पद्यते, स्वभावतो विलयं याति।'—भट्टोत्पाल ब्रह्म-संहिता (१।७। की टीका) चार्वाकों के मत में पृथ्वी, जल, तेज, वायु ये चार ही तत्त्व जगत् में हैं। ये ही अपनी आणविक (अणु की) अवस्था में जगत् के मूल कारण हैं। यह विश्व अकस्मात् सम्मिलित होनेवाले पूर्वोक्त चार तत्त्वों—भूतों—का निचय समूहन-मात्र है। आधुनिक विज्ञानी कहता है कि सृष्टि या विश्व का जो अनुभव हमें निरंतर होता है,वह मूल-रूप से देश, काल व वस्तु के सिवा और कुछ नहीं। शक्ति के विश्वव्यापक महासमुद्र के हम एक सूक्ष्म जीवाणु हैं। वस्तु-सत्ता (matter) देश और काल के अन्तर्गत चक्रों के विविध और अनंत समूहों का नाम है। शक्ति गति व प्रकाश-स्वरूप है। गति उसका धर्म व प्रकाश उसका रूप (आकार) है। संसार', 'जगत', 'सृष्टि', ये शब्द ही गति-सूचक हैं। यह पृथ्वी गतिमयी है। चार-पांच से अधिक प्रकार की गतियां इसकी हैं। कोई जड़ पदार्थ भी सर्वथा गतिहीन नहीं है। प्रत्येक पदार्थ कणों से बने हैं। वे सजीव-अजीव दो प्रकार के हैं। इनमें धीमी, द्रुत सब प्रकार की गतियां पाई जाती हैं। अजीव में भी सूक्ष्म कण हैं। एक-एक पर-माणु अनेक सहस्र मील प्रति सेकंड प्रदक्षिणा करते हैं। यह विशालकाय ब्रह्माण्ड व सूक्ष्मातिसूक्ष्म अणु सब निरंतर महाभयानक गतिशील हैं। फिर प्रत्येक पर-माणु अनेक विद्युत्कणों से बना है। वे दो प्रकार के हैं—ऋणाणु (Electron) व धनाणु (Proton)। धनाणु के चारों ओर ऋणाणु प्रायः एक सेकण्ड में एक लाख अस्सी हज़ार मील तक के वेग से परिक्रमण करते हैं। धनाणु परमाणु का केन्द्र है। ऋणाणु उसके आस-पास चक्कर लगाते हैं। जो ऋणाणु वहां से टूटकर

छिटकते चलते हैं, धारा-रूप से, सूर्य से, अग्नि से, या विद्युत् से आते हैं। ऋणाणु परमाणुओं से बने हैं। परमाणु भी स्वयं एक मण्डल है, जिसके भीतर कर्षाणु चक्कर लगा रहे हैं और कर्षाणु सर्गाणु का एक मण्डल है। इन सर्गाणुओं की गति अप्रतिम, अप्रमेय, अचिन्त्य हो सकती है। प्रकृति की इस अवधि तक पहुंचने में कल्पना की उड़ान भी थक जाती है। कल की सूक्ष्मतम अवधि को यदि हम मूल-कण कहें तो अंतिम मूल-कण भी गति का ही हिमीभूत (हिम-रूप बना हुआ) रूप होगा अथवा गति ही मूल-पदार्थ के रूप में परिणत होगी। इस हिमीभूत गति के परिक्रमण, परिभ्रमण, परिघूर्णन एवं प्रदक्षिणा से सारा विश्व विरचित हुआ है। समस्त सृष्टि गतिमय है और वास्तव में अव्यक्त शक्ति है। जिसे हमने गति का हिमी भूत रूप कहा है, जहां कल्पना व मन की पहुंच नहीं है, अव्यक्त शक्ति है। उसी अव्यक्त शक्ति से, उसी सामग्री से वस्तु-मात्र की सत्ता है, जिसे हम साधारणतया अचर जड़ वस्तु-सत्ता कहते हैं।

इस वर्णन से हम इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि विज्ञान-मत में प्रकृति अर्थात् अव्यक्त शक्ति से ही यह सृष्टि बनती-बिगड़ती है और उसको बनानेवाली सामग्री भी प्रकृति के सिवा दूसरी नहीं है।

वस्तु जिस पदार्थ से बनती है, वह उसका कारण माना जाता है व कारण से जो वस्तु बनती हैं,वह उसका कार्य कहा जाता है। सृष्टि कार्य है। इसका कारण हमें खोजना है। कारण दो प्रकार के होते हैं,निमित्त और उपादान। जो वस्तु के बनाने में सहायक होता है वह निमित्त कारण—इसे कर्त्ता भी कहते हैं—और जिस सामग्री से वस्तु बनती या बनाई जाती है, उसे उपादान कारण। जो लोग परमात्मा को सृष्टि-कर्त्ता मानते हैं, उनमें कई मत हैं। आदि कारण तो प्रायः सभी मानते हैं, पर कुछ उसे निमित्त कारण, कुछ उपादान कारण, व कुछ निमित्त व उपादान दोनों कारण मानते हैं। ज़रा इसको सविस्तर समझ लें।

सृष्टि या विश्व किसी अव्यक्त शक्ति या तत्त्व का व्यक्त रूप है। (अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वा 'अव्यक्तादीनि भूतानि') वृक्ष बिना बीज के नहीं होता। कार्य बिना कारण के सम्भव नहीं। जो रूप (आकार) या नामात्मक संसार हमें दीखता या भास होता है, क्या यही इसका असली, व समस्त, सम्पूर्ण रूप है। इसका उत्तर हम यही दे सकते हैं कि असली व सम्पूर्ण रूप के बारे में हम कुछ नहीं कह सकते, हमें जो प्रत्यक्ष दीखता या अनुभव होता है, उसीके बारे में हम कह सकते हैं। ऐसा

भी प्रतीत होता है कि जो कुछ दीखता है, जाहिर है, इसका सूक्ष्म, अव्यक्त रूप भी होना चाहिए। जैसे बीज में सारा वृक्ष अ-प्रकट रूप से मौजूद रहता है, उसी तरह इस नाम-रूपात्मक जगत् का भी बीज-रूप कुछ होना चाहिए। उसीमें यह सारा जगत् अव्यक्त-रूप से छिपा या समाया हुआ होना चाहिए। एक मत यह है कि इस व्यक्त जगत् का अव्यक्त सूक्ष्म रूप परमात्मा है। इसीको लोग परमेश्वर, परम देव, परम चैतन्य, परम पुरुष, परात्पर, परब्रह्म, परम तत्त्व, पुरुषोत्तम, वासुदेव, भगवान् तथा कई लोग नारायण हरि, राम, विष्णु, कृष्ण आदि अवतारी नामों से भी पुकारते हैं। तो प्रश्न यह होता है कि यह १. व्यक्त कैसे हुआ? २. किसने किया? ३. क्यों हुआ? ४. उसका रूप धर्म, गुण, घटक (बनानेवाला) द्रव्य क्या है? पहले प्रश्न का उत्तर यह है कि व्यक्त और अव्यक्त होना उसका स्वभाव-धर्म है। दूसरे का उत्तर है, वह अपने इस स्वभाव-धर्म के वशीभूत हो खुद ही, अपनी शक्ति से व्यक्त हुआ। तीसरे का—व्यक्त होने की—एक से अनेक होने की—इच्छा या प्रेरणा उसके स्वभाव में निहित है, अतः 'सहज भाव से', केवल 'मनोरंजन', 'क्रीड़ा' या 'लीला' शब्दों से जिसे अभिव्यक्त कर सकते हैं, वह व्यक्त हुआ 'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेव'। प्रकाश, ज्योति उसका रूप; गति, स्पन्दन, कम्प, क्षोभ, उसका धर्म; सत्, चित् आनन्द उसके गुण या विशेषण, और चैतन्य-रूप प्राण उसका घटक द्रव्य है। यह निश्चित है कि हम जो कुछ भी वर्णन कर सकते हैं वह केवल व्यक्त रूप का। अव्यक्त के सम्बन्ध में केवल एक अंश तक कल्पना ही कर सकते हैं। वह भी इतनी ही कि उसका यदि कोई रूप माना जाय तो उसे हम 'प्रकाश से विरुद्ध' कहकर 'अन्धकार', 'तम', 'काला' आदि शब्दों से व्यंजित कर सकते हैं। इसी अव्यक्त अवस्था को लेकर—

'आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञात लक्षणम्'
अप्रतर्क्यमनिर्देश्यं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥ (मनु०)

नाहो न रात्रिर्न नभो न भूमि नासीत्तमो ज्योतिरच्च नान्यत् ।
श्रोत्रादि बुद्ध्यानुपलभ्यमेकं प्राधानिकं ब्रह्म पुमांस्तदासीत् ॥२३॥
(वि० पु० अ० २)

"आत्मैवेदं सर्वम्" (छां०) **'ब्रह्मैवदं सर्वम्'** (मुण्ड०)
'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृह०) **'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपर मनन्तरमबाह्यम्'**
(बृह०)

अव्यक्तमक्षरे लीयते अक्षरं तमसि लीयते' (सुबाल० २)
'तम आसीत्तमसागूऽहमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वं मा इदम्।
तुच्छ्ये नाभ्वापिहितं यदासीत्तमसस्तन्महिना जायतैकम् ॥
(ऋ० ७।१२६।३)

इसी अवस्था का वर्णन हमारे यहां महाकाली के नाम से किया गया है। आरम्भ में उस अव्यक्त, अप्रकाश या तम के सिवा दूसरा कुछ न था। जब उसमें स्पन्दन द्वारा क्षोभ होकर कोई रूप बना तो साथ ही शब्द भी हुआ। कहना नहीं होगा कि वह रूप उस तमोमय द्रव्य से ही बना, अर्थात् उस अव्यक्त परमात्म-द्रव्य से ही बना। वह स्पन्दन, क्षोभ की शक्ति भी उसी अव्यक्त में लीन, सोई या समाई हुई थी। यही प्रकृति या महामाया है। पहला रूप केवल प्रकाशमय ही हो सकता था, यही महत् या हिरण्यगर्भ कहा जा सकता है। इसके बाद सृष्टि से भिन्न-भिन्न पदार्थ बने, जिसे हम परमात्मा का विराट् रूप कहते हैं। इस स्थूल सृष्टि का जो अधीश्वर है, उसकी अर्थात् परमात्मा की वह कल्पित या आरोपित शक्ति जो स्थूल संसार का सृजन, नियन्त्रण, नियमन्, पालन या विसर्जन करती है, ईश्वर कहलाती है। यह तीन विविध शक्तियों का समूहन है। सृजनात्मक ब्रह्मा, पालनात्मक विष्णु, संहारक शंकर। इससे यह नतीजा निकलता है कि परमात्मा ही से सृष्टि उपजी है, उसीकी शक्ति से बनी है, उसीके द्रव्य से उसकी रचना हुई है। उसीकी शक्ति से वह स्थिर रहती है और अन्त में उसीकी प्रेरणा से उसीमें लीन हो जाती है। यह जो कुछ है सो परमात्मा ही है, परमात्ममय है। उससे भिन्न संसार में कुछ नहीं है। उसके स्पन्दन का प्रसरण सृष्टि की रचना व आकुंचन सृष्टि के लय की क्रिया है। इन दोनों के बीच में जो समय लगता है, वह सृष्टि का स्थिति-काल है।

सृष्टि दो प्रकार की बनी—जड़, चेतन। वैसे आत्म द्रव्य या तत्त्व तो दोनों में हैं, किन्तु उसका प्रकटीकरण—चेतनत्व—जिन वस्तुओं में प्रत्यक्ष प्रतीत होता है उसे चेतन व शेष को जड़ कहा जाता है। चेतन में जीव व जीवों में मनुष्य सबसे श्रेष्ठ ज्ञात रचना है। ऊपर कह चुके हैं कि सृष्टि ईश्वर ने अपने मनोरंजन, कुतूहल, क्रीड़ा के लिए बनाई, और जबकि सृष्टि में—जीव-अजीव सब—परमात्मा के सिवा कुछ है ही नहीं तो यही कहना होगा कि परमात्मा ने सृष्टि अपने या जीवों के भोग और मोक्ष के लिए बनाई। दोनों का मतलब एक ही है। भोग से अभि-

प्राय यहां संसार में आने व संसार का स्वाद लेने से, और मोक्ष से अभिप्राय संसार के इस बन्धन-—स्वादलिप्तता—से छूटने से है। आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी ये पांच महाभूत माने जाते हैं। 'भूत' का अर्थ है 'हुआ'। अर्थात् सृष्टि में जो कुछ हुआ, बना या है वह सब 'भूत' है। ये पांच बड़ी श्रेणियों में विभक्त कर दिये गए हैं, जिन्हें पूर्वोक्त पंच महाभूत कहते हैं।[1]

यह श्लोक अद्वैत वेदान्त का समर्थक है। अब प्रश्न यह है कि परमात्मा इस सृष्टि में समाया हुआ किस रूप में है? तो परमात्मा के दो स्वरूप निश्चित हुए—एक अव्यक्त, दूसरा व्यक्त। इसी तरह उसकी दो प्रकृतियां या स्वभाव भी हैं—एक को पराप्रकृति कहते हैं, दूसरी को अपराप्रकृति। 'परा' का अर्थ है श्रेष्ठ, ऊंची, सूक्ष्म; अपरा का है कनिष्ठ, नीची, स्थूल। मूल स्वरूप या मूल प्रकृति से नीचे उतरकर—उसे छोड़कर—संसार रूप में आना, प्रकट होना परमात्मा की गिरावट, बन्धन, अवतरण, नीचे उतरना है। इस अपराप्रकृति से उसका यह स्थूल रूप, शरीर—जगत् बना। लेकिन पराप्रकृति से चेतन या जीवरूप होकर वह सारे संसार में फैला। सांख्यमत में इसे पुरुष और प्रकृति इन दो तत्त्वों के मेल के द्वारा स्पष्ट किया गया है। गीता में अ० १५ श्लो० ७ से ११ व अ० ७ श्लो० ४, ७ में इसका जैसा वर्णन किया गया है, वह 'गीता-मन्थन'कार की भाषा में यहां दिया जाता है—"परमात्मा अपनी प्रकृति के—अथवा स्वभावभूत शक्ति के ही आधार पर इस प्रकृति के वशवर्ती हो समग्र जड़-चिदात्मक विश्व बारम्बार उत्पन्न करता है और लीन करता है।" (अ० ८।७-८)

"जिस तरह पानी के जुदा-जुदा बिन्दु पानी ही हैं और अलग-अलग होने पर भी शामिल हो सकते हैं, उसी तरह जुदा-जुदा जीव-रूप दिखाई देनेवाले पदार्थ भी उस अच्युत ब्रह्म के, यों कहना चाहिए कि अंश ही हैं। जिस प्रकार छोटा-सा बीज अपने में रहनेवाली नैसर्गिक शक्ति द्वारा आस-पास की भूमि, पानी, हवा में से तत्त्व खींचकर अपने में से मूल, तना, डालें, पत्ते, फूल तथा फल आदि का विस्तार करता है उसी प्रकार जीव के मूल में ही स्थित स्वभाव-सिद्ध शक्ति द्वारा वह चारों ओर फैली

---

[1] श्री मश्रुवाला ने अपने 'जीवन-शोधन' में वैज्ञानिक पद्धति से सिद्ध किया है कि पांच नहीं चार ही श्रेणी हो सकती हैं व काफी हैं। वह 'तेज'को स्वतन्त्र भूत नहीं मानते—पदार्थों के एक भूत से दूसरे भूत में परिणत होते समय उनमें उत्पन्न हो जानेवाला आगन्तुक धर्म मानते हैं। (सांख्य खण्ड)

हुई प्रकृति में से आवश्यक तत्त्व खींचकर मन तथा पंचेन्द्रियों का विस्तार करता है व स्थूल शरीर का निर्माण करता है। फिर जिस प्रकार वृक्ष से विलग पड़ा हुआ बीज वृक्ष को निर्माण कर सकने जितनी सारभूत सामग्री अपने में भरकर ही वृक्ष से जुदा होता है, जिस प्रकार वायु जहां चलती है, वहां से वहां की गन्ध को खींच लेती है, उसी तरह जीव शरीर से अलग होते समय स्थूल शरीर को निर्माण करनेवाली सूक्ष्म इन्द्रियात्मक सामग्री अपने में भरकर अलग होता है। मन की अध्यक्षता में रहनेवाली पंचेन्द्रियों द्वारा वह विषयों को भोगता है और इस भोग से ही अपने शरीर का निर्माण और उसी प्रकार विनाश करता है।" (अ० १५।७-९)

"सर्वव्यापी परमात्मा दो प्रकार की प्रकृति अथवा स्वभाव का है—एक अपर और दूसरी परप्रकृति। इनमें से अपर प्रकृति के आठ प्रकार के भेद विश्व में दिखाई देते हैं—पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि तथा आकाश नामक महाभूतों के तथा मन, बुद्धि अहंकार के रूप में। इन आठ प्रकारों में परमात्मा का कम-से-कम एक स्वभाव उसकी अपर प्रकृति के रूप में जुड़ा हुआ दीखता है। इसके साथ ही परमात्मा का एक और स्वभाव भी जहां-जहां अपर प्रकृति विश्व में दीखती है वहां-वहां रहता हुआ जान पड़ता है। इसको परमात्मा का जीव-स्वभाव कहा जा सकता है। यह जीव-स्वभाव उसकी परप्रकृति कहलाता है, क्योंकि यह स्थिर, ज्ञानयुक्त तथा एक-रूप है और अपर प्रकृति को आधार देकर विश्व का धारण करता है। इस विश्व का अस्तित्व इस चेतन जीव प्रकृति के कारण ही है। इन दो प्रकृतियों के द्वारा परमात्मा ही अखिल विश्व की उत्पत्ति तथा प्रलय का कारण है। इस परमात्मा के ऊपर, पीछे अथवा उसे आधार देनेवाला दूसरा कोई तत्त्व नहीं बल्कि धागे में माला के दाने—मनके—पिरोये होने के समान इस परमात्मा में ही अखिल विश्व पिरोया हुआ है।" (अ० ७।४-७)

जैसे पेड़ के जड़, तना, डालियां, पत्ते, फूल, फल सब अलग-अलग होते हैं, परन्तु उनमें जीवन-रस एक ही होता है, उसी प्रकार एक परमात्मा ही जीव या रस-रूप होकर सारी सृष्टि में समाया हुआ है।[1] इसीसे वह सर्वभूतात्मा कहा जाता है।

---

[1] 'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्यते च'
'यथा सुदीप्तात् पावकात् विस्फुलिंगाः'
'हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकर-

ऊपर जो प्रकृतिवादी व ईश्वरवादी दो मत बताये गए हैं, उनमें सृष्टि-रचना के क्रम या तत्त्वों में खास मतभेद नहीं दिखाई देता। असल मतभेद अन्तिम तत्त्व या मूल वस्तु के बारे में हैं। प्रकृतिवादी प्रकृति को मूल तत्त्व मानता है और ईश्वरवादी परमात्मा को। दोनों इनके मूल रूपों को अव्यक्त मानते हैं। मेरी राय में ईश्वरवाद प्रकृतिवाद के आगे की खोज या कदम है। इसके आगे मूल वस्तु, आदि कारण, आदि शक्ति-सम्बन्धी कल्पना, विचार, अनुभव की दौड़ खतम हो जाती है। अस्तु।

"इस प्रकार पंचमहाभूतों से रचे हुए प्राणियों में स्वयं ही जीवरूप से प्रविष्ट होकर वह अपनेको ही (मन रूप से) एक ओर—बाह्य इन्द्रिय-रूप से—दश भागों में विभक्त करके विषयों का उपभोग करता है।" ॥४॥

इस श्लोक में यह समझाया गया है कि परमात्मा किस रूप में सृष्टि में विराजमान् है और किस तरह वह सृष्टि का या विषयों का उपभोग करता है। पहले भाग का उत्तर ऊपर दिया जा चुका है। दूसरे भाग का खुलासा इस प्रकार है। जब हम कोई चीज बनाते हैं तो पहले उसके बनाने की प्रेरणा या संकल्प मन में उठता है। इस प्रेरणा या संकल्प की शक्ति हमारे अन्दर मौजूद है या रहती है। इस प्रेरणा के बाद वस्तु का रूप—खाका—हमारे दिमाग में बनता है। यह काम हमारे मन का है, जो कि हमारी शक्ति का ही एक रूप या अंश है। फिर रूप का निश्चय होता है और उसकी योजना बनती है। यह काम भी मन का ही है, परन्तु इस अवस्था में उसका नाम बुद्धि हो जाता है। ईश्वर ने सृष्टि का खेल या नाटक खड़ा तो किया, अब इसका मजा कैसे लूटे ? तो खुद ही जीवरूप से इसमें प्रविष्ट हुआ—'तमनुप्राविशद्विभुः'—उसकी आत्म या प्राण-शक्ति संसार में संचरित हुई—और वह ग्यारह भागों में बंट गया। पहला व बड़ा भाग तो मन हुआ। यह उसीके अपने महान् मन का अंशभूत छोटा मन है, जो जीव के अन्दर समाया हुआ है। शरीर में अकेला मन तो कुछ कर नहीं सकता, उपभोग के साधन—अवयव—हाथ, पांव, नाक आदि इन्द्रियां चाहिए। सो परमात्म-शक्ति ने पांच कर्मेन्द्रियां व

वाणि।' (छां० ६।३।२)
'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्।'
'तदनुप्रविश्य सच्चत्यच्चाभवत्' (तै०)
'ईशावास्यमिदं सर्वम्' (ईशा०)

पांच ज्ञानेन्द्रियां बनाईं। पिछली मन को विषयों का ज्ञान कराती हैं, और पहली उसके आदेशानुसार क्रिया करती हैं। इन ज्ञान व क्रिया के रूप में मन व उसके द्वारा परमात्मा बाहरी सृष्टि का आनन्द ग्रहण किया करता है। परमात्मा के इस अवतार-क्रम का, या जीव की विभिन्न इन्द्रियों के विकास-क्रम का विज्ञान-सम्मत वर्णन भागवत के स्कन्ध २, अ० १० में इस प्रकार किया गया है—

"विराट् पुरुष की चेष्टा होने पर उनके देहान्तर्वर्ती आकाश से ओज (इन्द्रिय शक्ति), सह (मनः शक्ति) और बल (शारीरिक शक्ति) की उत्पत्ति हुई। और उनसे सूत्रात्मा नामक सबका मुख्य प्राण हुआ। प्राण का वेगपूर्वक संचार होने से विराट् पुरुष को भूख-प्यास लगी, तब खाने-पीने की इच्छा करते ही पहले उसके मुख प्रकट हुआ। फिर मुख से तालु और उससे रसनेन्द्रिय प्रकट हुई। जब उन भूमा पुरुष ने बोलने की इच्छा की तो वाक् इन्द्रिय प्रकट हुई। श्वास के लिए नासिका छिद्र और सूंघने की इच्छा से घ्राणेन्द्रिय हुई। देखने की इच्छा हुई तो नेत्रगोलक, चक्षु इन्द्रिय प्रकट हुई व नेत्र के द्वारा रूप का ग्रहण होने लगा। चलने की इच्छा हुई तो चरण उत्पन्न हुए,...आदि" (सविस्तर वर्णन के लिए मूल ग्रन्थ देखिये)।

"जीव आत्मा द्वारा प्रकाशित इन्द्रियों से उनके विषयों को भोगता हुआ तथा इस उत्पन्न किये हुए शरीरादि को ही आत्मा मानता हुआ उसमें आसक्त हो जाता है।" ॥५॥

जीव की इन्द्रियों में स्वतः कोई शक्ति नहीं है। वे केवल भिन्न-भिन्न शक्तियों—देवताओं—के निवास या प्रकाश-स्थान अथवा गोलक हैं। उनमें जो कुछ शक्ति है, वह जीवात्मा की है। उसीसे वे प्रकाशित या कार्यकारिणी होती हैं। इन इन्द्रियों के द्वारा यह जीव नाना प्रकार के विषयों का आनन्द लेता हुआ ऐसी अवस्था में पहुंच जाता है जब वह अपने उद्गम, मूल रूप आत्म-तत्त्व को भूलकर इस शरीर को ही आत्मा या सबकुछ समझने लगता है। यही उसके अज्ञान, अविद्या का आरम्भ है, इसीको माया कहते हैं। आत्मा या भगवान् की ओर से उसका ध्यान, स्मृति, सब छूटकर अब शरीर, संसार, प्रपञ्च में लग जाता है। यही आसक्ति है। यहां से जीव की वास्तविक अधोगति शुरू होती है। वैसे तो जीव-दशा तक आने में भी परमात्मा की अधोगति ही है। वह अपनी असलियत से उत्तरोत्तर भिन्न--दूर—होता चला जा रहा है। पहले तो उसकी इच्छा, क्रिया, ज्ञान-शक्ति जाग्रत होती है, जिसके योग से वह जगत् उत्पन्न करता है। जिन तत्त्वों

को लेकर यह जगत् बना है, उसके तीन भाग होते हैं—(१) आत्मतत्त्व, (२) विद्यातत्त्व, (३) शिवतत्त्व। इन्हींको दूसरी भाषा में क्रमशः सत्, चित्, आनन्द कहते हैं। तीनों की समष्टि परमात्मा है। जगत् के ये सब तत्त्व यों सूक्ष्म रूप से—बीजरूप से—परमात्मा में सोये या समाये रहते हैं। इनका जाग्रत या प्रकट होना ही संसार की उत्पत्ति का या परमेश्वर के अवतरण का सूत्रपात है। परमात्मा में इस पहले क्षोभ या सृष्टि का नाम 'महत्' है। यह पहला अवतार है। इसे प्रधान या प्रकृति भी कहते हैं, जिसके तीन गुण हैं—सत्त्व, रज, तम। जबतक ये तीनों गुण सम या शान्त रहते हैं तबतक प्रकृति अव्यक्त रहती है, जब इनमें विषमता हुई तो 'महत्' कहलाने लगी। इसके बाद गुण अधिक पृथक्, विषम, स्पष्ट हुए, प्रत्येक का अलगाव स्पष्ट दिखाई देने लगा—यह पृथक्ता 'अहंकार' के नाम से सूचित हुई। यह दूसरी सृष्टि या अवतार हुआ। अब अहंकार अर्थात् पृथक सत्ता तीन गुणों—सत्त्व, रज, तम—में मिलकर अलग-अलग नाम-रूप धारण करती है।

इन तीन गुणों को यहां हम ज़रा विस्तार से समझ लें। गीता व सांख्य-मत के अनुसार अपने में, दूसरों में अथवा पदार्थों में निर्मलता का, प्रकाश का, स्फूर्ति का, निर्दोषिता का तथा ज्ञान का जो कुछ अनुभव होता है, वह सत्त्वगुण है। कर्म-प्रवृत्ति रजोगुण है। जड़ता तमोगुण का लक्षण है। यह चंचलता और प्रवृत्ति का शत्रु है। प्रमाद, आलस्य और नींद में ही सुख मानता है। आधुनिक विचारकों में अ० गौड के मतानुसार स्थिति—अस्तित्व—का निरन्तर जड़-रूप (inertia) में बना रहना तमोगुण, इस स्थिति में गति ही रजोगुण और गति का सामञ्जस्य सत्वगुण है। श्री मश्रुवाला के मतानुसार पदार्थ-मात्र में जड़ता या निष्क्रियता का ख्याल पैदा करनेवाला परिमितता का गुण 'तमोगुण', पदार्थ-मात्र में स्थित, गति, क्रिया या कम्प (motion) का धर्म 'रजोगुण' और परिमिति तथा गति में स्थित व्यवस्थिति सत्त्वगुण है। किसी भी परिभाषा को मानें प्रकृति के तीनों गुण प्रत्येक पदार्थ में व्याप्त मिलेंगे। अस्तु।

'अहंकार' का मेल जब मुख्यतः तमोगुण से हुआ तो भूत–पांच या चार–उत्पन्न हुए। जब प्रधानतः रजोगुण से हुआ तो शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि तन्मात्राओं का—ज्ञानेन्द्रियों के विषयों का (चित्तहीन पदार्थों में जो क्रियाएं चलती रहती हैं, उनके प्रत्येक वर्ग को 'मात्रा' नाम दिया गया है) तथा पांच कर्मेन्द्रियों का प्रादुर्भाव हुआ। जब सत्त्वगुण में मेल हुआ तो उससे एक हद तक चित्तयुक्त

सृष्टि निर्माण हुई। इसमें पहले चित्त या मन या बुद्धि और उसकी विशिष्ट शक्तियां–ज्ञानेन्द्रियां–प्रकट हुईं। यह तीसरी सृष्टि या अवतार हुआ। चौथी सृष्टि अविद्या की है, जो जीवों की बुद्धि का आवरण और विक्षेप करती है। अब हम पूर्वोक्त माया की सीमा तक आ पहुंचे। यह प्राकृत सृष्टि कही जाती है।[1] इसके आगे पांचवीं सृष्टि वैकृत या वैकारिक है। जबतक जीव की धारणा यह होती है कि यह जगत् मेरा ही स्वरूप है तबतक वह विद्या व जब वह जगत् को अपने से पृथक्, भिन्न अनुभव करता है तब अविद्या है। इसी अविद्या या माया में ग्रस्त होकर जीव संसार की आसक्ति में पड़ जाता है। जब जीव संसार में आया तो संसार के कर्त्तव्य उसके पीछे लगे ही। कुटुम्बियों, स्वजनों, इष्ट-मित्रों,समाज व देश के लोगों से वह तरह-तरह के लाभ उठाता है तो उन्हें लाभ पहुंचाना उसका कर्त्तव्य हो जाता है। परन्तु हमारी वृत्ति जब दूसरों से अधिक लाभ उठाने की व उन्हें कम लाभ पहुंचाने की होने लगती है तब उसे लोभ कहते हैं। हमारी इन्द्रियों या मन को नये-नये विषयों का–खान-पान, राग-रंग, मौज-मजा का–चस्का लग जाता है तो हमारी यह लोभ-वृत्ति बढ़ने लगती है और इनके उपभोग की सीमा टूट जाती है। हमें संसार के भोगों को उसी हद तक भोगने का अधिकार है जबतक कि वे दूसरों के भोगों में बाधक न हों। इस सीमा को जीव का लोभ लांघ जाता है। यही मोह या आसक्ति में डुबोता है। फिर तो मनुष्य या जीव की उत्तरोत्तर अधोगति होती जाती है, तबतक जबतक कि फिर वह होश न सम्भाले–अविद्या से निकलकर विद्या के क्षेत्र में न आ जाय। शरीर को ही सब-कुछ न मानकर परमात्मा को ही सब-कुछ न समझने लगे।

"और फिर यह देही अपनी कर्मेन्द्रियों से वासनायुक्त कर्म करता हुआ और उनके सुख-दुःखमय फल भोगता हुआ संसार में भटकता रहता है। इस प्रकार विवश होकर नाना प्रकार की दुःख देनेवाली कर्मफलरूप गतियों को प्राप्त होता हुआ यह जीव महाप्रलय तक जन्म-मरण को प्राप्त होता रहता है।" ॥६-७॥

देही से मतलब है देह में रहनेवाला अर्थात् जीवात्मा। अब अपने जन्मस्थान व जन्मस्थिति को भूल जाने से वह संसार के विषय-भोगों में लिप्त होकर नाना प्रकार के अच्छे-बुरे कर्म करता है। किसी भी विषय की साधारण इच्छा को कामना

---

[1]देखिये परिशिष्ट ३।

कहते हैं। कामना जब वस्तु या व्यक्ति-विशेष में केन्द्रित हो जाती है तो वासना कहलाती है। कामना का संबंध मन से व वासना का कर्म से है। जबतक हम मन-ही-मन में कोई इच्छा या संकल्प करते हैं तबतक वह कामना है। जब इसकी पूर्ति के लिए उद्योग करने लगे और दूसरे कर्तव्यरूप जरूरी कार्यों को भूलने या छोड़ने लगे तो यह आसक्ति की शुरुआत है और इसका बीज है वासना। हमें एक सुन्दर गुलाब का फूल देखने की इच्छा हुई। वह साधारण कामना है। हमारी आंखों ने उसे देखा। उन्होंने उसके रूप को अपने में छिपा लिया। उसकी सुगन्ध से हमारी नाक मस्त होने लगी। अब फिर उस फूल को देखने-सूंघने की इच्छा हुई। यही वासना का मूल है। अब वह इतनी प्रबल हुई कि दूसरे निश्चत कार्य को बिगाड़-कर भी उसीकी प्राप्ति का उद्योग होने लगा—यह आसक्ति हो गई। कर्म-जनित संस्कार जो आत्मा में बस जाते हैं, वासना कहलाते हैं। जब मनुष्य वासनाग्रस्त हो जाता है तो उसे कर्तव्य-अकर्तव्य में मूढ़ता होने लगती है। जिसमें उसका मन फंस गया है, उसे अधिक महत्त्व देने लगता है। फलतः दूसरे आवश्यक कर्त्तव्यों से उदासीनता आने लगती है। इस तरह उस वासना के साधक व्यक्ति के प्रति अधिक अनुराग व उसमें असहायक या बाधक होने या समझ लिये जानेवाले व्यक्ति के प्रति विराग, अनाकर्षण, अरुचि और द्वेष होने लगता है। इसमें उसके विचार व चित्त की समता, शान्ति डांवाडोल हो जाती है व सुकर्म को कुकर्म व कुकर्म को सुकर्म समझने लगता है। ऐसी दूषित इच्छा से जब ऊटपटांग कर्म होने लगते हैं तो उसका असर सारे वाता-वरण पर, आस-पास के लोगों पर होने लगता है, जिसका फल उसे जरूर भोगना पड़ता है। कर्माकर्म के अनुसार उसके फल भी सुख-दुःखदायी होते हैं। विज्ञान का यह सिद्धान्त है कि हमारे किसी भी कर्म का असर वातावरण में होता व रहता है, भले ही वह कर्म शारीरिक हो या मानसिक, एकान्त में किया गया हो व जन-समाज में। हमने किसी पत्थर पर एक थपेड़ मारी। इससे उसके परमाणुओं को धक्का लगा। उनमें ऐसी क्रिया सूक्ष्मरूप से हुई, जिसे हम स्थूल आंखों से तो नहीं देख सकते, किन्तु आचार्य वसु के सूक्ष्म यन्त्रों व प्रयोगों ने उनके प्रभावों को स्पष्ट अनुभव करके बता दिया है। उनकी खोजों के अनुसार पेड़-पत्थर भी हर्ष-विषाद व सुख-दुःख का अनुभव करते हैं और अपनी भाषा में उसे प्रदर्शित करते हैं। उन्होंने ऐसे यन्त्र बनाये हैं, जो उनके प्रभावों या परिणामों को कागज पर लकीरों या चित्रों में नोट कर देते हैं। कई प्रयोगों व अनुभवों से उन्होंने उनकी एक ऐसी लिपि बना

ली है,जिससे वे तुरंत जान लेते हैं कि यह भावना या विचार या वेदना का सूचक है। हमारी इस थपेड़ का प्रभाव उस पत्थर के परमाणुओं में सूक्ष्म हलचल उत्पन्न कर ही नहीं रह जाता है। वायु में भी हमारे हाथ के हिलाने से कुछ खलल पैदा हुआ। उसकी तरंगें चारों ओर असीम वायुमण्डल में फैलीं। इसका कोई हद-हिसाब हम नहीं लगा सकते। एक हदतक कल्पना भर कर सकते हैं। इसी तरह मन में जो विचार, भावना, संकल्प उठते हैं, उनकी भी तरंगें हमारे मस्तिष्क के ज्ञान-तन्तुओं में खलल पैदा करके आकाश में सूक्ष्म लहरें उत्पन्न करती हैं और अनन्त आकाश में अनन्त काल तक घूमती रहती हैं। एक तालाब में आप छोटी-सी कंकरी डालेंगे या अंगुली ही डाल देंगे या फूंक भर देंगे तो उसकी लहरें सारे तालाब में फैले बिना न रहेंगी। किनारे से टकराकर तरंगें फिर हमारी तरफ लौटेंगी। यही असर हमारे विचारों व कार्यों का होता है। पहले वे स्थूल व सूक्ष्म जगत् में अपना असर तरह-तरह से फैलाते हैं। वे असर लौट-लौटकर फिर हमपर असर डालते हैं। इसको कर्म-फल कहते हैं। जैसे हमारे कर्म होते हैं—शारीरिक या मानसिक—वैसे ही वे जगत् को प्रभावित करते हैं और फिर हमें वैसे ही फल दे जाते हैं। इसका यह अर्थ हुआ कि हमारे अच्छे-बुरे कर्म का फल केवल हमींको नहीं भोगना पड़ता, सारे समाज व संसार को भुगतना पड़ता है। कर्म की पहली प्रक्रिया खुद हमारे अन्दर हुई, फिर बाहर फैली। अपनी हद तक पहुंचकर बाहरी दुनिया में सफर करती हुई हम तक आई—हमारे अन्दर दाखिल हुई। इस तरह दो-दो बार हमपर व जगत् पर उसका अच्छा-बुरा असर हुआ। इन असरों के मातहत मनुष्य इस जीवन में ही नहीं भूलता, बल्कि अगले जन्मों में भी प्रभावित होता व भटकता रहता है। इन कर्मों के फलस्वरूप नाना प्रकार की गतियां उसे प्राप्त होती हैं। और ठेठ प्रलय तक यह चक्कर चलता रहता है। शुरू में किसी भी कारण या प्रसंग से मनुष्य विचार या कर्म में प्रवृत्त हुआ हो, पर एक बार वासना के चक्कर में चढ़कर जहां आसक्ति में पड़ा नहीं कि फिर एक विषय से दूसरे विषय में, एक आसक्ति से दूसरी आसक्ति में पड़ता-फंसता हुआ उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया का प्रलय तक अन्त नहीं आता। सिर्फ एक ही अवस्था बीच में ऐसी आ सकती है जब यह तांता रुक सकता है। वह है इस वासना व आसक्ति से छूटने की प्रेरणा व प्रवृत्ति। वह तभी हो सकती है जब मनुष्य यह जानने व समझने लगे कि वह कहां से चलकर कहां फंस मरा। मैं तो शुद्ध आत्मा का चैतन्य कण होकर इन देह-

विकारों से गंदला जीव बन गया और अपनी असलियत को ही भूल गया। इसको विद्या या ज्ञान कहते हैं। यही मोह या माया से छुटकारे की ओर प्रवृत्ति है। दृढ़ता व लगन से मनुष्य इस बात का उद्योग करके देहाभिमान छोड़ आत्मावस्था में प्रतिष्ठित हो जाता है तब उसका छुटकारा या मोक्ष कहा जाता है। नहीं तो उसे महाप्रलय तक ऐसे ही असंख्य चक्कर खाये बिना गति नहीं है।

प्रलय सृष्टि के वापस परमात्मा में लीन होने की अवस्था को कहते हैं। परमात्मतत्व में निरन्तर स्पंदन या कम्प होता रहता है। स्पन्दन का फैलाव सृष्टि की उत्पत्ति व सिकुड़ाव लय है। निरन्तर स्पन्दन-धर्म के कारण ही निरन्तर उत्पत्ति व लय होता रहता है। यह स्पन्दन इसका आकुंचन व प्रसरण—यह नियम से, तालबद्ध होता है, जिससे उसके समय की नाप का खयाल विचारकों के मन में आया। उन्होंने नाप के तरीके निकालकर सृष्टि के उत्पत्ति-लय की वर्ष-संख्या नियत कर दी। उत्पत्ति व लय के बीच में जो स्थिति काल है, उसे आर्य-शोधकों ने चार भागों में बांटकर सतयुग, त्रेता, द्वापर व कलियुग चार नाम दिये। प्रलय भी कल्प, खण्ड, महा आदि प्रकार के निर्धारित किये।

"फिर पंचभूतों के प्रलय का समय उपस्थित होने पर अनादि और अनन्त काल इस द्रव्य गुणात्मक—स्थूल सूक्ष्म रूप—व्यक्त सृष्टि को—उसके कारण—अव्यक्त की ओर खींच ले जाता है।" ॥८॥

जिस क्रम से सृष्टि की उत्पत्ति होती है, उसके विपरीत क्रम से उसका लय होता है। जब स्पन्दन का सिकुड़ाव शुरू होता है तो समझना चाहिए कि व्यक्त सृष्टि अव्यक्त की ओर जाने लगी—अर्थात् प्रलय की तैयारी होने लगी। पृथ्वी, जल, तेज, वायु व आकाश—इन पांच तत्त्वों का अपने स्वरूपों को छोड़कर अदृश्य या अव्यक्त में लीन होने का नाम प्रलय है। काल अर्थात् समय इस प्रलय का कारण है। जब स्पन्दन की प्रसरण-क्रिया का अन्त आ गया तो यही समय आकुंचन-क्रिया के आरम्भ का है। यही काल का रूप व गति है। यह काल अनादि व अनन्त है। सूर्य के आस-पास पृथ्वी की गति का हिसाब लगाकर हमने अपनी सुविधा के लिए सेकण्ड, मिनट, घण्टा, दिन, रात आदि में समय को बांट लिया है। किन्तु यह उसके एक अंश-मात्र का हिसाब है। उसके पूरे स्वरूप की कल्पना परमात्मा की तरह ही असम्भव है। जबसे परमात्मा व्यक्त होने लगा तभी से काल की उत्पत्ति माननी होगी। अव्यक्त परमात्मा के साथ काल भी अव्यक्त स्थिति में रहा।

क्योंकि काल की गिनती, नाप या अन्दाज किसी व्यक्त वस्तु के सहारे ही हो सकता है। व्यक्त वस्तु एक स्थान से दूसरे स्थान पर गई, घूमी, फिरी या गतिमान हुई तो जितनी देर में यह क्रिया हुई उसे काल[1] कहते हैं। जगत् की वस्तुएं निरन्तर गतिशील हैं, बल्कि गतिमय हैं। ये सारी गतियां जिस स्थान में हो रही हैं, उसे 'देश' कहते हैं। यह स्थान परमात्मा के आकार के सिवा दूसरा नहीं हो सकता। परमात्मा के शरीर या उदर को देश कहना चाहिए। उसमें इस सारी गतिमय, क्रियामय अतः निरन्तर परिवर्तन या परिणामशील सृष्टि का निवास या स्थिति है। स्थिति में परिवर्तनों के या गतियों के बीच का जो समय है, वही काल है। वस्तुएं छोटी-बड़ी सब प्रकार की हैं, और गति भी कम-ज्यादा सब प्रकार की पाई जाती हैं। अतः काल भी छोटा-बड़ा सब प्रकार का पाया जाता है। सृष्टि की उत्पत्ति से लेकर प्रलय तक के काल को महाकाल कह सकते हैं, जबकि सृष्टि के भिन्न स्वरूपों के या वस्तुओं के परिवर्तनों के बीच के स्थिति-काल को उसकी मात्रा के हिसाब से छोटा-बड़ा काल कह सकते हैं। सृष्टि के जितने विस्तार की कल्पना की जा सकती है, उतनी ही विस्तृत कल्पना काल की करनी होगी। यह सारी सृष्टि चूंकि देश में अवस्थित है, अतः काल को भी देश से सीमित मानना पड़ेगा। सच पूछिये तो सृष्टि के उत्पन्न होते ही—अव्यक्त तत्त्व के व्यक्त होते ही—देश व काल के अस्तित्व को स्वीकार करना पड़ेगा। लेकिन ये आये कहां से ? तो कहना होगा कि जिस तरह सारी सृष्टि अव्यक्त में विलीन या सुप्त थी, उसी तरह ये भी उस अव्यक्त में लीन थे। क्योंकि जब परमात्मा के सिवा दूसरी कोई हस्ती ही नहीं है तो सबकुछ की अवस्थिति सूक्ष्म या बीज-रूप से परमात्मा में ही माननी पड़ेगी, फिर भले वह कोई वस्तु हो, शक्ति हो, तत्त्व हो, भाव हो, नियम हो। वस्तुओं के या सृष्टि के उत्पन्न होने, स्थिर रहने और लय पाने या परिवर्तन होने का जो निश्चित क्रम, समय, अवलोकन या अनुभव में आया, उसे ही नियम कहते हैं। जब कई बार सृष्टि के उत्पत्ति व विलय को देखा गया तो यह कहा गया कि उत्पत्ति-प्रलय सृष्टि का नियम है। इसी तरह नियमानुसार जब सृष्टि के प्रलय का समय होता है तब यह सृष्टि अव्यक्त दशा की ओर खिचने लगती है। सृष्टि में हम कुछ तो स्थूल रूप देखते हैं और कई सूक्ष्म शक्तियां या

---

[1] देखिये परिशिष्ट ४

धर्म दिखाई पड़ते हैं। स्थूल रूप हैं मनुष्य, पहाड़, समुद्र, सूर्य आदि। सूक्ष्म शक्तियां या धर्म हैं बिजली, आकर्षण, संचार आदि। स्थूल रूपों को द्रव्य, व सूक्ष्म धर्मों को गुण कहते हैं। दोनों मिलकर व्यक्त सृष्टि कहलाती है। अव्यक्त से ही व्यक्त सृष्टि प्रकट होती है, अतः अव्यक्त उसका कारण है। प्रलय-काल में व्यक्त सृष्टि अपने अव्यक्त कारण में लीन होने लगती है।

"उस समय पृथ्वी पर सौ वर्ष की घोर अनावृष्टि होगी और उस काल में जिनका उष्णता बढ़ जायगी वे सूर्य नारायण तीनों लोकों को तपाने लगेंगे। उस समय शेषनाग के मुंह से निकला हुआ अग्नि वायु से प्रेरित होकर पाताल-लोक से आरम्भ कर सबको दग्ध करता हुआ ऊंची-ऊंची लपटों से चारों ओर फैल जाता है और संवर्तक नामक मेघ-समूह[1] हाथी की सूंड के समान मोटी-मोटी धाराओं से सौ वर्ष तक वर्षा करता रहता है, जिससे कि यह समस्त ब्रह्माण्ड जल में डूब जाता है।" ॥९-१०-११॥

विज्ञानवादी प्रलय की कल्पना [2] को ठीक इसी तरह नहीं मानते। वे सृष्टि में निरन्तर परिवर्तन को मानते हैं व खण्ड-प्रलय की कल्पना तक पहुंचते हैं। शेष-नाग की कल्पना हमारे यहां पृथ्वी को धारण करनेवाले के रूप में की गई है। निस्सन्देह यह कोई रूपक है। सम्भवतः पृथ्वी के अन्दर किसी अग्निमय या विषमय सत्ता से अभिप्राय है। इनका निवास पाताल में माना गया है। पाताल सबसे नीचे का लोक है। सृष्टि की कल्पना परमात्मा के विराट् रूप में की गई है। परमात्म-स्पन्दन का जब फैलाव हुआ तो वह अण्डाकार बना। अव्यक्त परमात्मा की प्रथम अभिव्यक्ति प्रकाश के रूप में हुई। प्रकाश का रूप तपे हुए सोने का-सा दिखाई देता है। अतः इस अण्डाकार प्रकाश को 'हिरण्यगर्भ' या ब्रह्माण्ड नाम से अभिहित किया गया है। हिरण्यगर्भ फूटकर जब सृष्टि रूप में व्याप्त हो गया तो उसे विराट् कहा है और परमात्मा के शरीर के नाम से सम-झाया जाता है। इस विराट् पुरुष के पादस्थानीय पाताल, नाभिस्थानीय पृथ्वी

---

[1] संवर्तक मेघ उसे कहते हैं जब बादल अपना रूप छोड़ देते हैं और केवल जल-ही-जल रह जाता है।

[2] देखिये परिशिष्ट ५।

और शिरस्थानीय स्वर्ग[1] इस त्रिलोकी की कल्पना की गई है। इसे संक्षेप में 'भूः', 'भुवः', 'स्वः' कहा जाता है। विराट् को 'ॐ' नाम से पुकारा जाता है। यह व्यक्त परमात्मा का रूप समझा गया है। अव्यक्त परमात्मा में स्पन्दन, कंप या तरंग उठने से सृष्टि की जो अभिव्यक्ति हुई और आकृति बनी, वह 'ॐ' आकार है। इसे प्रणव कहते हैं। ॐ के उच्चारण में जो नाद होता है, वही कम्पन, स्पन्दन, या तरंगन के समय का प्रथम शब्द या ध्वनि है। इसीसे कहा जाता है कि शब्द परमात्मा के साथ ही प्रकट हुआ। प्रलय के समय यह सारा विराट या ब्रह्माण्ड जल में डूब जाता है।

"तब हे राजन्, बिना ईंधन के अग्नि के समान विराट् पुरुष—इसे ब्रह्मा भी कहते हैं—अपने ब्रह्माण्ड शरीर को छोड़कर सूक्ष्म स्वरूप 'अव्यक्त' में लीन हो जाता है।" ॥१२॥

विराट् पुरुष अग्नि-रूप है। अग्नि की कल्पना हम उसके आधार ईंधन आदि के बिना नहीं कर सकते। पर यह विराट् इस तरह अग्नि या प्रकाश-रूप है कि जिसके लिए किसी ईंधन या आश्रय की जरूरत नहीं। यदि कोई ईंधन कहा ही जाय तो खुद परमात्मा को ही उसका ईंधन कहना होगा। प्रलय के समय उसका यह सृष्टि-भूत विराट्-रूप नष्ट हो जाता है और सारा ब्रह्माण्ड असली अव्यक्त रूप में बदल जाता है। इसका क्रम अगले श्लोक में बताया गया है।

"वायु के द्वारा गंध खींच लिये जाने पर पृथ्वी जलरूप हो जाती है और उस वायु से रस खींच लिया जाने पर जल अग्नि रूप हो जाता है। फिर अन्धकार के द्वारा रूप-रहित हुआ अग्नि वायु में और आकाश के द्वारा स्पर्श-हीन वायु आकाश में लीन हो जाता है। हे राजन्, तदनन्तर काल के द्वारा अपने गुण शब्द से रहित होकर आकाश तामस अहंकार में, इन्द्रियां राजस अहंकार में और इन्द्रियों

---

[1] विद्वान् लोग विराट् भगवान् के चरणों के तलुओं को पाताल, एड़ियों और पादाग्रभागों को रसातल, दोनों टखनों को महातल, जंघाओं, पिंडियों को तलातल, घुटनों को सुतल, उरुओं को वितल और अतल, कटि के निम्न भाग को भूतल, नाभिदेश को आकाश, हृदय-स्थल को स्वर्लोक, ग्रीवा को महर्लोक, मुख को जनलोक, ललाट को तपोलोक और सिर को सत्यलोक कहते हैं। (भागवत द्वितीय स्कंध अ० १ में व अ० ६ में इसका सविस्तर रूपक देखने योग्य है।)

के अधिष्ठाता देवताओं के साथ मन एवं बुद्धि सात्विक अहंकार में तथा अहंकार अपने गुणोंसहित महत्तत्व में——और महत्तत्व प्रकृति में——लीन हो जाता है।" ॥१३-१४-१५॥

अव्यक्त परमात्मा से लेकर व्यक्त सृष्टि में जीव शरीर व इन्द्रियों की बनावट तक हम पहले उत्पत्ति-क्रम देख चुके हैं। उस सिलसिले में एक बात का गहरा विचार कर लेना यहां जरूरी मालूम होता है। सांख्यकार ने पांच महाभूतों की पांच तन्मात्राएं मानी हैं——पृथ्वी की गंध, जल की रस, तेज की रूप, वायु की स्पर्श और आकाश की शब्द। इन्हें इन भूतों का गुण भी कहते हैं। श्री किशोरलालभाई पंचभूतों में व इन मात्राओं में जोड़ा गया कार्य-कारण-सम्बन्ध स्वीकार नहीं करते। इसे वह अवैज्ञानिक व अनावश्यक मानते हैं। उन्होंने चार भूत व छह मात्राओं को——शब्द, स्पर्श (उष्णता व दबाव) प्रकाश, रस (विभिन्न स्वाद) गंध और संचार (विद्युत्, लोह-चुम्बकत्व, चित्त-प्रवेश आदि) माना है। मुझे भी यह कल्पना अधिक युक्तियुक्त व वैज्ञानिक मालूम होती है।

प्रत्येक पदार्थ अनेक रूपों में—आकार में—परिवर्तन पाता रहता है। कभी वह घन (Solid) दशा में जैसे बरफ, पत्थर, कभी तरल जसे पानी, दूध; कभी वायु जैसे क्लोरिन, भाप; कभी इससे भी सूक्ष्म, कहिये आकाश, दशा में देखा जाता है। इन्हींको लक्ष्य करके पृथ्वी, जल, वायु, आकाश ये चार भूत माने गए हैं। इस प्रकार पदार्थों का रूप-परिवर्तन 'भूत' श्रेणी में व क्रिया तथा गति-परिवर्तन 'तन्मात्रा' श्रेणी में आते हैं। प्राचीन शास्त्रकार चूंकि एक तन्मात्रा का सम्बन्ध एक भूत से मानते हैं, यहां प्रलय-क्रम का वर्णन उसी विचारधारा के अनुसार किया गया है। पहले वायु पृथ्वी के गुण को खींचती है, जिससे वह जलरूप हो जाती है। ताप या गरमी ऐसा धर्म या वस्तु है, जो पदार्थों के रूपान्तर होने में अनिवार्य हो जाता है। अग्नि या गरमी के बढ़ने से सभी पदार्थ अपना रूप बदलने लगे। जो घनरूप थे वे तरल (जल) हो गये, तरल वायु (गैस) बनने लगे, गैस आकाश (ईथर) और सूक्ष्म दशा में परिवर्तित हुए। इसी आशय को पूर्वोक्त तीन श्लोकों में स्पष्ट किया गया है। आकाश तक सब महाभूत खतम हो गये। अब तीनों प्रकार का अहंकार अपने सूक्ष्मरूप—महत्‌में—महत् प्रकृति में, प्रकृति परमात्मा में, लीन हो जाती है। यह विलय का क्रम हुआ।

"यह हमने जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, लय करनेवाली भगवान् की त्रिगुण

मयी माया का वर्णन किया। अब और क्या सुनना चाहते हो ?" ॥१६॥

राजा बोले—"हे महर्षे, अब ऐसा उपदेश दीजिये, जिससे बिना जीते हुए चित्तवाले पुरुष के लिए दुस्तर इस ईश्वरीय माया को स्थूल बुद्धिवाले मनुष्य भी सुगमता से पार कर जायं।" ॥१७॥

जब माया के भीषण व दुस्तर स्वरूप की कल्पना उन्हें हुई तो उन्होंने उसके पार होने का उपाय भी पूछा। वे केवल कुतूहल के लिए प्रश्न या वाद-विवाद करनेवाले पुरुष न थे। सच्चे जिज्ञासु थे। फिर संसार में अपढ़, स्थूल बुद्धिवाले व अबोध लोगों की संख्या अधिक है, जिनका मन चंचल रहता है। खासकर उनके लिए माया के इस अथाह व अपार सागर के तैर जाने का उपाय पूछना और भी जरूरी था।

तीसरे योगीश्वर प्रबुद्ध ने कहा, "हे राजन्, दुःख के नाश व सुख की प्राप्ति के लिए स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध में बंधकर कर्मानुष्ठान करनेवाले पुरुषों को जो विपरीत फल मिलता है, उसे देखना चाहिए। निरन्तर दुःख देनेवाले इस धन से, जो अति दुर्लभ और आत्मा के लिए मृत्यु-रूप ही है, तथा अनित्य गृह, पुत्र, कुटुम्ब और पशु आदि को प्राप्त कर लेने से, लोगों को क्या सुख मिल सकता है?" ॥१८-१९॥

इसके लिए प्रबुद्ध ने पहले इस बात की ओर ध्यान देने के लिए कहा कि सांसारिक सुख, विषय-भोग का क्या परिणाम होता है। प्रत्येक स्त्री-पुरुष दुःख को मिटाने व सुख को पाने के लिए दाम्पत्य-सम्बन्ध में बंधते हैं व तरह-तरह के कर्म करते हैं। फिर भी वे देखते हैं कि दुःख तो पीछे ही लगा हुआ है व सुख उसके मुकाबले में कहीं दिखाई नहीं देता। इस विपरीत परिणाम का कारण उन्हें सोचना चाहिए। फिर वे सांसारिक सुख के माने जानेवाले साधनों—धन, गृह, पुत्र, कुटुम्ब, पशु आदि के जुटा लेने से यह शंका प्रदर्शित करते हैं कि भला इनसे कैसे सुख की प्राप्ति हो सकती है? क्यों कि धन एक तो आसानी से मिलता नहीं, दूसरे सदा दुःख का ही कारण बना रहता है और आत्मकल्याण के लिए तो मानो विषरूप ही है, एवं गृह, पुत्रादि अनित्य है—आज हैं, कल नही हैं। इनमें लिप्त होकर या इनके सहारे मनुष्य इस माया का मुकाबला कैसे कर सकता है? यहां प्रबुद्ध का संकेत इन साधनों के सर्वथा त्याग की ओर नहीं, बल्कि इनके सीमित उपयोग, सदुपयोग को व इनमें फंस न जाने की ओर है। सुख इन बाह्य साधनों पर अवलम्बित नहीं है, बल्कि मन की वृत्ति पर है। वह लड्डू, फल, किताब,

मूर्ति या स्त्री की तरह कोई स्थूल वस्तु नहीं है कि उसके आकार-प्रकार का वर्णन करके उसका परिचय दिया जा सके। वह एक भावना, वेदना या संवेदन है, जो वर्णन से परे है और केवल अनुभव किया जा सकता है। अपनी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा मनुष्य सृष्टि के विविध पदार्थों के ज्ञान व स्वाद को ग्रहण करता है। इसमें जो ज्ञान, स्वाद या क्रिया उसे रुचिकर, प्रिय लगती है, वह उसके लिए सुखकर होकर सुख व जो अरुचि होकर दुखदायी होती है, वह दुःख कहलाती है। यह सुख-दुःख का अनुभव इन्द्रियों द्वारा हमारा मन ही ग्रहण करता है। इसमें इनकी सहायता के बिना कोरी कल्पना से भी सुख-दुःख के ग्रहण व अनुभव करने की क्षमता है। मनुष्य की रुचि व अरुचि के अनुसार उसके सुख-दुःख की कल्पना भी एक-दूसरे से भिन्न होती है। तो भी जब मन को बहुत सन्तोष, समाधान, शान्ति मालूम होती है, उस अवस्था को हम वास्तविक सुख की अवस्था कहते हैं। यह सन्तोष जब उग्रता धारण करता है तो हर्ष हो जाता है। हर्ष व शोक दोनों सिरे की अवस्थाएं हैं, और सुख मध्यम अवस्था है। इसका संबंध चित्त के उद्रेक से नहीं, बल्कि समता से है। चित्त की अत्यन्त सम व निरीच्छ अवस्था में ही मनुष्य को पूर्ण सन्तोष, सुख या समाधान अनुभव होता है। जब हम किसी भी निमित्त से अत्यन्त एकाग्रता, तन्मयता का अनुभव करते हैं तो उस समय हमारे मन की अवस्था बहुत समता में रहती है। अतः जब किसी कारण से मन चंचलता या विकार को छोड़कर स्थिरता या समता का अनुभव करने लगता है तब उसे सुख का ही अनुभव कहना चाहिए। इसके विपरीत दुःख का अनुभव हमें तब होता है जब हमारा मन किसी धक्के से अपनी साम्यावस्था छोड़कर डांवाडोल होता है व एक सिरे से दूसरे तक लोट लगाता है। यह व्याकुलता की अवस्था है। हम कह सकते हैं कि चित्त की समता सुख की, व्याकुलता दुःख की अवस्था है। जो मनुष्य विषय-भोग में गर्क रहता है, अपने धन, स्त्री-पुत्रादि में ही डूबा रहता है, उसके मन को बार-बार व्याकुल और दुःखी होने के अवसर अधिकांश आते हैं। यह प्रत्येक के अनुभव की बात है। इसीकी ओर प्रबुद्ध ने इशारा किया है—

"मनुष्य को यह समझ लेना चाहिए कि यह लोक व परलोक दोनों कर्म-जन्य व नाशमान् हैं तथा इनमें मंडलेश्वर राजाओं की भांति समान के प्रति स्पर्धा-होड़, लाग-डांट, उत्कृष्ट के प्रति द्वेष और स्वयं उत्कृष्ट होने पर पतन का भय लगा रहता है।" ॥२०॥

वे कहते हैं कि मृत्युलोक, स्वर्गलोक दोनों नाशमान् हैं। जो वस्तु या रूप आज है, वह कल नहीं है, उसे नाशमान् कहते हैं। उत्पत्ति और लय का क्रम जसे मृत्युलोक पर लागू है वैसे ही स्वर्गादि लोकों पर भी है ही। फिर मनुष्य को मरने पर मृत्युलोक छोड़ना पड़ता है और पुण्य क्षीण होने पर स्वर्ग से उसका पतन होता है, इस दृष्टि से भी वे उसके लिए नाशमान् ही हैं। मनुष्य कर्मानुसार मृत्युलोक या स्वर्गलोक पाता है। अतः ये दोनों कर्म-जन्य हुए। फिर इनमें स्पर्धा, द्वेष व पतन का भी भय रहता ही है। बराबरीवाले साधारण मनुष्यों में स्पर्धा या लाग-डांट अक्सर देखी जाती है। अपने से श्रेष्ठ के गुणों को न सह सकने से उनके प्रति द्वेष पैदा हो जाता है और खुद यदि ऊंचे पद पर चढ़ गये तो दूसरों को तुच्छ देखने, उनकी अवगणना करने के फलस्वरूप चारों ओर विरोध का वातावरण बन जाने से पतन का भय रहता है। मन में अभिमान उत्पन्न हो जाने से भी ऊट-पटांग कार्य होने लगते हैं, जिनका फल पतन होता है। क्या मृत्युलोक व क्या स्वर्ग, दोनों में ये त्रिविध भय विद्यमान हैं। यह वस्तुस्थिति मनुष्य को समझ रखनी चाहिए कि जिससे इनके लोभ में न पड़कर इनसे परे होने का उपाय कर सके।

"अतः उत्तम श्रेयार्थी जिज्ञासु को चाहिए कि वह शब्द-ब्रह्म—वेद—और पर-ब्रह्म में परिनिष्ठित शान्तचित्त गुरु की शरण ले।"॥२१॥

उन्होंने पहला उपाय तो यह बताया कि वह ज्ञान व ज्ञान-दाता की शरण ले। शब्द-ब्रह्म से यहां अभिप्राय ज्ञान से व गुरु से अभिप्राय ज्ञान-दाता से है। मनुष्य को ज्ञान स्वानुभव से, ग्रन्थवाचन से या ज्ञानदाता गुरु से मिल सकता है। स्वानुभव से ज्ञान पानेवाले संसार में विरले ही होते हैं। ग्रन्थ व 'गुरु' से अधिकांश लोगों को ज्ञान मिलने की आशा रहती है। शब्द-ब्रह्म को हमारे यहां 'वेद' कहा जाता है। सृष्टि की उत्पत्ति के पहले ही परमात्मा या ब्रह्म में स्पन्दन होने के साथ ही शब्द की उत्पत्ति हुई है, यह पहले बता चुके हैं। शब्द की स्थिति ब्रह्म में ही हो सकती है। अतः शब्द को भी ब्रह्म कहने का रिवाज है। वेद शब्दरूप और अर्थमय हैं, अर्थात् अक्षरों में लिखे हुए शब्दरूप हैं और प्रत्येक शब्द के अर्थ से युक्त हैं। अक्षर शब्द का स्वरूप व अर्थ उसका भाव या आत्मा है। ब्रह्म शब्द या ध्वनि की जो आकृतियां ऋषियों के समाहित चित्त में स्फुरित हुई या अवलोकन में आई, उसीके अनुसार उन्होंने अक्षरों का रूप बनाया। उन ध्वनियों से जिस अर्थ—भाव, आशय या ज्ञान—को ग्रहण किया गया, वह वेदों में संगृहीत है। अतः वेद को शब्द-

ब्रह्म कहते हैं। सरल भाषा में मूल ज्ञान के ग्रन्थों को वेद कहते हैं। 'शब्द' और 'विषय' के भेद से ज्ञान के दो भाग हो जाते हैं। पहले को अर्थात् शब्दावच्छिन्न ज्ञान को 'वेद' और दूसरे को अर्थात् विषयावच्छिन्न को 'ब्रह्म' संज्ञा है। 'शब्द' विषय को प्रकाशित करता है व 'विषय' शब्द द्वारा प्रकाशनीय वर्णनीय वस्तु है। अतः 'वेद' ब्रह्म का वर्णन करनेवाले हुए। जब हम शब्द सुनते व विषय देखते या अनुभव करते हैं तो एक सामान्य ज्ञान भी होता है, जिसे संस्कार कहते हैं। इस तरह ज्ञान के तीन प्रकार हुए। यह संस्कार जब रूप-विशेष में परिणत होता है तो 'विद्या' कहलाता है। इस विद्या से ही लोक-व्यवहार चलता है। जबतक यह संस्कार है तभी तक आप स्व-स्वरूप में प्रतिष्ठित हैं। आपके नजदीक विश्व-सत्ता इस संस्कार-सत्ता पर ही निर्भर करती है। जब संस्कार का अभाव हो जायगा तो आप विश्वातीत, मुक्त हो जायंगे। अतः शब्दरूप 'वेद', विषयरूप 'ब्रह्म', दोनों की अपेक्षा संस्कार-रूप विद्या को ही प्रधान-रूप से विश्व की स्वरूप-सम्पादिका कहना होगा। इस ज्ञान पर चितिक्रम से संस्कार-पुट लगने से विश्व बन गया है। सच तो यह है कि ज्ञान-घन परमात्मा ही विश्व में संसृष्ट होकर, उपाधि-भेद से, वेद, ब्रह्म, विद्या—रूपों में परिणत हो जाता है। विश्व-सृष्टि में इन तीन तत्त्वों का ही साम्राज्य है। बल्कि यों कहना चाहिए कि शब्द-ब्रह्म वेद-तत्त्व, विषय-ब्रह्म, ब्रह्मतत्त्व एवं संस्कार-ब्रह्म विद्यातत्त्व है।

ऋक्, यजुः, साम, अथर्व-भेद से वेद चार प्रकार का है।[१] इसका विज्ञान भी हम यहां समझ लें। अव्यय पुरुष या परमात्मा या पुरुषोत्तम की जब यह इच्छा हुई कि 'एकोऽहं बहुस्याम्' तो इसके साथ ही या पहले मन का आविर्भाव हुआ। यह इच्छा ही उसके मन का रूप है। इससे उसमें एक हृदय—बल-केन्द्र-शक्ति—उत्पन्न होती है। वही केन्द्रस्थ रस-बलात्मक सत्त्व, कामनामय होता हुआ, 'मन' नाम धारण करता है। कामना मन का ही व्यापार है। सबसे पहले इस मन से 'विश्वरेत' (उपादानभूत शुक्र) भूत-कामना ही उदय होती है।—'कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्' (ऋक्० १०।२६।४) इस कामना से प्रथम वेद नाम की सृष्टि-श्रेणी का प्रादुर्भाव होता है। परमात्मा की पांच—आनंद, विज्ञान, मन, प्राण, वाक्—कलाओं से क्रमशः पांच श्रेणी की वेद, लोक, प्रजा,

---

[१] देखिये परिशिष्ट ७

भूत, पशु-सृष्टि निर्मित हुई। इसमें वेद का सम्बन्ध आनन्द-कला से है। चार वेदों में त्रयी वेद—ऋक्, यजु, साम—'अग्नि' वेद, व अथर्वस् 'सोम' वेद है। त्रयी-ब्रह्म स्वायम्भुव ब्रह्म है, अथर्व पारमेष्ठय सुब्रह्म है। पूर्वोक्त पांच श्रेणियों से सृष्टि के क्रमशः पांच पुर या मण्डल बने। स्वयंभू, परमेष्ठि, सूर्य, पृथ्वी, चन्द्रमा—इनमे त्रयीवेद तो स्वयम्भू-मण्डल हुआ व ब्रह्म कहलाया व अथर्व परमेष्ठि होकर सुब्रह्म कहलाया। 'ब्रह्म' आग्नेय होने से पुरुष, सुब्रह्म सोम होने से स्त्री माना गया। त्रयी वेद या ब्रह्म के मधः पतित यजु भाग में 'यत्'—'जू' दो तत्त्व हैं। इनमें 'यत्' गति-तत्त्व है। यही प्राण व वायु नाम से प्रसिद्ध है। 'जू' स्थितितत्त्व है, जो वाक्, आकाश नाम से प्रसिद्ध है। अतः प्राण, वाक्, किंवा वायु + आकाश—रूप स्थिति-गति-तत्त्व की समष्टि ही यजुर्वेद है। प्राणरूप 'यत्' के काम, तप, श्रम से वाक्रूप 'जू' भाग से सर्वप्रथम पानी उत्पन्न होता है। त्रयी ब्रह्म के वाक्-भाग से उत्पन्न इसी आप तत्त्व का नाम अथर्व वेद है। यजुरूप स्वायम्भुव ब्रह्म का पसीना ही अथर्व-रूप सुब्रह्म है। इस प्रकार ऋक्, साम्, यत्, जू भेद से अग्निवेद चतुष्कल हो जाता है। दूसरा है आपोमय सोम (अथर्व वेद) यह भृगु, अंगिरा भेद से दो भागों में विभक्त है। घन, तरल, विरल—इन तीन अवस्थाओं के कारण भृगु आप, वायु, सोम इन तीन अवस्थाओं में बदल जाता है, एवं अंगिरा अग्नि, यम, आदित्य इन अवस्थाओं में। इस प्रकार आपोवेद षट्कल हो जाता है। भृगु-अंगिरा रूप आपो-वेद के साथ चतुष्कल त्रयी वेद का समन्वय हो जाता है। पूर्वोक्त षट्कल सुब्रह्म, सौम्य होने से स्त्री है। चतुष्कल त्रयीब्रह्म आग्नेय होने से पुरुष है। दोनों के समन्वय से ब्रह्म-सुब्रह्मात्मक विराट् पुरुष का जन्म होता है। यह वेद-मूर्ति पूर्ण-पुरुष अपने-आपको इन्हीं दो भागों में विभक्त कर विराट् को उत्पन्न करता है।

'द्विधाकृत्वात्मनो देहधर्मन् पुरुषोऽभवत्।
अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत् प्रभुः॥

(मनु १।३२)

ऋक्, साम्, यत्, जू, आप, वायु, सोम, अग्नि, यम, आदित्य-भेद से वह विराट् दशकल है। इस प्रकार वह अव्यय पुरुष ही वेदरूप में परिणत होकर दश-कल हो जाता है। 'दशकल वै विराट्' (शत० १।१।२) यह विराट् पुरुष यज्ञ-पुरुष है। सृष्टि यज्ञरूप है, क्योंकि अग्नि व सोम के सम्बन्ध का ही नाम यज्ञ है। अतः उस अव्यय पुरुष का अवयव-भूत सृष्टि-कर्त्ता दशाक्षर विराट् ही यज्ञ-पुरुष है।

इस वेद-विज्ञान का तात्पर्य यह निकलता है कि वेद व्यक्त ब्रह्म के या सृष्टि के मूल तत्त्वों के प्रतिनिधि हैं। जो हो, प्रस्तुत प्रकरण में शाब्द-वेद से अभिप्राय सत्य या मूल-ज्ञानदायी ग्रन्थों से है।

ज्ञान-दाता गुरु ऐसा-वैसा नहीं चल सकता। वह ब्रह्म-निष्ठ, शान्त-चित्त होना चाहिए। पुस्तकें पढ़कर या रटकर 'ब्रह्मज्ञानी' तो बहुतेरे हो जाते हैं, खूब प्रवचन करते फिरते हैं, व बड़े ग्रन्थ रच डालते हैं। पर कोरे पुस्तकीय ज्ञान या ग्रन्थ-लेखन से कोई ब्रह्मनिष्ठ नहीं हो सकता। उसके लिए ब्रह्म-भाव की जरूरत है। ब्रह्मज्ञान के अनुरूप जबतक उसकी वृत्ति या जीवन नहीं बन जाता तबतक यह ब्रह्म-निष्ठ नहीं हो सकता। ब्रह्मनिष्ठता या ब्राह्मी स्थिति के लक्षण गीता (अध्याय २) में सविस्तर दिये गए हैं। उन गुणों की सिद्धि हो जाने पर मनुष्य सहज ही शान्त-चित्त रहेगा। शान्त-चित्त व्यक्ति ही चंचल, अस्थिर, अशान्त, व्याकुल सांसारिक पुरुष को उसके दुःखों से छुड़ाने का रामबाण उपाय बता सकता है। अतः उसीकी शरण जाने का उपदेश प्रबुद्ध ने पहले दिया।

"फिर उन गुरुदेव को ही आत्मा और इष्टदेव मानता हुआ उन्हींसे भागवत धर्मों को सीखे, जिनका निष्कपट आचरण करने से स्वयं अपनेको दे डालनेवाले श्री हरि प्रसन्न होते हैं।" ॥२२॥

इसमें ज्ञानदाता के प्रति श्रद्धा व उसके बताये धर्म के निष्कपट आचरण का उपदेश दिया है। योग्य ज्ञानदाता या गुरु मिल जाने के बाद उसके वचन व उपदेश पर यदि श्रद्धा न रखी जायगी तो उसके अनुसार चलने का ही उत्साह नहीं हो सकता। इसी तरह यदि उसके व्यवहार में ढोंग व बनावट रही तो वास्तविक ज्ञान या फल नहीं मिलेगा। अनुकूल फल सच्चाई से ही मिल सकता है। भगवान भक्त के सरल हृदय को, निर्मल भाव को देखते हैं। जहां स्फटिक की तरह शुद्ध हृदय मिल जाता है, वहीं वे अपना वैकुण्ठ बना लेते हैं। ऐसा भक्त समझता है कि मैंने अपनेको भगवान के अर्पण कर दिया है, पर वास्तव में भगवान ही अपनेको उसे दे डालते हैं।

"सबसे पहले मन की सब ओर से असंगता, फिर साधु जनों का संग, सब प्राणियों के प्रति यथोचित दया, मैत्री एवं विनय का भाव, शौच, तप, तितिक्षा, मौन, स्वाध्याय, सरलता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सुख-दुःखादि द्वन्द्वों में समानता, आत्मस्वरूप हरि को सर्वत्र देखना, एकान्त-सेवन, अनिकेतता, पवित्र वस्त्र धारण

करना, जो कुछ मिल जाय उसीमें सन्तोष मानना, भगवत्सम्बन्धी शास्त्रों में श्रद्धा रखना, अन्य शास्त्रों की निन्दा न करना, मन-वाणी-कर्म का संयम, सत्य भाषण, शमदमादि, विचित्र लीलाविहारी भगवान के जन्म, कर्म व गुणों का श्रवण, कीर्तन व ध्यान, उन्हींके लिए समस्त चेष्टाएं करना, यज्ञ, दान, तप, जप, आचार अथवा जो कुछ भी अपनेको प्रिय हो तथा स्त्री, पुत्र, गृह और प्राण ये सब परमात्मा के अर्पण कर देना।" ॥२३-२४-२५-२६-२७-२८॥

यों तो इसमें शारीरिक व मानसिक शुद्धि, संयम, सदाचार, एकाग्रता, समर्पण, सबका उपदेश दिया गया है, परन्तु वास्तविक ज़ोर ग्रात्मसमर्पण पर ही है; क्योंकि वही भक्ति की पराकाष्ठा और ज्ञान का भी फल है। पहले तो उन्होंने इस बात की ग्रावश्यकता बताई कि मनुष्य अपने ध्यान को दूसरी सब बातों से हटाकर एक इष्ट वस्तु का ही ध्यान रक्खे। फिर वह सज्जनों के संग और सम्पर्क में रहे, जिससे उसकी असंगता दृढ़ होती रहे। सबसे पहले संग हमें अपने देह का छोड़ना चाहिए, क्योंकि ग्रात्मा को भूलकर देह को महत्त्व दिया तो वह असत्संग के ही बराबर है। तब दुर्जनों के संग से बचे। फिर वह प्राणियों के साथ यथोचित व्यवहार करता रहे। दीन-हीन प्राणियों पर दया, बराबरवालों के साथ मैत्री, उत्तम महापुरुषों के प्रति नम्रता का भाव रक्खे। इससे उसे तारतम्य व विवेक की सिद्धि होगी। शरीर, वस्त्र, गृह ग्रादि को सदा स्वच्छ रखे, जिससे स्वास्थ्य अच्छा रहे व मन प्रसन्न रहे। स्वच्छता केवल बाहरी नहीं, भीतरी होनी चाहिए, मन का मैल निकलना चाहिए। वासना ही मन का मैल है। वासना से तरह-तरह के विकार पैदा होते हैं। उनको कायम रखकर बाहरी सफाई रखना काजल के ग्रास-पास साफ-सुथरे कांच लगाने जैसा है। भीतर से मन पवित्र है, ऊपर से शरीर, कपड़े, घर, सामान ग्रादि साफ-सुथरे हैं तो ऐसे व्यक्ति को परमात्मा का दूसरा रूप ही समझो।

'तप' से ग्राशय यहां इष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिए सब प्रकार के मोहों, कष्टों, कठिनाइयों व बाधाओं को प्रसन्नता से सहन करने व फिर भी अपने व्रत से च्युत न होने की दृढ़ता से है।

'तितिक्षा' का मतलब है शारीरिक कष्टों को सहन करने की ग्रादत डालना—जैसे गर्मी-सरदी, परिश्रम ग्रादि का सहना। अधिक बोलना या बिना काम बोलना भी अच्छा नहीं है। अत्यन्त ग्रावश्यक हुग्रा तो खुद किसीसे बोल लिया, किसीका बहुत जरूरी व महत्त्वपूर्ण काम हुग्रा और वह ग्राया तो उससे जरूरी बात कर

ली। इस तरह सम्यक् भाषण का ही भाव यहां 'मौन' से लेना चाहिए। न किसीकी निन्दा करे न किसीकी मिथ्या स्तुति, इसका नाम मौन है। जिसमें जो गुण हो, उसे समय पड़ने पर कहना सच्ची स्तुति है। बिना कारण पीठपीछे किसीके अव-गुण कहना निन्दा है। निन्दा और स्तुति दोनों अवसरों पर यह कल्पना करना कि जिसकी निन्दा या स्तुति मैं करता हूं, वह खुद मैं ही हूं, तो अपने-आप मौन साधने लगेगा।

मौन रहकर करें क्या ? तो इसके लिए 'स्वाध्याय' बताया। स्वाध्याय कहते हैं सद्ग्रन्थों के पठन व मनन को। पठन से भी मनन का महत्त्व अधिक है। बल्कि मनन के बिना पठन एक तरह से निरर्थक है। मनन का अर्थ पढ़े हुए पर विचार करना, योग्य-अयोग्य का चिन्तन करना, इससे हमारी बुद्धि में स्वतन्त्र विचार व निर्णय करने की शक्ति आती व बढ़ता है। इस स्वाध्याय का परिणाम जीवन की 'सरलता' होना चाहिए। सरल का अर्थ निष्कपट व सत्यमय जीवन। भीतर-बाहर एक-सा रहना, मन में किसी प्रकार का पाप, छल, प्रपंच, छिपाव, दुराव न रखना। इसका यह अर्थ नहीं कि चाहे जो बात, चाहे जिसे, चाहे जिस तरह कह दी या कर दी जाय। यदि किसीने अपनी गुप्त बात हमसे कही है तो उसको गोपनीय रखने की जिम्मे-दारी हमपर है। दूसरों से वह बात हम इस तरह नहीं कह सकते कि जिसमे उसे हानि पहुंच जाय। उसके हित में ही हम उसे जहांतक बने उसकी अनुमति से कह या प्रका-शित कर सकते हैं। सरलता का सीधा अर्थ यह है कि हमारे बात-व्यवहार से किसी-को धोखा न हो, ऐसी सरलता में बड़ी मोहिनी होती है। सरल मनुष्य के प्रति दूसरों को अपना हृदय खोलने में संकोच नहीं होता, क्योंकि उससे उन्हें धोखा होने का अन्देशा नहीं रहता। सरलता का अर्थ मूर्खता या भोलापन नहीं, निष्कपटता है। जब हम दूसरों से धोखा खा जायं तो हम मूर्ख या भोले हैं, जब हम सावधान रह-कर धोखेबाजों, कुटिल लोगों से चौकन्ने रहते हैं तो हम कुशल, दक्ष हैं। जब हम दूसरों को चकमा व धोखा देते हैं तब हम कपटी, कुटिल, दुष्ट हैं। सरलता इन सबसे अनोखी चीज है। वह सत्य की भीतर-बाहर साधना से आती है। कुटिल व धोखेबाज को भी सरलता के सामने झुक जाना पड़ता है। सीधा हो जाना पड़ता है।

दूसरों के हृदयों में घुल-मिल जाने का प्रयत्न करने से सरलता आती है। सामनेवाला अमृत की तरह हो या विष की तरह, अपने निजत्व को न छोड़ते हुए

दोनों में प्रवेश कर जाने की वृत्ति सरलता है। शकर का करेला बनाया जाय तो क्या वह कड़वा लगेगा? इसी तरह भला आदमी बुरे के हृदय में प्रवेश करे—तो बुरे को भी भला ही प्रतीत हो जायगा। यह गुण सरलता में है। सरलता सीधा-सच्चापन है। प्राणिमात्र को अपने मित्र, सगे, प्रत्यक्ष प्राण-स्वरूप समझकर निश्च्छल व्यवहार यहां होता है। तो वह भी भले-बुरे सबका अपने प्राणों के समान प्रिय बन जाता है। निहाई की भांति वह संतप्तों का आधार होता है। उन-पर पड़नेवाले घावों को भी सहता है। यह है आर्जव—सरलता।

'ब्रह्मचर्य' को यहां शारीरिक अर्थ में लेना चाहिए, क्योंकि ब्रह्मचर्य का पूर्ण अर्थ तो है ब्रह्म का आचार, यह तो बहुत ऊंची स्थिति हुई। यहां तो अभी शुरुआत ही है। अतः जननेन्द्रिय का संयम इतना ही अर्थ अभीष्ट होगा। यह निश्चित है कि मन को काबू में रखे बिना इन्द्रियों का संयम एक हद से आगे नहीं जा सकता। परन्तु मन पर काबू पाने के लिए भी इन्द्रिय-संयम से ही शुरु-आत करना पड़ेगी। तो जिनसे ऐसा भी ब्रह्मचर्य न सधे क्या वे श्रेय मार्ग पर चलने का इरादा छोड़ दें? नहीं, पहले वे स्त्री-पुरुष नियमित व बहुत मर्यादित केवल सन्तान-उत्पादन के अर्थ ही संग करें। स्त्री को भोग्य वस्तु नहीं, बल्कि बरा-बरी का मित्र, साथी मानने की भावना पुरुष बढ़ायें। सादा खाना, उचित व्यायाम, सात्विक वातावरण, इष्टदेव या कार्य में तल्लीनता इन साधनों से ब्रह्म-चर्य पालन करने में सुगमता होगी।

ब्रह्मचर्य के आदर्श के सम्बन्ध में गांधीजी के मननीय विचार पढ़ने योग्य हैं, क्योंकि गांधीजी अपने युग के व अपने ढंग के एक महान् ब्रह्मचारी थे।[1]

संसार में दो आनन्द हैं, विषयानन्द और ब्रह्मानंद। ये एक ही आनन्द के दो नाम हैं। एक शरीर-भोग से प्राप्त होता है, दूसरा आत्मा-भोग से। जिस तरह शरीर आत्मा का विकार है। उसी तरह विषय-सुख भी ब्रह्मसुख का विकार है—छाया है। ब्रह्मचर्य-साधन का मतलब है शरीर-भोग से बचकर ब्रह्मभोग की तरफ मन को ले जाना। शरीर स्थायी नहीं है। उसकी अवस्थाएं बदलती रहती हैं। इसलिए उसका आनन्द भी अस्थायी और परिवर्तनशील है। आत्मा एक अखण्ड, समरस है। इसलिए उसमें लीन होने का आनन्द भी अखण्ड है। इसलिए इसे

[1] गांधीजी के विचार देखिये परिशिष्ट ८ में।

परमानन्द कहा है ।

'अहिंसा' का अर्थ है प्राणिमात्र के प्रति समभाव रखकर व्यवहार करना। अपने स्वार्थ के लिए किसीको कष्ट न पहुंचाने की भावना भी अहिंसा ही है। इसका स्वरूप परिणाम पर उतना नहीं जितना कर्त्ता की भावना पर अवलम्बित रहता है। हालांकि परिणाम उपेक्षा करने जैसी बात नहीं है। अनजान में जो दूसरों को कष्ट पहुंच जाता है या हानि हो जाती है, उससे कर्त्ता को हिंसा का दोष नहीं लग सकता। हां, मालम होने पर उसे दुःख या पश्चात्ताप जरूर होगा। इसी तरह क्षणिक आवेश या क्रोध में बच्चों को, उनके हित के ही लिए, जो मार-पीट दिया जाता है व बीमारों के साथ उनके स्वास्थ्य के लिए जो सख्ती की जाती है या कमज़ोर आदमी बहुत बलवान् के सहसा आक्रमण के मुकाबले में कुछ मारपीट अचानक कर बैठे तो वह हिंसा नहीं के बराबर है। क्षणिक उद्रेक नहीं, बल्कि वृत्ति ही अहिंसा-हिंसा की सच्ची कसौटी है। दुनिया आचरण को सरलता से देख लेती है, वृत्ति खुद अपनेको जल्दी मालूम हो जाती है। दुनिया आचरणों के तांतों से वृत्ति का अनुमान लगाती है। इसीलिए हम केवल वृत्ति के भरोसे अपने आचरण या उसके परिणाम की तरफ से उदासीन नहीं रह सकते। फिर मनुष्य का खून चूसकर, लूटकर, चींटी, बन्दर, कुत्तों की रक्षा के लिए जो अति चिन्ता देखी जाती है, वह भी विकृत अहिंसा समझनी चाहिए। जबतक हम अपने चित्त को राग-द्वेष से मुक्त करने का प्रयत्न नहीं करेंगे तबतक समभाव या अहिंसा की वृत्ति बनना कठिन होगा। स्वार्थ से राग-द्वेष उत्पन्न होता है। स्वार्थ-साधक वस्तुओं व व्यक्तियों के प्रति राग—उचित व आवश्यकता से अधिक प्रेम या आकर्षण—और बाधकों के प्रति द्वेष, अरुचि, घृणा उत्पन्न होती है।

जब हम स्वार्थ को छोड़ेंगे या कम-से-कम उसे ऐसी मर्यादा में रक्खेंगे, जिससे दूसरों को हानि पहुंचाये बिना उसकी सिद्धि होती रहे तभी हम राग-द्वेष से छूट सकेंगे। कुटुम्ब, समाज, देश व सारे भूमण्डल में यदि शान्ति व स्वास्थ्य हम चाहते हों, व वह रह सकती है, तो अहिंसा के ग्रहण व पालन से ही—केवल व्यक्ति-जीवन में नहीं, समाज-जीवन में भी उसे प्रतिष्ठा देकर। जो भगवान् की ओर—समाज व सृष्टिरूपी भगवान् के स्वरूप की ओर—जाना चाहते हैं, उन्हें व्यक्तिगत जीवन में ही अहिंसा के किंचित् पालन से सन्तोष न मानना होगा। बल्कि समाज-जीवन में भी उसे प्रविष्ट करने के लिए बड़े उत्साह व लगन से काम करना होगा।

हम सदा एक-दूसरे का गला काटकर न तो जीवित ही रह सकते हैं न पनप ही सकते हैं। हमें परस्पर प्रेम, सहयोग, सद्भाव, सौजन्य का मार्ग ही अख्त्यार करना होगा, और वह अहिंसा के सिवा दूसरा नहीं हो सकता। 'मनुष्य-स्वभाव से हिंसा नहीं छूट सकती।' 'बुद्ध व ईसा-मसीह के अहिंसा-प्रचार का आखिर क्या नतीजा निकला?' 'उनके अनुयायी देशों में घोर हिंसा फैल रही है तो फिर आगे हिंसा के मिटने की क्या आशा की जाय?' ये दलीलें थोथी हैं। प्रत्येक विचारशील मनुष्य हिंसा के मुकाबले में अहिंसा की श्रेष्ठता को मानता है। मनुष्य स्वभावतः तो अहिंसा से ही चलता है, मजबूर होने पर ही हिंसा का आश्रय लेता है। इसे वे स्वीकार करते हैं। साम्यवादियों का तो ध्येय ही अन्त में समाज से हिंसा का बहिष्कार करना है। उसकी व्यवहार्यता पर ही अधिक लोग शंकाशील पाये जाते हैं। किन्तु प्रयत्न करने से संसार में बहुत कठिन व असम्भव समझी जानेवाली बातें भी आसान व प्रत्यक्ष होती हुई देखी जाती हैं। अतएव मनुष्य का कर्तव्य इतना ही है कि जो वस्तु उसे आवश्यक व हितकर मालूम होती है,उसके लिए बिना रुके,उत्साह के साथ, दृढ़ता से प्रयत्न करता चला जाय। कोरा विचार, तर्क, शंका-कुशंका करते रहने से सरल वस्तु भी कठिन व पेचीदा बन जाती है व कार्य करने व करते रहने से कठिन व पेचीदा वस्तु भी आसान व सरल हो जाती है।

हृदय की कोमल, स्निग्ध भावना से अहिंसा की उत्पत्ति है। वह दूसरे को अभय का, निश्चिन्तता का आश्वासन देती है, जिसके फलस्वरूप हमें अपने-आप निर्भयता और निश्चिन्तता का वरदान मिल जाता है। अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए स्वयं कष्ट उठाना—इसका मूल मन्त्र और एक पहलू है। कष्ट-सहन की इस आंच में तपते हुए भी सामनेवाले के प्रति प्रेम की मृदुल फुहार बरसाना, इसका दूसरा पहलू है। परमार्थ को छोड़ दें तो उच्च स्वार्थ-सिद्धि के लिए भी अहिंसा रामबाण और राजमार्ग है। यह पढ़ने व सोचने का विषय नहीं, करने का है। जैसे-जैसे आप अनुभव व प्रगति करते जायंगे इसके स्वाद, सुख, लाभ का परिचय अपने-आप आपको होता जायगा। जो भगवान् के मार्ग पर चलना चाहते हैं, उनके लिए तो यह एक अनिवार्य द्वार है।

श्री ज्ञानदेव ने अहिंसा-वृत्ति का वर्णन बड़ी ललित भाषा में किया है।[1]

---

[1] श्री ज्ञानदेव के विचार परिशिष्ट ९ में देखिये।

गांधीजी ने भी अहिंसा-सम्बन्धी विचार 'मंगल प्रभात' में लिखे हैं।[1]

संसार में सुख-दुःख का दौरा होता ही रहता है। यद्यपि इसका मुख्य सम्बन्ध प्रधानतः व्यक्ति के अपने कर्म से है तथापि 'आसमानी-सुलतानी' कारण भी निमित्त हुआ करते हैं। भक्त या साधक को चाहिए कि पहले तो ऐसे कर्मों से ही बचे जो दुखदायी हों। फिर भी जो दुःख आ पड़े तो उसे हिम्मत से सहे व सुख आ जाय तो उसमें बह न जाय। दोनों के प्रति वह समता या उदासीनता का भाव रखे। 'नारायण सुख-दुःख उभय भ्रमत फिरत दिन-रात, बिन बुलाय ज्यों आ रहे बिना कहे त्यों जात।' ऐसी निश्चिन्त वृत्ति मन की बनाये। यही बात हर्ष, शोक, लाभ, हानि, संयोग-वियोग आदि के अवसरों की समझना चाहिए। इन्हें द्वन्द्व कहते हैं।

'सुखं वा यदि वा दुःखं प्रियं वा यदि वाऽप्रियम्।
प्राप्तमप्राप्तमुपासीत हृदयेनापराजितः॥'

यह वाक्य हृदय में अंकित कर रखना चाहिए।

इतनी साधना के बाद अब साधक को सब जगह भगवान् को ही व्याप्त देखने का अभ्यास करना चाहिए, जो कि आत्मरूप से सब चराचर में रमण कर रहा है। इसका अर्थ यह है कि वह अपने अस्तित्व को भी स्वतन्त्र व पृथक् न माने। जब सारी सृष्टि हरिमय है, हरि का ही रूप है तो वह स्वयं उससे कैसे बचेगा? और यदि वह भी हरि का ही रूप है तो फिर उसे अपने स्वतन्त्र व पृथक् अस्तित्व का ज्ञान, भान या अभिमान कैसे रहेगा? जो सर्वत्र हरि को देखेगा, वह किसकी बुराई करेगा, किसे शत्रु समझेगा?

'एकान्तसेवन' से अभिप्राय यहां भीड़-भड़क्के, प्रसिद्धि, विज्ञापनबाजी से बचने का है। जो इनके फेर में पड़ जाता है, उसकी साधना छूट जाती है, अपितु भ्रष्ट हो जाती है। इनकी चाह उन्हीं लोगों को होती है, जो अपने लक्ष्य की सिद्धि को मुख्य नहीं, बल्कि भीतर-ही-भीतर अपनी कीर्ति को मुख्य मान रहे हैं। दुनिया का रिवाज है कि जो कीर्ति व प्रसिद्धि के पीछे पड़ता है, दुनिया उससे नफरत करने लगती है व कीर्ति भी उससे दूर भागती है। इसके विपरीत जो अपने काम में ही मगन रहते हैं, उनकी कीर्ति फैलानेवाले अनेक लोग उत्पन्न हो जाते हैं। इसके लिए धैर्य की आवश्यकता है। एक संस्कृत कवि ने स्तुति के लिए जो कहा है, वही कीर्ति-प्रसिद्धि

---

[1] गांधीजी के विचार परिशिष्ट १० में देखिये।

पर भी भली-भांति लागू होता है—"यह स्तुति-रूपी कन्या अभी तक कुंवारी ही बनी हुई है—वरमाला हाथ में लिये-लिये घूमती है, इसके अनुरूप कोई वर नहीं मिलता; क्योंकि विद्वान् उसे नहीं चाहते व मूर्खों को वह स्वयं नहीं चाहती।"

जिन भक्तों ने किसी सेवा-कार्य को ही भगवान् की भक्ति या सेवा का साधन मानकर अपनाया है,उन्हें समाज को अपनी सेवा का हिसाब देना पड़ता है। समाज के खर्च से जो काम चलता है,उसका हिसाब लेना समाज का व देना सेवक का कर्त्तव्य है। उसका विवरण समाज के सामने उपस्थित करना इसके अन्तर्गत त्याज्य नहीं है।

एकान्तसेवन का शाब्दिक अर्थ ही लिया जाय तो उसकी आवश्यकता साधन-काल में ही समझना चाहिए। इष्ट सिद्धि होने पर तो समाज के हित के लिए हमें समाज में ही अधिकतर रहना होगा।

'अनिकेतता' से तात्पर्य किसी प्रकार के परिग्रह न रखने से है। घर, जमीन, जायदाद जैसी कोई चीज अपने स्वामित्व की न रखे। संसार की सब वस्तुओं पर ईश्वर का—साम्यवादी की भाषा में समाज का—स्वामित्व माने। जो-कुछ प्राप्त हो या करे वह ईश्वर को—समाज को चढ़ा दे। उसके उपयोग के बाद जो बचा-खुचा—प्रसाद—'यज्ञशिष्ट' रहे, उसे आप पा ले। इसी वृत्ति का संकेत 'अनि-केतता' के द्वारा किया गया है। अतः जो-कुछ मिल जाय, उसमें सन्तोष मानने की आदत डालनी चाहिए। अपनी जरूरतों के लिए दूसरों पर अन्याय, अत्याचार किसी दशा में न करना चाहिए। दूसरों को ठगकर, धोखा देकर अपना निर्वाह करने का यत्न न करना चाहिए। धर्म-पूर्वक सेवा करते हुए जो सहज-रूप से मिल जाय, उसीको भगवान् का अनुग्रह समझकर प्रसन्न रहना चाहिए।

पठन-पाठन भी ऐसे ही ग्रन्थों का करना चाहिए, जिनसे हमारे अन्दर सद्-भावनाएं उदय हों, सद्विचार जाग्रत हों, सत्कर्म की प्रेरणा हो। भगवान् क्या है, सृष्टि से व जीवों से उसका क्या सम्बन्ध है, जीवों के कल्याण के लिए उसकी क्या आज्ञाएं हैं, इन बातों का अध्ययन व चिन्तन करता रहे। दूसरी वाहियात, गन्दी, निरर्थक किताबों के बदले ऐसे भागवत्-शास्त्र पर श्रद्धा रखना ही कल्याणकारी है। याद रखिये कि भगवान् उसके स्वरूप स जुदा नहीं हो सकता। यह सृष्टि ही भगवान् का स्वरूप है। इसे छोड़कर उसे कहीं अन्यत्र ढूंढ़ने की जरूरत नहीं है। इसकी सेवा ही भगवान् की सेवा है। इसके जीवों का तिरस्कार भगवान् का तिर-स्कार है। उनका पीड़न-शोषण भगवान् का पीड़न व शोषण है। भगवान् की चर्चा

व गुणानुवाद करनेवाले शास्त्रों से भिन्न दूसरे शास्त्र भी हैं, जिनमें समाज की उन्नति, व्यवस्था-सम्बन्धी अनेक विषयों की चर्चा है—जैसे समाज-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र, राजनीति-शास्त्र, भौतिक शास्त्र आदि। हम जब सृष्टि में परमात्मा के सिवा दूसरा कुछ मानते ही नहीं हैं; तो दूसरे शास्त्र भी प्रकारान्तर से भगवान्-सम्बन्धी शास्त्र ही हो जाते हैं। अतः उनकी निन्दा न करनी चाहिए। भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय-वाले भगवान् की मूल एकता, व्यापकता को भूलकर संकुचित वृत्ति से अपने साम्प्र-दायिक साहित्य की स्तुति व दूसरों के साहित्य की निन्दा करते हैं। यह वृत्ति दूषित है और भगवान् को अप्रिय तथा हमें उससे दूर ले जानेवाली है। भगवान् राम ने हनुमानजी से कहा है—

'सो अनन्य जाके असि मति न टरहिं हनुमन्त।
मैं सेवक सचराचर-रूप स्वामि भगवन्त॥'

सचराचर-रूप भगवान् हमारा स्वामी है। हम उसके सेवक हैं। ऐसी जिसकी भावना होती है, वही अनन्य भक्त है। वह निन्दा केवल पाप की, बुराइयों की, कुकर्मों की, कुमार्गों की, कुसंगति की करेगा। किसी व्यक्ति, समाज, सम्प्रदाय, ग्रन्थ या शास्त्र की नहीं। ऐसा कोई व्यक्ति, धर्म, समाज, सम्प्रदाय, व्यवस्था और शास्त्र नहीं हो सकता, जिसमें केवल बुराई ही हो। अतः किसीकी ऐकान्तिक निन्दा कभी नहीं की जा सकती। हां, जिस अंश में बुराई हो, जिस कार्य में बुराई हो, उसकी उसी अंश तक निन्दा—आलोचना आवश्यक है और वह लाभदायी भी होती है। फिर निन्दा व आलोचना करने का अधिकार भी चाहिए। जो न्यायवृत्ति से व समभाव से निष्पक्ष होकर विचार कर सकता है, वही प्रसंगानुसार आलोचना व निन्दा करने का पात्र कहा जा सकता है। त्रुटि दिखलाना आलोचना कहलाती है। गुण-दोष दोनों का विश्लेषण करना समालोचना व लोगों की निगाह में गिराने का उपाय निन्दा कहलाती है। निन्दा उसी अवस्था में करने की आवश्यकता उत्पन्न होती है जब सुधार के उपाय बेकार साबित हुए हों और जनमत को आक-र्षित करना अनिवार्य हो गया हो। शुद्ध हित-भाव से ही यह सब करना जायज हो सकता है।

अनावश्यक वस्तुओं का उपयोग या उपभोग न करना संयम है। मन के हानिकर या निरर्थक संकल्पों-विचारों को रोकना मानसिक संयम है। फिजूल गपशप न लगाना, ऊट-पटांग न बकना, उचित, आवश्यक व हितकर ही बोलना,

वाणी का संयम है। इसी तरह अपनेको गिराने या दूसरों को हानि पहुंचानेवाले कामों से बचना कर्म का संयम है। संयम दूसरों को उनकी सुख-सुविधा, स्वतंत्रता की सुरक्षिता की गारण्टी देता है व आस-पास विषय-भोग व बुराइयों से बचने की किलेबन्दी करता है। कोई भी काम सम्पूर्ण तभी कहा जा सकता है जब मन, वचन, कर्म—तीनों का मेल उसमें हो।

'सत्यभाषण' शुरुआत का नियम है, कम-से-कम मांग है। मन में हम जिस वस्तु को जैसा समझते हैं वैसा ही मुंह से कहना सत्यभाषण है। मन में जो कुछ है सभी बिना विचारे कह डालना सत्यभाषण के लिए जरूरी नहीं है। यह अविवेक है। जो कुछ हमारे मुंह से निकले, वह हमारे आन्तरिक भावों का प्रतिनिधि हो और सामनेवाला धोखे में न पड़े—यह सत्यभाषण के लिए लाजिमी है। सत्य-भाषण से ही मनुष्य की प्रतिष्ठा व साख रहती है। साधारण समाज-व्यवहार के लिए भी आवश्यक है तो फिर जो व्यक्ति भगवान् के रास्ते ही चल पड़ा है, उसके लिए तो अनिवार्य ही है।

मन की शान्ति को 'शम' और इन्द्रियों के संयम को 'दम' कहते हैं। हमारे कार्य-जगत् में कैसे ही भूचाल आयें, पर मन उसी तरह अडिग, अटल, स्थिर बना रहे जैसे तूफान व लहरों के उठने पर भी समुद्र। बहुत हुआ तो उसकी लहरें ऊपर-ही-ऊपर सतह पर उठकर खतम हो गईं, भीतरी शान्ति, स्थिरता, ज्यों-की-त्यों अवि-चल रही। मनुष्य जबतक विषय-भोग, स्वार्थ, महत्त्वाकांक्षा को अपनाये रखता है तबतक यह शान्ति उसे नसीब नहीं हो सकती। इस मानसिक शान्ति का पहला कदम है दम—इन्द्रियों को वश में करने का प्रयत्न। यह नियम बना लेना चाहिए कि आंख से हम भगवान् का ही रूप देखें—अपने उच्च लक्ष्य या पवित्र इष्ट के रूप-सौन्दर्य के सिवा दूसरी किसी वस्तु के रूप पर लट्टू न हों—कानों से उसी की चर्चा सुनें, मुंह से उसीके सम्बन्ध में बातें करें, हाथ-पांव सब उसीकी सिद्धि में जुट पड़ें। जब इन्द्रियां बेकाबू होने लगें तो उपवास या शारीरिक श्रम के किसी काम में उनको लगाकर थकाने का उपाय किया जा सकता है।

अन्त में अपना सर्वस्व भगवान् के समर्पण करना है। इसके दो भाग हो जाते हैं—एक तो भगवान् में तन्मय हो जाना—उसीके जन्म, कर्म, गुणों का श्रवण, कथन-कीर्तन और ध्यान, दूसरे उनके प्रत्यर्थ अपनी सब क्रियाएं—यज्ञ, दान, जप, तप, आचार व सब प्रिय वस्तुएं—स्त्री, पुत्र, गृह, प्राण आदि—अर्पण कर देना।

पहला भाग चित्त की एकाग्रता से सम्बन्ध रखता है, दूसरा हमारी भावना के उत्कर्ष से। एक भगवान् में ही हमारा ध्यान केन्द्रित हो जाने से हमको सबकुछ जगह-जगह वही दिखाई देने लगता है, जिसका फल यह होता है कि हम अपने-आपको सर्वथा उसीके अधीन, उसीमें लीन, उसीमें व्याप्त पाते हैं और अपनी पृथक् सत्ता को भूल जाते हैं। फिर जीवन में हम जो भी कुछ करते हैं, वह सब उसीके लिए, उसीका हो जाता है। हमारा जो कुछ प्रिय है, वह सब उसीका है, वही तो है। इस सीमा तक पहुंचना ही माया को पार कर जाना है। 'भगवान् हमसे जुदा है', यह माया का प्रभाव है। 'भगवान् हममें है, हम भगवान् में हैं', यह माया का अभाव है।

भक्ति के भी दो रूप हैं—एक तो यह कि भगवान् को एक व्यक्ति मानकर उसका श्रवण-कीर्तन आदि करना; दूसरा उसको सृष्टिव्यापी, सृष्टिरूप मानकर उसकी सेवा करना। पहली साधना भक्ति की प्रारम्भिक अवस्था है, दूसरी अन्तिम। बूंद को पकड़कर वह सिन्धु को पा गया, मूर्ति को ग्रहण करके असलियत तक पहुंच गया। जब हमने सृष्टि-व्यापक विश्व-रूपक विराट् परमात्मा को पहचान लिया, उसके अर्पण अपनेको कर दिया तो फिर हमारी सब चेष्टाएं, क्रियाएं, कर्म-कलाप उसीके लिए हुए। यही भाव समाज में बन्धुभाव, समभाव, दयाभाव और इनसे उत्पन्न सेवाभाव की बुनियाद है। मनुष्य सेवा के लिए उत्पन्न हुआ है, सुख के लिए नहीं। सेवा ही उसके लिए सुख है। सेवा ही उसके लिए कर्तव्य है। क्योंकि जहां जो अभाव है, उसकी पूर्ति करना सेवा है। वह अभाव चाहे व्यक्ति का हो, समाज का हो, जाति का हो या सारे जगत् का हो। सम्पूर्णता का अनुभव सुख की पराकाष्ठा है। उसमें कमी या त्रुटि का होना ही अभाव है और यही दुःख का कारण होता है। इसका निवारण सुख है। सम्पूर्णता में शरीर, मन-बुद्धि, आत्मा—तीनों के पूर्ण विकास व सम्पन्नता का भाव समाया हुआ है। शरीर का पूर्ण स्वस्थ होना, मन-बुद्धि का शुद्ध व पुष्ट होना तथा आत्मा का निर्मल, बलिष्ठ व व्यापक होना सम्पूर्णता का संकेत करता है। व्यक्ति व समाज दोनों का—अर्थात् व्यक्ति के ऐकान्तिक व सामाजिक दोनों रूपों या अंगों का इतना विकसित हो जाना सम्पूर्णता की सीमा तक पहुंचना है। व्यक्ति का अपने तक सीमित रहना जीव-भाव व विश्व तक व्यापक होना शिव-भाव है। जीव व शिव दोनों के सामंजस्य में सम्पूर्णता है। जीव और शिव अर्थात् व्यक्ति व समाज के जीवन में सम्पूर्णता को

सामने रखते हुए जो भी त्रुटि, कमी या अभाव प्रतीत होता हो, उसकी पूर्ति करना परमात्मा की सेवा करना है। परमात्म-समर्पण का यह वांछनीय फल है। समाज की,दीन-दुखियों, अनाथों, पीड़ित-पतितों की सेवा से भगवान् को पाने में भी सहायता मिलती है और भगवान् को पा जाने के बाद इससे आत्म-सन्तोष व शान्ति मिलती है। कर्तव्य-पालन का या भगवान् की सेवा कर लेने का आत्म-सुख मिलता है, जिसके बराबर संसार में दूसरा सुख नहीं है। बल्कि यह कहा जाय तो हर्ज नहीं कि दुनिया में सच्चा, अखण्ड, पूर्ण सुख यदि कुछ है तो वह यही है।

"इसी प्रकार कृष्ण ही जिनके आत्मा और स्वामी हैं,उन पुरुषों से प्रेम करना स्थावर और जंगम दोनों प्रकार के जगत् तथा महात्मा और साधुओं की सेवा करना, भगवान् के परम पावन गुणों का परस्पर कथोपकथन करना तथा जिससे आपस में प्रेम, सन्मान व शान्ति का विस्तार हो, ऐसे ही कर्म करे।" ॥२९-३०॥

फिर वह ऐसे लोगों से प्रेम बढ़ावे, जिन्होंने अपनेको भगवान् या समाज या विश्व के हाथों में सौंप दिया हो और इन्हींको जिन्होंने अपना आत्मा, प्राण, स्वामी सबकुछ मान लिया हो। किन्तु इतने ही से उसे सन्तोष न मान लेना चाहिए, बल्कि प्राणिमात्र की ही नहीं, जड़-चेतन सारे जगत् की सेवा में उसे अपनेको लगा देना चाहिए। साधु-सन्तों की आवश्यकताओं का उसे खास तौर पर ध्यान रखना चाहिए; क्योंकि वे सर्वदा दूसरों के हित में ही लगे रहते हैं। उन्हें खुद अपनी जरूरत की सामग्री जुटाने की फुरसत नहीं रहती। अतः जिन्होंने अपना जीवन अभी सर्वथा परमार्थ या परहित में नहीं लगा रखा है, उनपर उनके भरण-पोषण की जिम्मेदारी अपने-आप आ जाती है। इसकी व्यवस्था उन्हें इस भावना से करनी चाहिए मानो इस सेवा या कार्य द्वारा वे स्वयं बड़भागी हुए हों। उनपर उपकार करने, आगे-पीछे उनसे अपने लिए कुछ लाभ उठा लेने या हो जाने की भावना अथवा आशा से यह व्यवस्था करना हमारी स्वार्थ साधने की योजना का एक अंश ही कहा जायगा। इसके अलावा यदि बोलना हो तो भगवान् की—अपने इष्ट, ध्येय की ही चर्चा, उसकी सिद्धि के सिलसिले में ही बातचीत, भाषण, लेखन आदि करना चाहिए। और इस बात की सदा सावधानी रखनी चाहिए कि हमारे हाथों ऐसे ही कार्य—कर्म—हों जिससे परस्पर व्यक्तियों, जातियों, समाजों, देशों और जीवों में प्रेम, सन्तोष व शान्ति का विस्तार हो। इससे बढ़कर जीवन का ध्येय, उपयोग व सफलता या कृतार्थता और क्या हो सकती है?

वर्तमान संसार में मनुष्य के इतने प्रकार के ध्येय प्रचलित हैं—

१. अपने स्वार्थ व सुख में ही लगे रहना। इनमें कुछ लोग तो यह मानते हैं कि दूसरों को धोखा देकर, ठगकर, हानि पहुंचाकर, पीड़ित करके भी अपना स्वार्थ साधे तो साध लेना चाहिए। कई लोग जबान से इस बात को नहीं कहते, पर व्यवहार में ऐसा ही आचरण करते हैं। उसपर दुःखी होते या पछताते नहीं, बल्कि अक्सर ऐसी दलीलें देते देखे जाते हैं कि इसके बिना संसार में जीवन नहीं चल सकता। दूसरे ऐसे लोग हैं, जो जान-बूझकर इस हद तक नहीं जाते, मजबूरी से भले ही ऐसा कुछ कर लें। वे सिद्धान्ततः मानते हैं कि दूसरों को हानि न पहुंचाकर उनके स्वार्थ-सुख में बाधक न होते हुए ही स्वार्थ-साधन करना नीतियुक्त है। जब ऐसे अवसर आते हैं तो उन्हें दुःख व पछताव होता है, किन्तु लाचारी है—इस वाक्य से यह घुल या धुल जाता हैं।

२. दूसरी श्रेणी उन लोगों की है जो स्वतंत्रता, समता, बन्धुता का आदर्श रखते हैं। स्वार्थ तो थोड़ा-बहुत सभीके पीछे लगा रहता है; परन्तु इन लोगों ने इस त्रिपुटी को जीवन में प्रधानता दी है व स्वार्थ-सिद्धि को गौण माना है। इन तीनों की सिद्धि में ही वे व्यक्ति व समाज का सुख व हित मानते हैं। इनकी योजना में समाज की श्रेणी, जाति, सम्प्रदाय, वर्ण आदि भेद कायम हैं। ये त्रिपुटी द्वारा उनके सामंजस्य का प्रयत्न करते हैं। इन्होंने प्रजासत्ता की या जन-तंत्र की प्रणाली को जन्म दिया है।

३. एक और श्रेणी है, जो व्यक्तिमात्र की समता की हामी है और समाज में आर्थिक विभाजन पर आश्रित किसी श्रेणी या वर्ग को स्वीकार नहीं करती। वह भेदों या वर्गों में सामंजस्य नहीं चाहती, बिलकुल ही मिटाकर वर्गहीन समाज की स्थापना करना चाहती है। इसमें मनुष्य परस्पर समता, प्रेम और सहयोग से रहेगा। न कोई किसीको ठगेगा, लूटेगा, चूसेगा, या ज़ोर-जबरदस्ती करेगा। वह किसी शासक-मण्डल के नहीं एक तरह के व्यवस्थापक मण्डल के अधीन रहेगा। इसमें लोग शक्तिभर काम कर लेंगे, जरूरतभर प्राप्त कर लेंगे। धन व सुख-साधन की इतनी विपुलता होगी कि चोरी, बेईमानी, धोखाधड़ी, लूट-खसोट, शोषण, ज़ोर-जबरदस्ती की जरूरत ही न रहेगी।

४. चौथी श्रेणी उन लोगों की है, जो सेवा में ही सुख मानते हैं। उनका स्वार्थ जीवन की साधारण आवश्यकताओं तक ही परिमित रहेगा। उनकी समाज-

व्यवस्था का आधार समता नहीं त्याग है। समता में एक-दूसरे के अधिकार सुरक्षित रखने की भावना है, त्याग में एक-दूसरे के लिए प्रसन्नतापूर्वक अपना स्वार्थ-सुख कुछ कम करने, स्वयं कष्ट उठाकर भी दूसरे को सुखी करने की भावना है। समता की भावना में फिर लड़ाई-झगड़े की, पंच-पंचायत की, अतएव शासकमण्डल की जगह रहेगी। 'त्याग' व 'सेवा' की भावना में इसकी कतई गुंजाइश नहीं रहेगी, जड़ ही कट जायगी। ज़ोर-जबरदस्ती को, किसी भी प्रकार के बल-प्रयोग को, हिंसा को, यह शुरू से ही नाजायज मानते हैं। परस्पर प्रेम, सहयोग, सेवा के बल पर ही यह शुरू से अपनी व्यवस्था की इमारत रचना चाहते हैं। इसमें श्रम को प्रधानता रहेगी। मनुष्य अपने श्रम से जो कमावेगा, उसमें से पहले जरूरतमन्दों के लिए रखकर फिर अपने काम में लेगा। जरूरत बहुत कम होने या रखने से विपुलता तो काफी रहेगी ही। इसकी व्यवस्था में केन्द्रीय सत्ता की कल्पना नहीं है। बहुत व्यापक बातों के लिए एक व्यवस्था-मण्डल रह सकता है। अधिकांश जनता स्वावलम्बी, स्वाश्रित एवं स्वपर्याप्त रहेगी।

पहले प्रकार के लोगों को साम्राज्यवादी, दूसरे को जनतन्त्रवादी, तीसरे को साम्यवादी, चौथे को रामराज्यवादी या सर्वोदयी कहें तो हर्ज नहीं।

यह कल्पना या व्यवस्थाएं एक-दूसरे से ऊंची है, चौथी में मनुष्य-जीवन का जो ध्येय बतलाया गया है, वह पूर्वोक्त भक्ति के आदर्श से मेल खाता है।

"इस प्रकार पापपुंजहारी भगवान् हरि का स्वयं स्मरण करते हुए तथा औरों से कराते हुए महात्मा भक्तजन वैधी भक्ति से प्रेमाभक्ति के उदय होने पर पुलकित हो जाते हैं।" ॥३१॥

इसमें भगवान् के भजन में मस्त व्यक्ति की चित्तवृत्ति का दिग्दर्शन कराया है। वह आरम्भ वैधी भक्ति से करता है। पूजा-अर्चा आदि विधि-विधानों से युक्त प्रणाली से जब इन बाह्य साधनों या उपचारों से भक्त का मन भगवान् के प्रेम में रंगने लगता है, उसे बाहरी उपचारों का ध्यान न रहकर भगवान् के चिन्तन-ध्यान में ही मन लगा रहता है व अपने तथा भगवान् के बीच का भेद भूलने लगता है तब वह प्रेमाभक्ति कही जाती है।

"ऐसा होने पर वे अलौकिक पुरुष भगवान् अच्युत का ध्यान करके कभी रोते, कभी हंसते, कभी आनन्दित होते, कभी बड़बड़ाने लगते तथा कभी नाचते, कभी भगवत्-गुण-गान करते और कभी अजन्मा प्रभु की लीलाओं का चिन्तन करते हैं

एवं फिर परम उपरति को प्राप्त होकर मौन हो जाते हैं।" ॥३२॥

यह प्रेमोन्मत्त अवस्था का वर्णन है। यह महाभाव कहलाता है। भगवान् के प्रेम में जब मनुष्य अपना आपा भूल जाता है तो उसकी ऐसी अवस्था हो जाती है। उसकी भीतरी मस्ती कभी किसी बाहरी चेष्टा से व्यक्त होती है, कभी किसी। साधक या भक्त के जीवन में ऐसी एक अवस्था आती है, किन्तु वह अधिक नहीं ठहरती। यदि अधिक ठहर जाय या बारम्बार ऐसी अवस्था होने लगे तो वह व्यक्ति फिर इस शरीर को अधिक समय तक धारण नहीं कर सकता।

श्री गौरांग महाप्रभु का जीवन इसका उदाहरण है। आधुनिक आलोचक इस अवस्था को वांछनीय नहीं मानते। इसे काल-विशेष का चरम उत्कर्ष कहकर एकांगी उन्नति बताते हैं। जीवन की सम्पूर्णता में चतुर्दिक सम्यकता का विकास होना चाहिए। इस युक्ति का खण्डन करना कठिन है। परन्तु चूंकि ऐसा महाभाव लाखों-करोड़ों में किसीको प्राप्त होता है व ठहरता है, अतः सर्व-साधारण भक्त या साधक के लिए चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं है। भाव-विशेष की साधना या चरम उत्कर्ष के बाद अधिकांश लोग सम्यकता की ओर ही प्रयाण करते हैं। भले ही इसमें वे अधिक सफल न हो सकें, परन्तु उनका प्रयत्न जान-अनजान में इसी तरफ होता है। वे समाज में ही रहते व काम करते हैं। समाज में रहने व काम करनेवाला अधिक समय तक एकांगी नहीं रह सकता। मैंने स्वयं भक्ति को सम्यकता के साधन के रूप में ही समझा है। भगवान् स्वयं पूर्ण हैं, उनके सब व्यापार सम्यक्ता लिये हुए होते हैं। यदि उनके नियम या क्रियाओं का तारतम्य टूट जाय तो संसार एक क्षण न टिक सके। संसार नियम-बद्ध, ताल-बद्ध, सम्यक् गतियों, क्रियाओं का दिखाई देनेवाला स्थिर-रूप ही तो है। इन गतियों, क्रियाओं, गुणों, नियमों का अधिष्ठाता भगवान् है। अतः भगवान् की उपासना करनेवाले भक्त के जीवन में उन्हीं गुणों का उदय होना स्वाभाविक है।

"इस प्रकार भागवत-धर्मों का अभ्यास करते-करते उनसे उत्पन्न हुई प्रेमा-भक्ति के द्वारा नारायण-परायण होने पर पुरुष अनायास इस दुस्तर माया को पार कर लेता है।" ॥३३॥

राजा ने कहा—"हे मुनिगण, आप ब्रह्म का निरूपण करनेवाले हैं। अतः आप हमें नारायण नामक परब्रह्म परमात्मा के स्वरूप का उपदेश कीजिये।" ॥३४॥

"हे राजन्, जो इस संसार की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के कारण तथा स्वयं कारणरहित हैं, जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति—तीनों अवस्थाओं के अन्तर्गत और साक्षी रूप से —उनके बाहर भी हैं, तथा जिनके द्वारा संजीवित होकर देह, इन्द्रिय, प्राण[1] और हृदय अपने-अपने व्यापार में प्रवृत्त होते हैं, उन्हींको तुम परम तत्त्व नारायण जानो।" ।।।३५।।

जब भगवान् के आश्रय, शरण बिना माया से पिण्ड नहीं छूट सकता तो फिर भगवान् का स्वरूप जानने की इच्छा होना साहजिक ही है। नारायण भगवान् के जैसे अनेक रूप हैं वैसे ही अनेक नाम हैं। अवस्था, शक्ति, क्रिया, रूप के अनुसार भिन्न-भिन्न नाम उनके पड़ गये हैं। सबसे बड़ा व सबमें फैला हुआ है, इसलिए उसे ब्रह्म कहते हैं। जो तत्त्व पिण्ड में है, वही ब्रह्माण्ड में पाया जाता है, इसलिए उसे परमात्मा कहते हैं। सब शक्तियों व गुणों से युक्त है, इसलिए भगवान्, ऐश्वर्य से सम्पन्न है, अतएव वह ईश्वर-परमेश्वर कहा जाता है; किन्तु यहां उसका स्वरूप पूछा गया है।

पहले बता चुके हैं कि परमात्मा संसार की उत्पत्ति का निमित्त व उपादान दोनों कारण है। परन्तु उसका कारण कोई नहीं है। वह स्वयंभू, स्वयंस्थित है। इसी तरह इस जगत् की धारण करनेवाली शक्ति या नियम भी वही है और वही उसके प्रलय का भी कारण है। मनुष्य ने प्रत्येक वस्तु में ये तीन स्थितियां देखीं—जड़ में भी व चेतन में भी। उसने इसके मूल का पता लगाने की कोशिश की। वह इस नतीजे पर पहुंचा कि सबका मूल कारण एक ही तत्त्व है। इन विभिन्न परिवर्तनों का कारण भिन्न-भिन्न तत्त्व नहीं हैं। शुरू में अनेक तत्त्वों की कल्पना हुई। उनका समाहार होते-होते वह दो तत्त्वों—पुरुष व प्रकृति—तक आकर ठहर गई। बाद में फिर शोध जारी रही तो इस सत्य तक पहुंच गये—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म, तत्वमसि' यह सब-कुछ ब्रह्म है और हम भी वही हैं। उन्होंने कहा—ब्रह्म ही वस्तु-तत्त्व है और सत्य उसका नियम है। मूल तत्त्व आत्मा है, व्यापक तत्त्व ब्रह्म है। सत्य से आत्मा की प्राप्ति है और आत्मा की व्याप्ति ब्रह्म है। यह आत्मा देह-बद्ध होकर जीवात्मा हो जाता है और देह-विकारों से रहित होने पर परमात्मा हो

---

[1] **देखिये परिशिष्ट ११**

जाता है। वह हमारी सब अवस्थाओं—दशाओं का साक्षी है। हमारी जाग्रत अवस्था को भी वह देखता है, स्वप्न में भी वह मौजूद रहता है और जब हम यह समझते हैं कि गाढ़ी नींद में सो रहे हैं तब भी वह जागता व देखता रहता है; क्योंकि नींद खुलने पर जब हमें यह ज्ञान होता है कि हम खूब गाढ़ी नींद में सोये तो अवश्य उस समय कोई जाग रहा था, जो अब हमें उसकी स्मृति दिला रहा है। इस तरह वह जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति—तीनों अवस्थाओं के भीतर भी व बाहर भी पाया जाता है। फिर हमारे शरीर, इन्द्रिय, प्राण आदि के प्रत्येक व्यापार में जो क्रिया होती दिखाई देती है, वह भी उसीके कारण है। वह चेतना-रूप में इनमें अवस्थित होकर इनको गति देता है। वह एक अनंत अक्षय भण्डार है। उसके अंश-मात्र से यह विश्व बना है। जिस अंश में कम्प का प्रभाव अधिक हो जाता है, उसी-में एक विश्व बन जाता है। शेष अंश, जो कि बहुतेरा है, ज्यों-का-त्यों बना रहता है। इसलिए उसे अव्यय कहते हैं। इसके दो भाग बन जाते हैं—एक तो पदार्थ-रूप, जिसे क्षर कहते हैं। वह जगत् का उपादान कारण है; दूसरा अक्षर जो शक्तिमान् होकर क्रिया, चेतना, प्राण और जीव रूप से सबको संचालित व जीवित रखता है। क्षर-रूप से शरीर—बाहरी ढांचा—बनता है, अक्षर-रूप से उसमें चेतना आती है। इस तरह दोनों रूपों में जो एक ही तत्त्व या शक्ति विद्यमान व क्रियाशील दिखाई देती है; उसीको उन्होंने परमतत्त्व नारायण बताया।

"जिस प्रकार चिनगारियां अग्नि को प्रकाशित नहीं कर सकतीं उसी प्रकार इस आत्मतत्त्व में न तो मन की गति है और न वाणी, चक्षु, बुद्धि, प्राण और इन्द्रियों की ही तथा शब्द भी केवल निषेध-वृत्ति के द्वारा—अनंत पदार्थों का निषेध करते-करते निषेधावधि-रूप से ही लक्षित करता है। क्योंकि निषेधावधि, अर्थात् जो निषेध किये गए पदार्थों का आधार हो, उसका अभाव होने से निषेध की सिद्धि ही नहीं हो सकती।" ॥३६॥

मूल तत्त्व की ओर संकेत तो कर दिया, उसका परिचय भी दे दिया, पर उसका स्वरूप बताने में उनकी वाणी थकने लगी; क्योंकि हमें अपनी इन्द्रियों से—मन-बुद्धि-तन से जिस किसी वस्तु का बोध या अनुभव होता है, वह सब प्राकृतिक है—प्रकृति का या परमात्मा का व्यक्त अंश या रूप है। असली परमात्मा तो अव्यक्त है। जो व्यक्त ही नहीं हुआ है, उसका बखान ही कैसे किया जा सकता है? चिन-

गारी भला अग्नि को कैसे दिखा सकती है या प्रकाशित कर सकती है? बूंद भला समुद्र का वर्णन कैसे करेगी? अतः विचारकों ने उसके परिचय की निषेधात्मक प्रणाली निकाली। जिन-जिन पदार्थों का हमें ज्ञान या अनुभव होता है, उनकी मिसाल ले-लेकर बताते गये कि वह ऐसा नहीं है, इस प्रकार निषेध करते-करते—'नेति-नेति'—जो बच रहता है, वही उसका स्वरूप समझ लेना चाहिए। इसके अतिरिक्त उसका शब्दों द्वारा परिचय नहीं दिया जा सकता।

"सृष्टि के आदि में एक ब्रह्म ही था। वही सत्व, रज और तम रूप से 'त्रिवृत्त-प्रधान' कहलाया। उसे ज्ञानमय होने से महत्तत्व, क्रियात्मक होने से सूत्र और जीव की उपाधि होने से अहंकार कहते हैं। फिर वही महान् शक्तिवाला ब्रह्म-ज्ञान—इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवता-क्रिया-इन्द्रिय और अर्थ—इन्द्रिय—विषयों के रूप में भासता है। इस प्रकार सत्-असत् तथा इसके परे जो-कुछ है, वह ब्रह्म ही भास रहा है।" ॥३७॥

यहां वैदिक ऋषियों, सांख्यकार कपिल मुनि तथा वेदान्तियों में जो विचार-भेद है, उसे समझ लेना चाहिए। वैदिक ऋषियों का मत वेदों व उपनिषदों से प्राप्त होता है, सांख्य-मत के लिए 'तत्त्व समास' ईश्वर कृष्ण की 'सांख्यकारिका' के अलावा कोई प्राचीन ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। वेदान्त मत का पता 'ब्रह्मसूत्र' व 'गीता' से चल जाता है। वैदिक ऋषियों के मत से आरम्भ में एक परात्पर तत्त्व था, जिसे अव्यय कहते हैं। इसका उल्लेख भिन्न-भिन्न उपनिषदों में मिलता है—

१. 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् (ऐतरेय)

२. 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् (छान्दोग्य)

३. 'असदवैदमग्र आसीत्। तत्सदासीत्। कथमसतः सज्जायेत। तत् सम भवत्। तद् आण्डं निरवर्त्तत।

४. 'नैववा इदमग्रे असदासीत् नैवसदासीत् आसीदिववा इदमग्रे नेवासीत्, तस्मादेतत् ऋषिणाऽभ्यनुक्तं नासदा सीन्नोसदासीत्तदान्नीम् इति।

(शतपथ १०।४।७)

इसमें जब एक से बहुत होने की इच्छा या स्फुरणा हुई तो यह सोलह कलाओं में विभक्त होकर सृष्टि-रचना का निमित्त बना व 'शोडषी प्रजापति' कहलाया—इन कलाओं की तालिका नीचे देखिये—

विश्वेश्वर शोडषी प्रजापति की कलाएं

	शोडषी प्रजापति			विश्व (क्षरभाग)			
१	५ अव्यय	५ अक्षर	५ आत्मक्षर	विश्वसृट	पंचजन	पुरंजन	पुर
विश्वातीत परात्पर	१. आनंद	अमृत ब्रह्म	मर्त्य ब्रह्मा	शुद्ध प्राण	पंचीकृत प्राण	वेद	स्वयंभू
	२. विज्ञान	,, विष्णु	,, विष्णु	,, आप्	,, आप	लोक	परमेष्ठी
	३. मन	,, इन्द्र	,, इन्द्र	,, वाक्	,, वाक्	प्रजा	सूर्य
	४. प्राण	,, अग्नि	,, अग्नि	,, अन्नाद	,, आनंद	भूत	पृथिवी
	५. वाक्	,, सोम	,, सोम	,, अन्न	,, अन्न	पशु	चन्द्रमा

इसे समझने के लिए परिशिष्ट ६ का वृक्ष ४ भी सामने रख लीजिये। उससे मालूम होगा कि तीन गुण—सत्, चित्, आनन्द; तीन शक्ति—ज्ञान, क्रिया, अर्थ व पांच कला या कोश—मन, प्राण, वाक्, विज्ञान, आनन्द—से सम्पन्न अव्यय परमात्मा सृष्टिरूप में व्यक्त व व्याप्त हो रहा है! उसका एक भाग—क्षर—भौतिकी सृष्टि का उपादान है, जिसे उसकी 'अपरा प्रकृति कहते हैं। यह उसकी प्राण, आप, वाक्, अन्न, अन्नाद, इन कलाओं से अवच्छिन्न—आवृत है। एक भाग 'अक्षर' है,जो सृष्टि का निमित्त कारण है और पराप्रकृति के नाम से प्रसिद्ध है एवं ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, सोम, अग्नि इन कलाओं से अवच्छिन्न है। यह सृष्टिकर्ता है। अव्यय की पांच कलाओं—या कोशों में 'आनन्द' कला का सम्बन्ध 'आनन्द' गुण से, 'विज्ञान' का 'चित्' से, व शेष मन, प्राण, वाक् की समष्टि का 'सत्' से है। इनमें मन ज्ञान-प्रधान है, प्राण क्रियामय है और वाक् अर्थमयी है। मन से रूप का विकास, प्राण से कर्म की प्रतिष्ठा, वाक् नाम-रूप की आधार-भूमि है। प्रत्येक अस्तिमान् पदार्थ नाम-रूप-कर्म का समुच्चय है। अव्यय परमात्मा अपने क्षर-अक्षर-रूप से सृष्टि बनता-बनाता है, जिसके तीन प्राथमिक रूप होते हैं—१. प्रतिष्ठा अर्थात् स्थिति, २. ज्योति अर्थात् नाम-रूप व ३. यज्ञ अर्थात् अन्न पदार्थ या स्थूल क्रियात्मक सृष्टि। यह वेद, लोक आदि पांच वर्गों में विभक्त हुई, जिससे स्वयंभू आदि पांच मण्डल बने।

सांख्य मत को समझने के लिए परिशिष्ट ६ के वृक्ष नं० १ पर ध्यान दीजिये। नं० ३ भी सामने रख लीजिये। इसमें पुरुष निष्क्रिय चेतन सत्तामात्र है, व प्रकृति

क्रियावान् है। परन्तु वह स्वतंत्र रूप से कुछ नहीं कर सकती, किन्तु पुरुष के संयोग, सन्निधि-मात्र से वह सब-कुछ करने लगती है। इस प्रकृति के तीन गुण हैं—सत, रज, तम। इनकी सम्मिलित अवस्था को ही प्रकृति समझिये। ये तीन गुण जबतक समान अवस्था में रहते हैं तबतक प्रकृति अव्यक्त दशा में रहती है। सचेतन पुरुष की प्रेरणा से प्रकृति के गुणों में क्षोभ होता है, वे कम-ज्यादह होने लगते हैं। यही अवस्था 'महत्' नाम से कही गई है। फिर अहंकार व उसके सात्विक, राजस, तामस-भेद से सारी सृष्टि उत्पन्न हुई। इस सिलसिले में श्री किशोरलालभाई का विज्ञान-सम्मत विवेचन ध्यान देने योग्य है। (जीवन-शोधन सांख्यखंड)।

वेदान्त मत में पुरुष-प्रकृति दो अलग नहीं, एक ही तत्त्व हैं। इसे उन्होंने ब्रह्म नाम दिया है। ब्रह्म अपनी 'चित्' शक्ति के द्वारा अपने में से ही सृष्टि को बनाता है। यह ब्रह्म सत्, चित्, आनन्द तीन गुणों या विशेषणों से व पांच कोशों से युक्त है। सत् अस्तित्व का, चित् क्रिया व ज्ञान का, आनन्द स्वभाव का सूचक है। वेदान्ती माया को भ्रान्ति मानते हैं। कोश—आनंद, विज्ञान, मन, प्राण, अन्न—ये सूक्ष्म से उत्तरोत्तर स्थूल दशाएं हैं। अन्न से अभिप्राय यहां पार्थिव भौतिक अवस्था से है। योगी या भक्त माया को भगवान् की अभिन्न शक्ति मानते हैं।

भागवत्कार तत्त्वज्ञान में वेदान्ती—अद्वैतोपासक हैं। अतः पिप्पलायन की भाषा में कहते हैं कि आदि में एक ही ब्रह्म था। वह सत्व (ज्ञान), रज (क्रिया) और तम (पदार्थ, द्रव्य) रूप से 'त्रिवृत्' हुआ। इस अवस्था में उसका नाम 'प्रधान' हो गया। इसीको प्रकृति भी कहते हैं। उसके ज्ञान का विकास 'महत्' में हुआ, जिससे महत् तत्त्व कहलाया। क्रिया में होने से—सतत् परस्पर सम्बद्ध क्रियाओं के कारण 'सूत्र' और पृथक्ता के अभिमान—उपाधि से 'अहंकार' कहलाया। ज्ञान-रूप में वह मन, क्रिया-रूप में इन्द्रियां, व अर्थ-रूप में इन्द्रियों के भिन्न-भिन्न विषय—संसार की भिन्न-भिन्न वस्तुएं—हैं। मतलब यह कि वही भिन्न-भिन्न रूपों में भासित हो रहा है। जो कुछ 'सत्' है—दिखाई देता है, वह तथा जो कुछ 'असत्' है, नहीं दिखाई देता है, अदृश्य है, वह तथा इसके परे भी जो कुछ है, वह सब ब्रह्म ही है, उसके सिवा कहीं कुछ नहीं है।

पाश्चात्य विज्ञान में जो नये-नये अनुसंधान हुए हैं, वे भी सर्व-व्यापक ब्रह्म की भावनाओं को ही पुष्ट करते हैं। उसका कहना है कि यह दृश्य जगत् हमारी जगत् सम्बन्धिनी विकृत अनुभूति है। यह जगत् यन्त्र की भांति नहीं है और देश, काल,

कारण, आयु, घनता, शक्ति, गति इत्यादि सापेक्ष पदार्थ हैं—इनका कोई निरपेक्ष अर्थ नहीं। ये भौतिक तत्त्वों के धर्म नहीं हैं, बल्कि ऐसे सम्बन्ध हैं, जो पदार्थ के निरीक्षक की दृष्टि के अनुसार बदलते हैं। अतः जगत् के विषय में जो कुछ कहा जाता है, वह अपने ही विषय में कहा जाता है।

जब किसी रेडियो स्टेशन से रेडियो द्वारा कोई बात सुनाई जाती है तब वह सर्वत्र फैल जाती है और तब उसे तरंग कहते हैं। पर जब वही बात रेडियो-यन्त्र में ग्रहण की जाती है तब तरंग अणु-रूप में बदल जाती है। इसी प्रकार सत्-चित्-आनन्द की लहरें सर्वत्र विद्यमान हैं, पर ये जब मनुष्य के अन्तःकरण में पकड़ी जाती हैं तब वे अणु-रूप होकर मानवी सीमा से बद्ध हो जाती हैं। यदि तरंगों को ग्रहण करनेवाला यह यन्त्र केवल सत्-चित्-आनन्द की तरंगों को ही ग्रहण करे तब तो कुछ भी कठिनाई नहीं है। परन्तु कुछ यन्त्र इतने खराब होते हैं कि वे अन्य कोलाहलों को भी ग्रहण करते हैं। यह मनुष्य का मन-रूप यन्त्र, नाम और रूप की तरंगें भी ग्रहण करता है और सच्चिदानन्द की तरंगों को सुस्पष्ट रूप में अभिव्यंजित होने का पूरा समय व अवकाश नहीं देता।

आधुनिक विज्ञान में स्थल-विशेष में बुद्ध तरंगों को भूत या वस्तुसत्ता (matter) कहते हैं और मुक्त तरंगों को विद्युत् (Radiation) या प्रकाश कहते हैं। पार्थिव रूप को नष्ट करने का क्रम बद्ध-तरंग-शक्ति को मुक्त करने और उसे सर्वत्र विचरण करने के लिए छोड़ देना ही है। इसी प्रकार मानसिक शक्ति की तरंगों को निर्विकल्प समाधि द्वारा मुक्त किया जाता है। वेदान्त की भाषा में इसीको देहाभिमान का त्याग कहते हैं। देहाभिमान का त्याग होने पर सामान्य मानव जीव सर्वत्र स्थित होने में समर्थ होता है और उसमें ईश्वर के लक्षण आ जाते हैं। जब यह अनुभूति हो जाती है तब यह बाह्य जगत् अपने से भिन्न नहीं प्रतीत होता। उस समय हम अनुभव करेंगे कि हम एक नई दुनिया में हैं, जहां प्रत्येक पदार्थ आनन्दरूप है। सब-कुछ ब्रह्म-ही-ब्रह्म है।

"उस परमात्मा ने कभी जन्म नहीं लिया और न वह कभी मरेगा, वह न तो बढ़ता है, न घटता है; क्योंकि सर्वव्यापक, नित्य, अच्युत और ज्ञानस्वरूप है तथा समस्त परिवर्तनशील विकारों—बाल्य, यौवन आदि अवस्था के शरीरों—का साक्षी है। जिस प्रकार एक ही प्राण इन्द्रिय-भेद से (स्थान-भेद से) नाना

विकल्पों को प्राप्त हो रहा है, उसी प्रकार एक ही ब्रह्म विविध रूप में प्रतीत होता है।" ॥३८॥

जब परमात्मा की कल्पना ही ऐसी की गई है कि जगत् में जो कुछ व्यक्त-अव्यक्त सत्ता है, वह सब वही है तो फिर उसका जन्म कहां से होगा। यदि जन्म मानते हैं तो उसकी मृत्यु भी माननी पड़ेगी। वह आदि-अन्तवाला हो जायगा। यों तो प्राणी-मात्र, वस्तु-मात्र उसीके जन्म माने जा सकते हैं, पर इन नाम-रूपात्मक वस्तुओं को हमने 'जगत्', 'सृष्टि', ऐसा नाम दिया है। जन्म, मरण, वृद्धि, घटती—इन उपाधियों से इन्हीं भौतिक या सांसारिक वस्तुओं का सम्बन्ध है। अवतारों के रूप में भी उसका जन्म माना गया है, परन्तु वे भी मानवी या जैव कोटि के हैं। अव्यक्त से जब व्यक्त हुआ तभी उसका जन्म मान लीजिये, वह भी पूरे का नहीं, अंश-मात्र का। किन्तु मूल परमात्मा तो अव्यक्त है; उसका जन्म-मरण आदि से कोई वास्ता नहीं है।

इसी तरह वह घटता-बढ़ता भी नहीं है। स्पन्दन या कम्प की क्रियाओं से उसमें कुछ हलचल जरूर होती है, जिससे यह जगत् बनता-बिगड़ता रहता है, परन्तु इससे उसके द्रव्य में घटाव-बढ़ाव नहीं होता, केवल रूपान्तर होता रहता है। विज्ञानवादी भी मानते हैं कि पदार्थ अपना रूप बदलते हैं, उनके वजन में घटा-बढ़ी नहीं होती। गन्धक जलकर भस्म हो जायगा—उसका रूप बदल गया; पर जितने वजन की डली आप जलायंगे उसकी राख, धुएं और भाप के परमाणु जोड़ने से कुल वजन उतना ही रहेगा। समुद्र में लहरें उठती हैं, उनमें फेन, फुहारें व बूंदें बिखरती हैं; पर उनसे समुद्र में घटाव-बढ़ाव नहीं होता है। लहरें उठ-गिर-कर उसीमें वापस घुल-मिल जाती हैं।

चूंकि परमात्मा सभी जगह फैला हुआ है, जो भी रूपान्तर उसके होंगे सब उसीमें होंगे; वह सदा-सर्वदा एक-रस रहता है, अतः नित्य है। उसके मूल-रूप में कोई विकार नहीं होता, अतः अच्युत है। फिर वह ज्ञान-रूप में पाया जाता है। हम पदार्थों को जो कुछ देखते या अनुभव करते हैं, वह सब हमारा ज्ञान ही तो है। यह ज्ञान-शक्ति हममें न हो तो हमें परमात्मा तो क्या साधारण वस्तुओं का भी परिचय न हो सके। फिर पदार्थों का जो कुछ रूप हमें दिखाई देता है, वह वास्तव में ऐसा ही है, इसकी क्या गारण्टी ? हमारी आंखों की पुतलियों की बनावट यदि बदल जाय तो हमें चीजें और ही तरह की दीखने लगेंगी। हमारी इन्द्रियों की

शक्ति यदि घट-बढ़ जाय या उलट-पुलट हो जाय, बदल जाय तो पदार्थों के हमारे ज्ञान में ज़रूर अन्तर पड़ जायगा। सम्भव है, बिल्ली व मछली को यह सृष्टि वैसी ही न दिखाई दे जैसी कि हमें दीखती है। अतः इसका वास्तविक रूप हमें ज्ञान की आंखों से देखना पड़ता है। जाहिरा रूप इनका चाहे जैसा दीखता हो असली रूप तेजोमय है, जो कि ज्ञान का प्रथम रूप है। इसका दूसरा नाम प्रकाश है। परमात्मा का रूप तेज या प्रकाश है। जब हम सब इन्द्रियों को व मन को रोककर परमात्मा का ध्यान करते हैं तो तेजोरूप में ही उसके दर्शन होते हैं। जो किसीको प्रकाशित करता है, बतलाता है, वह ज्ञान है। यह तेज या प्रकाश किसीके अस्तित्व की सूचना देता है। वह अस्तित्व ज्ञान है, जो परमात्मा का प्रतिनिधि है।

एक और तरह से इसे समझने का प्रयत्न करें। परमात्मा के मन में जब व्यक्त होने की—अनेक होने की स्फुरणा हुई तो उस अनेकत्व—सृष्टि के रूप का एक खाका मन में बना। मन की विविध क्रियाओं ने यह रूप खड़ा किया। एक योजना जैसी बनकर सृष्टि खड़ी हो गई। इसमें इतनी बातें पाई जाती हैं—पदार्थों के बनानेवाले द्रव्य का अस्तित्व, बनाने की भिन्न-भिन्न क्रियाएं, रूप की योजना, पदार्थों का धर्म। परमात्मा का जो 'सत्' अंश है, उससे पदार्थों की द्रव्य-सामग्री मिली, जिससे उसके अस्तित्व का बोध होता है। 'चित्' अंश चेतन-शक्ति-सूचक है। चेतन में ज्ञान व क्रिया दोनों का समावेश होता है। क्रिया-अंश से उनके बनाने की विविध क्रियाएं व विधियां और ज्ञान-अंश से रूप-योजना निर्मित हुई। यह अंश मन व ज्ञान से सम्बन्ध रखता है। पदार्थों के धर्म 'आनन्द'-अंश से बने। 'आनन्द' स्थिरता शान्ति, संतोष, समाधान, साम्यावस्था, ताल-बद्धता, सामंजस्य, सम्यकता, समतोलता, समवृत्ति, समगति के भावों का सूचक है। पदार्थों व सृष्टि का ज्ञान हमें मुख्यतः उनकी चेतना से होता है। परमात्मा में यों अस्तित्व, क्रिया व ज्ञान तीनों अंश सम्मिलित हैं; परन्तु जब हम उसे प्रकृति से अलग करके देखना चाहते हैं तब वह ज्ञानांश-प्रधान रह जाता है। प्रकृति का मुख्य गुण क्रिया है। इसके विपरीत परमात्मा का मुख्य गुण ज्ञान है। सृष्टि में जहां कहीं क्रिया है, वह प्रकृति का, व ज्ञान है वह परमात्मा का अंश है—ऐसा समझना चाहिए। इसीलिए परमात्मा को ज्ञान-स्वरूप कहा गया है।

मनुष्य में सबसे बलवती स्थायी महत्त्वपूर्ण, शुद्ध, उन्नतिकारक व हितमयी इच्छा ज्ञान की—जानने की—पाई जाती है। पिण्ड से ब्रह्माण्ड जाना जाता है—

इस न्याय से मनुष्य की वह जिज्ञासा परमात्मा के ही प्रधान गुण की सूचक है।

ईश्वर हमारी सब अवस्थाओं—परिवर्तनों—नाम-रूपांतरों को देखता है। सब-कुछ बनता-बिगड़ता रहता है, पर वह सबका साक्षी रूप सदा विद्यमान ही रहता है। नदी-तट का वृक्ष जैसे नदी के उतार-चढ़ाव व अनेक परिवर्तनों का साक्षी रहता है, उसी प्रकार वह प्रकृति के तमाम लौट-फेर को देखता रहता है। उसके अपने ही अंदर ये लौट-फेर होते रहते हैं, अतः स्वाभावतः ही वह सबका साक्षी रहता है। समुद्र की तरंगों का साक्षी जैसे समुद्र सर्वकाल रहता है, वैसे ही।

हमारे सारे शरीर में—भिन्न-भिन्न इन्द्रियों में—एक ही प्राणधारा व्याप्त है। परन्तु हाथ, पांव, आंख आदि स्थान-भेद से उसके अनेक भाग व रूप हो जाते हैं। उसी तरह ब्रह्म की यह धारा अनेक रूपों में बहती व प्रकट होती हुई विविध नाम-रूपों को प्राप्त होती है। यद्यपि ऊपर से यह सब विविध दिखाई पड़ते हैं, परन्तु इनमें भीतरी वस्तु तत्त्व, रस, प्राण, चेतना एक ही है और वही व्यापक रूप व अर्थ में ब्रह्म है। मिट्टी की अनेक वस्तुएं बना लेने पर भी मिट्टी जैसे सबमें मौजूद रहती है, उसी तरह ब्रह्म सबमें—सारी सृष्टि में—समाया हुआ है। एक होते हुए भी वह अनेक प्रतीत होता है।

"अण्डज, जरायुज, उद्भिज और अनिश्चित-स्वेदज योनियों में जहां-तहां जिस प्रकार प्राण जीव का अनुसरण करता है (उसी प्रकार आत्मा भी सब अवस्थाओं में साक्षी-रूप से स्थित हुआ असंग रहता है) सुषुप्ति में इन्द्रियगण के निश्चेष्ट और अहंकार के लीन हो जाने पर कूटस्थ आत्मा के बिना तो उस अवस्था की स्मृति ही नहीं हो सकती।" ॥३९॥

ईश्वर के साक्षी-रूप को ही यहां अधिक स्पष्ट किया गया है। प्राण हर योनि में जीव का अनुसरण करता है, हर योनि का साक्षी रहता है, फिर भी वह उनसे—अलिप्त रहता है, इसी प्रकार जब हमारी सभी इन्द्रियां सो जाती हैं, हमारा अहंकार, वस्तुओं की पृथक्ता को जानने व देखने की शक्ति भी सो जाती है, तब भी परमात्मा जाग्रत रहता है। हमारी उस सुषुप्ति का भी चौकीदार रहता है और बाद में नींद खुल जाने पर हमें उसकी याद दिलाता है। यदि ऐसी कोई शक्ति हमारे अंदर सतत जाग्रत न हो तो यह भान हमें कैसे हो सकता है? यह शक्ति ही कूटस्थ आत्मा है।

"जब कमलनाभ भगवान् विष्णु के चरण-कमलों की प्राप्ति की इच्छा से

बढ़ी हुई तीव्र भक्ति रूप अग्नि के द्वारा जीव अपने चित्त के गुण-कर्म-समभूत मलों को दग्ध कर देता है, उस समय उसके शुद्ध हो जाने पर आत्म-तत्त्व उसी प्रकार स्पष्ट भासने लगता है, जिस प्रकार निर्मल नेत्रों में सूर्य का प्रकाश।" ॥४०॥

परन्तु इस छिपे हुए आत्मतत्त्व का दर्शन सबको नहीं होता। प्रत्यक्ष आंख से दिखाई देने योग्य अथवा अन्य इन्द्रियों द्वारा जाना जाने योग्य तो वह है नहीं। हमारा चित्त अलबत्ते इस योग्य है, जो उसे ग्रहण कर सकता है। क्योंकि यह चित्त ही हमारे शरीर में उसका सबसे अधिक सूक्ष्म और शक्तिशाली अंश है। यह परमात्मा और शरीर दोनों का माध्यम है—बीच की खिड़की है। देह या जगत् के संस्कार या ज्ञान को ग्रहण करके यह परमात्मा तक पहुंचाता है और परमात्मा के संदेश, प्रेरणा, झलक ग्रहण करके देहेन्द्रियों को तदनुसार प्रेरित करता है। ब्रह्माण्ड में जो चेतनशक्ति व्याप्त है, वही शरीर में बद्ध होकर चित्तनाम प्राप्त करती है। ब्रह्माण्ड में जो शक्ति—चेतना—ज्ञान व क्रिया रूप में पाई जाती है, वही शरीर में एकत्र होकर 'ज्ञाता' व 'कर्त्ता' के रूप में उपलब्ध होती है। समष्टिगत से वह व्यक्तिगत हो जाती है। अत: परमात्मा को पहिचानने के लिए चित्त पर ही प्रक्रिया करने की––उसीका सहारा लेने की जरूरत है।

कांच जितना ही स्वच्छ होगा उतना ही प्रतिबिम्ब उसपर अच्छा पड़ेगा और उतना ही वह दूसरी वस्तु को अच्छी तरह प्रदर्शित भी करेगा। यदि मैला होगा तो प्रतिबिम्ब धुंधला पड़ेगा। यही दशा चित्त की है। मनुष्य अपने संस्कार, संगति, वातावरण आदि अनेक प्रभावों के वशवर्ती हो नाना प्रकार के अच्छे-बुरे कर्म करता है। ये सब उसके चित्त पर अपने संस्कार छोड़ते जाते हैं। क्योंकि चित्त–मस्तिष्क-स्थित विद्युत केन्द्र––अपनी दो शक्तियों के द्वारा सारे मानव-जीवन को संचालित व प्रभावित करता है––एक संवेदक जिससे वह ज्ञानेन्द्रियों द्वारा बाह्य जगत् के विषयों को ग्रहण करता है; दूसरी क्रियाशीला जिससे अपने आदेश कर्मेन्द्रियों को भेजकर भिन्न-भिन्न कर्म कराता है। इसे एक तरह का रेडियो या टेलीफोन एक्सचेन्ज यन्त्र समझ लीजिये। ये सिर्फ ध्वनियों को ही ग्रहण करते और फैलाते हैं। चित्त का कार्यक्षेत्र बहुत व्यापक है। ये यन्त्र बिगड़ जायं तो ध्वनि-ग्रहण और प्रसारण का कार्य अच्छी तरह नहीं कर सकते। उसी तरह चित्त, दूषित, अस्वस्थ, मलिन हो तो वह भी अपने काम को अच्छी तरह अदा नहीं कर सकता। परमात्मा के आदेश और प्रेरणा, जो भिन्न-भिन्न तरंगों के रूप में उसतक

पहुंचती हैं, उसके द्वारा ठीक तरह से––यथावत् ग्रहण नहीं की जा सकती, न मनुष्य तक पहुंचाई जा सकती है। इसी तरह मनुष्य के भाव विचार आन्दोलन भी उसपर भलीभांति अंकित नहीं होते, न परमात्मा तक पहुंच पाते हैं। यही कारण है, जो परमात्मा को जानने का रहस्य जाननेवालों ने चित्त-शुद्धि पर ही सबसे ज्यादा ज़ोर दिया है। पिप्पलायन कहते हैं कि जब गुण-कर्म-संभूत समस्त मल चित्त से धुल जायेंगे तो परमात्मा की झलक ठीक-ठीक दिखाई पड़ने लग जायगी। इन मलों को जलाने के लिए वे भक्ति-रूपी अग्नि का उपयोग करने की सलाह देते हैं।

भक्ति मन की दौड़ है। मन जिसे चाहता है, उसकी तरफ दौड़ता है। इसी तरह वह जिसे चाहता है, उसे अपनी तरफ खींचता भी है। यही आकर्षण-क्रिया भक्ति का बीज है। प्रारंभिक स्वरूप में इसे प्रेम कहते हैं। इसमें समानता का भाव रहता है। अतः परस्पर समर्पण की क्रिया होती है। भक्ति इससे आगे की अवस्था है। उसमें एक महान् व दूसरा अल्प होता है। भगवान् में भक्त अपना समर्पण चाहता है। शरीराकांक्षी प्रेम तुच्छ व सुख-दुःखमय है। जो आत्माकांक्षी है, वह सुखमय व स्थायी है। भक्ति का सम्बन्ध भावना से है। यह मनुष्य की ज्ञान व क्रिया दोनों में मिली प्रेरणा-शक्ति है। जब इसका रूप आकर्षक हो जाता है, प्रेम व समर्पणोत्सुक हो जाता है तब वह भक्ति कहलाती है। परस्पर आकर्षित दो सत्ताओं को एक में मिलाने—अद्वैत-सिद्धि करने की ओर इसकी प्रवृत्ति है। पूर्ण अद्वैत इसका फल है। भक्ति से पहले भाव-शुद्धि होती है, फिर चित्त-शुद्धि। भक्ति में विषयों से ध्यान हटाकर भगवान् में—उसकी या उसके जगत् की सेवा में––लगाना पड़ता है, जिससे अपने-आप ही भावना व कर्म शुद्ध होने लगते हैं।

भक्ति में भक्त की पुकार भगवान् से होती है। भक्त अपनी अल्पता और मल—त्रुटियां, कमजोरियां, बुराइयां, पाप आदि से छूटने के लिए अपने चित्त को भगवान् की ओर उसकी सहायता––आश्रय के अर्थ दौड़ाता है। इस पुकार की तरंगे ईश्वर की चित्-शक्ति-रूपी समुद्र में उसके कारुणिक व मंगल अंश में अनुकूल स्पन्दन या स्फुरण पैदा करती है। ईश्वर-रूपी अनन्त चैतन्य-समुद्र में सभी भावों का निवास है। हम जिस भाव से उसे पुकारते हैं, उसी भाव के आन्दोलन द्वारा उसकी ओर से अनुकूल उत्तर मिलता है। यही प्रार्थना का तत्त्व व भक्ति का रहस्य है। भक्त तन्मयता से अपने में जिस भाव को जगाता है वही परमात्मा

में जग पड़ता है। इस तरह भगवान् से अभिलषित वस्तु प्राप्त कराना भक्त के ही हाथ में है।[1] हमारी भावना जितनी ही ऊंची व शुद्ध होगी, उतनी ही वह प्रबल

---

[1] भागवत में भगवान एक जगह कहते हैं—"मैं अस्वतन्त्र के समान भक्तों के आधीन हूं। उन साधु भक्तों ने मेरे हृदय पर अधिकार कर लिया है और मैं भी उन भक्तजनों का सर्वदा प्रिय हूं। जिनका मैं ही एकमात्र परम आश्रय हूं, उन अपने साधु-स्वभाव भक्तों को छोड़कर तो मैं अपने आत्मा और अनपायिनी लक्ष्मी की भी इच्छा नहीं करता हूं। जो अपने स्त्री, पुत्र, गृह, परमप्रिय प्राण, धन और इहलोक तथा परलोक को छोड़कर मेरी ही शरण में आ गये हैं, उन भक्तजनों को मैं कैसे छोड़ सकता हूं? जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री अपने साधु पति को वश में कर लेती है, उसी प्रकार जिन्होंने अपने हृदय को मुझमें ही लगा दिया है, वे समदर्शी साधु पुरुष मुझे अपने आधीन कर लेते हैं। मेरे अनन्य भक्त मेरी सेवा से ही आप्तकाम रहकर उस सेवा के प्रभाव से ही प्राप्त होनेवाली सालोक्य, सारूप्य, साष्टि्र और सायुज्य नाम की चार प्रकार की मुक्तियों की भी इच्छा नहीं करते; फिर कालक्रम से नष्ट हो जानेवाले अन्य भोगों की तो बात ही क्या है? अधिक क्या, वे साधु पुरुष साक्षात् मेरे हृदय हैं और मैं उन साधुजनों का हृदय हूं, क्योंकि वे मेरे सिवा और किसी वस्तु को प्रिय नहीं समझते और मुझे उनके अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु तनिक भी प्रिय नहीं हैं। (९-४-६३ से ६८)

गोपियों के प्रति—

"जो लोग आपरूप में एक-दूसरे को प्यार करते हैं, वे केवल स्वार्थ के लिए ही उद्योग करते हैं। उनमें सौहार्द नहीं होता, धर्म का भाव भी नहीं रहता। उनका स्नेह स्वार्थ के लिए ही होता है और उनका कोई हेतु नहीं होता (१०-३२-१७)

"जो पुरुष सेवा न करनेवालों से भी स्नेह करते हैं, वे कृपालु और माता-पिता के समान स्नेही होते हैं। इनके व्यवहार में निर्दोष धर्म और सौहार्द दोनों का ही समावेश रहता है। ॥१८॥

"कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो अपनेको न भजनेवालों की तो बात क्या भजनेवालों को भी नहीं भजते। वे पूर्णकामा, आत्माराम, कृतघ्न और गुरुद्रोही चार प्रकार के होते हैं ॥१९॥

"किन्तु मैं इनमें से किसी कोटि में नहीं हूं। इसीलिए जो लोग मुझे भजते हैं,

होगी और उतनी ही वह अप्रतिहत, अनिरुद्ध होती जायगी और उतने ही उसके अधिक सफल होने की सम्भावना रहेगी।

"हे मुनिगण, अब आप मुझे कर्मयोग का उपदेश दीजिये, जिसके द्वारा शुद्ध हुआ मनुष्य अपने कर्मों को त्यागकर परम नैष्कर्म्य (आत्यन्तिक निवृत्ति) को प्राप्त कर लेता है। एक बार पहले भी मैंने यही प्रश्न पिता इक्ष्वाकु के सामने ब्रह्मा के पुत्र सनकादि ऋषियों से पूछा था, किन्तु उन्होंने उसका कोई उत्तर नहीं दिया। इसका क्या कारण था, सो भी आप मुझसे कहिये।" ॥४१-४२॥

भक्ति तो एक भावना है। उसकी शुद्धि या सिद्धि के लिए कुछ कर्म तो करने ही पड़ते हैं। जप, तप, पूजा, अर्चा, नाम-स्मरण, धुन, संकीर्तन, स्तोत्र-पाठ, भजन, ध्यान, स्वाध्याय, ये सब भी कर्म ही हैं। सांस लेना व छोड़ना भी कर्म ही हैं। खाना, पीना, देखना आदि देहधर्म भी सब कर्म ही हैं। यों देखें तो कर्म का कहीं अन्त नहीं है। स्वयं भगवान् का स्वरूप ही कर्ममय है। परमात्त्व तत्त्व में सदा स्पन्दन या कम्पन होता रहता है। यह कर्म ही है। यदि परमात्मा में किसी आदि कम्पन, स्पन्दन की कल्पना की जाय तो उस आदि कम्प के साथ ही कर्म का जन्म समझना चाहिए। यह सृष्टि, इसकी उत्पत्ति, पालन, संहार सब भगवान् के कर्म ही तो हैं। अतः भक्ति को कर्म से जुदा नहीं कर सकते। प्राचीन समय में यज्ञ-यागादि कर्म-काण्ड से 'कर्म' शब्द का बोध लिया जाता था और कर्मत्याग या संन्यास से अधिकतर उसीका भाव ग्रहण किया जाता था। सामान्य कर्ममात्र का, काम मात्र का —किसी भी क्रिया का निषेध तो जीते-जी मनुष्य के लिए न संभव है, न युक्ति-युक्त

उन्हें भी मैं नहीं भजता, जिससे उनकी मनोवृत्ति निरन्तर मेरी ओर लगी रहे। जैसे निर्धन पुरुष प्राप्त हुए धन के नष्ट हो जाने पर उसकी चिन्ता से व्याकुल होकर और कुछ भी नहीं जानता उसी प्रकार मेरे लिए धर्म, लोक और कुटुम्बियों को छोड़नेवाली हम सबकी मनोवृत्ति मुझमें लगी रहे, इसलिए तुमसे छिप गया था, किन्तु था तुम्हारे पास ही। तुमने दुस्तर गृहशृंखला को तोड़कर मेरा भजन लिया है। तुम्हारा यह भजन सर्वथा निर्दोष है। मैं देवताओं के समान आयु पाकर भी तुम्हारे इस उपकार का बदला नहीं दे सकता। तुम लोगों की ही सुशीलता से तुम्हारे उपकार का बदला पूरा हो सकता है, मेरे पुरुषार्थ से नहीं। तुम्हीं मुझे उऋण कर सकती हो ॥२०-२२॥

ही है। अतः जनक ने भक्ति-भावना तो ग्रहण कर ली, अब उन्होंने कर्मयोग का विधान पूछा। अर्थात् किस प्रकार कर्म किये जायं, जिससे चित्त शुद्ध हो और अन्त में संसार-पाश से बिलकुल निवृत्त हो जाय। योग का अभिप्राय 'समुचित-विधि' या तरकीब है।

आविर्होत्र ने कहा—"कर्म, अकर्म और विकर्म ये सब विषय वेद से ही जाने जा सकते हैं, लौकिक पदार्थों से इनका ज्ञान नहीं हो सकता। वेद भगवद्रूप हैं। उसमें बड़े-बड़े बुद्धिमान् भी मोहित हो जाते हैं। (इसी कारण सनकादि ने उस समय तुमसे इस विषय में कुछ भी नहीं कहा, क्योंकि तब तुम बालक थे)।" ॥४३॥

कर्म, अकर्म और विकर्म शब्दों के भिन्न-भिन्न अर्थ विद्वानों ने किये हैं। भगवद्गीता के चतुर्थ अध्याय में इन शब्दों का उपयोग हुआ है। वहां भी जुदा-जुदा अर्थ किये गए हैं। इनका साधारण अर्थ तो है—'करना' 'न करना' और 'निषिद्ध या विशेष क्रिया करना,' परन्तु मीमांसक—कर्मकाण्ड की विवेचना करनेवाले शास्त्र के रचयिता या अनुयायी—यज्ञयागादि के रूप में किये जानेवाले काम्य-धन, पुत्र, स्त्री, राज्य आदि की कामना से किये गए कर्मों को ही 'कर्म' कहते हैं। स्मृतिकार वर्णाश्रम-विहित कर्मों को ही 'कर्म' कहते हैं। इनमें श्रद्धा न रहने से जिन योगमार्गियों या ज्ञानी वेदान्तियों ने इन्हें छोड़ दिया, उन्हें मीमांसक 'अकर्मी' कहते हैं। गीता में श्रीकृष्ण को और यहां जनक को ऐसे कर्म अभीष्ट हैं, जो चित्त की शुद्धि करनेवाले हों, लोक-कल्याण करते हों, जिनसे प्रजा का धारण-पोषण तथा धर्म और सत्य की स्थापना एवं अधर्म तथा असत्य का नाश संभव हो। इसके विपरीत 'विकर्म' उन्हें समझना चाहिए, जो राग-द्वेष से वशीभूत होकर किये जाते हैं। वासनाओं से युक्त, जनता के लिए अकल्याणकर, प्रजापीड़क और अधर्म व असत्य के पोषक हों। 'अकर्म' के दो अर्थ हो सकते हैं—एक तो कर्म ही न करना, दूसरा निषिद्ध कर्म न करना। 'कर्म' ही न करना तो किसीके भी गले नहीं उतर सकता और निषिद्ध कर्मों का कोई समर्थन नहीं करेगा। हां, कर्म में ही अकर्म मानने की युक्ति गीता में बताई गई है। वह है कर्त्तापन के अभिमान को, फल में आसक्ति को, छोड़कर ईश्वरार्पण-बुद्धि से कर्म करना।

आचार्य विनोबा ने कर्म, विकर्म व अकर्म का अर्थ और ही तरह से किया है। उन्होंने गीता के 'कर्म' का अर्थ किया है 'स्वधर्म'—सहज-प्राप्त, स्वभाव-सिद्ध

धर्म; स्वधर्म-पालन में जो मानसिक सहयोग अपेक्षित है, उसे उन्होंने 'विकर्म' कहा है, जिसके बल से 'कर्म' 'अकर्म हो जाता है। कर्म को अकर्म बनाने की युक्ति है उनके मत में विकर्म। जब हम तन्मय होकर कोई काम करते हैं तो विकट होते हुए भी वह बोझीला नहीं मालूम होता—अकर्म-सा लगता है—मानो कुछ किया ही न हो। (इसे सविस्तर समझने के लिए विनोबाजी का हिन्दी में 'गीता-प्रवचन' देखिये।)

आविर्होत्र ने कहा कि कर्माकर्म की गुत्थी बड़ी बेढब है। साधारण लोग इसे नहीं सुलझा सकते। बड़े-बड़े वेदज्ञ पंडित ही इसका रहस्य जानते हैं और वेदों का ज्ञान भी मामूली बात नहीं है। वह भगवान् का ही ज्ञान है। अतः भगवद्रूप ही है।

"वेद परोक्षवाद है। (कड़वी दवा पिलाने के लिए) जैसे बालक को (मीठी-मीठी बातें बनाकर अथवा मीठी चीजें देकर) फुसलाते हैं, उसी प्रकार कर्मरूपी रोग को छुड़ाने के लिए ही उसमें कर्म-रूपी औषध का विधान किया गया है।" ॥४४॥

किसी बात को छिपाने के लिए जब उसका वर्णन अन्य प्रकार से किया जाता है तब उसे अर्थात् घुमा-फिराकर कहने को परोक्षवाद कहते हैं। कहा है—'परोक्ष-प्रिया हि देवाः।' इसका यह आशय है कि कर्म-बन्धन से छुड़ाने के लिए वेदों ने कर्माचरण का ही उपदेश दिया है। सकाम कर्म बन्धनकारक हैं; क्योंकि वे विषय-सुख या स्वार्थ-सिद्धि के लिए होते हैं। अतः राग-द्वेष उत्पन्न करके नाना प्रकार के सुख-दुःख में डालते हैं, जिनसे कर्म-परम्परा का अन्त ही नहीं आता। अतः उनके फलों के भोग का बन्धन भी दिन-दिन कड़ा होता जाता है। इसके विपरीत यदि कर्म निष्काम भाव से—सेवा या परमेश्वर-प्रीत्यर्थ—किये जायं तो उनसे चारों ओर प्रेम, सद्भाव, सहयोग का वातावरण बढ़ेगा, जिसका फल दुखदायी नहीं होगा और हुआ भी तो उसे प्रसन्नता से सहने का बल मिलता रहेगा। वह खलेगा नहीं, बन्धनकारक नहीं मालूम होगा।

"जो अजितेन्द्रिय व अज्ञानी पुरुष वेदोक्त कर्म का आचरण नहीं करता, वह विहित कर्म के त्याग के पाप से बारम्बार जन्म-मरण को प्राप्त होता है।" ॥४५॥

इसमें यह संकेत है कि वेदोक्त कर्म का आचरण जितेन्द्रिय होकर व ज्ञान प्राप्त करके करना चाहिए। वेद चूंकि ईश्वरीय ज्ञान के ग्रन्थ हैं, अतः वेदोक्त कर्म का

अर्थ यहां आत्मज्ञानयुक्त कर्म से लिया जा सकता है। 'यज्ञ-याग' अर्थ लें तो उसे व्यापक बनाना होगा। यज्ञ की 'विधि' की अपेक्षा स्पिरिट—भावना पर ही ध्यान रखना होगा। यज्ञ की भावना है बलिदान—अपने पास जो श्रेष्ठतम, सुन्दरतम, प्रियतम है, उसे परमात्मा के लिए बलि कर देना, छोड़ देना, या परमात्मा में मिला देना। साधारणतः मनुष्य को सबसे प्यारा विषय-सुख होता है। अतः उसे भगवान् के लिए, सेवा के लिए छोड़कर सात्विक कर्म करना चाहिए, यह भावार्थ निकलता है। ऐसा कर्म जो नहीं करता वह पाप-भागी होगा। इतना ही नहीं, उसे बार-बार जन्म-मरण के फेरे करने पड़ेंगे, अर्थात् उसकी गति अस्थिर, उतार-चढ़ाववाली, अतः अशान्तिपूर्ण रहेगी।

जन्म-मरण का फेरा दुःखमय चक्र माना गया है। दुःख को समूल मिटाने की इच्छा से उसका मूल खोजते-खोजते कुछ विचारकों की यह राय हुई कि यह जन्म लेना ही दुःख का असली कारण है। जन्म के साथ मृत्यु लगी ही हुई है। मृत्यु का नाम लेने से यों भी सबकी रूह कांपने लगती है। फिर जन्म में गर्भावस्था में रहना पड़ता है, वहां की गन्दी हालत का अनुमान करने से जन्म की क्रिया को भी दुःखमय माना है। जन्म, मृत्यु के बीच के इस जीवन में तो दुःख का अनुभव हम कदम-कदम पर करते ही हैं। अतः यदि जीवन-मरण के चक्कर से छूट जायं तो दुःखों से भी सदा के लिए छूट जायं—यह निष्कर्ष निकाला गया। न्याय-सूत्र (१।१।२२) में दुःख से अत्यन्त विमोक्ष को अपवर्ग कहते हैं (तदत्यन्त विमोक्षोऽपवर्गः) 'अत्यन्त' शब्द का अभिप्राय है कि उपात्त जन्म का परिहार तथा अन्य जन्म का अनुत्पादन। इन दोनों की सिद्धि होने पर आत्मा की दुःख से आत्यन्तिकी निवृत्ति होती है। इसके लिए न्याय-मतानुसार आत्मा के नौ गुणों—बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म तथा संस्कार—का उच्छेद होना चाहिए। धर्म-अधर्म से सुख-दुःख की उत्पत्ति होती है। इनका उच्छेद होने से शरीरादि कार्य नहीं हो सकते और भोगायतन इस शरीर के अभाव में इच्छा, द्वेष आदि के साथ आत्मा का संबंध नहीं रह सकता। इनकी राय में मुक्त दशा में आत्मा अपने विशुद्ध स्वरूप में प्रतिष्ठित और अखिल गुणों से विरहित रहता है। वह छहों ऊर्मियों—भूख-प्यास प्राण को, लोभ-मोह चित्त को, शीत-आतप शरीर को कष्ट देनेवाले होने से ऊर्मि कहे जाते हैं—के प्रभाव को पार कर लेता है और दुःख-क्लेशादि सांसारिक बन्धनों से विमुक्त हो जाता है। ये मुक्त आत्मा में सुख

का भी अभाव मानते हैं। मोक्ष या निःश्रेयस दो प्रकार का है—अपर और पर। जीवन्मुक्ति को अपर और विदेहमुक्ति को पर—निःश्रेयस कह सकते हैं। जो आत्मा का साक्षात्कार कर लेता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है, लेकिन जबतक प्रारब्ध कर्मों का संबंध टूट नहीं जाता, वे क्षीण नहीं हो जाते, तबतक पर निःश्रेयस—विदेहमुक्ति—नहीं होती।

सांख्यकार अपवर्ग या मोक्ष का स्वरूप इस प्रकार बतलाते हैं—पुरुष स्वभावतः असंग और मुक्त है, परन्तु अविवेक के कारण उसका प्रकृति के साथ संयोग जुड़ जाता है। इससे प्रकृति-जन्य दुःख का जो प्रतिबिम्ब पुरुष में पड़ता है, वही है पुरुष के लिए दुःखभोग—संसार। अतः संसार का मूल कारण अविवेक है और दुःख-निवृत्ति का साधन विवेक है। प्रकृति-पुरुष का परस्पर वियोग होना या एकाकी होना अथवा पुरुष की ही प्रकृति से अलग स्थिति—कैवल्य—मोक्ष है। बन्धन-मोक्ष वस्तुतः प्रकृति के ही धर्म हैं, पुरुष के नहीं। पुरुष न तो बन्धन का अनुभव करता है, न मुक्ति का और न संसार का। पुरुष की मुक्ति का अभिप्राय यह है,कि वह अपनी स्वतन्त्र, असंग, केवल दशा को प्राप्त कर लेता है। पुरुष शरीर तथा मन के ऊपर है, प्राकृत बन्धनों से उन्मुक्त होनेवाला अमरण-धर्मा अपरिवर्तनशील नित्य सत्य पदार्थ है, यह जान लेना ही पुरुष का कर्तव्य है। इस दशा में उसे यह निश्चित ज्ञान हो जाता है कि 'नास्मि'—मुझमें किसी प्रकार की क्रिया का सम्बन्ध नहीं है। मैं स्वभावतः निष्क्रिय हूं। 'नाहम्'=क्रिया का निषेध होने से मुझमें किसी प्रकार का कर्तृत्व नहीं है। तथा 'न मे'—मैं असंग हूं, अतः मेरा किसीके साथ स्व-स्वामिभाव का संबंध नहीं है! ऐसी मुक्तावस्था की प्राप्ति प्रत्येक मनुष्य इसी जन्म में कर सकता है। ये मुक्ति दो प्रकार की मानते हैं—जीवन्मुक्ति तथा विदेहमुक्ति। विवेक-ज्ञान हो जाने पर मनुष्य इसी जन्म में जिस मुक्ति का अनुभव करता है, वह जीवन्मुक्ति है। यह कर्म व्यापार से विरत नहीं होता, परन्तु अब कर्म बन्धन नहीं उत्पन्न करते। किन्तु प्रारब्ध कर्म अवशिष्ट रहते हैं। शरीर के नाश होने पर पुरुष ऐकान्तिक—अवश्यम्भावी तथा आत्यन्तिक अविनाशी दुःखत्रय के विनाश को प्राप्त कर लेता है। शास्त्रीय भाषा में यही 'विदेहमुक्ति' है। यही वास्तविक मुक्ति है। दुःखमय की आत्यन्तिक निवृत्ति ही मोक्ष है। दुःख का अभाव होने पर सुख की सत्ता भी सिद्ध नहीं होती।

मीमांसकों के मत में—'प्रपञ्च-सम्बन्ध-विलयो मोक्षः'—इस जगत् के साथ

आत्मा के सम्बन्ध के विनाश का नाम मोक्ष है। भोगायतन शरीर, भोग-साधन इन्द्रिय, भोग-विषय पदार्थ——प्रपञ्च के इन तीन बन्धनों ने आत्मा को जगत्-कारागर में डाल रक्खा है। आत्मा शरीर के कारण इन्द्रियों की सहायता से बाह्य विषयों का अनुभव करता है। अतः इन बन्धनों ने संसार-शृंखला में जीवन को जकड़ रक्खा हैं। इस त्रिविध बन्ध के आत्यन्तिक नाश की संज्ञा 'मोक्ष' है। आत्यन्तिक नाश से अभिप्राय शरीर, इन्द्रिय, विषय के साथ ही, बन्ध के उत्पादक धर्माधर्म एकदम निःशेष हो जाने से है, जिससे फिर इनकी उत्पत्ति भी नहीं होती। अतः आत्मा को इस भौतिक जगत् में आने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। मोक्ष-स्वरूप के संबंध में दो मत हैं——एक मत से मुक्तावस्था में नित्य सुख की अभिव्यक्ति होती है। आत्मा के शुद्ध स्वरूप के उदय होने से शुद्ध आनंद का आविर्भाव अवश्य होता है। दूसरे के अनुसार सुख का अत्यन्त समुच्छेद रहता है। आत्मा को प्रिय या अप्रिय, हर्ष या शोक, स्पर्श नहीं करते।

वेदान्त 'प्रपञ्च-विलय' को ही मोक्ष मानता है। उसकी सम्मति में स्वप्न-प्रपञ्च की तरह यह संसार-प्रपञ्च अविद्यानिर्मित है। अतः ब्रह्मज्ञान होने से अविद्या के विलीन होने पर जगत् की सत्ता ही नहीं रहती। प्रपञ्च का ही विलय हो जाता है।

पाञ्चरात्र (वैष्णव) मत में मुक्ति का नाम 'ब्रह्मभावापत्ति' है। इस दशा में जीव ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाता है। वह फिर लौटकर संसार में नहीं आता। उस दशा में वह निरतिशय आनन्द का उपभोग करता है। उस काल में जीव भगवान् के 'पर'-रूप के साथ परम व्योम (शुद्ध सृष्टि से उत्पन्न वैकुण्ठ) में आनन्द से विहार करता रहता है और कालचक्र से रहित होकर निरन्तर सेवा करता रहता है।

बुद्ध का मत है कि आवागमन की जननी तृष्णा के उच्छेद करने से तथा अखिल स्वार्थ-परायणता व जन्म-मरण के प्रमाणभूत आत्मा के अस्तित्व में विश्वास न करने से एवं सुन्दर सात्विक जीवन व्यतीत करने से निर्वाण होता है। ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं हो सकती; किन्तु आचार की सहायता से शरीर की शुद्धि बिना किये मनुष्य ज्ञान की उपलब्धि का अधिकारी नहीं होता।

जैन-मतानुसार जीव निसर्गतः मुक्त है। पर वासनाजन्य कर्म उसके शुद्ध स्वरूप पर आवरण डाले रहते हैं। भोगात्मक जगत् तथा भोगायतन शरीर के साथ

जीव का सम्बन्ध कराने का प्रधान कारण कर्म ही है। उसीके साथ सम्बन्ध होने से जीव का बन्धन और उसके प्रभाव से उन्मुक्त होने पर जीव का मोक्ष निर्भर करता है। सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र्य से मोक्ष प्राप्त होता है।

चार्वाक्-मत में भी आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति को मोक्ष-मुक्ति माना है। प्रत्येक क्लेश का निकेतन यही भोगायतन शरीर है। इसके पतन के साथ ही आत्यन्तिक निवृत्ति सिद्ध हो जाती है। 'मरणायेवापवर्गः' मरण ही अपवर्ग है।

समर्थ रामदास के मत में असार निरसन के बाद जो सार बचा सो निर्गुण ब्रह्म। वही हम हैं। तत्त्वप्राप्ति के साथ ही 'मैं-पन' चला गया व निर्गुण ब्रह्म ही शेष रह गया—'सः अहम्' इस विचार से आत्म-निवेदन हुआ। भक्त-भगवान् की एकता हो गई। विभक्तता छोड़कर भक्त हो गया—यह अनन्यता ही सायुज्य मुक्ति है। प्राणी भ्रम से 'कोऽहम्' कहता है, विवेक होते ही 'सोऽहम्' कहने लगता है। निर्गुण ब्रह्म से अनन्य समरस होते ही 'अहम्सोऽहम्' दोनों मिट जाते हैं। शाश्वत बाकी रह जाता है।

स्वप्न के राजा रंक जागृति में मिथ्या हो जाते हैं। ज्ञानी जानता है कि जो जन्मा है, वह मर जाता है। जिन्हें आत्मज्ञान हुआ है, वही बड़े; सच्चा बड़ा एक परमात्मा ही है। हरिहरादि उसीमें आ जाते हैं। परमात्मा निर्गुण निराकार है। वहां उत्पत्ति, स्थिति और लय का प्रश्न ही नहीं है। स्थान-मान नाम-रूप ये सब अनुमान हैं।

ब्रह्मप्रलय में इन सब विचारों का अन्त हो जाता है। ब्रह्म-साक्षात्कार के समय जो अशेष कल्पनाओं का लय होता है, वही है ब्रह्म-प्रलय। जो इस ब्रह्म का संपूर्ण स्वरूप जानते हैं, वे लोकोद्धार के लिए ब्रह्म का निरूपण करते हैं। वही ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण हैं।

बन्ध से छुटकारा पाना ही मोक्ष है। प्राणी अपने संकल्प से बंधता है, 'जीव-पन' से बद्ध होता है। 'मैं जीव हूं' अनेक जन्मों के इस संकल्प से जीव की देहबुद्धि बढ़ती है और वह अल्प हो जाता है। मैं जीव हूं, मुझे बन्धन है, जन्म-मरण है, बुरे-भले कर्मों का पाप-पुण्यात्मक फल मुझे भोगना है, इत्यादि कल्पनाओं से जीव अपने-आपको बांध लेता है। इनसे छुटकारा पाना ही मोक्ष है।

स्वरूप-जागृति ही मोक्ष है। अज्ञान-रूपी रात के जाते ही संकल्प-दुःखों का

नाश होकर प्राणी तत्काल मुक्त होता है। संकल्प से बंधा जीव विवेक के द्वारा ही मुक्त हो सकता है।

अभेद-वृत्ति को ही सायुज्य मुक्ति—जीव का परमात्मा में सब तरह एकरस हो जाना—है। नदी जैसे सागर में मिलती है, उसी तरह भगवान् व भक्त के एक हो जाने पर विभक्तता का अनुभव नहीं होता।

दृश्य-भाव जाकर फिर आत्म-साम्राज्य को भोगें, उसकी अपेक्षा दृश्य देह-भान के रहते हुए ही आत्म-समाधान रहे—इसमें विशेषता है। माया के रहते हुए भी उसे मिथ्या समझना, देह रहते हुए भी विदेह जैसे रहना—यह समाधान—शान्ति है।

बन्ध-मोक्ष, माया-ब्रह्म, लक्ष्य-अलक्ष्य, ध्यान-ध्याता इत्यादि पक्ष जहां खतम हो जाते हैं, वह आत्मा मोक्ष-स्वरूप है। उस निर्विकल्प में कल्पना विलीन हो जाती है व केवल ज्ञप्ति-मात्र सूक्ष्म ब्रह्म बाकी रहता है। बस, काम बन गया। भव-मृगजल समाप्त हुआ, मिथ्या बन्धन टूट गया, अद्वैत का द्वैत गया, निःसंग की संग-व्याधि छूटी, निष्प्रपंच इस प्रपंच (उपाधि) से मुक्त हुआ, एकान्त को एकान्त मिल गया, अनन्त के अन्त का अन्त आ गया, अमृत अमर हो गया, निर्गुण निर्गुण हो गया, सन्निध रहते हुए भी जो खो गया था, वह मिल गया।

सन्त विनोबा का कहना है—ब्रह्म-निर्वाण का अर्थ है देह को फेंककर व्यापकतम होना। इसी स्थिति को बौद्धों ने निर्वाण कहा है। बौद्धों को निषेधक भाषा—निर्वाण—अच्छी लगी। इसका अर्थ है मनुष्य अहन्ता को भुलाता जाय। मनुष्य का मोह देह के साथ ही नष्ट हो जाय, शून्य हो जाय। किन्तु वैदिकों को 'ब्रह्म-निर्वाण' जैसी विधायक भाषा रुचिकर लगी। उन्होंने सोचा कि मोक्ष को अभाव-रूप बताने की अपेक्षा भाव-रूप बताना ज्यादा अच्छा है। हम नष्ट हो गये, शून्य हो गये, ऐसा कहने की अपेक्षा हम व्यापक हो गये, अनन्त हो गये, यह कहना अच्छा है। बौद्ध कहता है कि तुम 'मैं नष्ट हो गया' यह कहने से घबराते क्यों हो? मैं अनन्त होऊंगा, व्यापक होऊंगा, सर्वमय होऊंगा, ऐसा कहने में जो अस्तित्व का मोह है, उसे छोड़ दो। इसपर वैदिक जवाब देता है—प्रश्न भय व मोह का नहीं है, अनुभूति का है। अनुभूति के खिलाफ खयाल बनावें कैसे? अनेक साधनाओं के फलस्वरूप जब अद्वैत अनुभूति के द्वारा मैंने ईश्वर को अपने अन्दर समा लिया है तो फिर मैं यह कैसे मानूं कि मैं मिट गया। अतः यही कहना ज्यादा उचित है कि सब अ-वस्तुओं का निराकरण

करने के बाद बचनेवाला जो मैं वही मैं व्यापक हो गया, ब्रह्म-मय हो गया। सच पूछिये तो 'ब्रह्म-निर्वाण' शब्द केवल विधायक नहीं है, वह निषेधक अर्थ को अपने पेट में समाकर विधायक बना है। वह उभय अर्थ का संग्राहक है। 'ब्रह्म-निर्वाण' कहने के बाद 'मैं' चला गया, ब्रह्म शेष रह गया। अतः "एकं ब्रह्म च शून्यं च यः पश्यति स पश्यति।"

श्री रामकृष्ण परमहंस कहते हैं—"जीव की अहन्ता का नाश होने पर शिवत्व प्राप्त होता है। यही शिव जब शव होता है, अर्थात् मृत हो जाता है तब आनंदमयी माता उसके मन में विराजमान होती है। 'मुक्त होगे कब ? 'अहम्' जायगा जब।"

"मैं उसका दास हूं, मैं उसकी सन्तान हूं, मैं उसका अंश हूं—ये अहंकार फिर अच्छे हैं। ऐसे अभिमान से भगवान् मिलता है।"

यों देखने से मालूम पड़ेगा कि मोक्ष के ध्येय के विषय में यद्यपि दार्शनिकों व अनुभवियों में प्रायः मतैक्य है, फिर भी स्वरूप के विषय में मत-वैषम्य है। मोक्ष चूंकि बुद्धि के द्वारा समझने की वस्तु नहीं है, साधना द्वारा अनुभव करने की वस्तु है, अतः जिज्ञासु, साधक, भक्त, श्रेयार्थी के लिए उचित है कि यह अपनी साधना में ही तन्मय हो रहे। इसीसे वह अपने ध्येय तक पहुंच सकेगा और जब उसतक पहुंचने लगेगा तो मोक्ष का सही रूप अपने-आप मालूम होता जायगा।

"निःसंग भाव से ईश्वरार्पणपूर्वक वेदोक्त कर्मों को ही करता हुआ पुरुष निष्कर्म-सिद्धि (ज्ञानावस्था) को प्राप्त कर लेता है। वेद में जो (स्वर्गादि) मिलने की फल-श्रुति है, वह केवल कर्म में रुचि उत्पन्न करने के लिए ही है।" ।।४६।।

इसमें यह शर्त रक्खी गई है कि जो कर्म किये जायं, वे निःसंग भाव से अर्थात् आसक्ति-रहित होकर करे। और जो-कुछ करे, वह भी अपने लिए नहीं, ईश्वर के लिए—सेवा भाव से—करे। इससे उसके चित्त के मल धुलकर, अविद्या, अज्ञान, मिटकर ज्ञान का प्रकाश मिलेगा। उसको वही सिद्धि मिलेगी जो, निष्कर्मता में सिद्धि—मोक्ष—माननेवालों को मिलती है। जब कर्म-काण्ड का ज़ोर बहुत बढ़ गया था तब योगियों व ज्ञानियों को उसका निषेध करना पड़ा था और इसके बिना भी सिद्धि—मोक्ष—प्राप्त हो सकती है, ऐसा प्रतिपादन किया था। ऐसा भी मत पाया जाता है जो कर्म-मात्र का निषेध करके केवल ज्ञान से ही मोक्ष मानता है। श्री शंकराचार्य ने भी इसपर ज़ोर दिया मालूम होता है। परन्तु

चित्त-शुद्धि के लिए कर्म की आवश्यकता को वह भी मानते हैं। वर्तमान युग में इस वाद की गुंजाइश नहीं रही है, अतः इसपर अधिक चर्चा करना अनावश्यक है। भिन्न-भिन्न कामना से किये गए यज्ञों के स्वर्गादि भिन्न-भिन्न फलों का उल्लेख वेदादि ग्रन्थों में मिलता है। भागवतकार कहते हैं कि ये तो प्रलोभन मात्र हैं। उनका कोई महत्त्व नहीं है, न वे खास ध्यान देने योग्य ही हैं।

"जो शीघ्र ही पर-स्वरूप आत्मा की (अहंकार-रूप) हृदय-ग्रन्थि को खोल लेना चाहता है उसे उचित है, कि वह वेद-विधि तथा तन्त्रोक्त विधि से नियमानुसार भगवान् की, केशव की पूजा करे।" ॥४७॥

तन्त्र का अर्थ वह शास्त्र है, जिसके द्वारा ज्ञान का विस्तार किया जाता है और जो साधकों की रक्षा करता है—

"तनोति विपुलानर्थान् तत्वमन्त्रसमन्वितान्।
त्राणं च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते॥"

अतः तन्त्र का व्यापक अर्थशास्त्र, सिद्धान्त, अनुष्ठान, विज्ञान व तद्विषयक ग्रन्थ आदि हैं। परन्तु यहां अभिप्राय उन धार्मिक ग्रन्थों से है, जो यन्त्र-मन्त्रादि समन्वित एक विशिष्ट साधन-मार्ग का उपदेश देते हैं। इनका दूसरा नाम 'आगम' है। 'निगम' कर्म, उपासना व ज्ञान के स्वरूप को बताता है; 'आगम' इनके साधन-भूत उपायों को सिखलाता है। आगम तीन प्रकार के हैं—वैष्णव, (पाञ्चरात्र या भागवत) शैव तथा शाक्त, जिनमें क्रमशः विष्णु, शिव, शक्ति की परादेवता-रूप में उपासना विहित है। वैष्णव तन्त्रोक्त पूजाविधि आगे (अ० ११, श्लो० २७) सविस्तर बताई गई है।

मनुष्य को काम्य कर्मों में प्रेरित करनेवाला व कर्त्तापन का भाव पैदा करनेवाला उसका सबसे बड़ा शत्रु अहंकार है। यह जब सूक्ष्म-रूप में रहता है तो संसार में भेद-भाव व पृथकता का कारण होता है, जब यह स्थूल-रूप धारण करता है तो अहन्ता व अभिमान हो जाता है, जिसमें उन्मत्त होकर मनुष्य नाना प्रकार के सुख-भोग की इच्छा करता है व अपने सिवा किसीको कुछ नहीं समझता। प्रत्येक कर्म अपने ही लिए करता है, व उनका कर्त्ता भी अकेला अपने को ही मानता है। इससे वह नाना प्रकार की उलझनों में फंसता चला जाता है और अहंकार की गांठ दृढ़ होती जाती है। जबतक यह अहंकार प्रबल रहता है तबतक मनुष्य की रुचि आत्मा की ओर नहीं होती, जो कि उसका असली रूप है। इस हृदय-ग्रन्थि को

खोलने का सरल उपाय भगवान् केशव की पूजा है। वैदिक विधि यज्ञ-हवन-प्रधान है। तन्त्रविधि मूर्ति-पूजन-प्रधान है। जिसको जो विधि ठीक जंचे, उसीका वह अवलम्बन करे। दोनों विधियों के द्वारा पूजन तो एक ही भगवान् का करना है और वह भी निष्काम भाव से—केवल चित्त-शुद्धि के लिए।

"(सेवा के द्वारा) गुरु की कृपा का पात्र होकर उनकी बतलाई हुई विधि के अनुसार अपनी अभिमत मूर्ति के द्वारा महापुरुष नारायण की पूजा करे। प्रथम शरीर व अन्तःकरण को शुद्ध करके प्रतिमा के सम्मुख बैठकर प्राणायाम आदि के द्वारा नाड़ी-शुद्धि करे और फिर अंग-न्यास से अच्छी तरह देह-रक्षा कर भगवान् का पूजन करे।" ॥४८-४९॥

मूर्ति-पूजा का अभिप्राय है अपनी सब इन्द्रियों को विषयों से हटाकर एकमात्र भगवान् में लगा देना। अव्यक्त परमात्मा का तो कोई रूप है नहीं, जिसका ध्यान किया जा सके, व्यक्त परमात्मा सृष्टि-रूप में उपलब्ध होता है, जिसकी व्यापकता इतनी है कि साधारण व्यक्ति का ध्यान केन्द्रित होना शक्य नहीं। इस असुविधा को दूर करने के लिए मूर्ति की कल्पना प्रादुर्भूत हुई। वैदिक साहित्य में इसका विधान नहीं मिलता। यह माना जाता है कि बुद्ध-धर्मियों ने सर्वप्रथम इसका प्रचार भारतवर्ष में किया; फिर वैदिक या ब्राह्मणधर्मियों ने इसे अपनाया। परमात्मा की विविध शक्तियों-रूप कई देवताओं की कल्पना की गई है और उनकी मूर्तियां बनाई गई हैं। अपनी भावना के अनुसार साधक कोई मूर्ति चुन ले व उसकी पूजा करे। सारा उद्देश चित्त को शुद्ध करना, एकाग्र करना है, अतः पहले शरीर-वस्त्रादि शुद्ध कर लेना चाहिए। फिर चित्त से भी विकारों को हटा लेना चाहिए। स्वार्थ-साधना के, हिंसा के, विषय-भोग के विचारों को दूर हटा लेना चाहिए। पर प्राण का संयम, प्राणायामादि के द्वारा, आरम्भ करे। प्राणायाम की विधि किसी जानकार या गुरु से सीख ले। इससे चित्त स्थिर और शरीर के भीतरी अवयवों की शुद्धि होती है। फिर अंगन्यास करे। इस क्रिया में प्रत्येक अंग में इष्ट-देव के निवास की भावना की जाती है, या वह अंग उसको समर्पित किया जाता है, जिसका अर्थ यह हुआ कि अब उसकी रक्षा का भार परमात्मा पर है। साधक निश्चिन्त हुआ।

"बाह्य प्रतिमा अथवा हृदय में, जहां भी पूजन करना हो, उसके लिए जो-कुछ पूजन-सामग्री मिले उसको, पूजा-स्थान को तथा शरीरादि को पहले शुद्ध

करे, फिर ग्रासन पर जल छिड़ककर ग्रर्घ्य, पाद्य ग्रादि के पात्रों को यथास्थान रक्खे। तदनन्तर एकाग्रचित्त होकर ग्रंगन्यास करने के उपरान्त मूलमन्त्र के द्वारा प्रतिमा का पूजन करे।" ॥५०-५१॥

इसमें भी शुद्धि व न्यास पर ही ध्यान दिलाया गया है।

"ग्रपने-ग्रपने उपास्यदेव की ग्रंग (हृदयादि) उपांग (ग्रायुधादि) ग्रौर पार्षदसहित मूर्ति की उसके मूलमन्त्र द्वारा पाद्य, ग्रर्घ्य, ग्राचमन, स्नान, नाना वस्त्र, ग्राभूषण, गन्ध, माला, ग्रक्षत, पुष्पहार, धूप, दीप, नैवेद्य ग्रादि से विधिवत् पूजा करे। फिर स्तोत्रों द्वारा स्तुति करके भगवान् हरि को नमस्कार करे।" ॥५२-५३॥

यह षोडशोपचार पूजाविधि है, जो सर्वत्र प्रचलित है। इसमें मूर्ति को पत्थर मानकर पूजा की जाती है। इसीलिए पहले भगवान् का ग्रावाहन मूर्ति में किया जाता है फिर पूजा-विधान। यह सब भावना व धारणा का ही खेल है। ग्रपनेको भगवान् में मिलाने, भगवान्मय बनाने की प्रक्रिया है। जो इसमें विश्वास न करते हों, वे ग्रपने इष्ट भूत-हित या लोक-कार्य या ग्रादर्श में इसी प्रकार तल्लीनता प्राप्त करने का प्रयत्न करें। इस तरह बाह्य उपचार भी भले ही भिन्न-भिन्न स्वीकार करें। स्थूल विधि-विधान उतने महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, जितनी भीतरी भावना या प्रक्रिया। इसे सर्वदा याद रखना चाहिए।

"इस प्रकार ग्रपने ग्रात्मा को भगवद्रूप विचारता हुग्रा भगवान् की प्रतिमा का पूजन करे। फिर निर्माल्य को सिर पर रखे ग्रौर पूजित हुए भगवद्-विग्रह को यथास्थान रख दे।" ॥५४॥

इसमें 'ग्रात्मा को भगवद्रूप विचारता हुग्रा' विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। पूजा का मूल ग्रभिप्राय यही है।

"इस प्रकार ग्रग्नि, सूर्य, जल, ग्रतिथि में ग्रथवा ग्रपने हृदय में जो भगवान् श्री हरि का पूजन करता है, वह शीघ्र ही मुक्त हो जाता है।" ॥५५॥

केवल प्रतिमा की ही जरूरत नहीं है, ग्रग्नि ग्रादि बाहरी किसी भी वस्तु को, बल्कि ग्रपने हृदय में ही, भगवान् की धारणा करके उसका पूजन किया जा सकता है। भगवान् कहां नहीं हैं?

: ४ :

अवतार

[राजा जनक के भगवान् के अवतारों के सम्बन्ध में प्रश्न पूछने पर द्रुमिल ने मुख्य-मुख्य अवतारों व उनके प्रयोजनों का वर्णन इस अध्याय में किया है।]

राजा ने कहा—"इस लोक में श्री हरि ने स्वेच्छा से धारण किये अपने जिन-जिन अवतारों से जो लीलाएं की हैं, कर रहे हैं अथवा करेंगे, वे सब हमसे कहिये।" ॥१॥

'लीला' से मतलब यहां 'चरित्र' से है।

द्रुमिल बोले—"हे राजन्, जो पुरुष अनन्त भगवान् के अनन्त गुणों की गणना करना चाहता है, वह मन्दबुद्धि है। सम्भव है, पृथ्वी के रजःकणों को किसी प्रकार किसी समय कोई गिन भी ले, परन्तु सर्वशक्तिमान् भगवान् के गुणों का कभी कोई पार नहीं पा सकता।" ॥२॥

द्रुमिल शायद सोच में पड़ गये कि भगवान् के अनन्त तो गुण हैं, अनन्त ही रूप हैं, अतः अनन्त ही अवतार हैं। जो-कुछ नाम-रूपात्मक दीखता है, वह सब उसका अवतार ही तो है। अतः कैसे उसकी गिनती व वर्णन करूं ? तब उन्होंने कहा कि भाई, यों तो उनकी शक्ति, गुण, अवतार आदि का कुछ पार नहीं है। फिर उनमें से मुख्य-मुख्य को छांटकर कहने लगे—

"अपने रचे हुए पंचभूतों के द्वारा ब्रह्माण्ड-रूप पुर की रचना करके जब भगवान् आदि देव नारायण ने अपने अंशभूत जीव-रूप से उसमें प्रवेश किया तो उनका 'पुरुष' नाम हुआ।" ॥३॥

पहले सृष्टि-रचना का वर्णन आ चुका है। परमात्मा के स्पन्दन का जब फैलाव शुरू हुआ तो उसका रूप अण्डे की तरह बना। वही ब्रह्माण्ड कहलाया। यह परमात्मा के रहने का पुर हुआ। फिर उसने इस पुर में अपने चित् अंश से प्रवेश

किया, जिसे जीव कहते हैं। इस तरह पुर में प्रवेश करने के कारण उसका नाम 'पुरुष' हुआ। यह पहला या आदि अवतार समझना चाहिए। यहां यह ध्यान में रखना चाहिए कि सांख्य की 'पुरुष' की परिभाषा इससे भिन्न है। भागवतकार अद्वैत-सिद्धान्त के अनुयायी हैं।[१]

सूक्ष्म रूप से विचार करें तो सृष्टि को मूर्त्तरूप प्राप्त होने में ईश-संकल्प, देव-संकल्प और ऋषि-संकल्प—ये तीन संकल्प कारण हुए हैं। ईश-संकल्प के सूक्ष्म परमाणु हुए, देव-संकल्प के उनकी अपेक्षा स्थूल और ऋषि-संकल्प के उनसे भी अधिक स्थूल हुए। ईश-संकल्प से देव-निर्माण हुए और देव-संकल्प से ऋषि तथा मानव। ईश-संकल्प से प्रथमतः मन और अनन्तर आकाशादि अपंचीकृत पंचतत्त्व निर्माण हुए। इनसे स्थूल पंचतत्त्व उत्पन्न हुए। ईश-संकल्प के ये स्थूल मूर्तरूप ही प्रकृति-परमाणु हैं। ईश-संकल्प से धाता उत्पन्न हुए और उनमें 'यथापूर्व कल्पयामि' की भावना उत्पन्न हुई। उस भावना में आदित्य परमाणु और उनसे सूर्य-ग्रहों-सहित सूर्य-माला उत्पन्न हुई। इसके अनन्तर मानस पुत्रादि मानस-सृष्टि हुई और फिर जारज। जन्म को प्राप्त होनेवाला जीव जगदात्मा सूर्य से सूर्य-परमाणु और फिर मन के लिए चन्द्रमण्डल से चन्द्र-परमाणु ग्रहण करता है और नीचे उतरते हुए वह अन्य ग्रहों से भी अपने प्रारब्ध कर्मभोग के लिए उन-उन ग्रहोपग्रहों के शुभाशुभ-फलदायी परमाणु ग्रहण करके पृथ्वी पर आता और माता की कोख में आकाश, तेज, अप्, वायु, पृथ्वी—इन पंचीकृत तत्त्वों से अपने प्राण-शरीर के सजातीय प्राण-परमाणुओं का संग्रह कर अपना अन्नमय शरीर निर्माण करता है और इस प्रकार पूर्व कर्मानुरूप भोग भोगने के लिए अपने प्राणमय, मनोमय, वासनामय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोशोंसहित भोगायतन अन्नमय शरीर धारण करके माता की कोख से बाहर निकलता है। सूर्य-मण्डल से आदित्य-प्राण-परमाणु

[१] "उन परम पुरुष ने जीवों के अदृष्टवश क्षोभ को प्राप्त हुई सम्पूर्ण जीवों की उत्पत्ति-स्थान-रूप अपनी माया में वीर्य स्थापित किया। तब उससे हिरण्मय महत्तत्त्व उत्पन्न हुआ। इस महत्तत्त्वरूप कूटस्थ ने अपने में स्थित विश्व को प्रकट करने के लिए अपने स्वरूप को आच्छादित करनेवाले प्रलयकालीन अन्धकार को अपने ही तेज से पी लिया।"

—(भाग० ३।२६।१९।२०)

और चन्द्र-मण्डल से चन्द्र-परमाणु लेकर जीव जब पृथ्वी पर आता है तब ज्योतिषी लोग उनकी लग्न कुण्डली व राशि-कुण्डली फैलाते और उन-उन ग्रहों का बलाबल देखकर जीव के सुख-दुःखादि भोग के स्थान और समय निर्दिष्ट कर देते हैं। इससे यह पता लगता है कि जीव के अन्नमय, प्राणमय और मनोमय कोश सूर्य से दैनन्दिन गति के साथ प्रसृत होनेवाले प्राण-परमाणुओं से बने हुए हैं। यह समस्त दृश्या-दृश्य जगत् सत्-चित्-आनन्द स्वरूप है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्राण-परमाणुओं में भी सत्ता, चेतना और ज्ञान अबाधित, संवलित सथवा संघटित है। सूर्य-मण्डल से निकले हुए प्राण तेजोरूप हैं। साधारण मनुष्य भी स्वप्न की अवस्था में अपने शरीर को प्रकाश-रूप ही देखता है, चाहे रात अंधेरी हो और समीप कोई दीपक भी जलता हुआ न हो।

"जिनके विराट् शरीर में इस समस्त त्रिभुवन का समावेश है, जिनकी इन्द्रियों से देहधारियों की इन्द्रियां व कर्मेन्द्रियां, स्वरूप से स्वतःसिद्ध ज्ञान (आत्मा) श्वास-प्रश्वास से बल (देह-शक्ति), ओज (इन्द्रिय-शक्ति), और क्रिया-शक्ति तथा सत्वादि गुणों से स्थिति, उद्भव और लय होते हैं, वे ही आदि कर्त्ता नारायण हैं।" ॥४॥

यह विराट् शरीर का वर्णन है, जिसे दूसरा अवतार कह सकते हैं। विराट् शरीर के रूप में जब परमात्मा के व्यक्त स्वरूप की कल्पना की गई और मनुष्य-शरीर भी जब उसीकी एक कृति है तो वह उसकी प्रतिकृति भी मान ली गई, या यों कहिये कि मनुष्य ने अपने शरीर की रचना को देखकर ही उसके शरीर आदि की कल्पना की है। इस कल्पना के आधार पर ही यह स्वरूप-वर्णन किया गया है व उसकी किस शक्ति से मनुष्य या देहधारी की कौन-सी शक्ति या इन्द्रिय मिली है, इसका सम्बन्ध बैठाया गया है। इसमें कोई शक नहीं कि यह कल्पना इस मूल तथ्य पर खड़ी की गई है कि व्यक्त सृष्टि अव्यक्त परमात्मा का एक रूप ही है और जीवात्मा परमात्मा का ही एक अंश है।

"प्रथम जगत् की उत्पत्ति[1] के लिए उनके रजोगुण के अंश से ब्रह्मा हुए, फिर वह आदि पुरुष ही संसार की स्थिति के लिए (अपने सत्वांश से) धर्म और ब्राह्मणों

---

[1]तब सम्पूर्ण प्राणियों से गौरवान्वित हो तुम सप्तर्षियों से घिरकर सब प्रकार की औषधि और सब तरह के छोटे-बड़े बीज लेकर उस विशाल नौका पर चढ़कर

की रक्षा करनेवाले यज्ञपति विष्णु तथा तमोगुण के अंश से सर्ग—सृष्टि-संहारक रुद्र हुए। इस प्रकार निरन्तर उन्हींसे प्रजा में उत्पत्ति, पालन और संहार होते रहते हैं।" ॥५॥

सांख्य-मतानुसार सत्त्व, रज, तम प्रकृति के तीन गुण हैं। वेदान्ती सत्, चित्, आनन्द तीन गुण ब्रह्म के मानते हैं। परन्तु कहीं-कहीं सत्त्व, रज, तम ये तीन गुण भी परमात्मा के ही मानकर वर्णन किया गया है, जैसा कि प्रस्तुत श्लोक में है। प्रकृति भी चूंकि, वेदान्त-मत में परमात्मा की ही शक्ति है, अतः तत्त्वतः इसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। उत्पत्ति, स्थिति व लय सृष्टि में तीन नियम अबाधित देख पड़ते हैं। ये परमात्म-शक्ति के सूचक हैं। इनके तीन प्रतिनिधि—देवता मान लिये गए हैं और एक-एक गुण से एक-एक की उत्पत्ति कल्पित की गई है। इनमें स्थिति, अर्थात् पालन विष्णुदेव का काम है, जो कि उत्पत्ति व संहार की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय है। अतः समाज में विष्णु का महत्त्व ही अधिक है और अधिकांश अवतार इन्हींके माने गए हैं। ये शक्तियां ब्रह्म के संकल्प रूप में अवतरित होती हैं। यह सारा विश्व भी ब्रह्म का संकल्प ही तो है, जैसा कि ऊपर बता चुके हैं। इस 'त्रिमूर्ति' को भगवान् का तीसरा अवतार कहना चाहिए।

विष्णु को यज्ञपति कहा गया है। परमात्मा को भी यज्ञ-पुरुष कहते हैं। गीता में कहा है—मैंने प्रजा के साथ ही यज्ञ की सृष्टि की है। अतः यहां हम यज्ञ का स्वरूप समझ लें तो अच्छा।

यह सृष्टि ही यज्ञ रूप है। पहले ब्रह्मा उत्पन्न हुए व उन्होंने सृष्टि रचना-रूप यज्ञ-कर्म आरम्भ किया। भागवत (२।६।२२-२७) में स्वयं ब्रह्मदेव कहते हैं—"जब इस विराट् पुरुष के नाभि-कमल से मेरा जन्म हुआ तो इसके अवयवों के सिवा मुझे कोई और यज्ञ-सामग्री नहीं मिली। तब मैंने उसके अवयवों से ही यज्ञ-पशु, वनस्पति, कुशा, यह यज्ञभूमि, यज्ञ-योग्य उत्तम काल, पात्रादि वस्तुएं, औषधियां, घृत, रस, लोहा, मृत्तिका, जल, ऋक्, यजुः, साम, चातुर्होत्र, यज्ञों के नाम,

---

सूर्यादिक प्रकाश न रहने के कारण सप्तर्षियों के तेज से ही आलोकित हो निश्चिन्त भाव से उस प्रलयकालीन जल में विचरोगे।"

इन्हीं बीजों के आधार पर नई सृष्टि उत्पन्न होती है।

(भाग० ८।२४।३४-३५)

मन्त्र, दक्षिणा, व्रत, देवता, संकल्प, तन्त्र, गति, मति, प्रायश्चित्त और समर्पण—यह समस्त यज्ञ-सामग्री एकत्र की। इस प्रकार उस पुरुष के अवयवों से सामग्री एकत्र कर मैंने उसीसे उस यज्ञ-पुरुष परमेश्वर का यजन किया।"

यज्ञ में अग्नि और आहुति—दो प्रधान वस्तुएं होती हैं। आहुति अग्नि में जलती है—वह यज्ञ की क्रिया है। आहुति पड़ती रहने से अग्नि प्रज्वलित रहती है। यह उसका फल हुआ। प्रत्येक वस्तु को कायम रखने के लिए, प्रत्येक क्रिया को जारी रखने के लिए कुछ भोजन चाहिए। प्रत्येक पदार्थ निरन्तर गतिशील है, अतः कुछ-न-कुछ खोता रहता है। इस कमी की पूर्ति परमात्म-तत्त्व—भगवान् के अक्षय शक्ति-भण्डार—से होती रहती है। उसीके बल पर सब पदार्थ कायम रहते हैं और सृष्टि-चक्र चलता रहता है। इसी तरह क्रिया को प्रेरणा व आकर्षण-बल चाहिए। वह भी उसे परमात्मा से ही प्राप्त होता है। यह बन्द हो जाय तो न जीव रहे न पदार्थ, न कोई क्रिया। यही यज्ञ है। यह सृष्टि के साथ ही उत्पन्न हुआ है और इसका कर्त्ता होने के कारण भगवान् यज्ञ-पुरुष और इसकी रक्षा करते रहने के कारण उसकी पालन-शक्ति विष्णु को यज्ञपति कहा है।

इस प्रकार यज्ञ दैनिक कर्म हुआ। जो इस प्रकार अभावों को पूर्ति नित्य नहीं करते, वे उसका फल भुगते बिना नहीं रह सकते जो कि दुःखरूप ही हो सकता है। पेड़ की जड़ में पानी न सींचने से वह सूख जायगा व तुमको फल-फूल-पत्ते आदि न मिलेंगे। बच्चों को दूध न पिलाओगे तो वे मर जायंगे व तुम उनके सुख से वंचित रह जाओगे। इसका यह भी अर्थ होता है—'दोगे तो मिलेगा' या 'लेना हो तो कुछ दो।' मनुष्य ने ईश्वर या प्रकृति के यज्ञ-कर्म से शिक्षा लेकर अपने घर या समाज में जो यज्ञ-प्रथा प्रचलित की, उसमें उसका यही उद्देश्य रहा। उसने देखा कि हमें परमात्मा से—उसकी भिन्न-भिन्न शक्तियों (देवताओं) से ही अपने जीवन की सब सामग्री मिलती है। हम उनका उपभोग करते हैं। यदि हम उसके इस अभाव की पूर्ति न करेंगे या बदले में उन्हें कुछ न देंगे तो हम उन्हें पाने के अधिकारी न रहेंगे। लेकिन अब देना कैसे चाहिए? परमात्मा व उनकी शक्तियां तो मिलना ठीक, दीखतीं तक नहीं। सिर्फ दो ही वस्तुएं होती हैं, जो उसकी प्रत्यक्ष विभूति या प्रतीक कही जा सकती हैं—सूर्य और अग्नि। सूर्य तक मनुष्य पहुंच नहीं सकता व अग्नि सूर्य का ही तेज है। अतः अग्नि का ही आश्रय उसने लिया। फिर उसने देखा कि अग्नि पदार्थों का रूपान्तर कर सकता है। हम कोई भी पदार्थ

उसमें डालें, वह उसे भस्म कर देता है, राख यहां रह जाती है और पदार्थ का प्राण या तत्व वायुमण्डल में प्रवेश कर जाता है और ठेठ परमात्म-तत्त्व में जा मिलता है। अतः यदि कोई वस्तु परमात्मा या देवताओं तक पहुंचाना है तो उसका सरल तरीका उसे यज्ञ या हवन ही मालूम हुआ। मनुष्य के मन में भिन्न-भिन्न इच्छाएं रहती हैं। उनकी पूर्ति के लिए भी वह यज्ञ का अवलम्बन करने लगा। अब यज्ञ में दो भावनाएं काम करने लगीं—एक तो सृष्टि-चक्र को अव्याहत चालू रखने के लिए परमात्मा के निमित्त बलि या आहुति देना। यह हुआ उसका निष्काम कर्म। दूसरे अपने पुत्र, वित्त, सुख, ऐश्वर्य आदि की प्राप्ति के निमित्त। यह हुआ काम्यकर्म।

इसी कल्पना के आधार पर पंचमहायज्ञ का विधान हुआ। पीछे काम्ययज्ञ स्वार्थप्रधान होने के कारण हेय समझा जाने लगा व उसका असली रूप कायम रह गया। अर्थात् यह कि सृष्टि-चक्र को या संकुचित अर्थ में कहें तो समाज-व्यवस्था या जीवन को चालू रखने के लिए अपनी तरफ से किया जानेवाला त्यागमय कर्म। 'वलि' या 'आहुति' जब ऊंचे उद्देश से, सेवा, परोपकार, दयाभाव से की जाती है तब वह त्याग-रूप होती है, यहांतक कि अब तो 'बलिदान' 'आहुति', का अर्थ ही 'त्याग' हो गया है। 'यज्ञार्थ कर्म करो' का अर्थ ही 'सेवा या त्याग-भाव से कर्म करो' हो गया है। गांधीजी ने 'यज्ञार्थ चरखा कातो' की पुकार इसी भावना से प्रेरित होकर उठाई है।

"धर्म की पत्नी दक्षकन्या मूर्ति के गर्भ से भगवान् ने शान्तात्मा ऋषिश्रेष्ठ नर-नारायण के रूप में अवतार लिया। उन्होंने आत्मतत्त्व को लक्षित करानेवाला कर्मत्याग-रूप कर्म (सांख्य-निष्ठा) का उपदेश किया और स्वयं भी उसीका आचरण किया। वे, जिनके चरणों की मुनिवर सेवा करते हैं, आजकल भी (बदरिकाश्रम में) विराजमान् हैं।" ॥६॥

नर-नारायण के रूप में यह चौथा अवतार हुआ। परमात्मा सूक्ष्म से स्थूल व स्थूलतर, अव्यक्त से व्यक्त व व्यक्ततर होता जा रहा है। ये अवतार सृष्टि-रचना या विकास के एक-एक नवीन युग के सूचक भी माने जाते हैं। जैसे पुरुष-रूप होना एक युग, विराट् रूप होना दूसरा युग, त्रिमूर्ति होना तीसरा, व नर-नारायण-रूप होना चौथा, व इसी क्रम से आगे समझ सकते हैं। त्रिमूर्ति के माता-पिता नहीं थे। नर-नारायण के माता-पिता हैं। यह वह काल था जबकि मनुष्य-संख्या बहुत ही

कम थी, सब वस्तुओं का सुपास था, न समाज था, न समाज की जटिलताएं थीं, न उनके छल-प्रपंच आदि दोष ही थे। स्वभावतः ही दूसरा कोई कर्त्तव्य न रहने से मनुष्य आत्मलीन रहा करता होगा और इस अद्भुत सृष्टि के रचयिता भगवान् का ही विचार-चिन्तन करता रहा होगा।

सनातनधर्मियों का यह विश्वास है कि वह अमर हैं और आज भी बदरिकाश्रम—हिमालय—में निवास करते हैं। इसपर अविश्वास करने का सहसा कारण नहीं है, क्योंकि कई सिद्ध पुरुषों ने आपद्ग्रस्त भक्तों का संकट दूर करने के लिए योग का प्रक्रिया से अन्नमय शरीर से निकलकर प्राणमय शरीर के द्वारा दूर देशों में जाकर उन्हें बचाया है। आज भी तिब्बत-चीन के लामाओं में यह शक्ति है और उसके अनुभवी लोगों ने यह बात लिख रखी है कि ये लोग प्राणायाम की सहायता से अन्नमय कोश से प्राणमय कोश को निकाल लेने की क्रिया सिद्ध कर लेते हैं।

अन्नमय कोश पार्थिव शरीर को कहते हैं, प्राणमय कोश इससे सूक्ष्म रूप को। हमारे इस भूलोक की अपेक्षा सूक्ष्म और सूक्ष्मतर लोक 'भुवः' और 'स्वः' हैं। भुवर्लोक में रहनेवाले जीवों में कामदेव, रूपदेव और अरूपदेव—ये तीन एक-से-एक ऊंची कोटि के देव हैं। कामदेव प्राणमय शरीर रखते हैं। मनोमय शरीरधारी देवों तक इनकी गति होती है। रूपदेव मनोमय शरीरधारी होते हैं और अरूपदेव वासनामय शरीर-धारी अर्थात् कारण देहधारी होते हैं। अरूपदेव कभी-कभी मनोमय शरीर धारण करते हैं, प्राणमय शरीर सहसा नहीं धारण करते।

अरूपदेवों की कोटि से भी उच्च कोटि के देवों की और चार श्रेणियां हैं। ये श्रेष्ठ देव ग्रहमालाधिष्ठित देव हैं। उपर्युक्त तीन देव-कोटियों से विशेष सम्बन्ध न रखनेवाले पर, पृथ्वी, अप, वायु और तेज इन तत्त्वों पर स्वामित्व रखनेवाले चार देवराज हैं। ये इन चार तत्त्वों के साथ पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, इन चार दिशाओं के भी राजा हैं। पुराणों में इनके धृतराष्ट्र, विरूपाक्ष, विरुद्धक और वैश्रवण नाम बताये हैं। इनके अधीन गन्धर्व, कुम्भक, नाग और यक्ष हैं, जो निम्न-कोटि के देवदूत हैं। इन चार महाराजाओं के वर्ण यथाक्रम शुभ्र, नील, रक्त और हैम हैं। प्रत्येक धर्मग्रन्थ में किसी-न-किसी नाम से इन राजा-महाराजाओं का वर्णन अवश्य हुआ है।

विधाता ने इन महाराजाओं को पृथ्वी पर उत्पन्न होनेवाले मनुष्यों के कर्मों का नियन्त्रण-कार्य सौंपा है। अर्थात् पृथ्वी पर रहनेवाले मनुष्यों की उन्नति के

सूत्र इन्हींके हाथों में हैं। अखिल विश्व के जो कामदेव हैं, उन्हें लिपिका कहते हैं। प्राणमय शरीरवाले जीव के कर्मानुसार भुवलोक में उसका अधिवास-काल जब समाप्त होता है तब ये लिपिका देव उसके कर्माकर्म का हिसाब देखने और उस जीव को भावी अनुभव-क्षेत्र दिलाने के लिए दूसरे जन्म के योग्य प्राणमय शरीर-निर्माण करते हैं और पृथ्वी, अप, वायु, तेज—इन चार तत्त्वों के अधिपति देव-राज लिपिका के उपदेशानुसार उस जीव का अन्नमय शरीर गढ़ते हैं। मनुष्य को इच्छा-स्वातन्त्र्य दिया गया है और तदनुसार कर्म-स्वातन्त्र्य भी। इसलिए भूलोक में आकर मनुष्य अपनी इच्छानुसार सदसत् कर्म करता है, फिर उन्हीं कर्मों के अनुसार उसका भावी जन्म निर्धारित होता है।

अन्नमय कोश से प्राणमय कोश बाहर निकल सकता है और इससे अन्नमय कोश की असत्यता, प्रमेय, प्रमाण और प्रत्यक्ष अनुभव से सिद्ध होती है। अन्नमय कोश का छूटना अर्थात् लौकिक मृत्यु का होना अन्नमय कोश से प्राणमय कोश का निकलना है, उद्गम है, मृत्यु नहीं। इस प्रकार प्राणमय कोश की सत्यता जंच जाने पर अन्नमय व प्राणमय कोशों का परस्पर विच्छेद होना मृत्यु नहीं, किन्तु अवस्थान्तर है, यह बात सामने आ जाती है। प्राणमय-कोश से मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश और आनन्दमय कोश की परम्परा या अनुभूति होने पर—शिव के ऐक्य को जानना ही प्राणमय शक्ति के सिद्ध होने की फलश्रुति है। यह स्थूल शरीर प्राणमय शरीर का वस्त्र ही है। अतः यदि नर-नारायण अपने प्राणमय शरीर से आज भी विद्यमान हों तो आश्चर्य नहीं। श्री ज्ञानदेव ने जीवित समाधि ली थी। बाद में एकनाथ ने समाधि-मन्दिर को खोला और उनके साथ उनका समागम, बातचीत प्रसिद्ध है।

"ये अपने घोर तप द्वारा मेरा पद छीनना चाहते हैं—ऐसी आशंका करके इन्द्र ने उन्हें तपोभ्रष्ट करने के लिए कामदेव को उसके दल-बल के सहित नियुक्त किया और उनकी महिमा न जानने के कारण वह बदरिकाश्रम में जाकर अप्सरा-गण, वसन्त, मन्द-सुगन्ध वायु और स्त्रियों के कटाक्ष बाणों से उन्हें बींधने की चेष्टा करने लगा।" ॥७॥

कथा है कि नर-नारायण उत्पन्न होते ही तप करने चले गय। जब हम किसी एक बात पर मन या शक्ति एकाग्र करने लगते हैं तो शुरू में दूसरे संकल्प, विचार, भावना—अच्छी-बुरी सब प्रकार की—प्रबल होने लगती हैं। रह-रहकर ध्यान

हटता व दूसरी बातों की ओर जाता है। हमारे मन में कई तरह का मन्थन भी चलता रहता है, जिसमें कभी भय व कभी प्रलोभन के भाव आते हैं। ध्यानावस्था में ये विचार, संकल्प, भावनाएं या विकार मूर्त-रूप में आये जान पड़ते हैं। साधक कभी-कभी इनके भय से अभिभूत हो जाता है, कभी उनके मोहों व प्रलोभनों के चक्कर में पड़ जाता है। इसी दशा का वर्णन पुराणों में पूर्वोक्त जैसे रूपकों व कथाओं के द्वारा किया गया है। बुद्ध की साधना के समय भी ऐसी वृत्तियों या विकारों के आक्रमण का वर्णन बौद्ध-साहित्य में मिलता है। इन्द्र सब शक्तियों—देवताओं—का राजा है। अच्छी-बुरी, शुभ-अशुभ सब शक्तिएं—प्रेरणाएं उसके अधिकार में रहती हैं। उसे एक सूक्ष्म नियामक यन्त्र समझिये। मैं एक संकल्प करके बैठा तो उसकी प्रबलता के अनुसार प्रबल तरंग वायुमंडल में उठी व उस नियामक यन्त्र—इन्द्र—की तरफ चली। वहां मेरे मन की सुप्त संकल्प—व विकार-तरंगें पहले ही से बीजरूप में विद्यमान् हैं। उनमें क्षोभ-हलचल उत्पन्न हुई। इधर मेरे मन में दूसरे संकल्प-विकल्प उठने लगे। उनकी तरंगें भी वहां पहुंचीं। इससे वे अधिक जाग्रत होकर मेरी ओर दौड़ीं व मुझे प्रभावित करने लगीं। मैं अपने पूर्व संकल्प में दृढ़ रहा तो यह विकार-तरंगें प्रभावहीन होकर शान्त हो जायंगी और मेरी जय या सिद्धि हुई समझी जायगी। यही प्रक्रिया इस रूपक के द्वारा बताई गई है। साधना में पहले प्रिय वस्तुओं से बिछुड़ने की कल्पना ज्यादा ज़ोर मारती है। पीछे अनिष्ट, भय आदि की कल्पनाएं। पहले प्रिय वियोग, पीछे अनिष्टयोग ही स्वाभाविक मालूम होता है। संसार में मनुष्य को प्रिय लगने-वाली व मोहित करनेवाली वस्तुएं काम-प्रधान ही रहती हैं। इसीलिए अप्सराओं व उनके साथी वसन्त आदि की चढ़ाई का वर्णन पहले आता है। इन्द्रदेव भी पहले शायद मीठा जहर देना पसन्द करते हैं। 'जो गुड़ दीन्हें ते मरें माहुर काहे देय।'

"इन्द्र की कुचाल को जानकर कुछ विस्मय करते हुए आदिदेव नारायण ने भय से कांपते हुए उन कामादि से हँसकर कहा—हे मदन, हे मन्द मलयमारुत, हे देवांगनाओं, डरो मत। हमारा आतिथ्य स्वीकार करो। उसे ग्रहण किये बिना ही जाकर हमारा आश्रम सूना न करो।" ॥८॥

जब अप्सरादि का हमला हुआ तो नर-नारायण फौरन सचेत हो गये। विकार या शत्रु के मुकाबले के दो ही तरीके हैं—या तो उसे खदेड़ दिया जाय या हजम कर लिया जाय। खदेड़ने में अधिक संहारक बल की व हजम करने में अधिक क्षमा-

बल की जरूरत है। निःसन्देह दूसरा बल अधिक श्रेष्ठ व सात्विक तथा उभय पक्ष के लिए हितकर है। नारायण ने प्रतिकारक की भूमिका ग्रहण करने के बजाय अतिथि-सत्कार करनेवाले यजमान की भूमिका ली। उनका तिरस्कार करने के बजाय उनका स्वागत किया। उनसे शंकित और भयभीत होने के बजाय उलटा उनको अभय-दान दिया। उनको क्रुद्ध करने की अपेक्षा लज्जित करके अपने वशी-भूत करने का मार्ग ग्रहण किया।

जब हम किसी सत्पुरुष का काम बिगाड़ने जाते हैं तो ऊपर से चाहे कितना ही बल-प्रदर्शन का आविर्भाव दिखाया जाय, भीतर से हमारा मन भय-शंकित रहता है। यही अवस्था इन देवांगनाओं की हो रही थी। ऊपर से अपने स्वामी इन्द्र की आज्ञा पालन करनी थीं, किन्तु भीतर से उनका हृदय कांप भी रहा था।

"हे राजन्, अभयदायक दयालु नारायण के ऐसा कहने पर लज्जा से सिर झुकाये हुए देवगण करुण स्वर से इस प्रकार बोले—हे विभो, आप मायातीत और निर्विकार हैं तथा आत्माराम धीर पुरुष निरन्तर आपके चरण-कमलों की वन्दना करते हैं। आपके लिए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि स्वयं अविचल रहकर हम अपराधियों के प्रति भी इतनी उदारता का परिचय दे रहे हैं।" ॥९॥

नारायण की उदारता या अविचलता से इन्द्र के वे गण लज्जित हो गये। उन्होंने देखा कि यह कोई असाधारण पुरुष, अवतारी विभूति है। ऐसी भावना से वे उनकी स्तुति करने लगे।

"जो आपके ही सेवक हैं, उनके मार्ग में देवगण अनेक विघ्न उपस्थित करते हैं; क्योंकि वे उनके धाम (स्वर्गलोक) को लांघकर आपके परमपद को प्राप्त होते हैं और उनके अतिरिक्त जो केवल कर्मकाण्ड में लगे रहकर यज्ञादि के द्वारा देवताओं को उनका भाग देते रहते हैं, उन्हें कोई विघ्न नहीं होता। तथापि यदि आप उनकी रक्षा करने लगते हैं तो वे भक्तजन समस्त विघ्नों के सिर पर पैर रख देते हैं (और अपने लक्ष्य से भ्रष्ट नहीं होते)।" ॥१०॥

अब उन्होंने असली बात भी प्रकट कर दी। सत्य का यही प्रताप है। क्षमा में यही गुण है। अपराधी अपना रहस्य व षड्यन्त्र खुद ही आपके सामने खोल देता है। आपका अभय-दान उसमें कुछ भी न छिपा रखने की प्रवृत्ति पैदा करता है। ये देवता भक्तों के मार्ग में अनेक बाधाएं खड़ी करते हैं; क्योंकि उनके लोक को लांघकर वे आगे बढ़ना चाहते हैं। इसका साधारण अर्थ यह हो सकता है कि जब

साधक या भक्त अपनी उन्नति करते हुए स्वर्ग से भी ऊपर उठता है तो स्वर्ग के प्रलोभन उसे थोड़ी देर तक रोकते हैं।

यहां भक्ति की श्रेष्ठता और कर्म-काण्ड की कनिष्ठता भी बताई गई है। यज्ञ-यागादि करके जो देवताओं को उनका भाग दिया करते हैं, उनसे देवता सन्तुष्ट रहते हैं। जो सीधा परमात्मा को भजते हैं, उनके मार्ग में ये विघ्न खड़ा करते हैं। इस प्रकार यज्ञ-याग व देवताओं की ओर से ध्यान हटाकर एक परमात्मा की ओर ही ध्यान देने का संकेत भागवतकार करते हैं और इन विघ्नों की परवा न करने का आश्वासन भक्तों को देते हैं; क्योंकि खुद भगवान् उनके रक्षक हैं।

"तथा कुछ लोग, जो तपस्वी होने पर भी आपके उपासक नहीं हैं, अपार समुद्र के समान भूख, प्यास (शीत, ग्रीष्म और वर्षा) तीनों कालों के गुण, वायु तथा रसना और शिश्नेन्द्रिय के वेगों को पार करके भी निष्फल क्रोध के वश में हो जाते हैं। मानो (समुद्र पार करके) भी गौ के खुर बराबर गड्ढे में डूब जाते हैं और अपनी कठिन तपस्या को भी खो बैठते हैं।" ॥११॥

इसमें तपस्या से भक्ति की श्रेष्ठता बताई गई है। तप की सिद्धि से अक्सर अभिमान और अभिमान के अवमान व अवहेलना या आज्ञा के उल्लंघन करने पर क्रोध उत्पन्न होता हुआ देखा जाता है। इन्द्रिय तथा मन के वेगों का दमन करने के लिए वे नाना प्रकार के क्लेश कर संयमों की साधना करते हैं। परन्तु आपकी भक्तिरूपी स्निग्धता हृदय में न रहने के कारण क्रोध के वशीभूत हो अपनी तपस्या वरबाद कर देते हैं। भक्त तो खुद ही अपनेको स्वल्प व नम्र समझता है, फिर भगवान् का वरद्-हस्त उसके सिर पर रहता है, अतः उसकी भक्ति वृथा नहीं जा सकती, यह अभिप्राय है।

"उनके इस प्रकार स्तुति करने पर नारायण ने उन्हें विचित्र वस्त्रालंकारों से सुसज्जित, अद्भुत रूप-लावण्यमयी अनेक स्त्रियां अपने आश्रय में सेवा करती हुई दिखलाईं।" ॥१२॥

यह नारायण की भोग-तृप्ति या अनासक्ति का दृश्य है। अप्सराएं उन्हें मोहित करने, तपोभ्रष्ट करने के लिए आई थीं। उन्होंने दिखाया कि तुमसे भी बढ़कर सुन्दरियां मेरे यहां मौजूद हैं, मैं उन्हींमें मोहित नहीं हूं तो तुम्हारी क्या कथा? तुमने गलत आकर आक्रमण किया—अपना माया-जाल फैलाया।

"साक्षात् लक्ष्मीजी के समान रूपवती उन स्त्रियों को देखकर उनके रूप-

लावण्य की महिमा से कान्तिहीन हुए वे देवगण उनके अंग की दिव्य गंध से मोहित हो गये।" ॥१३॥

हिन्दू-धर्म-साहित्य में लक्ष्मी व मोहिनी दो स्त्री-रूप तथा कामदेव व श्रीकृष्ण पुरुष-रूप सौन्दर्य के प्रतिनिधि माने गए हैं। लक्ष्मी शुद्ध सात्विक सौन्दर्य की व मोहिनी कामुक सौन्दर्य की मूर्ति है। इसी प्रकार श्रीकृष्ण शुद्ध व कामदेव कामुक सौन्दर्य के रूप हैं। मनुष्य ने नाना वर्ण आकृति रूप सृष्टि में अद्भुत सौन्दर्य देखा। योगियों ने ध्यान और समाधि में अनन्त तेज व सौन्दर्य का अनुभव किया। तो यह सौन्दर्य आया कहां से? ऐसा सुन्दर रूप-रंग-तेज निर्माण करना मनुष्य के बस का तो था नहीं। नील-नभो-मंडल में रंग-बिरंगे और चित्र-विचित्र आकारवाले बादलों की, बिजली की चमक की, इन्द्र-धनुष की, रात के समय चमकनेवाले लाखों मणिमय रत्नदीप जैसे तारों की जगमगाहट की, सूर्योदय व सूर्यास्तकालीन रमणीय दृश्यों की सुन्दरता का चित्रण अभी तक कोई कर सका है? इनका चितेरा तो वह विश्वनिर्माता ही हो सकता है और यह सौन्दर्य-सामग्री भी—सृष्टि-सामग्री भी उसने अपने में से ही प्राप्त की है। 'सत्' कला से द्रव्य, 'चित्' कला से प्राण-रस लेकर 'आनन्द' अवस्था में उसने सौन्दर्य-सृष्टि की है। इस सत्य को सामने रखकर मनुष्य ने अपनी सारी बुद्धि-शक्ति खर्च करके स्त्री और पुरुष में भगवान् की पूर्वोक्त सुन्दर मूर्तियां—अभिव्यक्तियां—चित्रित की हैं। रूप और रंग की विचित्रता का जो समन्वयात्मक प्रभाव मन पर पड़ता है, वही सौन्दर्य है। उससे जो अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है, उसे साहित्य-शास्त्र में 'रस' कहते हैं। शुद्ध सौन्दर्य की प्रतिनिधि और सृष्टि-पालक विष्णु की पत्नी—शक्ति—होने के कारण उसे सब मातृस्थानीय मानते हैं।

"तब अति दीन हुए उन देवानुचरों से नारायण ने हँसते हुए कहा—इनमें से किसी एक को जो तुम्हारे अनुरूप हो, स्वीकार कर लो, वह स्वर्गलोक की भूषण-रूप होगी।" ॥१४॥

अब उन्होंने राजा इन्द्र को भी छकाने या लज्जित करने का उपाय किया। कहा—इनमें से एक अति सुन्दरी को तुम लोग स्वर्ग में ले जाओ। वह उसकी भी शोभा बढ़ावेगी।

"तब वे देवदूत 'बहुत अच्छा' कह उनकी आज्ञानुसार उनमें से अप्सराओं में श्रेष्ठ उर्वशी को आगे कर प्रभु को प्रणाम करने के उपरान्त स्वर्गलोक को चले

गए।" ॥१५॥

"स्वर्ग में पहुंचकर उन्होंने देवराज इन्द्र को प्रणाम कर सभा में सब देवताओं के सामने भगवान् नारायण का बल और प्रभाव कह-सुनाया। उसे सुनकर इन्द्र अति भयभीत और विस्मित हुआ।" ॥१६॥

अपने षड्यन्त्र को इस प्रकार विफल देख इन्द्र केवल विस्मित ही नहीं भयभीत हो गया। दूसरों से, खासकर सत्पुरुषों से जो ईर्ष्या करते हैं और उनके कार्यों में विघ्न डालते हैं, उनकी अन्त में यही दशा होती है। वे अपने इस पापकृत्य और सत्पुरुष के प्रभाव-बल को देखकर भीतर-ही-भीतर डर जाते हैं।

"इसी प्रकार हंसावतार लेकर भगवान् अच्युत ने आत्मज्ञान का उपदेश किया। तथा दत्तात्रेय, सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार और हमारे पिता श्री ऋषभदेवजी—ये सब भी जगत् के कल्याणार्थ लिये भगवान् विष्णु के कलावतार ही हैं। इनके अतिरिक्त हयग्रीव अवतार में भगवान् मधुसूदन ने वेदों का उद्धार किया।" ॥१७॥

पुराणों में कुल २४ अवतार माने गए हैं। १. विराट् पुरुष (नारायण) २. ब्रह्मा, ३. सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार, ४. नर-नारायण, ५. कपिल, ६. दत्तात्रेय, ७. सुयज्ञ, ८. हयग्रीव, ९. ऋषभ, १०. पृथु, ११. मत्स्य, १२. कूर्म, १३. हंस, १४. धन्वन्तरि, १५. वामन, १६. परशुराम, १७. मोहिनी, १८. नृसिंह, १९. वेदव्यास, २०. राम, २१. बलराम, २२. कृष्ण, २३. बुद्ध, २४. कल्कि (भावी) ये लीलावतार कहे जाते हैं। यों काल, स्वभाव, कार्यकारणरूपा प्रकृति, मन, पञ्चभूत, अहंकार, सत्वादि गुण, इन्द्रियां, ब्रह्माण्ड शरीर, ब्रह्माण्ड का अभिमानी तथा सम्पूर्ण स्थावर-जंगम जीव भी उसी पुरुष के रूप (भाग० २।७।४१-४२) या अवतार ही हैं। इन्हें तत्वावतार कह सकते हैं। इन २४ में १० प्रधान अवतार हैं, जिन्हें विकास-क्रम से इस प्रकार रख सकते हैं—१. मत्स्य, २. कच्छप, ३. वराह, ४. नृसिंह, ५. वामन, ६. परशुराम, ७. राम, ८. कृष्ण, ९. बुद्ध, १०. कल्कि।

वैष्णव (पांचरात्र) मतानुसार भगवान् जगत् के परम मंगल के लिए अपने ही आप चार रूपों की सृष्टि करते हैं=१. व्यूह, २. विभव, ३. अर्चावतार, ४. अन्तर्यामी अवतार। 'व्यूह' में वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध चार तत्वों का समावेश होता है। वासुदेव (सबमें बसे हुए परमात्मा) से संकर्षण (जीव) की

उत्पत्ति होती है। संकर्षण से प्रद्युम्न (मन) की तथा उससे अनिरुद्ध (अहंकार) की। यही 'चतुर्व्यूह सिद्धान्त' पाञ्चरात्र का विशिष्ट सिद्धान्त माना जाता है। 'विभव' का अर्थ अवतार है, जो संख्या में ३९ माना जाता है। विभव दो प्रकार के होते हैं, (क) 'मुख्य' जिनकी उपासना मुक्ति के लिए की जाती है तथा (ख) 'गौण' जिनकी पूजा मुक्ति के वास्ते की जाती है। पद्मनाथ, ध्रुव, मधुसूदन, कपिल, त्रिविक्रम आदि की गणना 'विभव' में की जाती है।

अर्चावतार—पाञ्चरात्र विधि से पवित्र किये जाने पर प्रस्तरादि की मूर्तियां भगवान् के अवतार मानी जाती हैं। सर्व-साधारण की पूजा में इनका उपयोग होता है। इनको अर्चावतार कहते हैं।

अन्तर्यामी—भगवान् सब प्राणियों के हृत्पुण्डरीक में वास करते हुए उनके समस्त व्यापारों के विधायक हैं। वह अन्तर्यामी-रूप है।

जो अवतार कलारूप से होता है, उसे कलावतार कहते हैं। जो भगवत्-शक्ति हमारे जगत् की केन्द्रवस्था है, वह षोडशकला की समष्टि मानी गई है। इस कला-रूपी शक्ति से जितनी कलाओं के विकास को लेकर अवतार होता है, उसे कला-वतार कहते हैं। एक या अनेक कलाओं के विभिन्न अवतार हो सकते हैं। कला की अपेक्षा भी जो न्यून शक्ति का आविर्भाव होता है, उसे अंशावतार व अंश की अपेक्षा भी न्यून शक्ति के अवतार को विभूत्यवतार कहते हैं।

स्वयं भगवान् के प्रादुर्भाव को विभवावतार कहते हैं, जिसके दो भेद हैं—मुख्य व गौण। मुख्य विभव साक्षात् अवतार व गौण विभव आवेशावतार। आवेशावतार के भी दो भेद हैं—१. शक्त्यावेश—आवेश काल में केवल शक्ति का विकास होता है—और २. स्वरूपावेश—भगवान् अपने अप्राकृत विग्रह समेत किसी चेतन शरीर में आविष्ट होते हैं।

इसी तरह कल्पावतार भी जो कल्प या युग की आवश्यकता के अनुसार होता है, वह अर्चावतार भी है। जिस अर्चा-मूर्ति में विश्वासी श्रद्धा-सम्पन्न भक्त भगवान् का आविर्भाव चाहता है, उसमें वे आविर्भूत हो जाते हैं। पौराणिक धारणा के अनु-सार श्रीकृष्ण पूर्ण षोडश कलावतार माने जाते हैं।

आधुनिक विचारों के अनुसार महापुरुषों को आगे की सन्तान अवताररूप में मानने लगती है।

अवतार की उपयोगिता के बारे में परमहंस रामकृष्णदेव कहते हैं—

"जहाज खुद अनायास जाता ही है। साथ-साथ बड़े-बड़े बोटों को भी खींच ले जाता है। इसी प्रकार जब महापुरुष अवतार लेते हैं तब वे भी अनायास बद्ध जीवों को खींच ले जाते हैं।

"बड़े-बड़े शहतीर जब बहते हैं तब कितने ही मनुष्य उनपर चढ़कर चले जाते हैं। वे नहीं डूबते। पर एक तिनके पर एक कौवा भी बैठे तो वह डूब जाता है। इसी प्रकार जब महापुरुष आते हैं तो उनका आश्रय लेकर कितने मनुष्य तर जाते हैं।

"रेल का इंजन माल से भरी गाड़ियों को अनायास खींच ले जाता है। ऐसे ही अवतार भी पाप से लदे जीवों को अनायास मुक्ति की ओर खींच ले जाते हैं।

"जो राजा होता है, उसीकी अमलदारी के सिक्के चलते हैं। वैसे ही जब जो अवतार होता है तब उसीके आदेश के अनुसार चलना चाहिए। इससे झटपट काम बनता है।"

"प्रलय-काल में मत्स्यावतार लेकर मनु ने पृथिवी और ओषधियों की रक्षा की। वराह-अवतार में जल में डूबी हुई पृथ्वी का उद्धार करते समय दितिनन्दन हिरण्याक्ष का वध किया, कूर्मावतार में समुद्र-मन्थन के समय मन्दराचल को अपनी पीठ पर धारण किया तथा (हरि-अवतार) में अपनी शरण में आये ग्राहग्रस्त आर्त गजराज का उद्धार किया।" ॥१८॥

"उन्हीं भगवान् ने (भिन्न-भिन्न अवतारों में) किसी समय समुद्र में गिरकर स्तुति करते हुए तपस्या से अति क्षीण शरीर ऋषियों को बचाया (अथवा गोष्पद-मात्र जल में डूबते तथा स्तुति करते हुए बालखिल्यादि ऋषियों का उद्धार किया) वृत्रवध के कारण ब्रह्महत्या के भय से छिपे हुए इन्द्र की रक्षा की तथा दानवों के द्वारा बन्दी बनाकर रखी हुई देवताओं की अनाथ स्त्रियों को छुड़ाया और नृसिंह अवतार में सज्जनों को अभय करने के लिए दैत्यराज हिरण्यकश्यप का वध किया।" ॥१९॥

"देवासुर-संग्राम में भगवान् ने देवताओं के लिए दैत्यों का वध करके विभिन्न मन्वन्तरों[1] में अपनी शक्ति से त्रिभुवन की रक्षा की। फिर वामन अवतार लेकर भिक्षा के छल से इस पृथिवी को दैत्यराज बलि से लेकर देवताओं को

---

[1] देखिये परिशिष्ट १२

दिया।" ॥२०॥

"हैहयवंश को नष्ट करने के लिए भृगुकुल में अग्निरूप परशुराम अवतार लेकर उन्होंने इक्कीस बार पृथ्वी को क्षत्रियहीन कर दिया। फिर उन्होंने रामावतार में समुद्र का सेतु बांधा और लंका के सहित दशशीश रावण का नाश किया।" ॥२१॥

"भूमि का भार उतारने के लिए अब वह ही अजन्मा[२] हरि यदुकुल में श्रीकृष्ण रूप से अवतीर्ण होकर ऐसे अद्भुत कर्म करेंगे जो देवताओं के लिए भी दुष्कर हैं। आगे बुद्धावतार लेकर यज्ञ के अनधिकारियों को अहिंसावाद से मोहित करेंगे और कलियुग के अन्त में कल्कि अवतार लेकर शूद्र-जाति के राजाओं का वध करेंगे।" ॥२२॥

कृष्णावतार के लिए भविष्यत् काल की क्रिया का प्रयोग किया गया है, जिससे सूचित होता है कि भागवत् की रचना रामावतार के बाद व कृष्णावतार के पहले की गई है। इतिहासवेत्ताओं का मत है कि छठी सदी में गुप्त राजाओं के समय में हिन्दू-धर्म का पुनरुद्धार करने के लिए सब पुराणों का नवीन संस्करण किया गया था व प्राचीनता की छाप बिठाने के लिए भविष्यत् काल की क्रिया का प्रयोग किया गया; क्योंकि दशम स्कन्ध में सारे कृष्णावतार की लीलाएं भूतकालिक क्रिया में ही लिखी गई हैं। ऐतिहासिकों का यह भी मत है कि व्यास कई थे। जो भी कथा कहता या पुराण लिखता, वह व्यास कहलाता था। व्यक्ति का नहीं, बल्कि गद्दी या पद का नाम 'व्यास' था। सम्भव है, भिन्न-भिन्नकालीन कई व्यासों ने मिलकर भागवत् रची हो या उसे वर्तमान रूप दिया हो।

"हे महाबाहो, अतुल कीर्ति विश्वनाथ भगवान् हरि के ऐसे ही अनेक जन्म और कर्मों का महात्माओं ने वर्णन किया है।" ॥२३॥

---

[२] देखिये परिशिष्ट १३

: ५ :

पूजा-विधि

[इस अध्याय में राजा निमि के शेष दो प्रश्नों का—'भक्तिहीनों की दशा कैसी होती है?' और 'किस युग में किस प्रकार भगवान् का पूजन करना चाहिए'—उत्तर क्रमशः चमस और करभाजन ने दिया है। जो वर्ण-धर्मानुसार कर्म नहीं करते हैं, सुख-स्वार्थ, अभिमान में ही चूर रहते हैं या जो हिंसात्मक यज्ञ-याग में ही डूबे रहते हैं, उनकी दुर्गति बताई गई है। करभाजन ने कहा कि सतयुग में भगवान् की उपासना शम, दम और तपस्या के द्वारा, त्रेता में वेद त्रयीरूप कर्म-काण्ड की विधि से, द्वापर में वैदिक और तान्त्रिक विधि से, अर्चन द्वारा तथा कलि में संकीर्तन-प्रधान यज्ञों द्वारा की जाती है। कलि में नाम-संकीर्तन ही सुगमता से मुक्ति दिलाता है और यदि अनुरक्त भक्त से अकस्मात् कोई निषिद्ध कर्म भी हो जाता है तो उसके हृदय में विराजमान् प्रभु उन सबका मार्जन कर देते हैं। तद्-नुसार इन धर्मों का आचरण करते हुए इधर राजा निमि परमपद को प्राप्त हुए और उधर वसुदेव-देवकी मोह रहित हो गये।]

राजा ने कहा—"हे आत्मज्ञानियों में श्रेष्ठ मुनिगण, जिनकी कामनाएं शान्त नहीं हुई और इन्द्रियां भी जिनके वश में नहीं हैं तथा जो प्रायः भगवान् हरि का भजन भी नहीं करते, उनकी क्या गति होती है?" ॥१॥

चमस बोले—"भगवान् आदि पुरुष के मुख, बाहु, जंघा और चरणों से सत्वादि गुणों के अनुसार आश्रमों के सहित पृथक्-पृथक् ब्राह्मणादि चार वर्ण उत्पन्न हुए।" ॥२॥

इस रूपक का मूलाधार "ब्राह्मोऽस्य मुखमासीत् बाहूराजन्यः कृतः। उरूयदस्य तद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत' पुरुष सूक्त का यह मंत्र है। मनुस्मृति में इसीका अनुवाद किया गया है। "सर्वस्यास्यतु सर्गस्य कर्माण्यकल्पयत्" विष्णु पुराण में

कहा है—

ब्राह्मणाः क्षत्रिधाः वैश्याः शूद्राश्च द्विजसत्तम ।
पादोरुवक्षः स्थलतो मुखतश्च समुद्गताः ॥

कई लोग इसका शब्दार्थ लेकर अनर्थ या अबुद्धिगम्य अर्थ करके वृथा वाद-विवाद बढ़ाते हैं व शास्त्रार्थ करते हैं। इसका भावार्थ तो यह है कि जैसे सारे शरीर में मुख श्रेष्ठ और ज्ञान स्थानीय है, उसी प्रकार समाज-रूपी शरीर में ब्राह्मण श्रेष्ठ है, ज्ञान-प्रधान है और उसका स्थान ऊंचा है; जिस प्रकार बाहु शरीर की रक्षा में व भिन्न-भिन्न सत्कार्यों में काम आती हैं, अतः बल की सूचक और महत्त्व-पूर्ण है, उसी तरह समाज में क्षत्रिय बाहु स्थानीय हैं, समाज की रक्षा, पीड़ितों का भाव उनका काम है और वे बल या सत्ताप्रधान हैं। जिस प्रकार शरीर जांघों पर खड़ा रहता है, उसी तरह समाज का पोषण वैश्यों द्वारा होता है, अतः वे समाज के स्तम्भ—जंघा-स्थानीय हैं और अर्थ-धन-सम्पत्ति-प्रधान हैं, एवं जिस तरह पांव शरीर में दौड़-धूप का ही काम करते हैं और सारे शरीर का बोझ उठाते हैं, उसी प्रकार जो शारीरिक श्रम-प्रधान हैं और जिनकी सेवा पर समाज टिका रहता है, वे पादस्थानीय श्रम-प्रधान शूद्र हैं।

प्रकृति या परमात्मा के—सत्त्व, रज, तम—तीन गुणों के अनुसार मनुष्यों में भी तीन मुख्य प्रवृत्तियां उत्पन्न हुईं। सत्वगुण व्यवस्थिति, नियम, या ज्ञान-प्रकाश प्रधान है। अतः समाज में जो पठन-पाठन प्रिय, धर्म ज्ञान में रुचि रखने-वाले थे वे सतोगुणी माने गए और ब्राह्मण कहलाये, जो बल-क्रिया-प्रधान थे वे क्षत्रिय; जो सुख-भोगाभिलाषी थे वे वैश्य की श्रेणी में रखे गये व क्रमशः रजोगुणी तमोगुणी कहलाये। जिनमें कोई विशेष प्रवृत्ति, संस्कार या गुणों का प्रादुर्भाव या विकास नहीं दीख पड़ा, वे 'शूद्र' नाम से संबोधित हुए और शरीर-श्रम-प्रधान गिने गए। यह व्यवस्था सृष्टि की उत्पत्ति होते ही बन गई होगी, ऐसी बात नहीं है। जब समाज काफी आगे बढ़ गया है, उसके काम व जटिलता बढ़ने लगी है और कार्य-विभाग करने और कार्य का उत्तरदायित्व भिन्न-भिन्न लोगों पर सौंपे बिना समाज में व्यवस्था नहीं रहने लगी होगी व समाज की उन्नति रुक गई होगी तब यह व्यवस्था बनी है। चूंकि सब प्रकार की प्रेरणाएं मनुष्य को भगवान् के चित्त-समुद्र से ही मिलती हैं और भगवान् का विष्णु-संकल्प—सृष्टि का कल्याण व उन्नति करनेवाला संकल्प—सदा सर्वत्र प्रवर्तित ही रहता है, अतः यह व्यवस्था भगवान्

ने बनाई—ऐसा कहने की प्रथा पड़ गई है। कर्तृत्व का अभिमान खुद न ग्रहण करके परमात्मा को सौंपने की निष्काम भावना ने भी इसमें काफी काम किया है।

चार वर्ण तो समाज की कार्य-व्यवस्था की दृष्टि से हुए। इसके साथ ही व्यक्तिगत जीवन की उन्नति के लिए भी आश्रम-व्यवस्था ब्रह्मचर्य, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थ व संन्यास——चलाई गई। सौ वर्ष की मनुष्य की आयु मानकर पच्चीस-पच्चीस वर्ष के चार विभाग कर दिये, जो मनुष्य-जीवन में उत्तरोत्तर विकसित होनेवाली चित्तवृत्तियों के अनुशीलन के आधार पर बनाये गए। युवावस्था व कामविकार के परिपुष्ट होने के पहले तक की अवस्था में विद्याध्ययन व शरीर-संवर्धन मुख्य रखा गया। विद्याध्ययन के बिना निर्वाह तथा स्वकर्तव्य-पालन की योग्यता नहीं प्राप्त हो सकती और शरीर-संवर्धन के बिना गृहस्थ-जीवन का कर्त्तव्य दाम्पत्य-सुख का स्वाद नहीं ले सकता। इसमें गुरु-सेवा, विनय, ब्रह्मचर्य आवश्यक था। युवावस्था पुष्ट होने पर गृहस्थी का भार-बोझ, संसार-कर्त्तव्य वहन करना उसकी जिम्मेदारी हुई। इस अवस्था में मनुष्य को ऐसा ही जीवन प्रिय होता है। फिर पच्चीस वर्ष गृह-सुख-भोग व समाज-कार्य करने से जो अनुभव प्राप्त होता है, उससे तथा इधर लड़के-बच्चे काम-काज संभालने योग्य व उत्तर-दायित्व के आकांक्षी भी हो जाते हैं, इसलिए उनपर घर का भार-बोझ रखकर कुछ निश्चिन्तता पाने की वृत्ति उत्पन्न होती है। उत्साह व भावना-प्रधान परन्तु अनुभवहीन किन्तु महत्त्वाकांक्षी लड़कों-बच्चों से अनुभवी माता-पिता का संघर्ष शुरू होने लगता है। उसको बचाना भी अभीष्ट है। अतः युवा-सन्तति को काम करने की अधिक सुविधा व आजादी मिले तथा वृद्धों के अनुभवों से वंचित भी न रहें, इस दूरदर्शिता से वानप्रस्थाश्रम का निर्माण हुआ व गृहस्थ तथा समाज-कार्य में सलाह-सूचना भर देते रहने की जिम्मेदारी वानप्रस्थी की मानी। फिर संन्यास। जब सन्तान बिल्कुल योग्य हो गई, बल्कि वानप्रस्थ की सीमा तक पहुंचने लगी तब वृद्ध सलाहकार का स्थान उनके लिए खाली करके खुद केवल परमात्म-चिन्तन व लोक-सेवा में लग जाय। यह संन्यास-आश्रम की व्यवस्था हुई।

संन्यास-आश्रम में कर्म-निषेध की व्यवस्था पाई जाती है। परन्तु वहां कर्म-काण्ड से अभिप्राय है, कर्म-मात्र से नहीं और यदि हो भी तो अब वह समयोपयोगी नहीं है। संन्यास के मूल में जो त्याग, निश्चिन्तता व लोकोपकार की भावना है, वही गृहणीय है। समाज की वर्तमान गति-विधि के अनुसार उस भावना का

लौकिक स्वरूप निश्चित होना चाहिए और यह बाह्याचार समाज की आवश्यकताओं के अनुसार समय-समय पर बदलते रहना भी चाहिए।

इसमें कहीं भी ऊंच-नीच की भावना या घृणा, तिरस्कार के लिए स्थान नहीं है। परस्पर सहयोग से अपनों तथा समाज की सेवा या उन्नति ही लक्ष्य व अभीष्ट है।

"इन वर्णाश्रमों में उत्पन्न जो लोग अपने उत्पत्ति-स्थान आदिनारायण को नहीं भजते अथवा उनका अनादर करते हैं, वे अपने स्थान से भ्रष्ट होकर नीचे गिर जाते हैं।" ॥३॥

ये वर्णाश्रम यदि अपने-अपने काम करते हुए भी भगवान् को भूल जाते हैं तो उनकी अधोगति हुए बिना नहीं रहती ; क्योंकि जबतक मनुष्य सदा-सर्वदा प्रतिक्षण यह याद नहीं रखता कि भगवान् घट-घट में रहते हैं, वह हमारे सब मानसिक विकार, विचार व शारीरिक कर्मों को देखते हैं, हमारी कोई बात उनसे छिपी नहीं रह सकती, जिस कर्म को हम एकान्त में किया समझते हैं, उसे भी वह जरूर देखते हैं तबतक सुख-भोग, स्वार्थ, अज्ञान, मद, मोह, प्रतिहिंसा, द्वेष के वशीभूत हो उससे नाना प्रकार के कुकर्म होने की आशंका व सम्भावना रहती है। दूसरे यदि सबमें भगवद्भाव रखना छोड़ दे तो उसमें कई उपयोगी गुणों का विकास न हो सकेगा—जैसे आत्मभाव, समता, न्याय, सहयोग आदि। भजने का अभिप्राय यही है कि सदा-सर्वदा उन्हें याद रखें, उनके प्रति आदर व भक्तिभाव रखकर नम्र रहें व एकमात्र उन्हींके लिए जियें व उन्हींके लिए मरें।

"हां, जो-कोई हरिकथा अथवा हरिकीर्तन से अनभिज्ञ हैं, वे स्त्री-पुरुष और शूद्रगण तो आप जैसे भगवद्भक्तों की दया के ही पात्र हैं, अर्थात् उन्हें अज्ञान से निकालकर आप लोगों को भगवद्भजन में प्रवृत्त करना ही चाहिए।" ॥४॥

ऊपर तो द्विजातियों की, उच्च वर्णवालों की बात हुई। अब अपढ़ स्त्रियों तथा शूद्रों की क्या गति हो ? वे भगवान् पर श्रद्धा तो रखते हैं, परन्तु उसके स्वरूप व गुण आदि को नहीं जानते, न वे कथा-कीर्तन की विधि आदि ही जानते हैं। तो जो श्रेष्ठ भगवद्भक्त हैं, उनका कर्त्तव्य है कि वे उन्हें ज्ञान-दान देकर भगवान् का मार्ग बतावें व उसपर चलावें।

"बहुत-से ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य वेदाध्ययन तथा यज्ञोपवीतादि संस्कारों के कारण हरिचरणों की सन्निधि का अधिकार पाकर भी वैदिक अर्थवाद से मोहित

हो जाते हैं।" ॥५॥

अपढ़-कुपढ़ तो ठीक, विद्वान् और संस्कारवान् द्विजातियों के लोग भी कई बार वेदों के मुख्य अभिप्राय को भूलकर गौण बातों को प्रधान मान लेते हैं। इससे भगवान् के नजदीक पहुंचने की योग्यता रखते हुए भी वे भटक जाते हैं। मुख्य अर्थ को छोड़कर अवान्तर बातों को अर्थवाद कहते हैं। किस तरह? सो अगले श्लोकों में बतलाते हैं।

"कर्म का रहस्य न जाननेवाले तथा उद्धत व मूर्ख होकर भी अपनेको पण्डित माननेवाले वे लोग इस फल-श्रुति की मधुर वाणी से मोहित होकर बड़ी प्रसन्नता से बहुत ही मीठी-मीठी बातें किया करते हैं।" ॥६॥

मुख्य बात को छोड़कर जो गौण बात को ग्रहण करता है, वह पण्डित होकर भी वास्तव में मूर्ख ही है। वह है तो मूर्ख पर तारीफ यह कि लगाता अपनेको बड़ा पण्डित है। कर्म का रहस्य तो वह जानता नहीं, सिर्फ वेदों या पुराणों में कही गई कर्म-फल की बढ़िया-बढ़िया बातों के चक्कर में आकर फूला फिरता है। वह इतना नहीं समझता कि स्वर्ग के रमणीय सुख-साधनों आदि की फल-श्रुति तो अज्ञ, अज्ञानियों को कर्म में प्रवृत्त करने के लिए प्रलोभन-मात्र है।

"वे कर्माभिमानी लोग रजोगुण की अधिकता से घोर संकल्पवाले, बड़े कामी, सर्प के समान क्रोधी, पाखण्डी, अभिमानी और पापी होते हैं तथा भगवान् अच्युत के प्रिय भक्तों की हँसी किया करते हैं।" ॥७॥

वे कोई कर्मकाण्ड के अभिमानी हो जाते हैं और जो सरलता व नम्रता से भगवान् के भजन-पूजन या प्रिय सेवा कार्यों में लगे रहते हैं, उनका मजाक उड़ाते हैं। हिंसात्मक यज्ञ-यागादिक करते रहने से उनके संकल्प भयंकर होते हैं। वे नाना प्रकार की कामनाओं से युक्त होते हैं। अतः उनमें विघ्न पड़ने से सांप की तरह क्रोधित हो काटने दौड़ते हैं। अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए अनेक पाखण्ड रचते हैं। अपनी सफलताओं पर अभिमान से फूले नहीं समाते। और इन दुर्वृत्तियों व दुर्गुणों के फलस्वरूप अनेक दुष्कृत्यों के कर्त्ता होकर पापभागी होते हैं।

"वे सभी—लम्पट पुरुष जिनमें प्रधानतः मैथुन ही सुख है ऐसे गृहों में आसक्त होकर परस्पर वहां के भोगों की ही चर्चा किया करते हैं। वे लोग कर्म के रहस्य से अनभिज्ञ होते हैं तथा अन्नदान, विधि और दक्षिणा से रहित यागादि करते हुए उदर-पूर्ति के लिए पशुओं को मारते रहते हैं।" ॥८॥

निष्काम कर्म या ईश्वर-प्रीत्यर्थ या सेवाभाव से किये कर्म का रहस्य, महत्त्व न जानकर वे लोग हिंसापूर्ण पशु-बलियुक्त यज्ञयागादि कर्म करते रहते हैं। विषय-भोग व गृह-सुख ही उनके जीवन का लक्ष्य होता है और दिन-रात भोग, स्त्री, मैथुन आदि की तथा इनमें लिप्त सभी—पुरुषों की ही चर्चा किया करते हैं और अच्छे तथा आवश्यक विषयों का ज्ञान भले ही उन्हें न हो, पर इस शास्त्र के वे पण्डित होते हैं और न जाने कहां-कहां से इस-सम्बन्धी जानकारी बटोर-बटोरकर रखते हैं।

"धन-वैभव, अच्छा कुल, विद्या, दान, रूप, बल और कर्म आदि के गर्व से अन्धी बुद्धिवाले विचारशून्य होकर वे दुष्ट भगवान् के सहित भगवद्भक्त महात्माओं का तिरस्कार करते हैं।" ॥६॥

धन-वैभव आदि स्वतः मनुष्य को मदान्ध नहीं बनाते। मनुष्य की वृत्ति उन्हें अच्छा या बुरा बना देती है। अच्छी भावनावाले इनका सदुपयोग कर इन्हें शक्ति-साधन बना लेते हैं। बुरे विचारवाले इन्हें कुकर्म-साधन बना लेते हैं।

विद्या विवादाय धनं मदाय। शक्तिः परेशां परपीडनाय।
खलस्य साधोर्विपरीतमेतत्। ज्ञानाय, दानाय, च रक्षणाय॥

विद्या, धन और शक्ति खल के हाथ में पड़ी तो विवाद, मद और परपीड़न के काम आई। साधु के हाथ पड़ी तो ज्ञान, दान और रक्षण में लगी। अतः चूंकि वे कामना-वासना-युक्त हो यज्ञादि कर्म करते थे, इन सामग्रियों का उपयोग उनके मद को बढ़ानेवाला हो जाता था, फिर वे ईश्वर-सेवा तो दूर उलटा ईश्वर व उसके सेवकों—भक्तों, साधु-सन्तों का तिरस्कार भी करने लग जाते हैं।

"क्योंकि जो आकाश के समान समस्त देह-धारियों में सर्वदा स्थित और उनके प्रिय आत्मा हैं, उन वेद-वर्णित भगवान् के विषय में वे अज्ञजन कुछ नहीं सुनते और बातचीत में भी तरह-तरह की कामनाओं की ही चर्चा करते रहते हैं।" ॥१०॥

कोई भगवान्, उनके आदेश, उनके मार्ग आदि के बारे में उनसे कुछ कहते-सुनते भी हैं तो उनसे दूर भागते हैं। कहते हैं—हम बाल-बच्चेदार हैं। अभी खाने-कमाने के दिन हैं। भगवद्भजन के लिए बुढ़ापा अभी दूर है। पहले स्वार्थ, फिर परमार्थ। "भूखे भक्ति न होय गुपाला।"

"लोक में स्त्री-प्रसंग तथा मद्य-मांस के सेवन में जीव की स्वभाव से ही सदा

प्रवृत्ति है। शास्त्रों में उनके लिए कोई विधान नहीं है। अतः उन्हें क्रमशः विवाह, यज्ञ, और सौत्रामणि यज्ञ में सुराग्रह के द्वारा ग्रहण करने की व्यवस्था है। वास्तव में इनकी निवृत्ति ही इष्ट है।" ॥११॥

मनुष्य एक उन्नत पशु ही है। अतः उसमें पशुत्वसूचक कई प्रवृत्तियां देखी जाती हैं। उसने काफी उन्नति की है, फिर भी हिंसा-प्रतिहिंसा, मैथुन की प्रवृत्ति छूटी नहीं हैं। बल्कि ऐसा जान पड़ता है कि मद्य, मांस और मैथुन की उसकी प्रवृत्ति मानो स्वाभाविक ही हो गई हो। पशु तो फिर भी आवश्यकतावश ही उन प्रवृत्तियों में लगते हैं; परन्तु मनुष्य तो इन्हें भोग-विलास के साधन बना लेता है। जब मनुष्य-समाज संगठित होने लगा, गृह और कुटुम्ब की व्यवस्था बनने लगी तब यह अमर्याद मद्य, मांस, मैथुन का व्यवहार कैसे चल सकता था? अतः तत्कालीन समाज-व्यवस्थापकों ने तरकीब से रोक लगाई। मैथुन की मर्यादा तो विवाह-प्रणाली के द्वारा बांध दी, मांस की यज्ञ-प्रसाद के रूप में ही लेने की छुट्टी रखकर तथा मद्य को सौत्रामणि-यज्ञ में ही लेने का विधान करके। यह व्यवस्था निवृत्तिपरक है, उत्तेजक नहीं है।

"धन का भी एकमात्र फल धर्म ही है, जिससे कि विज्ञान के सहित ज्ञान की प्राप्ति होती है और उसके पश्चात् शान्ति मिलती है; परन्तु लोग उसका दुरुपयोग घर-गिरस्ती के लिए ही करते हैं और (अपने सिर पर खड़ी) इस शरीर की दुस्तर मृत्यु को नहीं देखते।" ॥१२॥

वैसे तो धन का उपार्जन, रक्षण, दान या उपयोग सब धर्म के लिए—जिससे व्यक्ति व समाज का धारण, पोषण व सत्वसंशुद्धि होती रहे ऐसे कामों के लिए—है, जिससे उसे लौकिक ज्ञान और विज्ञान—पारलौकिक ज्ञान या ईश्वर-प्राप्ति सुलभ हो, एवं उसके लिए दुःख, क्लेश का कोई कारण न रहकर शान्ति लाभ हो। परन्तु मूर्ख लोग घर-गिरस्ती के कामों में ही लगे रहते हैं। असली उद्देश्य को भूल जाते हैं और उसमें ऐसे बेखबर होकर डूबे रहते हैं मानों ईश्वर के यहां से अमरता का पट्टा लिखा लाये हैं। सिर पर मौत खड़ी है, न जाने कब कूच का डंका बजने लगेगा, इसको भूल जाते हैं। ऐसे मनुष्य को सावधान करने के लिए ही कहा है—"गृहीतइवकेशेषु मृत्युनाधर्ममाचरेत्"।

"सौत्रामणि यज्ञ में मद्य का केवल सूंघ लेना ही विहित है, पीना नहीं। यज्ञादि में पशु के आलभन स्पर्श का विधान है, हिंसा करने का नहीं तथा केवल संतानो-

त्पत्ति के लिए ही स्त्री-प्रसंग में प्रवृत्त होना चाहिए, विषय-सुख के कारण नहीं —इस विशुद्ध धर्म को वे मूर्ख नहीं जानते।" ॥१३॥

जैसे-जैसे मनुष्य-समाज में सभ्यता व दयाभाव बढ़ता गया वैसे-वैसे हिंसा को कम करने की ओर प्रवृत्ति बढ़ती गई। बल्कि यों कहना चाहिए कि असंयम से संयम की ओर प्रगति होती गई। पहले स्वच्छन्दतापूर्वक मद्य, मांस, मैथुन का उपयोग होता था, पीछे विवाह व यज्ञों के प्रसाद के रूप में सेवन करने की अनुमति रही। बाद में केवल स्पर्श करने व सूंघने का ही विधान कर दिया गया। पश्चिमी सभ्यता व शिक्षा-दीक्षा के फलस्वरूप अब फिर तीनों के बांध टूट रहे हैं। सन्तानोत्पत्ति की मर्यादा की तरफ तो उनका ध्यान गया है, पर वह संयम की दृष्टि से नहीं, कुटुम्ब का बोझ बढ़ जाने व रति-सुख में बाधा पड़ने के भय से। रहा मद्य-मांस, सो इसका तो बोलबाला ही समझिए। हिन्दुओं में भी अब मांस खाने का प्रचार किया जा रहा है और गौ-मांस से भी घृणा हटती जा रही है। हिन्दूधर्म अबतक इसीलिए जीवित है और सदैव जीवित रहेगा, क्योंकि इसमें मूल तत्व को सुरक्षित रखकर समाज की आवश्यकतानुसार आचार-धर्म में परिवर्तन करने की गुंजायश रखी गई है। उसका यह सिद्धान्त है कि जगत् परमात्मा से उत्पन्न हुआ है और अन्त में परमात्मा में ही लीन होनेवाला है। अतः उन्होंने ऐसे ही नियम व व्यवस्थादि निर्माण किये हैं, जो उसे परमात्मा की तरफ ले जाने में सहायक हों। अनुभव से उन्होंने देख लिया है कि सर्वतोमुखी संयम ही—असंयम या भोग नहीं—समाज की लौकिक व पारलौकिक उन्नति का—प्रेय और श्रेय का—साधन बन सकता है। भोग का तत्काल अन्त ही बल, उत्साह की कमी व दूरवर्ती अन्त दुःख निश्चित है। इसके विपरीत संयम से बल, ओज, तेज, उत्साह की वृद्धि व परिणाम में सुख की सिद्धि उसी प्रकार निश्चित है, जैसे दिन के पीछे रात व रात के पीछे दिन।

"इस यथार्थ तात्पर्य को न जाननेवाले जो दुष्ट अत्यन्त गर्वीले और अपने में अच्छेपन का अभिमान रखते हैं तथा किसी लाभ पर विश्वास करके पशुओं से द्रोह करते हैं, उनके वध किये हुए वे पशु मरकर उन्हींको खाते हैं।" ॥१४॥

इसके द्वारा यज्ञ में पशु-बलि या हिंसा का घोर विरोध किया है। यदि इस प्रकार के हिंसा-विरोधी वचन बुद्ध व महावीर काल के बाद के—गुप्तराज्य-काल में किये गए संस्करण के—भी मान लिये जायं तो भी वे व्यक्ति तथा समाज के

हितकर ही होने के कारण मान्य ही होने चाहिए। कोई वस्तु प्राचीन है या नवीन, इसीपर से वह अच्छी या बुरी नहीं हो सकती। वस्तु की मूल उपयोगिता तथा देश, काल, पात्र के अनुसार उसके लाभालाभ पर विचार करके उसके ग्रहण या त्याग का निश्चय करना चाहिए। मूल सिद्धान्त जैसे सत्य, न्याय, समता या तत्व जैसे आत्मा-परमात्मा ही अपरिवर्तनीय या त्रिकालावाधित हो सकते हैं। इनके आधार पर जो नियम, नीति, व्यवस्थाएं बनाई जायंगी, उन्हें तो समय की आवश्यकता के अनुसार बदलना ही पड़ेगा, जैसा कि मनुष्य के वस्त्र अवस्था के मान से छोटे-बड़े बनाये जाते हैं।

"इस अवश्य नष्ट होनेवाले शरीर (और एक गिन अवश्य छूट जानेवाले धन) में स्नेह करके जो अन्य शरीरों में अवस्थित अपने ही आत्मा भगवान् श्रीहरि से द्वेष करते हैं, वे अवश्य अधोगति को प्राप्त होते हैं।" ॥१५॥

इसमें यह सुझाया गया है कि तुम द्वेष किसका करते हो? जिस किसीका तुम द्वेष करते हो, वह कौन है? वह तो ईश्वर का ही दूसरा रूप है, तुम्हारी ही आत्मा है। तुम अपना ही द्वेष कर रहे हो। वह न तो तुमसे भिन्न है, न तुम्हारा हानिकर्ता है। जब हम भेद की संकुचित दृष्टि से देखते हैं, तो वस्तु के एक ही पहलू पर हमारी दृष्टि रहती है; परन्तु अभेद की उदार दृष्टि से वस्तु का सारा रूप हमारे सामने आ जाता है, तब सब जगह हम अपनेको ही देखते व पाते हैं। तब किसकी हिंसा करें, किसका द्वेष करें? और सो भी इस शरीर के सुख के लिए, जो एक दिन जरूर ही मिट्टी में मिल जानेवाला है और धन-संग्रह के लिए जो हमारे साथ नहीं जानेवाला है?

यह याद रखना चाहिए कि शरीर और धन को यहां स्वतन्त्र-रूप से तुच्छ नहीं बताया है, इनके खातिर दूसरों से द्वेष करने के लिए मना किया है। अपने साथी या पड़ौसी व्यक्ति से अधिक महत्त्व की या मूल्यवान् ये वस्तुएं नहीं हैं, जो उनसे द्वेष-कलह करके भी इनकी रक्षा की जाय। इसका यह अर्थ नहीं है कि कोई अन्याय-अत्याचार से हमारा धन-जन-हरण करना चाहें तो चुपचाप ऐसा होने दें। इसका आशय तो यह है कि हम अपने शरीर-सुख या धन-लोभ से दूसरों को न सतावें।

"जिन्होंने (पूर्णबोध के द्वारा) कैवल्य पद को प्राप्त नहीं किया, और न मूढ़ ही हैं, ऐसे अर्थ-धर्म-काम-रूप त्रिवर्ग में फंसे हुए पुरुष एक क्षण को भी शांति

नहीं पाते और अपने-आप ही अपना सर्वस्व नष्ट कर देते हैं।" ॥१६॥

मनुष्य की तीन श्रेणियां हैं—मूढ़, कामी व केवली। मूढ़ श्रेणी में सर्व-साधारण अपढ़ अज्ञ लोग आते हैं, जिन्हें धर्माधर्म, नीति-अनीति का विशेष ज्ञान नहीं होता है, जो संस्कारवश या परम्परागत रूढ़िवश जीवन व्यतीत करते हैं। कामी वे हुए, जो अर्थ और काम—कामिनी व काञ्चन—लौकिक सुख-साधन में फंसे रहते हैं और इन्हींकी सिद्धि के लिए धर्म का सहारा लेते या उपयोग करते हैं। तीसरे वे जो इनसे मुक्त होकर केवल आत्मा में लीन रहते हैं। संसार को अपना आत्मा समझकर सबसे प्रेम, स्नेह रखते हैं और सबका हित करते रहते हैं। इनमें बीच की श्रेणी के अधिक दुःख पाते हैं। उन्हें एक मिनट भी चैन नहीं पड़ती। मूढ़ श्रेणीवालों में न तो ऐसी महत्त्वाकांक्षा ही होती है, न उनके ऐसे साधन ही प्राप्त रहते हैं, जिनसे वे दिन-रात चिन्ता व अशान्ति में डूबे रहें। मिहनत-मजूरी करके कमा खाया व बाल-बच्चों में सुख से पड़े रहे। एक तरह से यह जीवन शान्तिप्रद तो है। किसीने कहा है—उस ज्ञान की अपेक्षा, जिससे दुःख हो, वह अज्ञान जिससे सुख मिले, बेहतर है। इस श्रेणी के लोग खुद तो अधिक दुःख में नहीं पड़ते हैं; परन्तु दूसरों को भी दुःख में नहीं डालते हैं, बल्कि उनकी सेवा व सुख के ही साधन बनते हैं; किन्तु ये त्रिवर्गी तो न खुद चैन पाते हैं, न दूसरों को लेने देते हैं। दिन-रात हाय-हाय में लगे रहते हैं। यहां भागवतकार को बीच की श्रेणी की दुरावस्था बताना मंजूर है, न कि प्रथम श्रेणी की उपादेयता। सुख व शान्ति तो वास्तव में ज्ञान व संयम में है, जो तीसरी श्रेणी में ही पाया जाता है। अतः मनुष्य का उद्योग प्रथम दोनों श्रेणियों से निकलकर तीसरी श्रेणी में आने का होना चाहिए, जिससे मनुष्य के लिए तीसरी श्रेणी सुलभ हो।

"अज्ञान को ही ज्ञान समझनेवाले ये अशान्तात्मा आत्मघाती लोग काल के द्वारा अपने सम्पूर्ण मनोरथों के नष्ट हो जाने से अकृत-कार्य होकर अत्यन्त दुःख भोगते हैं।" ॥१७॥

चूंकि ये स्वार्थ-सिद्धि व विषय-भोग में ही लिप्त रहते हैं, इनके ज्ञान-नेत्र फूट जाते हैं व ऊट-पटांग काम करने लगते हैं। जैसे भी मिले भले-बुरे साधन, योग्य-अयोग्य व्यक्ति, अच्छी-बुरी पद्धति का अवलम्बन करके वे सुख-भोग जुटाना चाहते हैं, किन्तु ये सब उनके लिए आत्मघातक व अशान्तिकर ही सिद्ध होते हैं। जहां विवेक नहीं, तारतम्य नहीं, सारासार-विचार नहीं, नीति-अनीति का ध्यान

नहीं, वहां सफलता व शान्ति कैसे मिल सकती है? थोड़े दिन के लिए इनका आभास हो भी जाय तो अन्त को उनके मनोरथ नष्ट होकर ही रहते हैं व वे असफलता का दुःख भोगते हैं।

"ये भगवद्विरोधी लोग अत्यन्त कष्ट से प्राप्त हुए अपने गृह, पुत्र, मित्र और धन आदि को यहीं छोड़कर विवश हो घोर अन्धकार (नरक) में पड़ते हैं।" ॥१८॥

इस जन्म में तो दुःख भोगते ही हैं, पर अगले जन्म में भी उसके प्रभाव से वे वंचित नहीं रहते। बुराई और पाप का फल मनुष्य का तबतक पीछा नहीं छोड़ता जबतक कि वह पूरा-पूरा भुगत न ले। इस जीवन में फल-भोग बाकी रह गया तो अगले जीवन में वह भुगतना होगा। 'आप मरे जग डूबा' के अनुसार किसीको निश्चिन्त न रहना चाहिए; बने जहांतक दुष्कर्म से बचना चाहिए, फिर भी हो ही जाय तो उसका फल जितनी जल्दी हो भुगत लेना चाहिए। यदि जल्दी न मिलता हो तो चिन्ता होनी चाहिए, जल्दी मिल जाय तो खुशी मनानी चाहिए। दुःख पाप करते समय होना चाहिए। फल भुगतते समय तो हल्कापन ही अनुभव करना चाहिए, मानो कर्ज उतर रहा है।

राजा ने कहा—"भगवान् का किस समय (युग में) कैसा वर्ण तथा कैसा स्वरूप होता है और किन-किन नामों और विधियों से उनकी पूजा होती है, यह सब आप वर्णन कीजिये[1]।" ॥१९॥

चूंकि बाह्याचार—विधि-विधान—समयानुसार परिवर्तनीय होते हैं, निमि-राजा ने भगवान् की पूजा-विधि आदि के सम्बन्ध में यह प्रश्न किया। इसका तात्पर्य इतना ही है कि हमारी इष्ट-उपासना के लिए देश-काल के अनुसार कार्य-

---

[1] समर्थ रामदास ने पूजा के चार कार बताये हैं—

१. प्रतिमापूजन, २. अवतारोपासना, ३. अन्तरात्म-भजन, ४. निश्चल ब्रह्मोपासना। इनमें सब प्रकार की पूजा का समावेश हो जाता है।

सब पूजा एक ही भगवान् को पहुंचती है—

"जिस प्रकार पर्वतों से निकली हुई नदियां मेघ के जल से भरकर सब ओर से बहती हुई समुद्र ही में गिरती हैं, हे प्रभो, उसी प्रकार समस्त उपासना-कार्य अन्त में आप ही की प्राप्ति कराते हैं।"

क्रम व रीति-नीति में परिवर्तन करते रहना उचित है।

"हे राजन्, सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलि इन चारों युगों में भगवान् भिन्न-भिन्न वर्ण, नाम और रूपवाले होते हैं तथा उनकी पूजा भी भिन्न-भिन्न विधियों से ही होती है।" ॥२०॥

अर्थात् युगानुसार समाज-व्यवस्था, कार्य-प्रणाली भिन्न-भिन्न हो सकती है। भगवान्--मूल सिद्धान्त--तो एक ही है; उसके बाहरी रूप आदि में ही परिवर्तन होता रहता है।

"सत्ययुग में भगवान् शुक्लवर्ण चतुर्भुज जटाजूटधारी तथा वल्कल, कृष्ण मृगचर्म यज्ञोपवीत, रुद्राक्ष और दण्ड—कमण्डलु धारण करनेवाले होते हैं।" ॥२१॥

"उस समय के शान्त निर्वैर-हृदय और समदर्शी लोग उन भगवान् नारायण की शम, दम और तपस्या के द्वारा उपासना करते हैं। उस समय उनका हंस, सुपर्ण, वैकुण्ठ, धर्म, योगेश्वर, मनु, ईश्वर, पुरुष, अव्यक्त और परमात्मा आदि नामों से संकीर्तन किया जाता है।" ॥२२-२३॥

सत्ययुग सृष्टि का आदि युग है। उसमें स्वभावतः ही मनुष्य का जीवन सरल था; न समाज था, न राज्य थे; सारी प्रकृति उसके जीवन के उपयोग के लिए खुली पड़ी थी। अतः उन्हें किसीसे वैर-झगड़ा करने की जरूरत नहीं पड़ती थी। शान्ति से आपस में मेल-जोल के साथ रहते थे। एक-दूसरे में समानता का भाव रखते थे। शीत के कारण रंग गोरा होता था, लम्बे बाल रखते थे। वल्कल पहनते थे। मृगचर्म आदि बिछाते थे। बरतन बनने नहीं लगे थे, अतः काठ के कमण्डलु से ही काम चला लिया करते थे। जैसी मनुष्य-जाति की स्थिति उस समय थी उसीके अनुरूप भगवान् के रूप की कल्पना और उसकी उपासना के साधन थे। समाज शायद बना ही नहीं था तो उसकी जटिलता और आडम्बर तो हो ही कहां से सकता था? अतएव उपासना-पद्धति भी सीधी और सरल थी। शम—मन की शान्ति, दम—इन्द्रियों का वश में रखना, तप—परमात्मा की प्राप्ति, दर्शन या इच्छित वस्तु प्राप्त करने के लिए चारों ओर से संयमपूर्वक एकाग्रता।

"त्रेतायुग में भगवान् रक्तवर्ण, चतुर्भुज, त्रिमेखलाधारी, सुनहले केशोंवाले, वेदत्रयी रूप और स्रुक, स्रुवा आदि यज्ञपात्रों से सुशोभित होते हैं। उस समय के धर्मिष्ठ और ब्रह्मचारी पुरुष उन सर्वदेवमय भगवान् हरि का वेदत्रयी रूप

कर्मकाण्ड की विधि से पूजन करते हैं तथा वे विष्णु, यज्ञ, प्रश्निगर्भ, सर्वदेव, पुरुक्रम, वृषाकपि, जयन्त और उरुगाय आदि नामों से पुकारे जाते हैं।" ॥२४-२५-२६॥

यह उस समय का वर्णन है जब समाज बन गया था। उसमें धर्म के विधि-विधान बन चुके थे। तीन वेदों का प्रचार हो गया था। ब्रह्मवाद की स्थापना हो चुकी थी, लेकिन यज्ञ-यागादि कर्मकाण्ड जोरों पर थे। आर्य स्थानान्तर करके अधिक गर्म प्रदेशों में आ गये थे। उनका गौरवर्ण अब रक्तवर्ण में परिणत हो चला था। विधि-विधान-मय उपासना-पद्धति प्रचलित हो चुकी थी। श्रम-शौर्य-प्रधान युग था।

"द्वापर में भगवान् श्यामवर्ण, पीताम्बरधारी, अपने चक्रादि आयुधों से युक्त तथा श्रीवत्सादि शारीरिक चिह्नों से व कौस्तुभादि बाह्य चिह्नों से सुशोभित होते हैं। हे राजन्, इस प्रकार उन छत्रचामरादि राजचिह्नों से युक्त परमपुरुष का वे परमात्मा के जिज्ञासु लोग वैदिक-तान्त्रिक विधि से अर्चन करते हैं। 'तथा वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध एवं षडैश्वर्य युक्त आपको प्रणाम है। ऋषिश्रेष्ठ नारायण, महापुरुषवर, विश्वेश्वर, विश्वरूप एवं सर्वभूतात्मा आपको बार-बार प्रणाम है'—इस प्रकार अनेक शास्त्रविधियों से द्वापरयुग में जगदीश्वर की स्तुति करते हैं। अब कलियुग की सुनिये।" ॥२७-२८-२९-३०-३१॥

अब लोग समृद्ध होने लगे। अनार्यों से सम्बन्ध स्थापित हो जाने से उनके रंग, मुखाकृति आदि में फर्क पड़ने लगा। कीमती रेशमी वस्त्र बनने लगे। जीवन-संघर्ष बढ़ने से तरह-तरह के हथियार निर्माण होने लगे थे। रत्नों, मणियों का आविष्कार हो चुका था। कई राज्य स्थापित हो चुके थे, छत्र-चामर आदि मुख्य चिह्न होते थे। उपासना की वैदिक के साथ तान्त्रिक विधि प्रचलित हो गई थी। नाना प्रकार की शास्त्र-व्यवस्थाएं व विधियां चल पड़ी थीं। यज्ञ-याग की ओर से उदासीनता व पूजा-अर्चा की ओर रुचि हो चली थी। विश्वात्म, सर्वभूतात्म भावों का प्राबल्य हो गया था। इसी आत्मरूप में भगवान् की स्तुति-स्तोत्र किये जाते थे।

"उस समय कृष्णवर्ण, कृष्णकान्तिमय, सांगोपांग, तथा आयुध और पार्षदों से युक्त भगवान् कृष्ण की बुद्धिमान् लोग संकीर्तन-प्रधान यज्ञों द्वारा पूजा करते हैं।" ॥३२॥

भागवतकार ने हिंसा-प्रधान यज्ञों का निषेध करके कलियुग में संकीर्तन-प्रधान यज्ञों का प्रचार किया है। पांचरात्र या भागवत-धर्मों का प्रचार हो चुका था और भागवतकार को इसी धर्म की महिमा बढ़ाना मंजूर था। कलियुग में समाज का बहुशाख विस्तार हो चुका है। नाना मत-मतान्तर फैल चुके थे। जीवन-संघर्ष भी काफी तीव्र हो गया है। अतः परस्पर कलह नित्य ही देखे जाते हैं। बहुत श्रम करने, बहुत समय देने पर भी पेट-पालन बड़ी कठिनता से होता है। ऐसी दशा में श्रम-समय-साध्य पूजा-उपासना कैसे निभ सकती है? अतः संकीर्तन-प्रधान पूजा-अर्चा ही सरल साधन बन गया। यदि उपासना का अर्थ भगवान् में लौ लगाना ही है, सबकुछ भगवत्-प्रीत्यर्थ करना ही है तो फिर उसके लिए तमाम आडम्बरों की क्या जरूरत है? नाम-धुन ही काफी है।

आयुधों की पूजा का विधान शायद इसलिए शुरू हुआ हो कि शस्त्रों और औजारों की महिमा कलियुग में बढ़ गई व पार्षदों की इसलिए कि बिना उनके राजों-महाराजों तक पहुंच नहीं हो सकती। छोटे राजाओं का जब यह हाल तो सर्व-राजेश्वर के यहां भी ऐसा ही तरीका होना चाहिए!

"तथा इस प्रकार स्तुति करते हैं—हे शरणागत-पालक, हे महापुरुष, हम आपके चरण-कमलों की वन्दना करते हैं। जो सदा ध्यान करने योग्य, मायाकृत पराभव (मोह) को हरनेवाले, वांछित फल देनेवाले, तीर्थस्वरूप, शिव व ब्रह्मादि से वन्दित, शरणदायक, सेवकों का दुःख दूर करनेवाले एवं संसार-समुद्र के लिए जहाजरूप है। हे धर्मात्मन्, हे महापुरुष, पिता (दशरथ) के वचनों से सुरगण-वांछित, दुस्त्यज्य राज्य-वैभव को छोड़कर जो वन को चले गए तथा प्रिया (सीताजी) के अभीष्ट कपट-मृग के पीछे दौड़े, उन आपके चरण-कमलों की हम वन्दना करते हैं।" ॥३३-३४॥

स्तुति-स्तोत्रों में अक्सर भगवान् के गुण या महिमा या लीला—चरित्र—गाये जाते हैं। ये बहुत भावपूर्ण होते हैं और लय तथा रागदारी के साथ गाने से मुग्ध कर देते हैं, जिससे मनुष्य भगवान् में डूबकर मस्त हो जाता है। सच्चे हृदय से जब ये प्रार्थनाएं की जाती हैं तो वे भगवान् की करुणा, मंगला, आह्लादिनी आदि शक्तियों को स्पर्श करके जाग्रत करती हैं और उनकी मनोकामना सिद्ध होती है।

ह्लादिनी, संन्धिनी, संविदाभिधानान्तरंगिका।
तटस्था बहिरंगा च जयन्ति प्रभुशक्तयः॥

उसकी अनन्त शक्तियों में ये कुछ हैं। हम जिस शक्ति को शुद्ध चित्त से व मर्माहत हृदय से पुकारेंगे, वही शक्ति उसके उत्तर में हमारी सहायता के लिए दौड़ पड़ेगी। जो परमात्मा में विश्वास न करते हों, वे भी यदि एक ही विषय या मांग का निरन्तर चिन्तन व ध्यान करते रहें तो यह अनुभव करेंगे कि उनके उद्देश्य की पूर्ति हो रही है। जिन भावों को हम भगवान् तक पहुंचाना चाहते हैं, वे ही स्तुतियों—भजनों में व्यक्त किये जाते हैं। या उन्हीं भावों से पूर्ण स्तुति-स्तोत्र, भजन भक्त चुन लेता है। भक्त कभी विनय करता है, तो कभी अपनी दीनता दिखाता है, कभी रूठता है, कभी शिकायत करता है, कभी उलाहना देता है, कभी अपनेको उसके चरणों में समर्पित कर देता है, कभी मिलन-सुख कभी वियोग-दुख अनुभव करता है। ऐसे अनन्य भाव उसके मन में उठते हैं और वह उन्हें भगवान् तक पहुंचाता जाता है और पहुंचाकर महान् शान्ति, समाधान, कृतार्थता, निश्चिन्तता, अभय का अनुभव करता है।

यों तो मन में उठनेवाली प्रत्येक तरंग एक भाव है। परन्तु भक्ति-पंथ में भगवान् को पाने की अभिलाषा भगवान् के अनुकूल होने की अभिलाषा, या भगवान् में रुचि होने की स्निग्ध अभिलाषा को भावना या भक्ति कहते हैं। भाव की ही एक अवस्था को 'रस' कहते हैं। यह एक अनन्य अखण्ड भावमयी अवस्था है। इसमें जो सुखास्वादन होता है, वही रस कहलाता है। यह भगवान् के 'आनन्द' गुण की झलक दिखाता है। इसीलिए भगवान् को 'रसो वै सः' 'रसं ह्येवायं लब्ध्वानंदी भवति' कहा है। यही मन्त्र परब्रह्म के सम्बन्ध में वैष्णवों के सिद्धान्त का बीज है। सम्पूर्ण भागवत-ग्रन्थ इसी बीज का विस्तार है।

यों तो भाव अनन्त हैं और उनके सन्धान भी असंख्य प्रकारों के होते हैं, फिर भी कुछ भाव स्थायी कहलाते हैं और कुछ व्यभिचारी। रस में अन्दर की वस्तु तो है भाव और बाह्य वस्तुएं हैं विभाव तथा अनुभाव। विभावादिकों के द्वारा पुष्ट होकर जो स्थायी भाव व्यक्त होता है, वही रस है।

'स एव रसानां रसतमः' 'अस्मिता' अर्थात् 'मैं हूं' इस भावना का अनुभव, आस्वादन, रसन ही रस है। पञ्च इन्द्रियों के पांच विषयों में मुख्यतः जिह्वा के ही विषय को रस कहते हैं। इसीसे जीभ का नाम 'रसना' पड़ा है। मानस स्वाद का, बुद्धिपूर्वक विशेष प्रकार के अनुभव का भी संकेतन 'रस' शब्द से ही किया गया है।

'मैं हूं' आत्मा का अपने अस्तित्व का अनुभव करना ही 'आनन्द' है। परमात्मा सब साऽन्त भावों का विद्या द्वारा निषेध करके 'मैं मैं ही हूं', 'मैं से अन्य कुछ भी नहीं है' अनन्त. आनन्द का सदा एकरस, अखण्ड स्वाद लेता है। जीवात्मा अविद्या द्वारा साऽन्त भावों को ओढ़कर 'मैं वह शरीर हूं'—शरीर की सभी अवस्थाओं और क्रियाओं से अपने अस्तित्व का अनुभव करता है। चाहे वह अवस्था या क्रिया सुखमय हो या दुखमय। 'काममय एवाऽयं पुरुषः' 'चित्त वै वासनात्मकः।' अबुद्धिपूर्वक, अनिच्छापूर्वक, 'स्वाद' नहीं, किन्तु बुद्धि व इच्छा-पूर्वक 'आस्वादन' की अनुशायिनी चित्तवृत्ति का नाम 'रस' नहीं, अनुभव का स्मरण, प्रतिसंवेदन आस्वादन 'रस' है।

जैसे पारमार्थिक अस्मिताऽनुभव रूपी रस पारमार्थिक 'आनन्द' ब्रह्मानन्द का पर्याय है, वैसे ऐहार्थिक व्यावहारिक अस्मिताऽनुभव रूपी 'रस' लौकिक काव्य-साहित्य से सम्बन्ध रखनेवाले 'आनन्द' विषयानन्द का पर्याय है। यह आनन्द उस आनन्द की, यह रस, उस रस की छाया है, नकल है।

भाव जब चित्त में अचल हो जाता है, तब उसे स्थायी भाव कहते हैं। वैष्णव शास्त्रों के अनुसार 'कृष्णरति' स्थायी भाव है। यह भगवान् की आनन्दमयी शक्ति है, जो जीव के अन्दर सूक्ष्म एवं अप्रकट रूप से अवस्थित है। पर है यह सनातन।

काव्य-साहित्य में ८-९-१० भिन्न-भिन्न संख्या रसों की मानी गई है। किन्तु वैष्णव शास्त्रकारों ने 'रति' अथवा 'स्थायीभाव' के पांच भेद करके उतने ही रस माने हैं—वे हैं—'शान्ति', 'प्रीति', 'सख्य', 'वात्सल्य' और 'प्रियता' या 'माधुर्य'। जब इन पञ्चविध स्थायी भावों का विकास होता है तो इन्हींसे पांच रस उत्पन्न होते हैं। जो 'शान्त', 'प्रीति', 'सख्य' 'वात्सल्य', 'मधुर' या उज्ज्वल कहलाते हैं।

भगवान् में निरन्तर अबाध अनुराग होना शान्त भाव है। जब भगवान् के साथ व्यक्तिगत प्रिय सम्बन्ध स्थापित हो जाता है तब वह विकसित होने पर 'प्रेमाभक्ति' कहलाती है। इसे सामान्यतः 'दास्य' रस कहते हैं। प्रीति रस का स्थायीभाव भक्त की यह सतत भावना है कि मैं भगवान् का अनुग्राह्य हूं। इसमें भक्त के चित्त में हीनता, दीनता, तथा मर्यादा का भाव सदा जाग्रत रहता है। 'सख्य' रस में एकवर्ण, एकवेश, एक-से ही गुण, एक-से ही पद और एक-सी ही स्थिति के दो मनुष्यों का अपनी गुप्त-से-गुप्त बात को दूसरे से न छिपाना होता है। 'वात्सल्य' रस को 'ममता' भी कहते हैं। इसमें भगवान् भक्त के पुत्र या पुत्र-

वत् होकर रहते हैं। किन्तु रस की सर्वोच्च परिणति 'मधुर' रस में होती है। यह अलंकार-शास्त्र के शृंगार रस का अतीन्द्रिय दिव्य स्वरूप है। लौकिक दाम्पत्य-प्रेम अहंकार-मूलक है और भगवत्-सम्बन्धी माधुर्य-प्रेम परसुख-मूलक है। एक की संज्ञा 'काम' है, दूसरा 'प्रेम' कहलाता है। जब मधुर भाव उच्चतम भाव को प्राप्त होता है तो 'महाभाव' कहलाता है। प्रेम बराबर आगे बढ़ता हुआ स्नेह, मान, प्रणय, राग और अनुराग की अवस्था को पार करके अन्त में महाभाव की चरम सीमा को पहुंच जाता है। यही भक्त का परम ध्येय है। यही परास्थिति है।

सभी रसों में ८ सात्विक भाव होते हैं—स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभंग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय। वात्सल्य में स्तन्यस्राव ९वां है।

यहां पहले (३३वें) श्लोक में एक महान् शक्तिशाली महापुरुष के रूप में तथा दूसरे (३४वें) में राम-रूप में भगवान् की स्तुति की गई है। पहले में एक डूबता हुआ मनुष्य पार होने के लिए भगवान् का पल्ला पकड़ना चाहता है। दूसरे में वह राम के त्याग पर मुग्ध हो रहा है।

"इस प्रकार भिन्न-भिन्न युगों के लोग अपने-अपने युग के अनुरूप, वर्ण, नाम और रूपादि से समस्त पुरुषों के अधीश्वर श्रीहरि की पूजा करते हैं।" ॥३५॥

"हे राजन्, गुणज्ञ व सारग्राही सज्जन सबसे अधिक कलियुग को ही प्रिय मानते हैं, जिसमें भगवान् के नाम-संकीर्तन से ही सम्पूर्ण स्वार्थों की सिद्धि हो जाती है।" ॥३६॥

"इस जन्म-मरण के चक्र में पड़कर घूमते हुए प्राणियों का इस (हरिकीर्तन) से बढ़कर और कोई लाभ नहीं है; क्योंकि इससे संसार-बन्धन टूट जाता है और परम शान्ति प्राप्त होती है।" ॥३७॥

"हे राजन्, सत्यादि युगों में रहनेवाले लोग भी इस कलियुग में जन्म लेना चाहते हैं। इस कलि में कितने ही भगवद्भक्त महापुरुष जहां-तहां जन्म लेंगे।" ॥३८॥

"उनमें से अधिकतर द्रविड़ देश में होंगे, जहां कि ताम्रपर्णी, कृतमाला, पयस्विनी, महापवित्र कावेरी, प्रतीची और महानदी आदि नदियां बहती हैं। हे राजन्, जो लोग उन नदियों का जल पीते हैं, वे प्रायः शुद्धचित्त होकर भगवान् वासुदेव के भक्त हो जाते हैं।" ॥३९-४०॥

द्रविड़ देश के उल्लेख से सूचित होता है कि रामानुज के बाद का लिखा यह अंश है। भक्ति-मार्ग का प्राबल्य, ऐतिहासिक काल में, तामिल देश (दक्षिण भारत) से शुरू हुआ। वहां के 'आलवार' सन्त भगवान् नारायण के बड़े भक्त थे। उन्होंने अपनी मातृभाषा तामिल में भक्ति-रस से परिपूर्ण हजारों कविताओं—गीत, भजनों की रचना की, जिससे भक्ति का बहुत प्रचार वहां हुआ। इनके पद्य वेदमन्त्रों की तरह पवित्र माने जाते हैं और इन्हें 'तामिल वेद' ही कहते हैं। प्रसिद्ध संस्कृत विद्वान् 'नाथ मुनि' ने तामिल वेद का पुनरुद्धार किया और श्रीरंगम् के प्रसिद्ध मन्दिर में भगवान् के सामने इनके गायन की व्यवस्था की। इन्हींकी परम्परा में रामानुजाचार्य का जन्म हुआ, जिनके बाद से भक्तिपंथ भारतवर्ष में बहुत फैला। फिर वल्लभाचार्य व चैतन्य महाप्रभु ने इसे और पुष्ट किया। पिछले दो ने 'भागवत' को अपना महान् ग्रन्थ माना है। नाथ मुनि को लगभग १२०० (८२४-९२४ ई०) व रामानुज को कोई १००० (१०३७-११३७ ई०) वर्ष हुए हैं।

"हे राजन्, जो समस्त कार्यों को छोड़कर सम्पूर्ण-रूप से शरणागतवत्सल भगवान् श्रीकृष्ण की शरण में जाता है, वह देव, ऋषि, भूतगण, कुटुम्बीजन अथवा पितृगण किसीका भी दास अथवा ऋणी नहीं रहता।" ॥४१॥

यहां यह दिखलाया है कि एक भगवान् की महान् शरण में हो जाने की आवश्यकता है। दूसरे छोटे-बड़े देवी-देवताओं या विभूतियों का पल्ला पकड़ना आवश्यक नहीं है। "एकहि साधै सब सधै सब साधै सब जाय। जो तू सींचै मूल को फूले-फलै अघाय।"

देवताओं की व्याख्या पहले की जा चुकी है। ऋषि कहते हैं त्यागशील, तप-प्रवृत्त, सात्विक विद्वानों को। भूतगण भगवान् रुद्र के गण हैं। पितृगण वे कहलाते हैं, जो मृत्यु के पश्चात् दूसरा शरीर धारण करने तक सूक्ष्म शरीर से वायुमण्डल के किसी क्षेत्र में रहते हैं।

"अनन्य भाव से अपने चरण-कमलों का ही भजन करनेवाले अपने अनुरक्त भक्त से यदि अकस्मात् कोई निषिद्ध कर्म भी हो जाता है तो उसके हृदय में विराजमान् प्रभु उन सबका मार्जन कर देते हैं।" ॥४२॥

अनन्य भक्त के लिए एक यह भी आश्वासन है कि यदि भल-चूक से उससे कोई बुरा काम भी बन पड़े तो भगवान् उसे धो डालते हैं। वैसे जिसने अपने-आपको भगवान् के हाथों में सौंप दिया है—एक ऊंचे व पवित्र उद्देश के लिए अपना जीवन

अर्पण कर दिया है, उसके हाथ से जान-बूझकर सहसा बुरा काम क्यों होने लगा ? वह तो सदा चौकन्ना रहकर अपना कर्त्तव्य पालन करेगा। फिर भी भूल से, भ्रम से धोखे से, गफलत से, यदि अचानक कोई निषिद्ध कर्म हो जाय तो भगवान्—जो उसके हृदय में ही बसते हैं, जिन्हें कहीं दूर खोजने नहीं जाना पड़ता, 'मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद' जहां उसे याद किया कि वह हाजिर है—फौरन उसे धो डालते हैं। कोई जान-बूझकर, वृत्ति बन जाने से जो दुष्कर्म करते हैं, उनमें व अचानक ऐसा कर्म कर बैठनेवाले में बड़ा अन्तर है। पिछला फौरन पश्चात्ताप करेगा, अपनी ही निगाह में अपनेको गिरा हुआ अनुभव करेगा, जिसके फलस्वरूप उसका वह संस्कार उसी समय क्षीण हो जायगा। किन्तु जिसकी वृत्ति ही दूषित बन गई है, जिसे कुकर्म का व्यसन हो गया है, वह उलटा उसे छिपाने की कोशिश करता है। कहीं से प्रकट हो जाय तो प्रकाशकर्ता पर टूट पड़ता है, उसके खिलाफ उलटा प्रचार करता है, और इस तरह अपनी पापवृत्ति को और मजबूत बनाता है। किन्तु भगवान् ने तो ऐसों के लिए भी आश्वासन दे रखा है और भागवत-धर्म की यही खूबी है कि वे भी सच्चे हृदय से पश्चात्ताप करें तो पापों से मुक्त होने का मार्ग पा सकते हैं। भगवान् को तो सच्चा हृदय चाहिए। ढोंग, पाखण्ड, बनावट की वहां किसी तरह गुजर नहीं है।

नारद बोले—"इस प्रकार भागवत धर्मों को सुनकर उपाध्यायों के सहित मिथिलापति महाराज निमि ने उन जयन्ती-नन्दन—जयन्ती उनकी माता का नाम था—योगीश्वरों का पूजन किया।" ॥४३॥

"फिर सब लोगों के देखते-देखते वे सिद्धगण अन्तर्धान हो गये और राजा ने उन धर्मों का आचरण करके अन्त में परमपद प्राप्त किया।" ॥४४॥

अन्तर्धान का अर्थ है अदृश्य हो जाना। यह एक प्रकार की योग-सिद्धि है, जिसमें सूक्ष्म शरीर—प्राण शरीर—धारण करके अदृश्य हुआ जाता है। जो इसमें विश्वास न करते हों, वे इसका यह भावार्थ ले सकते हैं कि वे वहां से तुरन्त इस प्रकार चले गए कि फिर एकाएक उनका पता नहीं चला कि कहां गये।

"हे महाभाग, वसुदेवजी, तुम भी संसार से असंग रहकर इन सुने हुए भागवत धर्मों में श्रद्धापूर्वक स्थिर होने से परम गति प्राप्त करोगे।" ॥४५॥

भागवत-धर्म सुन तो लिया, परन्तु इससे पूरा लाभ तभी मिलेगा जब और सब बातों से मन को हटाकर इसीमें सारी शक्ति लगाओगे और दृढ़तापूर्वक लगाये

रहोगे।

"तुम दोनों स्त्री-पुरुषों के यश से तो सारा संसार भरा हुआ है, क्योंकि त्रिलोकीनाथ भगवान् हरि तुम्हारे पुत्र-भाव को प्राप्त हुए हैं।"[1] ॥४६॥

"भगवान् कृष्ण में पुत्र-स्नेह करते हुए उनको देखने, आलिंगन करने, वार्त्तालाप करने, एवं साथ-साथ सोने-बैठने और भोजनादि करने से तुम दोनों ने अपने अन्तःकरण को शुद्ध कर लिया है।" ॥४७॥

महापुरुष या सत्पुरुष के संसर्ग-मात्र से भी मन के मैल कटते हैं। बुरी प्रवृत्तियां अपने-आप दबती हैं। उनके पुण्याचरण का ऐसा प्रभाव होता है। फिर वसुदेव-देवकी को तो अवतारी पुरुष को अपनी गोद में खिलाने, अपना दूध पिलाने का सद्भाग्य प्राप्त हुआ था। अतः नारदजी कहते हैं कि उनके संसर्ग से आपके

---

[1] भागवत में देवकी श्रीकृष्ण की स्तुति करती है, क्योंकि वह उनका असली रूप जानती थीं––

"प्रभो, वेदों में जिस परमार्थ तत्व को सबका आदि कारण बतलाया है, तथा जिसका अव्यक्त ब्रह्म (बृहत्) जो निर्भय, निर्गुण, निर्विकार, सत्तामात्र, निर्विशेष और निरीह कहकर वर्णन किया है, वे बुद्धि आदि के प्रकाशक साक्षात् विष्णु आप ही हैं।"

इस श्लोक के अर्थ की खूबी भी जान लेने योग्य है––

यहां अव्यक्तादि विशेषणों से उत्तरोत्तर परमाणु आदि की कारणता का निषेध करते हुए ब्रह्म का ही प्रतिपादन किया गया है। 'अव्यक्त' कहने से परमाणु का भी बोध होता है, इसलिए 'ब्रह्म' अर्थात् (बृहत्) कहा। 'ब्रह्म' शब्द से प्रकृति भी ग्रहण की जा सकती है, इसलिए 'ज्योति' यानी चेतन कहा। वैशेषिक मतावलम्बियों का माना हुआ ज्ञान, इच्छा, प्रयत्नादि गुणवाला आत्मा भी चेतन है, इसलिए 'निर्गुण' कहा। इससे मीमांसकों का ज्ञान-परिणामी आत्मा ग्रहण किया जा सकता है, इसलिए 'निर्विकार' कहा। कुछ लोग आत्मा को निर्विकार मानते हुए भी शक्तियों द्वारा परिणामी मानते हैं। अतः 'सत्तामात्र' कहा। नैयायिकों का सामान्य भी सत्तामात्र ही है, किन्तु प्रतिपक्षी विशेष के कारण वह सविशेष है, अतः उसका भी निषेध करने के लिए 'निर्विशेष' कहा। निर्विशेष होने पर भी जगत् का कारण होने से ब्रह्म सक्रिय होना चाहिए, अतः उसकी सक्रियता का बाध करने के लिए 'निरीह' विशेषण का प्रयोग किया गया है।

चित्त के मल तो यों ही धुल चुके हैं। वह आगे के कदम के लिए तैयार हो चुका है।

"जब वैर-भाव के कारण शिशुपाल, पौण्ड्र और शाल्वादि राजा लोग सोने, बैठने आदि में भी श्रीकृष्णचन्द्र की गति, चितवन और चेष्टा आदि का ध्यान रहने से ही, तच्चित्त रहने के कारण, उन्हींके समान हो गये तो जो उनके एकमात्र प्रेमी भक्त हैं, उनकी बात ही क्या है?" ॥४८॥

शिशुपाल आदि राजा श्रीकृष्ण से वैर रखते थे। अन्त में उनके हाथों मारे भी गये, किन्तु सद्गति को प्राप्त हुए। इसीकी याद दिलाकर वे कहते हैं कि जबकि शत्रु-भाव से चिन्तन करने पर भी वे कृष्ण-रूप हो गये तो आप लोगों की सद्गति के विषय में सन्देह ही क्या हो सकता है? ध्यान की यही महिमा है। यदि किसी वस्तु से या व्यक्ति के छूटने के उद्देश्य से भी उसका बार-बार चिन्तन किया जाय, तो भी वह असर डाले बिना नहीं रहते। ब्रह्मचर्य की सिद्धि के लिए यदि कोई निषिद्ध भाव से भी स्त्री का चिन्तन करता रहेगा तो स्त्री-सम्बन्धी विचार आते ही रहेंगे। किन्तु यदि किसी और काम में लग जायगा तो ध्यान छूट जायगा।

"माया-मानवरूप से जिन्होंने अपने ऐश्वर्य को छिपा रखा है, उन परम पुरुष अव्यय और सर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण में तुम पुत्र-बुद्धि मत करो।" ॥४९॥

पुत्र-बुद्धि से एक तो मोह बना रहेगा, दूसरे उनकी महिमा को परखने से वंचित रहोगे। ये दोनों बातें अनिष्ट हैं।

"भूमि के भारभूत राजवेशधारी असुरों के नाश और सज्जनों की रक्षा के लिए ही अवतार लेनेवाले इन श्रीकृष्णचन्द्र का यश मुक्ति के लिए ही संसार में फैला है।" ॥५०॥

अनेक अत्याचारी राजाओं को मिटाकर इन्होंने सज्जनों को निर्भय किया है। अतः संसार में मुक्तिदाता के रूप में इनकी कीर्ति फैला है। आप भी इसी रूप में इन्हें ग्रहण करें।

"हे राजन्, यह सुनकर महाभाग वसुदेवजी व परम सौभाग्यवती देवकीजी ने अति विस्मित होकर अपना मोह छोड़ दिया।" ॥५१॥

"जो कोई सावधान होकर इस पवित्र इतिहास को स्मरण रखता है, वह इस लोक में मोह का नाश कर ब्रह्मभाव को प्राप्त हा जाता है।" ॥५२॥

: ६ :

उद्धव की चिन्ता

[देवताओं, ऋषियों आदि का एक शिष्ट-मंडल श्रीकृष्णचन्द्र के पास आता है। उनकी यथा-योग्य स्तुति करके प्रस्ताव करता है कि अब आपका जीवन-कार्य समाप्त होने पर है, हमारी प्रार्थना पर आपने जन्म धारण करके भूमि का भार उतार दिया, अब आपके परमधाम जाने का समय आ गया है। आप चलकर हम लोकपालों की रक्षा कीजिये। श्रीकृष्ण ने उन्हें आश्वासन दिया कि मैं तो पहले से ही इसकी तैयारी कर रहा था।

तब उन्होंने द्वारकावासियों को बुलाकर प्रभास-क्षेत्र चलने की सलाह दी। कहा—"अब द्वारका शीघ्र ही समुद्र-गर्भ में जानेवाली है। यहां नित्य-नये उत्पात भी होने शुरू हो गये हैं।" सब यादव प्रभास चलने की तैयारी में जुट गये। उधर श्रीकृष्ण के परम भक्त उद्धव को शंका हुई कि भगवान् तो परमधाम को चल देंगे तब मेरा क्या होगा ? उसने उनसे अपने साथ ही ले चलने की प्रार्थना की। इस-पर भगवान् ने उसे तरह-तरह से ज्ञानोपदेश किया है। अगले अध्यायों में इन्हींके संवाद-रूप में यह ज्ञानामृत पाठकों को मिलेगा।]

श्री शुकदेव बोले—

"हे राजन्, एक बार अपने पुत्रों, देवताओं और प्रजापतियों के सहित ब्रह्मा-जी, भूत-गणों से घिरे हुए भूत-भावन भगवान् शंकर, मरुद्‌गणों के सहित देवराज इन्द्र, बारहों आदि, आठों वसु, अश्विनीकुमार, ऋभु, अंगिरा, रुद्र, विश्वे-देव, साध्यगण, देवगण, गन्धर्व, अप्सराएं, नाग, सिद्ध, चारण, गुह्यक, ऋषिगण, पितृ-गण, विद्याधर और किन्नर—ये सब मिलकर श्रीकृष्णचन्द्र को देखने के लिए द्वारका आये, जिसके द्वारा नरलोक-मनोरम भगवान् ने सम्पूर्ण संसार के मल को हरनेवाला अपना परम पावन सुयश समस्त लोकों में फैलाया था।" ॥१-२-३-४॥

स्व० श्रीमधुसूदनजी ओझा वेद-विज्ञान के बड़े पण्डित थे। उन्होंने माना है कि पूर्वोक्त लोकों के दो-दो स्वरूप हैं—एक सूक्ष्म, दूसरा स्थूल। सूक्ष्म-रूप में ये त्रिलोकी में बिखरी हुई भिन्न-भिन्न शक्तियों के नाम हैं और उन्हींके आधार पर ब्रह्मदेव ने मर्त्य-लोक में त्रिलोकी बनाई थी और इन्हीं नामों के अनुसार जातियों व वर्गों का श्रेणीकरण किया था।

"वे सब महती समृद्धि से सम्पन्न अत्यन्त देदीप्यमान द्वारकापुरी में विराजमान भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र की अद्‌भुत छवि को अतृप्त नेत्रों से निहारने लगे और स्वर्गोद्यान, नन्दनवन में उत्पन्न हुए दिव्य पुष्पों की वर्षा से यदुश्रेष्ठ को आच्छादित करते हुए उन्होंने (इस प्रकार) विचित्र पद और अर्थ-युक्त सुललित वाक्यावलि से जगन्नायक भगवान् की स्तुति की। ॥५-६॥

"देवगण बोले—'हे नाथ कर्ममय विकट बन्धन से छूटने के इच्छुक भावुक भक्तजन आपके जिन चरणारविंदों का अपने हृदय के भीतर निरन्तर ध्यान करते हैं, उन्हें हम बुद्धि, इन्द्रिय, प्राण, मन और वचन से प्रणाम करते हैं।" ॥७॥

स्तुतियों के रूप में ज्ञान-विज्ञान तथा तत्त्व-निरूपण करने की प्रथा प्राचीन काल में बहुत थी। सत्व गुणों की उचित अवसर पर की गई प्रशंसा को स्तुति कहते हैं। वह जब अत्युक्तिपूर्ण हो, स्वार्थ-सिद्धि के लिए हो, तो खुशामद कहलाती है। जहां लोग किसीकी निन्दा करते हों और हमें यह अनुभव हो कि उसके साथ यह अन्याय हो रहा है तो वहां उसकी स्तुति गुणों का बखान करना सर्वथा उचित है, बल्कि आवश्यक है। मुंहपर प्रशंसा किसी उच्च उद्देश्य से ही करना मुनासिब है। सामने आलोचना या कहिये निन्दा और पीठ पीछे स्तुति, सज्जनता का लक्षण है। मुंहपर तारीफ व पीछे निन्दा खलों का काम है।

भगवान् तो निन्दा-स्तुति से परे हैं। उनकी स्तुति तो हम अपने ही हृदय की शुद्धि, शान्ति, या बल-वृद्धि के लिए करते हैं।

कर्म का बन्धन बड़ा विकट है। एक कर्म से दूसरे व दूसरे से तीसरे—इस प्रकार कर्मों का तांता लगा ही रहता है। इस जन्म के कर्मों के संस्कार अगले जन्मों में भी कर्मों के बीज बनकर नये कर्म पैदा करते हैं। प्रलय के समय भी ये कर्मों के बीज वासना-रूप में बाकी रहते हैं और नई सृष्टि के समय उगकर नये नाम-रूप धारण करते हैं। इनका तांता तभी टूट सकता है जब इन्हें—बीजों—को भून दिया जाय। भगवान् के चरणों में सर्वतोभाव से अपनेको अर्पण कर देना, जिससे कर्त्ता-

पन का अभिमान व आसक्ति छूट जाय, कर्म के बीजों को भून डालने की क्रिया है। इसीकी ओर देवताओं ने यहां संकेत किया है।

"आप अपनी त्रिगुणमयी माया से उसके गुणों में नियन्ता-रूप से स्थित होकर इस अनिर्वचनीय प्रपंच की रचना, पालन और संहार किया करते हैं, किन्तु, हे अजित, आप इन कर्मों में लिप्त नहीं होते; क्योंकि आप अपने अखंड आनन्द में निमग्न और रागादि दोषों से रहित हैं।" ॥८॥

पहले श्लोक में बताया है कि भक्त अपने कर्म-बन्धन काटने के लिए आपके चरणों का अपने हृदय में ध्यान करते हैं, तो इस श्लोक में उसका कारण बताया गया है कि आप सृष्टि के उत्पादन, पोषण और संहार जैसे महान् कर्म में लगे रहने पर भी उसमें लिप्त नहीं होते, क्योंकि एक तो आप किसी स्वार्थ-साधन या विषय-भोग के लिए यह काम नहीं करते हैं। आप तो अपने आनन्द में, निज-स्वरूप में, अपने-आपमें मस्त रहते हैं। आपके सिवा दूसरा कोई है ही नहीं, तो फिर राग-द्वेष क्यों, व किससे उत्पन्न हो? यह राग-द्वेष ही तो कर्मों को दूषित व बन्धन-कारक बना देता है। फिर यह जगत् भी आप ही हैं। आपने अपने में से ही, अपने मनोरंजन के लिए कहिये, इसे निर्माण किया है। अतः आपकी शरण आना ही कर्म-बन्धन को तोड़ने का अचूक साधन है।

"हे सर्वश्रेष्ठ पूज्य प्रभो, जिनके मन मलिन हैं; उन लोगों की विद्या, शास्त्र-श्रवण, स्वाध्याय, दान, तप और क्रिया से वैसी शुद्धि कदापि नहीं हो सकती जैसी कि आपके परम पावन यश के श्रवण द्वारा पुष्ट एवं बढ़ी हुई उत्तम श्रद्धा से सत्पुरुषों की शुद्धि होती है।" ॥९॥

भागवतकार भक्ति-मार्गी हैं, अतः अन्य साधनों की अपेक्षा भक्ति ही श्रेष्ठ है, यह दिखलाने के लिए दूसरे साधनों को गौण स्थान देते हैं। इसमें कोई शक नहीं कि भक्ति सबसे सरल साधन है और सर्व-साधारण के लिए है, परन्तु इसका यह अर्थ न लेना चाहिए कि दूसरे साधनों का दर्जा कम है। असल बात तो यह है कि जिसकी रुचि जिस साधन में हो वही उसके लिए लाभदायी होता है।

"हे भगवन्, मुनिगण अपने कल्याण के लिए जिनका प्रेमार्द्र हृदय से पूजन करते हैं, धीर सात्वतगण, वैष्णवगण, अथवा सात्वत-वंशी यादव लोग समान वैभव (सालोक्यादि) की प्राप्ति और स्वर्ग के अतिक्रमण के लिए जिन्हें तीनों समय वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—इन चार व्यूहों द्वारा पूजते हैं, याजक-

गण वेदत्रयी द्वारा बताई हुई विधि से अपने संयत हाथों में हविष्य लेकर यज्ञाग्नि में आहुति देते हुए जिनका चिन्तन करते हैं तथा आपकी माया के जिज्ञासु योगि-जन जिनका अध्यात्म-योग द्वारा ध्यान करते हैं और जो परम भागवतों के एकमात्र परम इष्ट हैं, आपके वे चरण-कमल हमारे समस्त अशुभ को भस्म करने के लिए अग्निस्वरूप हों।" ॥१०-११॥

अब वे भक्ति का एक उद्देश्य या फल बताते हैं। वे कहते हैं कि हे भगवन्, आपके चरण-कमल हमारे अशुभ आशयों को भस्म करें। भक्ति की खूबी ही यह है कि भक्त भगवान् से धन-सम्पत्ति, पुत्र-पौत्र, राज्येश्वर्य, यहांतक कि बाज-बाज तो मुक्ति की भी इच्छा नहीं रखते। वे केवल यही चाहते हैं कि हमारे मलिन चित्त शुद्ध[1] हों और वे सदा-सर्वदा आपमें ही लगे रहें। बार-बार जन्म-मरण के फेरे भले ही करने पड़ें, माता के गर्भ में रक्त-मांस खाकर भले ही रहना पड़े, पर तुम्हारे चरण न छूटें। तुम्हारी भक्ति हृदय से दूर न हो। 'हरिना नर तो मुक्ति न मांगे, मांगे जन्मोजन्म अवतार रे।' भक्त बड़े ऊंचे दरजे के व्यापारी मालूम होते हैं। मुक्ति जिनका स्वरूप है, उन्हींको वे चाहते हैं। उसीको पा लिया तो फिर बाकी क्या रहा?

---

[1] चित्त-शुद्धि, या प्रायश्चित्त या पाप-निवृत्ति के लिए भागवत के नीचे लिखे वचन ध्यान देने योग्य हैं—

"कृच्छ्रचान्द्रायण आदि प्रायश्चित्तों से पाप-कर्मों का आत्यन्तिक नाश नहीं हो सकता; क्योंकि उनका अधिकारी अज्ञानी ही है। इसलिए अविद्या का नाश न होने के कारण उससे फिर भी पाप-कर्म होंगे ही। अतः सच्चा प्रायश्चित्त तो भग-वत् स्वरूप का ज्ञान ही है।"

"जो पुरुष केवल पथ्यान्न ही भोजन करता है, उसपर रोगों का आक्रमण नहीं हो सकता। इसी प्रकार नियमानुसार आचरण करनेवाला पुरुष धीरे-धीरे कल्याण प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है।"

"जिस प्रकार बांसों के वन में प्रकट हुआ दावानल उन्हें जलाकर भस्म कर देता है, उसी प्रकार धर्मज्ञ और श्रद्धावान् धीर पुरुष तप, ब्रह्मचर्य, शम, दम, दान, सत्य, शौच एवं यम और नियम—इन नौ साधनों से अपने मन, वाणी और शरीर द्वारा किये हुए महान् पापों को भी नष्ट कर देते हैं।

"हे विभो, आपकी कुम्हलायी हुई वनमाला से भगवती श्रीलक्ष्मीजी यद्यपि सौत के समान डाह करती हैं, क्योंकि माला और लक्ष्मीजी दोनों एक ही स्थान—आपके वक्षःस्थल—में रहती हैं, तथापि भक्तों का प्रेमोपहार होने के कारण आप इस माला द्वारा किया हुआ अर्चन-पूजन स्वीकार करते ही हैं। ऐसे आपके चरण-कमल हमारे अशुभ को भस्म करने के लिए सदा अग्निस्वरूप हों।" ॥१२॥

इसमें भक्त का पद और ऊंचा उठाया है। तुम्हारी यह वनमाला यद्यपि बासी हो चुकी है, तो भी लक्ष्मीजी उससे डाह करती हैं, क्योंकि वह तो बासी होने पर भी दिन-रात छाती से लगी रहती है, किन्तु लक्ष्मी के नसीब में चरण-सेवा ही रही। लेकिन तुम लक्ष्मी[1] के इस विरोधी रुख की परवा न करते हुए भी भक्तों की चढ़ाई वन-माला से ही पूजा ग्रहण कर लेते हो।

"हे भूमन्, वामन अवतार में तीन धाराओं में बहनेवाली त्रिपथगामिनी श्री गंगाजी जिसकी पताका थीं, तथा जो दानवों को भय और देवताओं को अभय देनेवाला तथा साधुओं को स्वर्ग और दुष्टों को नरक में ले जानेवाला है, ऐसा आपका वह तीन डगों से युक्त चरण आपको भजनेवाले हम लोगों के पापों का परिशोध करे।" ॥१३॥

इसमें अपने पापों को धोने की प्रार्थना की गई है। गंगाजी की तीन धाराएं मानी जाती हैं—स्वर्ग में मन्दाकिनी, पृथ्वी पर भागीरथी और पाताल में पाताल-गंगा। वामन-अवतार में भगवान् के तीन डग से इन तीन धाराओं की कल्पना की गई है। गंगाजी का जन्म भगवान् के चरणों से होना प्रसिद्ध ही है। तुम्हारे वे चरण भक्तों को अभय-दान देते हैं और अभक्त उससे भयभीत रहते हैं। इसी

"कोई-कोई भगवत्परायण पुरुष केवल भक्ति के द्वारा ही अपने सम्पूर्ण पापों को उसी प्रकार सर्वथा ध्वंस कर देते हैं जैसे सूर्य कुहरे को नष्ट कर देता है।

"पापी पुरुष अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियों को भगवान् में लगाकर उनके भक्तों का संग करने से जैसा शुद्ध होता है वैसा तप आदि अन्य उपायों से नहीं हो सकता।

"मद्य के घड़े को जैसे नदियां पवित्र नहीं कर सकतीं उसी प्रकार भगवान् से विमुख रहनेवाले पुरुष को उसके किये हुए प्रायश्चित्त शुद्ध नहीं कर सकते।" (६।१।११ से १६)

[1] देखिये परिशिष्ट १४

तरह साधु-सज्जनों को उच्च गति व दुष्ट दुर्जनों को नीची गति देते हैं। जब अकेली गंगा ही सब पापों को धो डालने में समर्थ है तो स्वत: भगवान् के चरणों से यह आशा क्यों न रखी जाय ? खासकर तब जबकि हम एकमात्र उसीके पूजक हैं—जबकि उसीके भरोसे हमने अपनी नाव छोड़ दी है।

"काम-क्रोधादि के कारण जिनमें परस्पर संघर्ष हुआ करता है, वे ब्रह्मा आदि सम्पूर्ण देहधारी नाक में नथे हुए बैलों के समान जिन कालरूप और प्रकृति-पुरुष से अतीत आपके वशीभूत हैं उन आप पुरुषोत्तम का चरण-कमल हमारा कल्याण करे।" ॥१४॥

केवल इतना ही बस नहीं है कि हमारे अशुभ, पाप, भस्म हों। हम तो श्रेय चाहते हैं और उसका सामर्थ्य अकेले तुम्हींमें है। मामूली देहधारी से लेकर ठेठ ब्रह्मा तक तुम्हारे नचाये नाचते हैं। नथ जाने पर जैसे पशु सर्वथा अधीन हो जाता है, संसार के बड़े-से-बड़े शक्तिशाली व्यक्ति वैसे ही तुम्हारे अधीन हैं। वे आपस में भले ही लड़ते रहें, परन्तु तुम्हारे अधीन तो उन्हें होना ही पड़ता है। अधिक क्या कहूं, तुम स्वयं काल-रूप हो। प्रकृति और पुरुष से भी परे हो। ये दोनों तुम्हारे ही दो पहलू हैं। तुम्हारा चेतनांश पुरुष है और क्रियाशक्ति प्रकृति है। जब ऐसे महान् समर्थ का पल्ला मैंने पकड़ा है तब मैं श्रेय से कम किस वस्तु की मांग आपसे करूं ?

काल का साधारण अर्थ ईश्वर की संहारिणी शक्ति लिया जाता है। समय को भी काल कहते हैं। मृत्यु को भी काल कहने का रिवाज पड़ गया है। हमें यहां इसका शास्त्रीय या वैज्ञानिक अर्थ समझ लेना चाहिए। देश में जब वस्तु या पदार्थ एक स्थान से दूसरे स्थान पर गति करते हैं तब उसमें जितनी देर लगती है, उसे 'काल' कहते हैं। यह छोटे-से-छोटा और बड़े-से-बड़ा हो सकता है। एक छोटे-से भुनगे के जन्म व मृत्यु के बीच के थोड़े-से फासले—जीवन—से लेकर सारे ब्रह्माण्ड के जन्म व लय तक के बीच के समय को काल ही कहेंगे। वस्तु-मात्र गतिशक्ति हैं—चाहे छोटे-से-छोटे अणु हों, या बड़े-से-बड़े ग्रह, नक्षत्र आदि हों। गति का अर्थ है स्थानान्तर और रूपान्तर। दोनों में दो सिरे होंगे। एक वह जहां से पदार्थ ने गति करना शुरू किया, दूसरा वह जहां गति समाप्त हुई। अत: दोनों सिरों का कारण काल माना जाता है। अर्थात् पदार्थ का जन्म व मृत्यु दोनों का कारण काल है। ईश्वर कालरूप है। इसका अर्थ यह हुआ कि वह इस सृष्टि या ब्रह्माण्ड के

जन्म व मृत्यु का कारण है। हमें काल का परिचय सूर्य के उदय व अस्त से होता है। उसीसे हमने दिन-रात की व वर्ष, मास, दिन आदि की गिनती लगाई है। परन्तु यह हमारा काल तो उस महाकाल का एक अंश-मात्र है। जहां सूर्य, चन्द्र आदि की पहुंच नहीं है, या जब इनका भी आविर्भाव नहीं हुआ था तब भी काल तो था ही। अपने मूल-रूप में वह अनन्त और अचिन्त्य है। ऋषियों ने उसे अव्यक्त परमात्मा ही कहा है।

हिन्दू ग्रन्थों में काल की व्याख्या तरह-तरह से की गई है। "कलनात् सर्व-भूतानाम्"—जो सब पदार्थों का कलन या विनाश-साधन करता है, वही काल है। जिसके द्वारा द्रव्य का उपचय वा अपचय संघटित होता है उसे ही हम काल कहते हैं। सांख्य के मत से आकाश तत्त्व से काल की उत्पत्ति होती है। नैयायिकों के मत से काल नित्य पदार्थ है। 'येन मूर्तीनामुप चयायश्चापचयायश्च लक्ष्यते तं काल-माहुः।' काल नित्य व अखण्ड-रूप से खड़ा रहता है। सूर्य की गति की सहायता से हम काल का विभाग करते हैं। यह कृत्रिम है। काल की रुद्र मूर्ति महाप्रलय की सूचक है। संहार की भैरवी मूर्ति ही काल का रूप है। काल-गर्भ से सारे भूत पदार्थों की उत्पत्ति होती है। काल-गर्भ में ही सबका लय हो जाता है।

'कालः पचति भूतानि कालः संहरति प्रजाः।'

'कालो हि जगदाधारः।'

कालशक्ति-रूप है। शक्ति की संख्या अगणित है। द्रव्य-मात्र शक्ति की ही मूर्ति हैं। इनमें ईश्वर की दो शक्तियों को—माया व काल—ही प्रधान कहा जा सकता है।

'अव्याहताः कलायस्य कलाशक्तिमुपाश्रिताः।
जन्मादयो विकारा षड् भावभेदस्य योनयः॥'

अद्वैत दृष्टि में कालशक्ति परब्रह्म वा पराशक्ति से अभिन्न है। काल का दूसरा नाम रुद्र या सदाशिव है। पुराणों में उसे यम भी कहा है। जैनमतानुसार जगत् के समस्त पदार्थ परिणामशील होते हैं। इस परिणमन के साधारण कारण के रूप में काल की सत्ता मानी जाती है। वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व तथा अपरत्व—ये पांचों काल के उपकार हैं।—वर्तना, परिणाम, क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य—। काल के बिना पदार्थों की स्थिति की कल्पना नहीं की जा सकती। स्थिति का अर्थ हुआ पदार्थों का अनेक-क्षणव्यापी अवस्थान। काल के अवयवों को

बिना माने स्थिति की कल्पना निराधार ही है। वस्तु का परिणाम काल की सत्ता पर ही अवलम्बित है। कच्चे आम का पक जाना कालजन्य ही है। पूर्वापर क्षण-व्यापिनी क्रियाकाल के ही कारण सम्भव है। ज्येष्ठ तथा कनिष्ठता की कल्पना काल की सिद्धि को प्रमाणभूत बतला रही है। काल का विस्तार नहीं माना जाता। अतः अस्तिकाय द्रव्यों से इस विषय में वह भिन्न ही है। लोकाकाश के एक-एक प्रदेश में अणु-रूप काल की सत्ता रत्नों की राशि के समान है। रत्नों के ढेर होने पर भी जिस प्रकार प्रत्येक रत्न पृथक् रूप से विद्यमान् रहते हैं, उसी प्रकार लोकाकाश में काल अणुरूप से पृथक्-पृथक् स्थिर रहता है।

काल के दो भेद हैं—व्यावहारिक व पारमार्थिक। द्रव्यों के परिणाम से अनुमित दण्ड, घटी, आदि अवयव-सम्पन्न काल को व्यावहारिक काल कहते हैं। पारमार्थिक काल नित्य निरवयव है। वर्तना—पदार्थ की स्थिति—इसका सामान्य लक्षण है। अंग व्यावहारिक काल के ही हो सकते हैं। अतः वह सादि व सान्त है। पर परमार्थिक काल एक अनवच्छिन्न रूप से सतत विद्यमान रहता है।

वैशेषिक दर्शन में पृथिवी आदि द्रव्यों के समान काल एक पृथक् द्रव्य है। यह कालिक ज्येष्ठत्व व कनिष्ठत्व के द्वारा एवं वस्तुद्वय की एककालता, भिन्नकालता, दीर्घकालता तथा अल्पकालता के द्वारा सिद्ध होता है। इसके गुण, संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग और विभाग हैं। यह वस्तुतः एक है। पर उपाधि-भेद से जाना जाता है।

प्राचीन सांख्य में प्रकृति-पुरुष के अतिरिक्त काल भी एक तृतीय पदार्थ माना जाता था—

'अनादिर्भगवान कालो नान्तोऽस्ति द्विज विद्यते।
अव्युच्छन्नास्ततस्त्वे ते सर्गस्थित्यन्त संयमः॥' (वि० पु०)
'काल—संज्ञा तथा देवीं बिभ्रच्छक्तिमुरुक्रम।
त्रयोविंशति तत्त्वानां गणं युगपदाविशत्॥' (भाग० ३।६।२)

इसी काल के कारण पुरुष के सान्निध्य में क्षोभ उत्पन्न होना बतलाया जाता था। प्राणियों के कर्मादिकों की फलोत्पत्ति का जब काल आता है तब सृष्टि होती है।

रामानुज-मतानुसार सत्वशून्य तत्व काल है।

तंत्रों में—प्रत्यभिज्ञा-दर्शन—नित्यत्व को संकुचित करनेवाला तत्व 'काल'

है, जिसके कारण देहादिकों से सम्बन्ध होकर जीव अपनेको अनित्य मानने लगता है।

वैदिक मान्यता के अनुसार जब पुरुष-प्रकृति के समन्वय से विश्व-रचना हुई तो पुरुष के काल एवं यज्ञ-भेद से दो विवर्त हुए। काल-पुरुष अनादि, व्यापक है। यज्ञ-पुरुष सादि, परिच्छिन्न। व्यापक काल-पुरुष का कुछ प्रदेश परिच्छिन्न होकर यज्ञ-पुरुष कहलाने लगता है। काल-पुरुष सृष्टि का प्रथम प्रवर्तक है। स्वयं यज्ञ-पुरुष भी काल-पुरुष का सहारा लेकर विश्वनिर्माण में समर्थ होता है। उस महा-काल के उदर में अनन्त विश्व-चक्र भ्रमण कर रहे हैं। मंत्र संहिताओं में 'काल' नाम से प्रसिद्ध तत्व उपनिषदों में परात्पर नाम से प्रसिद्ध है। सर्वमृत्यु-धन अमृत तत्व का ही नाम परात्पर है। अमृत तत्व सत् है, मृत्यु तत्व असत् है।

'अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम्।' (शत० १०।५।२)

'तदन्तरस्य सर्वस्य तदुसर्वस्यास्य बाह्यतः।' (ईश०)

के अनुसार दोनों ओत-प्रोत हैं। सदसद्रूप अमृत-मृत्यु की समष्टि ही यह काल पुरुष है।

'अमृतञ्चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन।
'नैव वा इदमग्रेऽसदासीत् नैव सदासीत्।
आसीदिव वा इदमग्रे नेवासीत्।
तस्मादेतद् ऋषिणाऽभ्यनुक्तं—नासीदासीन्नो सदासीत्तदानीम्।'
(शत० १०।४।१)

इसी विलक्षण तत्त्व का नाम परात्पर है, और यही काल-पुरुष है। इस असीम परात्पर में प्रतिक्षण विलक्षणधर्मा माया-बलों का उदय होता रहता है। इनमें शान्त रस अशान्ति से युक्त है। अशान्ति-गर्भित नित्य शान्ति ही उसका स्वरूप है। शान्त अमृत तत्व की अपेक्षा वह सर्वथा कम्प-रहित बिल्कुल स्थिर है। अशान्त मृत्यु-तत्त्व की अपेक्षा वह सर्वथा कम्प-रूप, गति-रूप है। जो माया-बल उस असीम को ससीम बना डालता है, जिसके प्रभाव से वह विश्वातीत विश्वचर और विश्व बन जाता है, जो शक्ति (बल) काल को यज्ञ-रूप में परिणत कर डालती है, उसी महामाया का नाम प्रकृति है। इसीके समन्वय से वह काल-पुरुष अपने यत्किञ्चित् प्रदेश से सीमित बनकर कामना के चक्र में फंस जाता है। एक-एक माया से एक-एक विश्वचक्र उत्पन्न होता है। मायाबल अनन्त है, अतः विश्वचक्र भी अनन्त है।

अनंत विश्व अधिष्ठाता वह काल-पुरुष नियति-रूप खड्ग हाथ में लिये सबपर शासन कर रहा है। सात लोक, चौदह भूतसर्ग, सारे विश्वचक्र सब उसीसे उत्पन्न है। सर्वेसर्वा काल-पुरुष के निरूपण में श्रुति—

'कालो अश्नेव इति सप्तरश्मिः, सहस्राक्षो अजरो भूरिरेतः।
तमारोहन्ति कवयो विपश्चिस्तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा।'
'स इमा विश्वा भुवनान्यञ्जत् कालः स ईयते प्रथमोनुदेवः।'
'स एव सं भुवनान्याभरत् स एव सं भुवनानि पर्यैत्।
पितासन्नभवत् पुत्र एषां तस्माद्वै नान्यत् परमास्ति तेजः।
कालोऽम् दिवमजनयत् कालकाले ज्येष्ठ, काले ब्रह्म समाहितम्।
कालः प्रजा असृजत्। कालोऽग्ने प्रजामंगिरा देवोऽथर्वा चाधिष्ठितः।
इमञ्चलोकं परमञ्चलोकं पुण्यांश्चलोकान् विधृतीश्च पुण्याः।
सर्वांल्लोकानभिजित्य ब्रह्मणाकालः स ईयते परमोनुदेव—' इत्यादि

(अथर्व सं० १६।६।५३-५४)

काल विश्वाभाव रूप है। वह अनात्मकाम होता हुआ भी काममय बन जाता है। 'एकोऽहं बहुस्याम्' यही उस कामना का रूप है। इससे उसमें एक हृदय-बल (केन्द्रशक्ति) उत्पन्न होती है। वही मन है। मन से विश्वरेतभूत (उपादानभूत शुक्र) कामना का उदय होता है। 'कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसोरेतः प्रथमं यदासीत्' (ऋग्वेद १०।१२६।४)

भागवत के अनुसार "यह परमात्म तत्त्व ही, जिससे महत् तत्वादि के अभिमानी भेददर्शी प्राणियों को भय लगा रहता है, वह रूप-भेद का आश्रय दिव्य 'काल' कहलाता है। जो सबका आश्रय होने के कारण सम्पूर्ण प्राणियों में अनुप्रविष्ट होकर पञ्चमहाभूतों द्वारा उनका भक्षण करता है, वह जगत् का शासन करनेवाले ब्रह्मादि का भी प्रभु भगवान् काल ही ये यज्ञ-फलदाता श्रीविष्णु हैं। इसका कोई भी शत्रु अथवा बन्धु-बान्धव नहीं है। वह सर्वदा सावधान रहकर असावधान प्राणियों पर आक्रमण कर उनका संहार करता रहता है। इसीके भय से वायु चलता है, सूर्य तपता है, मेघ बरसता है, तारागण चमकते हैं, लता और औषधियों के सहित सम्पूर्ण वनस्पतियां समयानुसार फूल व फल धारण करती हैं। इसीसे बहकर नदियां बहती हैं और समुद्र अपनी मर्यादा से बाहर नहीं जाता तथा अग्नि प्रज्वलित होती है। पर्वतों के सहित पृथ्वी जल में नहीं डूबती। इसीके शासन से

यह आकाश जीवित प्राणियों को श्वास-प्रश्वास के लिए अवकाश देता है। तथा महत् तत्त्व जल आदि सात आवरणों से घिरे हुए अपने शरीर रूप इस ब्रह्माण्ड की रचना करता है। इसीके भय से सत्वादि गुणों के अभिमानी विष्णु आदि देवगण, जिनके अधीन चराचर जगत् है, अपने जगत्-रचना आदि कार्यों में तत्पर रहते हैं। काल-रूप अनादि किन्तु दूसरों का आदिकर्त्ता और अव्यय है। वह स्वयं अनंत होकर भी दूसरों का अन्त करनेवाला है। वह पिता से पुत्र की उत्पत्ति करता हुआ जगत् की रचना करता है और मृत्यु के द्वारा मारता हुआ सबका अन्त करने वाला है। (भाग० ३।२९।३७ से ४५)

"संग्रामे वर्तमानानां काल-चोदित कर्मणाम्।
कीर्तिर्जयोऽत्तपो मृत्युः सर्वेषां स्युरनुक्रमात्॥ (८।११।७)
"कालोबलीयान्बलिनां भगवानीश्वरोऽव्ययः।
प्रजाः कालयते क्रीडन् पशु-पालो यथापशून्॥(१०-५१।१८)

"आप ही इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय के कारण हैं, क्योंकि शास्त्रों ने आप ही को प्रकृति, पुरुष और महतत्त्व का भी नियन्त्रण करनेवाला काल कहा है। शीत, ग्रीष्म और वर्षारूप तीन नाभियोंवाले, गम्भीर वेगवाले कालरूप आप पुरुषोत्तम ही इस सम्पूर्ण संसार का क्षय करने में प्रवृत्त हैं।" ॥१५॥

इसमें भगवान् के काल-रूप को और विशद किया गया है। वह न केवल विश्व की उत्पत्ति, स्थिति व लय का ही कारण है, बल्कि महत्, प्रकृति और पुरुष तक का भी काल है। बरसात, जाड़ा व गर्मी रूपी तीन नाभियों से युक्त वह सदा सबके लय में प्रवृत्त है, सो भी बड़ी गंभीर गति से। भगवान् के इस काल-रूप या मृत्यु का जब वर्णन सुनते हैं तो चित्त में एक प्रकार का भय उत्पन्न होने लगता है। परन्तु विचार करके देखें तो मृत्यु भी शरीर की वैसी ही स्वाभाविक क्रिया है जैसे कि जन्म। जब हम दिन भर काम करके थक जाते हैं तो रात को सो लेते हैं और सुबह फिर तरोताजा होकर काम में जुट पड़ते हैं। हमारा यह शरीर भी जब जीवन भर के परिश्रम से थक जाता है तो मृत्यु-रूपी नींद लेकर अगली योनि में फिर नवीन दिन या जीवन शुरू करता है। इस नींद में चूंकि शरीरान्तर हो जाता है, इसलिए पिछले जीवन की स्मृति नष्ट हो जाती है और हम अपनेको नया मान लेते हैं। पुराने लोग भी हमारे नये जन्म का पता न पाने से हमें भूल जाते हैं। हम परस्पर बेगाने हो जाते हैं। इस तरह वास्तविक तथ्य पर जब पहुंच जाते हैं

तो मृत्यु न तो भयानक मालूम होनी चाहिए, न अस्वाभाविक ही या अवाञ्च्छनीय ही। मृत व्यक्ति से जो हमारे स्वार्थ, सुख, आनन्द, प्रेम की हानि होती है उसीसे हम उसके वियोग में रोते-चिल्लाते हैं।

"आपकी प्रेरणा से ही यह अमोघ-वीर्य पुरुष प्रकृति से संयुक्त होकर महत्तत्त्व-रूप गर्भ को स्थापित करता है और फिर त्रिगुणमयी माया का अनुसरण करता हुआ वह महत्तत्व ही पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, अहङ्कार और मनरूप सात आवरणों सहित इस सुवर्ण वर्ण ब्रह्माण्ड की रचना करता है।" ॥१६॥

हे महाकाल, तुम्हारी ही प्रेरणा से यह अमोघ-वीर्य जीव-पुरुष प्रकृति में महत्‌रूपी बीज को स्थापित करता है और वह तुम्हारी त्रिगुणात्मक माया के अनुसार पहले हिरण्यगर्भरूपी महान् अण्डा बनता है। फिर पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, अहङ्कार और मन-रूप सात आवरणों को लेकर विराट् रूप धारण करता है। सृष्टि के आदि में परात्पर पुरुष या पुरुषोत्तम या अव्यय पुरुष अपने-आपमें मग्न, अव्यक्त रूप में था। उसका वह रूप अचिन्त्य है। जब काल की प्रेरणा हुई तो उस अव्यक्त-शक्ति-समुद्र में स्पन्दन या कम्प हुआ। यह उसका चिन्त्य रूप समझना चाहिए। कम्प के साथ ही शब्द हुआ, जिससे वेद-वाक्य—साहित्य—की रचना हुई, गति उत्पन्न हुई, जिससे रूप—आकार—बना। इसे महत् तत्त्व समझिये। यह गति पहले बुदबुदाकर—अण्डाकार—हुई जो ब्रह्माण्ड कहलाया। यह व्यक्त रूप हुआ। यह गति दो भागों में बंट गई—एक चेतन व दूसरी जड़—अचेतन। दूसरी का नाम प्रकृति हुआ। चेतन ने मन व अहङ्कार रूप से जड़ में प्रवेश करके उस बुदबुद—अण्डा—को सजीव बना दिया। इधर जड़ से पञ्च-महाभूत निर्माण हुए, जिनके आश्रय से उस अण्डे ने यह सृष्टि-रूपी बृहत् आकार—विराट् रूप धारण किया। यह अब मूर्त्तरूप हो गया।

यहां हम जीव के स्वरूप को अच्छी तरह समझ लें। वेदान्त-मतानुसार अन्तःकरण से अवच्छिन्न चैतन्य जीव है। शंकराचार्य की सम्मति में शरीर तथा इन्द्रिय-समूह के अध्यक्ष और कर्म-फल के भोक्ता आत्मा को ही जीव कहते हैं। जीव की वृत्तियां उभयमुखीन होती हैं। जब वे बहिर्मुख होती हैं तो विषयों को प्रकाशित करती हैं। और जब वे अन्तर्मुखी होती हैं तो 'अहं' कर्त्ता को अभिव्यक्त करती हैं। जीव की उपमा नृत्य-शाला-स्थित दीपक से बड़े सुन्दर-रूप से दी जा सकती है। जिस तरह रंगस्थल में दीपक, सूत्रधार, सभ्य तथा नर्तक को समभाव से

प्रकाशित करता है और इसके अभाव में स्वतः प्रकाशित होता है, उसी तरह साक्षी आत्मा अहङ्कार, विषय तथा बुद्धि को अवभासित करता है और इनके अभाव में स्वतः चमकता रहता है। बुद्धि में चाञ्चल्य होता है। अतः बुद्धि से युक्त होने से जीव चञ्चल-सा प्रतीत होता है। वस्तुतः वह शान्त है।

वैष्णव तन्त्रानुसार वासुदेव से जीव (सकर्षण) की उत्पत्ति होती है। यह जगत् भगवान् की लीला का विलास है। भगवान् के संकल्प या इच्छा-शक्ति का ही नाम 'सुदर्शन' है, जो अनन्त-रूप होने पर भी प्रधानतया पांच प्रकार का होता है—उत्पत्ति, स्थिति तथा विनाशकारिणी शक्तियां, निग्रहशक्ति (माया, अविद्या आदि नामधारिणी तिरोधान शक्ति) तथा अनुग्रह शक्ति। जीव स्वभावतः सर्व-शक्तिशाली, व्यापक तथा सर्वज्ञ होता है, परन्तु सृष्टि-काल में भगवान् की तिरोधान-शक्ति जीव के विभुत्व, सर्वशक्तिमत्व और सर्वज्ञत्व का तिरोधान कर देती है, जिससे जीव क्रमशः अणु, किंचित्कर तथा किंचितज्ञ बन जाता है। इन्हीं अणुत्व आदि को मल कहते है। इन्हींसे जीव बद्ध बन जाता है और पूर्व कर्मों के अनुसार जाति, आयु तथा भोग की प्राप्ति करता है। इस विकट भव-चक्र में वह निरंतर घूमता रहता है। जीव के क्लेशों को देखकर भगवान् के हृदय में कृपा का स्वतः आविर्भाव होता है, इसीका नाम है अनुग्रहात्मिका शक्ति, जिसे आगम में 'शक्तिपात' कहते हैं। जीवों की दीन-हीन दशा को देखकर करुणावरुणालय भगवान् का हृदय द्रवीभूत हो जाता है और वह जीवों पर अपनी नैसर्गिक करुणा की वर्षा करने लगते हैं। अब जीव के शुभ-अशुभ कर्म सम होकर फलोत्पादन के प्रति व्यापारहीन हो जाते हैं। जीव इस दशा में वैराग्य तथा विवेक को प्राप्त कर मोक्ष की ओर स्वतः प्रवृत्त ही जाता है।

अद्वैत-मत में जीव स्वभावतः एक है, परन्तु देहादि उपाधियों के कारण वह नाना प्रतीत होता। परन्तु रामानुज-मत में जीव अनन्त हैं, वे एक-दूसरे से नितान्त पृथक् हैं। देह तथा देही के समान जीव भी ब्रह्म से किसी प्रकार अभिन्न नहीं है। ब्रह्म से जीव नितान्त भिन्न है। जीव आध्यात्मिक आदि दुःखत्रय से पीड़ित है। ऐसी दशा में उसकी ब्रह्म के साथ अभिन्नता कैसे मानी जा सकती है? ब्रह्म जगत् का कारण तथा करणाधिप (जीव का अधिपति) है। दोनों अज हैं—एक ईश है, दूसरा अनीश; एक प्राज्ञ है, दूसरा अज्ञ। चिनगारी जिस प्रकार अग्नि का अंश है, देह देही का अंश है, उसी प्रकार जीव ब्रह्म का अंश है। जीव ब्रह्म में

अंशांशी भाव या विशेषण-विशेष्य-भाव सम्बन्ध है।

माध्वमत में जीव अज्ञान, मोह, दुःख, भयादि दोषों से युक्त तथा संसारशील होते हैं। ये प्रधानतया तीन प्रकार के होते हैं—मुक्ति-योग्य, नित्य संसारी और तमोयोग्य। मुक्ति प्राप्त करने के अधिकारी जीव देव, ऋषि, पितृ चक्रवर्ती तथा उत्तम मनुष्य रूप से पांच प्रकार के होते हैं। नित्य संसारी जीव सदा सुख-दुःख के साथ मिश्रित रहता है और स्वीय कर्मानुसार ऊंच-नीच गति को प्राप्त कर स्वर्ग नरक तथा भूलोक में विचरण करता है। इस कोटि के जीव मध्यम मनुष्य कहे जाते हैं और वे कभी मुक्ति नहीं पाते। तमोयोग्य जीव चार प्रकार के होते हैं, जिनमें दैत्य, राक्षस तथा पिशाचों के साथ अधम मनुष्यों की गणना है। संसार में प्रत्येक जीव अपना व्यक्तित्व पृथक् बनाये रहता है। वह अन्य जीवों से भिन्न है तथा सर्वज्ञ परमात्मा से तो बिलकुल भिन्न है। केवल संसार-दशा में ही जीवों में तारतम्य नहीं है, प्रत्युत मुक्तावस्था में भी वह विद्यमान रहता है।

निम्बार्क-मत में चित् या जीव ज्ञान-स्वरूप है। इन्द्रियों की सहायता बिना इन्द्रिय-निरपेक्ष जीव विषय के ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ है। जीव ज्ञान का आश्रय ज्ञाता भी है। वह ज्ञान-स्वरूप तथा ज्ञानाश्रव दोनों एक ही काल में है। जीव का स्वरूपभूत ज्ञान, तथा गुणभूत-ज्ञान यद्यपि ज्ञानाकार की दृष्टि से अभिन्न ही है तथापि इन दोनों में धर्माधर्मी-भाव से भिन्नता है। जीव कर्त्ता है। मुक्त हो जाने पर भी कर्तृत्व की सत्ता रहती है। जीव अपने ज्ञान तथा भोग की प्राप्ति के लिए स्वतन्त्र न होकर ईश्वर पर आश्रित रहता है। जीव नियम्य है, ईश्वर नियन्ता है। वह ईश्वर के सदा अधीन है। मुक्त दशा में भी ईश्वर के आश्रित रहता है। जीव परिमाण में अणु तथा नाना है। वह हरि का अंश-रूप अर्थात् शक्ति-रूप है।

वल्लभ-मत में जब भगवान् को रमण करने की इच्छा होती है तब वे अपने आनन्दादि गुणों के अंशों को तिरोहित कर स्वयं जीवरूप ग्रहण कर लेते हैं। इस व्यापार में क्रीड़ा की इच्छा ही प्रधान कारण है, माया का सम्बन्ध तनिक भी नहीं रहता। ऐश्वर्य के तिरोधान से जीव में दीनता उत्पन्न होती है, और यश के तिरोधान से हीनता, श्री के तिरोधान से वह समस्त विपत्तियों का आस्पद है, ज्ञान के तिरोधान से अनात्म-रूप देहादिकों में आत्मबुद्धि रखता है तथा आनन्द के तिरोधान से दुःख की प्राप्ति करता है। ब्रह्म से आविर्भूत जीव अग्नि-स्फुलिंगवत् नित्य है। वह ज्ञाता, ज्ञानस्वरूप तथा अणु-रूप है। भगवान् के अविकृत सदंश से जड़ का

निर्गमन और अविकृत चिदंश से जीव का निर्गमन होता है। जड़ के निर्गमन काल में चिदंश तथा आनन्दांश दोनों का तिरोधान रहता है। परन्तु जीव के निर्गमन काल में केवल आनन्दांश का ही तिरोभाव रहता है। जीव अनेक प्रकार का होता है—शुद्ध, मुक्त व संसारी। संसार जीव दैव व आसुर दो प्रकार के होते हैं। मुक्त जीवों में भी कतिपय जीवन्मुक्त होते हैं और कतिपय मुक्त। जीव सच्चिदानन्द भगवान् से नितान्त अभिन्न है।

गीतामन्थनकार ने जीवात्मा व परमात्मा का भेद इस प्रकार बताया है—

"चैतन्य दो प्रकार से हमें उपलब्ध होता है, एक तो सजीव प्राणियों में देखा जानेवाला व दूसरा स्थावर-जंगम तथा जड़-चेतन सारी सृष्टि में व्याप्त। शास्त्रों में पहले के लिए जीव अथवा प्रत्यगात्मा शब्द का प्रयोग किया गया है और दूसरे के लिए परमात्मा, परमेश्वर, ब्रह्म आदि नाम दिये गए हैं। दोनों की विशेषताएं इस प्रकार हैं—

प्रत्यगात्मा	परमात्मा
१. विषय सम्बद्ध होने से ज्ञाता, कर्त्ता और भोक्ता है।	१. विषय और प्रत्यगात्मा दोनों का उपादान कारण-रूप ज्ञान-क्रिया शक्ति है। ज्ञातापन, कर्त्तापन तथा भोक्तापन के भान का कारण अथवा आश्रय है।
२. कामना व संकल्पयुक्त है।	२. कामना अथवा संकल्प (अथवा व्यापक अर्थ में कर्म) की फल-प्राप्ति का कारण है और इस अर्थ में कर्म-फल-प्रदाता है।
३. पाप-पुण्यादि तथा सुख-दुःखादि के विवेक से युक्त अतएव लिप्त है।	३. अलिप्त है।
४. ज्ञान-क्रियादि शक्तियों में अल्प अथवा मर्यादित है।	४. अनन्त और अपार है।
५. पूर्ण स्वाधीन नहीं है।	५. तन्त्री या सूत्रधार है।

६.	इसकी मर्यादाएं नित्य बदलती रहती हैं, अतः स्वरूप दृष्टि से नहीं बल्कि विकास अथवा सापेक्ष्य दृष्टि से परिणामी है।	६.	अपरिणामी है और परिणामों का उत्पादक कारण है।
७.	'मैं' रूप में जाना जाता है।	७.	'तू' रूप से सम्बोधित होता है।
८.	उपासक है।	८.	'वह' रूप में जाना जाता है और और इसलिए उपास्य, एष्य, वरेण्य और शरण्य है।

"आत्मा जब शरीर-परिमित ही प्रतीत होता है तब उसकी अल्पता के कारण वह मेरा (भगवान् का) अंश जान पड़ता है। वायु के कारण समुद्र का जल जब तरंगाकार हो उछलता है तो जैसे वह समुद्र का थोड़ा-सा अंश ही दिखाई देता है वैसा ही इस जीवलोक में मैं (भगवान्) चेतना देनेवाला, देह में अहन्ता उपजाने-वाला जीव जान पड़ता हूं।"

"जिस प्रकार स्रोत के जल में एक लाठी या पटरा खड़ा कर देने से दो भाग में (जल में व जल के ऊपर) वह दो दीख पड़ता है, उसी प्रकार अखण्ड परमात्मा मायारूपी उपाधि द्वारा दो दीख पड़ता है।

"पानी का बुलबुला जिस तरह जल ही से उठता है, जल ही पर ठहरता है जल ही में लोप हो जाता है, उसी तरह जीवात्मा व परमात्मा एक ही है। भिन्नता केवल बड़े और छोटे की, आश्रय व आश्रित की है।" (ज्ञानेश्वरी)

ऊपर त्रिगुणात्मक 'माया' का जिक्र आया है। अतः यहां माया का स्वरूप भी जान लें तो ठीक रहेगा।

शंकराचार्य ने माया तथा अविद्या शब्दों का प्रयोग समानार्थक रूप से किया है। परन्तु परवर्ती दार्शनिकों ने इन दोनों शब्दों में सूक्ष्म-अर्थ-भेद की कल्पना की है। परमेश्वर की बीज शक्ति का नाम 'माया' है। मायारहित होने पर परमेश्वर में प्रवृत्ति नहीं होती और न वह जगत् की सृष्टि करता है। यह अविद्यात्मिका बीज-शक्ति 'अव्यक्त' कही जाती है। यह परमेश्वर में आश्रित होनेवाली महा-सुप्तिरूपिणी है, जिसमें अपने स्वरूप को न जाननेवाले संसारी जीव शयन करते हैं। अग्नि की दाहिका शक्ति के अनुरूप ही माया ब्रह्म की अपृथक्भूता शक्ति है। माया त्रिगुणात्मिका ज्ञान-विरोधी भाव-रूप पदार्थ है, अर्थात् वह अभावरूप नहीं

है। माया न तो सत् है न असत्; इन दोनों से विलक्षण होने के कारण उसे 'अनिर्वचनीय' कहते हैं। जो पदार्थ सद्रूप से या असद्रूप से वर्णित न किया जा सके उसकी शास्त्रीय संज्ञा 'अनिर्वचनीय' है। माया को सत् कह नहीं सकते, क्योंकि ब्रह्मबोध से उसका बाध होता है। 'सत्' तो त्रिकालाबाधित होता है, अतः यदि वह सत् होती तो कभी बाधित नहीं होती। उसकी प्रतीति होती है, इस दशा में उसे 'असत्' कहना भी न्याय-संगत नहीं। क्योंकि असद् वस्तु कभी प्रतीयमान नहीं होती। इस प्रकार माया में बाधा तथा प्रतीति उभयविध विरुद्ध गुणों का सद्भाव रहने से माया को 'अनिर्वचनीय' ही कहना पड़ता है। प्रमाण को न सह सकना ही अविद्या का अविद्यात्व है। तर्क की सहायता से माया का ज्ञान प्राप्त करना अन्धकार की सहायता से अन्धकार का ज्ञान प्राप्त करना है। सूर्योदय-काल में अन्धकार की भांति ज्ञानोदय-काल में माया टिक नहीं सकती। अतः यह भ्रान्ति आलम्बन-हीन तथा सब न्यायों से नितान्त विरोधिनी है। माया विचार को नहीं सह सकती। इस प्रकार प्रमाणासहिष्णु और विचार-सहिष्णु होने पर भी इस जगत् की उपपत्ति के लिए माया को मानना तथा उसकी अनिर्वचनीयता स्वीकार करना युक्ति-युक्त है।

माया की दो शक्तियां होती हैं—आवरण तथा विक्षेप। इन्हींकी सहायता से वस्तुभूत ब्रह्म के वास्तव-रूप को आवृत्त कर उसमें अवस्तु-रूप जगत् की प्रतीति का उदय होता है। लौकिक भ्रान्तियों में भी प्रत्येक विचारशील पुरुष को इन शक्तियों की निःसंदिग्ध सत्ता का अनुभव हुए बिना नहीं रह सकता। अधिष्ठान के सच्चे रूप को जबतक ढंक नहीं दिया जाता और नवीन पदार्थ की स्थापना उसपर की नहीं जाती तबतक भ्रान्ति की उत्पत्ति हो नहीं सकती। भ्रमोत्पादक जादू के खेल इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। ठीक इसके अनुरूप ही भ्रान्ति-स्वरूप माया में इन दो शक्तियों की उपलब्धि पाई जाती है। आवरण-शक्ति ब्रह्म के शुद्ध-स्वरूप को मानो ढंक लेती है और विक्षेप शक्ति उस ब्रह्म में आकाशादि प्रपंच को उत्पन्न कर देती है। जिस प्रकार एक छोटा-सा मेघ नेत्र को ढंक देने के कारण अनेक योजन विस्तृत आदित्य-मण्डल को आच्छादित-सा कर देता है, उसी प्रकार परिच्छिन्न अज्ञान अनुभवकर्त्ताओं की बुद्धि को ढंक देने के कारण अपरिच्छिन्न असंसारी आत्मा को आच्छादित-सा कर देता है। इसी शक्ति की संज्ञा 'आवरण' है, जो शरीर के भीतर दृष्टा व दृश्य के तथा शरीर के बाहर ब्रह्म और

सृष्टि के भेद को आवृत्त कर देती है। जिस प्रकार रज्जु का अज्ञान अज्ञानावृत रज्जु में अपनी शक्ति से सर्पादि की उद्भावना करता है, ठीक उसी प्रकार माया भी अज्ञानाच्छादित आत्मा में इस शक्ति के बल पर आकाशादि जगत्-प्रपंच को उत्पन्न करती है। इस शक्ति का अभिधान विक्षेप है। मायोपाधिक ब्रह्म ही जगत् का रचयिता है। चैतन्य पक्ष के अवलम्बन करने पर ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण है और उपाधि पक्ष की दृष्टि से वही ब्रह्म उपादान कारण है। अतः ब्रह्म की जगत्-कर्तृता में माया को ही सर्व-प्रधानतया कारण मानना उचित है।

भागवत में भगवान् की शक्ति को 'माया' कहा है, जिसका स्वरूप इस प्रकार है—"वास्तव वस्तु के बिना भी जिसके द्वारा आत्मा में किसी अनिर्वचनीय वस्तु की प्रतीति होती है (जैसे आकाश में एक चन्द्रमा के रहने पर भी दृष्टि-दोष से दो चन्द्रमा दीख पड़ते हैं) और जिसके द्वारा विद्यमान रहने पर भी वस्तु की प्रतीति नहीं होती, वही माया है।

"सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति, लय, तैसे ही बन्ध और मोक्ष—यह भ्रान्तिजनित आभास है। इस भ्रान्ति का कारण प्रत्यक् चैतन्य में अज्ञान और ईश्वर-पुरुष में ज्ञान-पूर्वक उपाधि। अज्ञान या उपाधि ही माया अथवा प्रकृति है। प्रत्यक् चैतन्य एवं ईश्वर के भेद की प्रतीति भी मायाकृत आभास ही है। इस माया का स्वरूप अगम्य है। 'है' ऐसा भी नहीं कह सकते—और 'नहीं' कहें तो वह प्रतीत होती है। अतः 'अनिर्वचनीय' है। इसका भास अनादिकाल से चला आया है।'

"मायावादी को भी यह तो मानना ही पड़ता है कि माया में नियमाधीनता है। जगत् केवल आभास हो तो भी वह अव्यवस्थित आभास नहीं कहा जा सकता। मायावाद के मूल में वास्तविक अवलोकन तो इतना ही है कि १. हमको जगत् या देह का भान तभी हो सकता है जब मन का व्यापार चालू हो, २. जगत् हमको कैसा दिखाई देता है, यह हमारी मनोदशा पर भी अवलम्बित है। और इसलिए यह निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि जगत् के पदार्थों को हम जिस नाम-रूप से जानते हैं वही नाम-रूप सचमुच उन पदार्थों के अवश्य ही हैं और ३. मन के मूल में या जगत् के मूल में कोई स्थिर तत्त्व यदि हो तो वह सत्ता-मात्र चैतन्य ही है। इस अवलोकन का अर्थ इतना ही हुआ कि जैसे रंग व रूप का भान हमें, यदि आंखों का व्यापार बन्द हो जाय तो नहीं हो सकता, उसी तरह हमें अपने अस्तित्व से लेकर जगत् तक के किसी भी पदार्थ या भाव का भान बिना मन के व्यापार के

नहीं हो सकता। ज्ञाता बनने के लिए मन आवश्यक साधन है। ज्यों-ज्यों मन का व्यापार अधिक विकसित व शुद्ध होता जायगा व उसके द्वारा मिलनेवाला अनुभव अधिक सूक्ष्म और तलस्पर्शी होता जायगा, यहांतक कि अन्त को उसके द्वारा अपने तथा जगत् के अस्तित्व के मूल में स्थित चैतन्य सत्ता को भी ग्रहण कर सकता है।"

"अर्थात् मन की मलिनता, अशुद्धता, अविकसितता को अविद्या या माया या भ्रान्ति कहना चाहिए; शुद्ध, अभ्युदित, विकसित मन की क्रिया को विद्या व प्रतीति या अनुभव को ज्ञान कह सकते हैं।"

"बदली जैसे सूर्य को छिपा देती है, वैसे ही माया ने ईश्वर को छिपा रखा है। बदली हट जाने से जिस प्रकार सूर्य दीख पड़ता है, माया के दूर होने से उसी प्रकार ईश्वर दीख पड़ते हैं।"

"माया की पहचान होने पर वह तुरन्त भाग जाती है।"

"ब्रह्म व शक्ति में भेद नहीं है। एक के बिना दूसरे को भिन्न नहीं किया जा सकता। आग व उसकी दाहिका शक्ति व दूध और उसके उजलेपन में एक के बिना दूसरे को भिन्न नहीं किया जा सकता।"

"शक्ति के बिना केवल ब्रह्म से कोई काम नहीं होता। जैसे केवल मिट्टी से कोई वस्तु नहीं बन सकती। मिट्टी में पानी मिलने पर ही कोई वस्तु बनेगी।"

"ब्रह्म की जिस शक्ति से सृष्टि, स्थिति, प्रलय होता है, उसीका नाम माया है। वह दो प्रकार की है—विद्या-अविद्या। जिसके अन्तर्गत किये हुए कर्मों से जीव ईश्वर की ओर झुकता है, जिसके घेरे में विवेक और वैराग्य की क्रियाएं पाई जाती हैं, उसे विद्या-माया कहते हैं। जहां काम, क्रोध आदि शत्रुओं के कार्य पाये जाते हैं, जिसके घेरे में किये हुए कामों से जीव संसार में दिन-दिन बंधता जाता है उसे अविद्या-माया कहते हैं। अविद्या-माया के हाथ से छुटकारा पाने के लिए विद्या-माया का आश्रय लेना पड़ता है। पीछे जब ईश्वर मिल जाता है—ज्ञान होता है तब दोनों ही मायाएं चली जाती हैं। जैसे एक कांटा चुभ जाने पर उसको निकालने के लिए एक दूसरे कांटे का सहारा लेना पड़ता है। जब पहला कांटा निकल जाता है तो दोनों को फेंक देते हैं।"

"बिल्ली अपने बच्चों को दांत से पकड़ती है पर दांत उन्हें नहीं गड़ते। परन्तु वही जब चूहों को पकड़ती है तो वे मर जाते हैं। इसी प्रकार माया भक्त को बचा

लेती व दूसरों को नष्ट कर डालती है।"

"कामिनी व कांचन ही माया है। इनके आकर्षण में पड़ने से जीव की सब स्वाधीनता चली जाती है। इनके मोह में पड़कर जीव संसार के बन्धन में पड़ जाता है।" (परमहंसदेव)

ब्रह्म से उलटी माया। निर्गुण-सगुण; अनन्त-सान्त; निर्मल, निश्चल निरुपाधिक—चंचल, चपल, उपाधिरूप। यह सब माया से भासता और मिटता है। ब्रह्म इससे भिन्न है। माया उपजती है, मरती है, विकारशील है; ब्रह्म सर्वथा निर्विकारी है। माया सर्वकरी है, ब्रह्म कुछ भी नहीं करता। धारणा माया तक पहुंच सकती है, ब्रह्म तक नहीं। माया के नाम-रूप, माया पांच भौतिक, ब्रह्म शाश्वत व एक। माया लघु व असार, ब्रह्म विभु व सार। माया इस पार की, ब्रह्म उस पार का। माया ने ब्रह्म को ढंक लिया है। साधु-सन्त उसे पहचान लेते हैं,काई दूर करके साफ पानी लेने, पानी छोड़करदूध ले लेने की तरह।

ब्रह्म व माया की विशेषताएं

ब्रह्म	माया
१. आकाश जैसा निर्मल	१. पृथ्वी जैसी गंदली
२. सूक्ष्म	२. स्थूल
३. अप्रत्यक्ष (इन्द्रिय-अगोचर)	३. प्रत्यक्ष (इन्द्रिय-गोचर)
४. सदासम	४. विषम-रूपी, नानात्व-पूर्ण
५. अलक्ष्य	५. लक्ष्य
६. असाक्षी	६. साक्षी
७. पक्ष नहीं	७. दो पक्ष—जीव-शिव, बन्ध-मोक्ष, पाप-पुण्य, प्रवृत्ति-निवृत्ति।
८. सिद्धान्त पक्ष	८. पूर्व पक्ष (खण्डन-मण्डन)
९. निरन्तर परिपूर्ण	९. पुरानी गुदड़ी
१०. मौन उचित	१०. जितना कहो उतना थोड़ा
११. अभंग	११. नाना रूप, नाना रंग, नाना कल्पना, भंगशील।

उपाधि-रहित आकाश को ही निराभास ब्रह्म समझो। उसमें मूल माया उत्पन्न हुई। वह वायुरूप हुई व उसमें तीन गुण तथा पंचभूत हुए वायु में भान, वासना, वृत्ति इत्यादि रूपों में जगज्ज्योति उर्फ ज्ञान-कला है। आकाश से वायु हुई। वह मुख्यतः दो प्रकार की है—एक वह जिसे हवा कहते हैं व दूसरी यह जगज्ज्योति। इस जगज्ज्योति में ही देव-देवताओं की अनेक मूर्तियां हैं। वायु में जो भान है, उसे इच्छा व संकल्प कहते हैं। परन्तु उसका सम्बन्ध ब्रह्म से नहीं। ज्ञान-कला को ईश्वर, सर्वेश्वर कहते हैं।

ज्ञान-चैतन्य व वायु इसीको पुरुष-प्रकृति अथवा शिव-शक्ति नाम दिये गए हैं। वायु-शक्ति व ज्ञान या चैतन्य शिव (ईश्वर) ये दोनों एकरूप हैं। अतः मूल माया को अर्धनारी-नटेश्वर कहते हैं। मूल माया के इस ज्ञान-तत्त्व का विस्तार ही यह ब्रह्माण्ड-रूप हुआ है।

निश्चल गगन में चंचल वायु बहने लगी। गगन व वायु में भेद है, उसी तरह निश्चल ब्रह्म में चंचल माया-रूपी भ्रम पैदा हुआ। ब्रह्म व भ्रम में फर्क है। निश्चल ब्रह्म में—'एकोऽहं बहुस्याम्' रूपी जो स्फुरण, इच्छा, आदि-स्फूर्ति, मूल-प्रकृति, मूल माया है वह—अहंस्फुरणरूप चेतना—ही ब्रह्माण्ड की महाकारण काया है। जिस तरह पिण्ड के स्थूल, सूक्ष्म, कारण, महाकारण—ये चार देह हैं उसी तरह ब्रह्माण्ड के विराट्, हिरण्य-गर्भ, अव्याकृत व मूल माया, ये चार देह हैं। इन्हें ईश्वर-तनु-चतुष्टय कहते हैं। अहंस्फुरण-रूप चैतन्य या ज्ञान-सत्ता ही मूल माया है। इसके परमेश्वर-वाचक अनन्त नाम हैं। उसमें नाम, रूप लिंग-भेद न होने के कारण कई नाम पुरुषवाचक, कुछ स्त्रीवाचक हैं।

आदि संकल्प ही मूल माया है। उसे षड्गुणैश्वर्य-सम्पन्न कहते हैं। सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, साक्षी, द्रष्टा, ज्ञानघन, परेश, परमात्मा, जगज्जीवन, मूल पुरुष, ये सब नाम मूल माया के ही हैं। यह मूल माया ही अधोमुख हो गुण-माया हो जाती है।

इस माया नदी में ऊपर की तरफ तैरते हुए जाने से उसके उद्गम में सबकी भेंट हो जाती है, क्योंकि वही सबका विराम-स्थान है।

"अतः, हे हृषीकेश, आप सम्पूर्ण चराचर जगत् के अधीश्वर हैं; इसीसे माया के गुण-वैषम्य के द्वारा उपस्थित हुए इन समस्त पदार्थों को भोगते हुए भी उनमें लिप्त नहीं होते, जब कि और लोग उनका स्वयं त्याग करके भी उनसे डरते रहते

हैं।" ॥१७॥

इस तरह यद्यपि तुम सारे जड़ व चेतन के अधीश्वर हो तथापि तुम्हारी खूबी या महिमा यह है कि तुम इस सारे मायाकृत जगत् में समाये हुए होकर भी माया के गुणों के चक्कर से बचे रहते हो। जीव-रूप से तुम माया-निर्मित सब पदार्थों का भोग करते हो—अपनी इस सारी सृष्टि का आनन्द लेते हो, फिर भी उसमें लिप्त या बँधे नहीं रहते, जबकि दूसरे लोग इन माया-पदार्थों को त्याग देते हैं, किन्तु फिर भी डरते रहते हैं कि कहीं फंस न जायं। तुम भोग में भी निःशंक, निर्लिप्त हो। वे त्याग में भी सशंक रहते हैं।

यहां जीव और ईश्वर का भेद समझाया गया है। यों चेतन व अचेतन, अक्षर व क्षर, दोनों भाग परमात्म-रूप ही हैं; फिर भी सृष्टि में जीव, जो चेतनांश है, उसका सीधा व स्पष्ट प्रतिनिधि है। यह जीव जबतक आत्माभिमुखी होता है, अर्थात् यह जानता व समझता रहता है कि मैं परमात्मा हूं या उसीका अंश हूं, अपने प्रारब्ध से या ईश्वर की इच्छा से इस शरीर में बंध गया हूं, यह शरीर मेरा असली रूप नहीं है, सच्चिदानन्दमय परमात्मरूप ही मेरी वास्तविकता है, तबतक वह ईश्वर, मुक्त, स्वतन्त्र है; अविद्या माया के बन्धनों से परे है। जब भोग में लिप्त हो जाने से, इस असलियत को भूलकर इस शरीर का अभिमान धारण कर लेता है 'शरीर' को 'मैं' या आत्मा समझने लगता है, तब वह जीव-भाव को या बद्ध रूप को प्राप्त होता जाता है। यही अविद्या या माया है। अतः जो जीव संसार का भोग करते हुए भी उससे अलिप्त रहता है वह ईश्वर-रूप है और जो त्यागशील होते हुए भी उसमें आसक्ति रखता है, वह पामर बद्ध रहता है।

भोग करते हुए भी अनासक्त रहने की कला ही वास्तविक योग है। भगवान् ने अर्जुन को गीता में व यहां उद्धव को बड़ी खूबी व विस्तार से यही योग बताया है। जो-कुछ करो वह ईश्वरार्पण-बुद्धि से, ईश्वर के ही लिए, करो—अपने लिए कुछ न करो। यदि मिठाई खा रहे हो—उसका स्वाद ले रहे हो—तो समझो कि मिठाई ईश्वर खा रहा है, यह मजा वही ले रहा है, यह शरीर या मुंह तो एक मशीन-मात्र है; इसी तरह यदि जहर पीने का मौका आ गया तो उस समय भी निःशंक रूप से यही भावना रहनी चाहिए कि इस जहर को पीनेवाला मैं नहीं, ईश्वर है, यदि मरा तो व जी गया तो वह भी ईश्वर ही है, बल्कि वह मिठाई या जहर भी तो ईश्वर से पृथक् नहीं है। और मिठाई या जहर देनेवाला भी तो उससे

जुदा नहीं है। इस तरह सबमें ईश्वर-भावना रखना ही सच्ची भक्ति है। समर्पण, शरण, प्रपत्ति, जो कुछ कहो, है। यही भक्ति का आत्म-निवेदन-रूप है। यही पराभक्ति है।

किसीमें जबतक आसक्ति न हो तबतक संसार के विषय-भोगों से अनासक्ति मुश्किल है। मन का धर्म ही है कि वह किसी-न-किसी विषय से सर्वदा संलग्न रहता है। सब ओर से हटाकर उसे कहीं-न-कहीं तो लगाना ही चाहिए। शून्य में लगाना करोड़ों में एक के लिए भले ही सम्भवनीय हो। अतः यह युक्ति बताई गई कि भगवान् में आसक्ति रखो। भक्ति का एक पहलू है संसार के विषय-भोगों से विरक्ति, व दूसरा पहलू है भगवान् में रति या आसक्ति। तुमको गाने-बजाने का शौक है, तो भगवान् के भजन-कीर्तन में उसे लगाओ और अपनी उमंग पूरी कर लो। बजाय 'प्राकृतजनों' को खुश करने के तुम, इस तरह, ईश्वर को खुश करने में लग जाओ। यदि चित्रकला के शौकीन हो तो ईश्वर के सुन्दर चित्र आलेखो। उसमें न केवल तुम्हारी सौन्दर्य-कामना तृप्त होगी, बल्कि नवीन स्फूर्ति भी मिलेगी। यदि सुन्दर पति चाहिए तो परमात्मा से बढ़कर—श्रीकृष्ण से अधिक सुन्दर संसार में कौन मिलेगा? मीरा ने यही तो किया था। वह जहर का प्याला कैसे पी सकी? अपने पति की कैसी सुन्दर झांकी उसने अपने भजनों में की है? यदि दुर्भाग्य से तुम्हें अपना पति या पत्नी असुन्दर मिल गई है तो तुम भगवान् के सौन्दर्य से उसकी पूर्ति कर लो। सुखी बनने का, मुक्त होने का, स्वतंत्र होने का, यही सर्वोत्तम उपाय है।

"आपकी निर्विकारता का वर्णन कहांतक किया जाय? जिनके इन्द्रियग्राम को मन्द मुसकानयुक्त चितवन से प्रदर्शित भावभङ्गीयुक्त भ्रकुटियों से चलाये हुए सुरत-मन्त्र-परिपुष्ट कामबाणों से सोलह सहस्र रमणियां भी बिद्ध नहीं कर सकीं" ॥१८॥

श्रीकृष्ण-रूप में भगवान् की अलिप्तता का उदाहरण देते हैं। तुम्हारी सोलह हजार सुन्दरी पत्नियां थीं।[1] न उनकी मधुर मुसकान, न कटाक्ष-बाण, न भावभंगी, न भृकुटि-विलास, और न सुरत-मंत्र जैसे काम-बाण ही तुम्हारी इन्द्रियों को चंचल कर सके। और प्रकार के मोहों की अपेक्षा काम का मोह बड़ा प्रबल है।

---

[1]देखिये परिशिष्ट १५

यहीं मनुष्य की सच्ची परीक्षा है। जो साधक बड़ी-बड़ी घाटियों को पार कर जाते हैं या कर गये हैं वे काम और अभिमान की घाटियों में जाकर रपट पड़े हैं। लेकिन योगेश्वर कृष्णचन्द्र की यही साधना थी कि इतनी रमणियों के रहते हुए भी वे 'जल में कमलवत्' रहे। उनके मोहपाश में फंसकर अपने किसी कर्त्तव्य को नहीं छोड़ा, न उनसे कभी मुंह मोड़ा, न आलस्य या प्रमाद ही किया। जो उपदेश अनासक्ति का उन्होंने दिया, उसे खुद अपने जीवन में चरितार्थ भी कर दिखाया। बात वही है, जो हमारे जीवन में हो, न कि जो हमारी जबान में हो। इसका अर्थ यह हुआ कि संसार में हम जो-कुछ करें वह कर्त्तव्य समझकर—न कि भोग या सुख के अर्थ या उद्देश से। जहां उसमें आनन्द या मजे की भावना हुई कि हम फंसे। कर्त्तव्य-पालन में ही आनन्द या सुख समझने की भावना वास्तविक अनासक्ति है। इससे जीवन का आनन्द व सुख मिलते हुए भी हम उसके दुःख या बन्धन से मुक्त रहेंगे। पत्नी के साथ प्रेम किया, कर्त्तव्य समझकर, न कि उसे भोग की सामग्री मानकर; बच्चों को पाला-पोसा, पढ़ाया-लिखाया तो कर्त्तव्य मानकर, न कि अपने भावी सुख की आशा से। मित्रों की सहायता की तो कर्त्तव्य व धर्म समझकर, न कि आगे उपकार होने या बदला पाने की आशा से। समाज-सेवा या देश-सेवा की या किसी गरीब-दुखिया के काम आ गये तो इसलिए नहीं कि दुआ, पद-प्रतिष्ठा, कीर्ति प्राप्त होगी, बड़े या भले कहे जायंगे, बल्कि इसलिए कि कर्त्तव्य व धर्म का तकाजा है। ऐसा मनुष्य सबका प्रिय होगा। सबका काम कर देगा व अपने लिए कुछ न चाहेगा। सच पूछिये तो सारा संसार उसे सुख पहुंचाने के लिए, उसका प्रिय करने के लिए उत्सुक रहेगा; पर उसे उसकी चाह न होगी। इस कल्पना से या मानसिक अनुभव से ही उसे परम सन्तोष मिल जायगा कि इतने लोग मुझे चाहते हैं। बल्कि इसपर भी उसकी दृष्टि न रहेगी। इस सत्य को वह देखभर लेगा। और इस एहसास से उसे जितना सन्तोष होगा, उससे अधिक तृप्ति उसे उस समय अनुभव होगी जब वह किसी सत्कार्य के लिए स्वयं कुछ कष्ट उठा रहा होगा। मोह-रहित होने का, अनासक्ति का, भक्ति का वास्तविक रहस्य यही है।

"आपके कथामृतरूपी जल के प्रवाह से युक्त आपकी कीर्ति-नदी तथा आपके पाद-प्रक्षालन के जल से उत्पन्न श्रीगंगाजी दोनों त्रिलोकी की पापराशि को धोने में समर्थ हैं. अतः सत्संग-सेवी विवेकी जन श्रवणेन्द्रिय द्वारा आपकी कीर्ति-नदी

में और शरीर द्वारा श्रीगंगाजी में गोता लगाते हुए इन दोनों ही तीर्थों का सेवन करते रहते हैं।" ।।१९।।

इसमें भगवान् के कथामृत की महिमा गाई है। संसार में दो गंगाएं हैं—एक तो तुम्हारे चरणोदक से निकली हुई, दूसरी तुम्हारे कथामृत-रूपी। दोनों से संसार के पाप-मैल नष्ट होते हैं। एक है चरणोदक को बहानेवाली, दूसरी कथामृत को बहानेवाली। भक्त दोनों का सेवन तीर्थ की तरह करते हैं—एक में नहाकर, दूसरी को अपने कानों से सुनकर। वह गंगा एक ही जगह मिलती है, उसका स्थान नियत है। यह कथामृतरूपी गंगा अपने घर में भी बुलाई जा सकती है। यह इसकी विशेषता है।

"श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन्, अन्य देवताओं और श्रीमहादेवजी के सहित आकाश में स्थित भागवान् ब्रह्माजी श्रीकृष्णचन्द्र की इस प्रकार स्तुति कर उन्हें प्रणाम करके बोले।" ।।२०।।

"श्रीब्रह्माजी बोले—हे सर्वात्मन् प्रभो, पहले हमने ही आपसे भूमि का भार उतारने के लिए प्रार्थना की थी, सो वह सब कार्य आपने यथोचित रूप से सम्पन्न किया।" ।।२१।।

"आपने सत्यपरायण साधु पुरुषों में धर्म की स्थापना भी कर दी और सम्पूर्ण लोकों के मल को हरनेवाली अपनी कीर्ति का भी दशों दिशाओं में विस्तार कर दिया।" ।।२२।।

"आपने यदुकुल में अवतार लेकर इस अनुपम दिव्यस्वरूप को धारण कर जगत् के कल्याण के लिए उदार पराक्रम से युक्त अनेक कार्य किये हैं।" ।।२३।।

"हे भगवन्, आपके जो चरित्र हैं उनका श्रवण और कीर्तन करनेवाले साधु पुरुष कलियुग में सुगमता से ही अज्ञानान्धकार को पार कर जायंगे।" ।।२४।।

कलियुग में भक्ति-मार्ग ही सुगम व सुसाध्य है। इसकी ओर संकेत किया गया है। खुद भागवत के निर्माण का भी यही हेतु है। (देखिये, इसकी प्रस्तावना)

"हे पुरुषोत्तम, हे प्रभो, आपको यदुवंश में आविर्भूत हुए एकसौ पच्चीस वर्ष बीत चुके हैं।" ।।२५।।

"हे सर्वाधार, अब देवताओं का कोई कार्य आपको करने के लिए शेष नहीं रहा और विप्रशाप से आपका यह कुल भी अब नष्ट प्राय हो गया है।" ।।२६।।

"इसलिए यदि आपकी इच्छा हो तो परम-धाम को पधारिये और लोकों के

सहित अपने दास हम लोकपालों का पालन कीजिये।" ॥२७॥

ब्रह्माजी आदि प्रस्ताव करने आये हैं कि अब आपका जीवन-कार्य समाप्त हो चुका। अब स्वधाम को पधारिये। महापुरुषों के सामने जीवन-कार्य ही मुख्य होता है। उसीके लिए वे जन्मते हैं, जीते हैं और उसीके लिए मरते हैं। उसके हो जाने पर उन्हें जीने में लुत्फ नहीं मालूम होता। इसी तरह सच्चे भक्त या अनुयायी भी वही हैं, जो ब्रह्मादि की तरह जीवन-कार्य समाप्त होने पर गुरुजनों के सामने 'रिटायर' होने का प्रस्ताव करते हुए नहीं सकुचाते। श्रीकृष्ण आदर्श महापुरुष थे व उनके भक्त ब्रह्मादि देवता भी आदर्श अनुयायी व सेवक थे। दोनों को संसार में अधर्म का उच्छेद व धर्म की संस्थापना मंजूर थी। उनके सामने कार्यप्रधान था, व्यक्तिगत भावनाएं या सम्बन्ध नहीं। यदि हम सत्य के अनुयायी हैं, जो कि भगवान् के भक्त होने का ही दूसरा नाम है, तो हमें सदैव हरेक के प्रस्ताव व सूचना पर केवल न्याय, सत्य, औचित्य, धर्म की दृष्टि से ही विचार करना होगा। इससे हमारे निजी पद, कीर्ति, प्रतिष्ठा, महत्त्व, धन-सम्पत्ति आदि की हानि होती है या नहीं, यह विचार सामने न आने देना होगा। सत्य का या भगवान् का मार्ग ग्रहण करते हुए इन सबके प्रति हमारी वृत्ति उदासीन ही रहेगी।

"श्री भगवान् बोले—हे देवेश्वर, तुम जैसा कहते हो मैं भी वैसा ही निश्चय कर चुका हूं। मैंने तुम लोगों का सम्पूर्ण कार्य कर दिया और पृथ्वी का भार भी उतार दिया।" ॥२८॥

श्रीकृष्ण भी ब्रह्मदेव के प्रस्ताव का समर्थन करते हैं। उन्होंने यह खयाल नहीं किया कि देखो, ये मेरे अनुयायी या सेवक होते हुए भी खुद मेरे ही जीवन से रिटायर होने का प्रस्ताव कर रहे हैं। ऐसा तुच्छ भाव उन्हें स्पर्श नहीं कर सकता था। ब्रह्मादि जिस शुद्ध व उच्च भावना से प्रेरित थे, उसको श्रीकृष्ण ने समझ लिया, उसकी कद्र करते हुए उन्होंने उसका अनुमोदन ही किया और बोले—

"यह यादवकुल बल, विक्रम और वैभव से उन्मत्त होकर संसार का ग्रास करना चाहता था, इसे मैंने उसी प्रकार रोक रखा है जैसे किनारा महासागर को रोके रहता है।" ॥२९॥

लेकिन अभी एक काम बाकी रहा है। ये यादव बड़े उद्धत हो गये हैं। मदोन्मत्त होकर मानो ये पृथ्वी को खा ही डालना चाहते हैं। जैसे किनारा सिन्धु की लहरों को रोक रखता है वैसे ही मैंने इन्हें इस घोर कृत्य से रोक रखा है। मेरा

यह काम और पूरा हो जाने दो। अगर मैंने जल्दी की और यह अधूरा रह गया तो यह अपने साथ ही पृथ्वी को भी ले डूबेंगे।

"इस उद्धत और बढ़े हुए यदुवंश का विनाश किये बिना यदि मैं चला जाऊंगा तो इस उच्छृंखल समुदाय द्वारा यह समस्त लोक नष्ट हो जायगा।" ॥३०॥

"अब, ब्राह्मणों के शाप से इसका नाश होने ही वाला है, अतः हे ब्रह्मन्, हे निष्पाप मैं भी इसका अन्त होने पर तुम्हारे धाम को जाऊंगा।" ॥३१॥

"श्री शुकदेवजी बोले—विश्वनाथ भगवान् के इस प्रकार कहने पर देवताओं के सहित श्रीब्रह्माजी उनको प्रणाम करके अपने लोक को चले गए।" ॥३२॥

"इसके अनन्तर, द्वारकापुरी में नित्य नये महान् उत्पात होते देखकर अपने पास आये हुए बड़े-बूढ़ों से भगवान् ने कहा।" ॥३३॥

"श्री भगवान् बोले—आजकल यहां सब ओर से ये बड़े-बड़े उत्पात होते रहते हैं और हमारे कुल को ब्राह्मणों का दुस्तर शाप भी लगा हुआ है। अतः, हे आर्यगण, यदि हम जीना चाहते हों तो मेरी सम्मति में अब हमको यहां नहीं रहना चाहिए। आओ, अब अधिक विलम्ब न करके आज ही परम पवित्र प्रभासक्षेत्र को चलें, जिसमें स्नान करने से चन्द्रमा दक्षप्रजापति के शाप से प्राप्त हुए क्षयरोग से मुक्त हो गये थे और दोषमुक्त हो जाने के कारण उनकी कलाएं फिर बढ़ने लगीं थीं। हम भी उसीमें स्नान करके पितरों और देवताओं का तर्पण करेंगे और उत्साहपूर्वक नाना सुस्वादु व्यंजनों से उत्तम ब्राह्मणों को भोजन करावेंगे। इस क्षेत्र में श्रद्धापूर्वक सत्पात्र को दान देकर हम उस दान के द्वारा इन महान् संकटों को उसी प्रकार पार कर जायंगे जैसे लोग सुदृढ़ नौका में बैठकर समुद्र के पार हो जाते हैं।" ॥३४-३८॥

उधर ब्रह्मदेव गये, इधर द्वारका में नित-नये उत्पात होने लगे। तब श्रीकृष्ण ने जो बड़े दूरदर्शी व व्यवहारकुशल थे, बड़े-बूढ़ों से कहा—बुद्धिमानी इसीमें है कि हम अब प्रभासक्षेत्र को चले चलें, द्वारका अब रहने लायक नहीं रह गई। ये नालायक यदुवंशी अब इसे तहस-नहस करनेवाले हैं। अच्छा हो कि हम तीर्थ में चलकर दान-धर्मादि ऐसे शुभ कृत्य करें, जिनसे इन संकटों से पार पा सकें। भूखों व सुपात्रों को भोजन व दान महान् पुण्य माना गया है। वैसे ही कु-पात्रों को दान—"मा प्रयच्छेश्वरे धनम्"—हानिकर है। कुपात्र स्वयं उसका दुरुपयोग करता है, जिसकी जिम्मेवारी से दाता बच नहीं सकता। एक मत यह है कि जो

हमारे दरवाजे मांगने आ गया, उसकी पात्रता का इससे बढ़कर प्रमाण क्या है? और हम पात्रता को देखनेवाले भी कौन होते है? जो आ गया, जिसने हाथ पसार दिये, उसे नारायण समझकर ही दे देना चाहिए। मगर धर्मशास्त्रों में तथा श्रीकृष्ण ने हमेशा सत्पात्र को ही दान देने का उपदेश किया है। इस मत-भेद का कारण यहां समझ लें तो अच्छा होगा।

मनुष्य की तीन भूमिका होती हैं—पहली भेद-भाव की अथवा स्वार्थयुक्त। दूसरी विवेक की अथवा न्याय-युक्त और तीसरी अद्वैत की अथवा अध्यात्म की। पहली भूमिकावाले दान-धर्म में मावजा पाने की आशा रखते हैं। दूसरी भूमिका-वाले सामनेवाले की आवश्यकता देखकर दान देते हैं और मेरी समझ से तीसरी भूमिकावाले सबको नारायण समझकर ही व्यवहार करते हैं। अतः सम्भवतः पात्रापात्र का विचार उन्हें अग्राह्य हो। पहली भूमिका के लोगों को दूसरी में ले जाने के व दूसरी भूमिकावालों को पहली में न गिरने देने के उद्देश से पात्र को देखकर दान देने का विधान किया गया है।

"श्री शुकदेवजी बोले—हे कुरुकुलनन्दन राजा परीक्षित, भगवान् का ऐसा आदेश होने पर प्रभासतीर्थ को जाने के लिए यादव लोग अपने रथ आदि सजाने लगे।" ॥३९॥

"यह सब तैयारियां देखकर, भगवान् की आज्ञा सुनकर और नित्यप्रति के अनिष्टसूचक उत्पात देखकर श्रीकृष्णचन्द्र के अनुगत भक्त उद्धवजी एकान्त में जा जगत् के ईश्वर भगवान कृष्ण के चरणों पर शिर रखकर प्रणाम करने के अनन्तर हाथ जोड़कर उनसे कहने लगे।" ॥४०-४१॥

"उद्धवजी बोले—जिनके सुयश का श्रवण और कीर्तन परम पवित्र है, ऐसे हे देवदेवेश्वर, हे योगेश्वर, आपने समर्थ होकर भी जो ब्राह्मणों के शाप का प्रति-कार नहीं किया, इससे हे प्रभो, प्रतीत होता है कि इस कुल का संहार करके आप भी इस लोक को अवश्य छोड़ देंगे।" ॥४२॥

"हे केशव, मैं तो आपके चरण-कमलों को आधे क्षण के लिए भी छोड़ना नहीं चाहता, अतः हे नाथ, मुझे भी अपने साथ अपने धाम को ले चलिये।" ॥४३॥

श्रीकृष्ण का ऐसा आदेश पाकर जब सब यादव प्रभास जाने की तैयारी में अपने-अपने रथादि सजाने लगे तब परम भगवद्भक्त उद्धव को चिन्ता हुई व उन्होंने अकेले में श्रीकृष्ण से प्रार्थना की। भगवन्! मुझको यहां अकेला छोड़कर

आप स्वधाम को न सिधारें। मुझे भी अपने साथ ले चलें। भक्तों के दो प्रकार होते हैं—एक तो वे जिन्हें भगवान् या इष्टदेव की समीपता के सिवा, उनकी प्रत्यक्ष सेवा के सिवा सन्तोष नहीं मिलता। दूसरे वे जिन्हें उनका कार्य अधिक प्रिय होता है। उस कार्य-सिद्धि के लिए उन्हें जहां-कहीं रहना पड़े व जो-कुछ करना पड़े, उसमें उन्हें कोई उज्र नहीं होता। बल्कि उसीमें वे आनन्द व सुख मान-कर कृतकृत्य होते हैं। पहले की प्रारम्भिक व दूसरे की आगे की भूमिका समझनी चाहिए।

"हे कृष्ण, आपकी क्रीड़ाएं मनुष्यों का परम-मंगल करनेवाली हैं, उस कर्णा-मृत का पान करके आपका भक्त अन्य समस्त इच्छाओं को त्याग देता है।" ॥४४॥

उद्धव ने कहा कि मैं इसलिए आपके साथ ही रहना चाहता हूं कि जिससे आपकी लीलाएं—चरित्र देख-देखकर व सुन-सुनकर मोद-मंगल को प्राप्त करूं। एवं अपने मन की सिवा आपके दूसरी सब इच्छाओं को छोड़ सकूं। क्योंकि इस प्रकार निःस्पृह बनाने का सामर्थ्य अकेले आपमें, आपके सान्निध्य में ही है।

"सोने, बैठने, घूमने, घर में रहने और स्नान, क्रीड़ा तथा भोजन करने आदि समस्त व्यापारों में निरन्तर आपके साथ रहनेवाले आपके प्रेमी भक्त हम लोग अपने प्रिय आत्मा-रूप आपको कैसे छोड़ सकेंगे।" ॥४५॥

"आपकी भोगी हुई माला, चन्दन, वस्त्र और अलंकारों को धारण करने तथा आपका उच्छिष्ट (जूठन) भोजन करनेवाले हम आपके दास आपकी माया को अवश्य जीत लेंगे।" ॥४६॥

फिर वे दलील देते हैं कि जो आपके साथ सदा-सर्वदा रहते हैं वे हम आपके भक्त अब आपको छोड़कर कैसे रह सकेंगे? क्योंकि हम तो नित्य आपकी पहनी माला पहनते हैं, आपकी जूठन खाते हैं और इस तरह आशा रखते हैं कि आपकी सेवा से आपकी दुस्तर माया को एक दिन तर जायंगे। आपसे दूर रहकर हम इस उद्देश में कैसे सफल हो सकते हैं?

'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥ (ईश०)

इसमें बताये 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'—ईश्वर के त्यागे हुए का उपभोग करो—के अनुसार उद्धव आदि भगवान् की भुक्त वस्तुओं का उपभोग करते थे। इसका भावार्थ तो यह है कि मनुष्य जो कुछ प्राप्त करे वह पहले भगवान् को या

उसके मूर्त रूप—संसार या समाज—को अर्पण करके उसकी आवश्यकता से जो बचे उसको स्वयं ग्रहण करे। अर्थात् हमारे पास जो कुछ है, उसके मालिक हम नहीं, बल्कि परमात्मा या समाज है। हम तो केवल उसके दिये को पाने के अधिकारी हैं और उसीमें हमें सन्तोष मानना चाहिए। उसीमें हमारा कल्याण भी है।

आजकल एक विचार-धारा यह चली है कि मनुष्य को व्यक्तिगत सम्पत्ति रखने का अधिकार नहीं। जो-कुछ है वह सब समाज का है। कइयों को यह नई बात मालूम होती है; और इसलिए वे उसका विरोध भी करते हैं। किन्तु दर-असल इसमें कोई नवीनता नहीं है। यह तो हमारे ऋषियों का बताया बहुत प्राचीन सिद्धान्त है और भक्तिमार्ग का तो मूलमन्त्र ही है। केवल अनभिज्ञ ही इस तत्त्व को नवीन बता सकते हैं या नवीन समझकर उसका विरोध कर सकते हैं। वस्तु नवीन हो या प्राचीन, हमें तो उसके गुण-दोष पर विचार करके ही राय बनानी व देनी चाहिए। पर यदि कोई बात कहीं से नवीन रूप में आई हो तो इतने ही से भड़क उठना न चाहिए। यदि वह हमारी प्राचीन वस्तु से मिलती है तो विरोध का कोई कारण ही नहीं है। यदि नहीं मिलती है, किन्तु आज हमें उपयोगी मालूम पड़ती है तो भी उसे अपनाने में हिचक न होनी चाहिए। इसी तरह से हमारे विचार व व्यवहार-जगत् की समृद्धि सम्पन्न होती है।

"जो वाताहारी (वायु भक्षण करनेवाले) ऊर्ध्वरेता और आध्यात्मविद्या में श्रम करनेवाले ऋषिगण हैं तथा जो निर्मलचित्त शान्त संन्यासी हैं, वे आपके ब्रह्मपद को प्राप्त होते हैं।"॥४७॥

"किन्तु, हे महायोगेश्वर, हम तो इस कर्म-कलाप में पड़े हुए ही आपके भक्तों के साथ आपके चरित्र, बोलचाल, गति, मुस्कान, चितवन, परिहास और माया मानवरूप से की हुई अन्यान्य चेष्टाओं की परस्पर चर्चा, स्मरण तथा कीर्तन करके ही आपकी दुस्तर माया को पार कर लेंगे" ॥४८–४९॥

उन्होंने कहा—आपके साधक तीन प्रकार के होते हैं—तपस्वी, ज्ञानी और भक्त। तपी वे जो सब प्रकार के कठोर संयम से व्रत-पालन करके आपसे वरदान लेते हैं—ब्रह्मचर्य साधके, हवा-पत्ते खाके, पञ्चाग्नि तपके। ज्ञानी वे जो आत्मा व परमात्मा तथा जगत् व आत्मा के सम्बन्ध व स्वरूप को अच्छी तरह जानकर एक ओर आपमें लीन रहते हैं व दूसरी ओर या तो जगत् से विरक्त हो जाते हैं या 'जल में कमलवत्' रहकर संसार-व्यवहार करते हैं। इन दो श्रेणियों के लोग तो

चित्त शुद्ध होने पर आपके ब्रह्मधाम को पाते हैं; पर तीसरे हम, भक्त, जो आपके ही भरोसे अपनी नैया छोड़े हुए हैं, और कर्म-मार्ग में पड़े हुए हैं। उनके पास आपकी मोहिनी माया को पार करने का उपाय आपके कीर्त्तन, भजन, आत्म-निवेदन के सिवा दूसरा नहीं है। हमारा सहारा तो आपके मानव-रूप की लीलाएं ही हैं।

"श्री शुकदेवजी बोले—हे राजन्, इस प्रकार निवेदन किये जाने पर भगवान् देवकीनन्दन अपने अनन्य और प्रिय भक्त उद्धव से बोले" ॥५०॥

: ७ :

दत्तात्रेय का शिष्य-भाव—१

[उद्धव की इस विनती पर श्रीकृष्ण ने उसे कहा कि आज से सातवें दिन द्वारकापुरी को समद्र डुबो देगा—कलियुग का दौर-दौरा संसार में हो जायगा। प्रजा की अधर्म में रुचि हो जायगी। अतः "तुम सबसे निर्मोह होकर सर्वत्र समदृष्टि रखते हुए मुझमें चित्त लगाकर रहो। भेद-बुद्धि छोड़ने से ज्ञान-विज्ञान में युक्त होने पर जब तुम समस्त देह-धारियों के आत्म-स्वरूप हो जाओगे तो फिर संसार के कोई विघ्न तुम्हें बाधा न पहुंचा सकेंगे। इसका जीता-जागता उदाहरण श्री अवधूत दत्तात्रेय का है, जिन्होंने २४ गुरु करके ऐसी स्थिति प्राप्त की है। मैं इसी प्राचीन इतिहास के द्वारा तुमको यह बात समझाना चाहता हूं। यह कहकर अगले तीन अध्यायों में अवधूत ने २४ गुरुओं से क्या-क्या सीखा, इसका वर्णन किया है।]

"श्री भगवान् बोले—हे महाभाग उद्धव, तुम जो कुछ कहते हो, मैं वही करना चाहता हूं। ब्रह्म और महादेव आदि लोकपालगण मेरे गोलोकगमन के इच्छुक हैं" ॥१॥

"मैंने यहां देवताओं का सम्पूर्ण कार्य समाप्त कर दिया है। इसीके लिए मैंने ब्रह्माजी की प्रार्थना से अपने अंश बलदेवजी के साथ अवतार लिया था।" ॥२॥

"अब विप्रशाप से दग्ध हुआ यह कुल भी परस्पर के युद्ध से नष्ट हो जायगा और इस द्वारकापुरी को आज से सातवें दिन समुद्र डुबो देगा" ॥३॥

एकनाथ महाराज के शब्दों में द्वारका का सरस वर्णन सुनिये —"द्वारका के बाह्य प्रदेश में जीव-शिव रमण करते हैं। वसन्त सुमन को सदा सुप्रसन्न रखता है। ताप-सन्ताप किसीको होता ही नहीं। विमल प्रेम से कमल खिल रहे हैं। कृष्ण षट्पद गुंजार कर रहे हैं, जिसे सुनकर गन्धर्व मुग्ध होकर चुप बैठे हैं। सामवेद भी मौन हो गये हैं। द्राक्षों के गुच्छ डोल रहे हैं। मुक्त-परिपाक से उनमें बड़ी मिठास आ गई है। सब काम यहां पूरे हो जाते हैं और उनकी मिठास बड़ी ही

मीठी होती है। कृष्ण-कोकिलाएं अपनी मधुर वृत्ति से निःशब्द का शब्द कूजन करती हैं, जिसे सुनकर सनकादिक सुखी होते और प्रजापति तटस्थ हो जाते हैं। मोर आनंद से ऐसे नाचते हैं कि अप्सराएं नाचना बन्द कर देती हैं और उमाकान्त अपना ताण्डव नृत्य भूल जाते हैं। ऐसी अद्भुत हरि-लीला है। द्वारकावासी विमल-हंस मुक्त-मोती ही चुगते हैं, जिसे देखकर परमहंस के भी लार टपका करती है। शुकादि पक्षी इसी लीला का अनुवाद करते हैं, जिसे सुनकर वेदान्त दंग रह जाता है। द्वारका के पक्षियों की बोली से गुह्य का गुह्यार्थ प्रकट होता है। द्वारका में बड़ा पक्का सौदा होता है। पर वहां दो अक्षरों का सच्चा सिक्का ही चलता है। जैसा लेना वैसा देना। किसीके लिए कुछ भी कम न होगा। यही यहां का व्यवहार है।"

"तथा हे साधो, जिस दिन मैं इस लोक को छोड़ दूंगा उसी दिन से यह मंगल-हीन होकर शीघ्र ही कलियुग से अभिभूत हो जायगा।" ॥४॥

"इस पृथिवीतल को मेरे छोड़ देने पर फिर तुमको भी यहां नहीं रहना चाहिए। क्योंकि, हे भद्र, कलियुग में प्रजा की रुचि अधर्म में ही होगी।" ॥५॥

"अब तुम अपने कुटुम्बी बन्धुजनों का सम्पूर्ण मोह छोड़कर मुझमें भली-भांति चित्त लगाकर सर्वत्र समदृष्टि रखते हुए स्वच्छन्दतापूर्वक पृथिवी पर विचरो।" ॥६॥

कृष्णजी ने उद्धव का प्रस्ताव मंजूर नहीं किया। और उन्हें यही सलाह दी कि तुम मुझमें मन लगाकर सब कुटुम्बियों से मोह-माया छोड़कर यहीं संसार में विचरो, क्योंकि वह नहीं चाहते कि उनकी चरण-सेवा के लिए उनके पास भक्तों की भीड़ बनी रहे। वह तो उन्हें मुक्त बनाकर संसार के दुःखी, पीड़ितों, पतितों के उद्धार के लिए सुरक्षित करना चाहते हैं। उन्होंने यह चेतावनी भी दे दी कि अब मेरे चले जाने पर जमाना बुरा आनेवाला है। लोगों में अधर्म—अनीति—कलह जोर मारेगा। अतः उसमें तुम तभी टिक सकोगे, जब सबमें समान दृष्टि रखकर चलोगे व मुझको कभी नहीं भूलोगे। चौबीस घण्टे अपने हर काम में सोते, जागते, अकेले, भीड़ में यही समझो कि मैं तुम्हारे सामने हूं। तुम्हारे हर काम व हर भाव को देखता हूं, इतनी जागृति रखकर चलोगे तो बेखटके रहोगे। यह कलि-काल तुमपर कोई असर न कर पावेगा। जब मेरा नाम लेते ही प्रेमाश्रु बहने लगें तब समझना कि तुम्हारी उपासना पूरी हुई, तुम कृतार्थ हो गये।

मैं तो ब्रह्मादि देवताओं की प्रार्थना पर देवकार्य करने आया था। अतः उसकी

पूर्ति के बाद मेरा यहां रहना जरूरी नहीं है। तुम्हारा अभी प्रारब्ध शेष है, अतः तुम तबतक मेरे बताये मार्ग पर चलते हुए यहीं रहो।

"मन, वाणी, नेत्र और कर्ण आदि से यह जो कुछ प्रतीत होता है, सब नाशवान् है। मनोमय होने के कारण इसे तुम माया ही जानो।" ॥७॥

क्योंकि आंख, कान, मन आदि इन्द्रियों से यह जो कुछ हमें जगत् में या जगत्-रूप भासता है, वह सब नाशवान् है; आज है, कल नहीं है। आज एक रूप है तो कल दूसरा। आज एक नाम से है तो कल दूसरे से। इसका क्या भरोसा किया जाय ? तुम पूछोगे कि तब यह है क्या ? तो समझो कि यह सब मन का खेल है, माया है। जगदीश्वर के मन में एक कल्पना आई कि मैं 'एक से बहुत होऊं' और यह जगत् रूप बन गया। समय पाकर हम सब नाम-रूपधारी बने। ईश्वर की दृष्टि में यह एक खेल है, नाटक है जिसके दृश्य सतत बदलते रहते हैं। जिन्हें यह तत्त्व मालूम है, वे इस रहस्य को जान लेते हैं और इसके धोखे में नहीं आते। जो नहीं जानते, वे इसे सच समझकर—यानी जो यह दीखता है, उसीको वास्तविक व स्थायी वस्तु मानकर इसीके आमोद-प्रमोद में फंसे रहते हैं। अतः मैं तुमको सावधान कर देना चाहता हूं कि तुम इसके चक्कर में मत पड़ो। तुम तो मुझमें ही ध्यान लगाओ।

"असंयतचित्त पुरुष को ही भेद-बुद्धि होती है। वह गुण-दोषमय भ्रम ही है। उस गुण-दोषमयी बुद्धि के ही कर्म, अकर्म और विकर्मरूप भेद हैं। इसलिए चित्त और इन्द्रियों का संयम कर इस जगत् को अपने आत्मा में और अपने व्यापक आत्मा को मुझ परमात्मा में देखो।" ॥८-९॥

संसार में यह जो नाना रूप या विषय दिखाई देते हैं, ये वास्तव में एक ही वस्तु-तत्त्व के विविध नाम-रूप हैं। जिन्होंने अपने मन को संयम में रखकर इस प्रश्न पर विचार किया है, उन्होंने तो यह रहस्य जान लिया है। परन्तु जो अयुक्त—असंयतचित्त हैं, वे इसको इसी रूप में सही मानते हैं, इसलिए एक को अच्छा दूसरे को बुरा कहते हैं। यह भी उनका भ्रम ही है। वास्तव में यह सब एक ही ब्रह्म है। इसमें अच्छा-बुरा यह भेद ऊपरी दृष्टि से ही है। जैसे एक पेड़ की डाल, पत्ते, फूल, फल जुदा-जुदा दीखते हैं, पर असल में वे एक ही पेड़ का विकास हैं, उसी तरह यह सारा विश्व एक ही परमात्म-तत्त्व का विकास है। अपने अज्ञान से हम इसमें नाना प्रकार के गुण-दोष देखते हैं और जिसे गुण या अच्छा समझते हैं, उसका प्राप्ति, रक्षा, संग्रह आदि के लिए यत्न करते हैं। जिसे दोष या बुरा समझते हैं

उसको छोड़ने, फेंकने, उससे दूर रहने का प्रयत्न करते हैं। इन्हीं प्रयत्नों में दूसरों से हमारे लड़ाई-झगड़े होते हैं। यही हमारे कर्मों, विकर्मों या अकर्मों की जड़ है। अच्छा समझकर उसे पाने का यत्न करना कर्म, उलटे कार्य करने से वह प्राप्त हो सकती हो या बुरी वस्तु की प्राप्ति से बच सकते हों तो ऐसे कार्य विकर्म कहलाते हैं। मूढ़ बनकर बैठे रहना अकर्म है। फिर इन सबके वैसे ही फल भी निकलते हैं जो हमें भोगने पड़ते हैं। इन कर्मों व फलों का असर फिर हमारी बुद्धि पर होता है, जो हमें तदनुसार अगले कर्मों के लिए प्रेरित करती रहती है। इस तरह इस भेद-बुद्धि से यह सारा संसार-चक्र चलता रहता है।

अतः तुम एक उपाय करो। अपनी इन्द्रियां और मन के आवेगों को रोक-कर—सांसारिक बाह्य विषयों से मन को हटाकर सबसे पहले अपनी आत्मा में ही सारे संसार को देखना आरम्भ करो। अर्थात् यह अनुभव करने लगो कि मेरी आत्मा ही यह जगत् है। उसीका यह विकास या फैलाव है। इसमें, मुझमें व संसार में तत्त्वतः कोई अन्तर नहीं है। मूलवस्तु दोनों में एक ही है। सारे पेड़ में एक ही जीवन-रस है, जो उसके प्रत्येक पत्ते, डाल, कली, फूल, फल में पहुंचता है। वैसे ही जो आत्मा मेरे अन्दर व्याप्त होकर मेरी प्रत्येक इन्द्रिय को चेतना देता है, वही सारे जगत् में चेतन-शक्ति के रूप में व्याप्त है। मन को विषयों से हटाकर जब शान्त चित्त से तुम इसका विचार करोगे तो तुम्हारा एकाग्र मन तुरन्त इसकी प्रतीति तुम्हें करा देगा।

इसी तरह तुम यह भी अनुभव करो कि यह जो संसार में व्यापक तत्त्व—आत्मा—है, वह मुझ परमात्मा का ही एक अंश है। वह उससे भिन्न नहीं है। अनन्त-अपार चेतन-समुद्र के एक अंश-मात्र से यह सारा जगत् अनुप्राणित, संचा-लित, जीवित व कार्य-क्षम हो रहा है। जगत् में व मनुष्य-देह में एक ही आत्मा समाया या पिरोया हुआ है। इसका एक सीधा-सा उदाहरण देता हूं। हम अक्सर एक-दूसरे के सुख-दुःख से सुखी-दुःखी होते हैं। भले ही सांप, शेर व शत्रु ही क्यों न हो, जब वह मारा जाता है, पीड़ित होता है तो हमें दुःख क्यों होता है? सबके प्रति हमारे हृदय में प्रेम, स्नेह, सहानुभूति, दया, सहयोग का भाव क्यों पाया जाता है? इसका एक ही उत्तर है कि दोनों में एक ही आत्मा, चेतन, प्राण-तत्त्व है। हम असल में एक शक्ति के भिन्न-भिन्न रूप हैं।

"इस प्रकार ज्ञान और विज्ञान से युक्त होने पर तुम समस्त देह-धारियों के

आत्म-स्वरूप हो जाओगे तथा आत्मानुभव से ही सन्तुष्ट होने के कारण फिर विघ्नों से बाधित न होगे।" ॥१०॥

मैं और ईश्वर एक हैं, यह ज्ञान है, मैं और जगत् एक हैं, तथा जगत् व परमात्मा भी एक ही है, यह विज्ञान हुआ।[1] इस प्रकार जब तुम ज्ञान व विज्ञान से युक्त हो जाओगे तो समस्त देहधारियों में अपने-आपको रहता व समाया हुआ पाओगे। उनके लिए तुम आत्म-स्वरूप हो जाओगे। तब तुम्हारे मन में भेद-भाव न रहेगा और इसलिए उसके सुख-दुःख, हानि-लाभ, यश-अपयश से भी परे रहोगे। यही आत्मानुभव कहलाता है। इससे तुम अपनेको सर्वदा सन्तुष्ट व कृतार्थ अनुभव करोगे। फिर जिन विघ्न-बाधाओं से डरकर तुम मेरे साथ चलना चाहते हो, उनसे बाधित न हो सकोगे।

"इस प्रकार गुण-दोष दोनों प्रकार की बुद्धि से छूटा हुआ पुरुष न तो दोष-दृष्टि से निषिद्ध का त्याग करता है और न गुण-बुद्धि से विहित का अनुष्ठान करता है—जिस प्रकार कि बालक।" ॥११॥

इस प्रकार तुम गुण-दोष-बुद्धि से भी परे हो जाओगे। तब तुम्हारा आचरण एक बालक का-सा सरल-स्वाभाविक हो जायगा। बालक जो-कुछ करता है, सहज स्वभाव से करता है—अच्छा काम कर बैठा तो गुण या अच्छाई के विचार से नहीं; साहसी या बुरा कर बैठा तो वह भी बुराई की भावना से नहीं। उसकी सहज प्रवृत्ति जैसी प्रेरणा करती है वैसा वह करता चला जाता है। ऐसी ही वृत्ति ज्ञानी की हो जाती है। ज्ञानी अपने ज्ञान व साधना के बल पर चित्त की ऐसी सहज स्थिति बना लेता है कि गुण-दोष के प्रभाव से कर्म-कलाप अनुप्राणित नहीं होते, बल्कि सहज प्रेरणा से। जबतक भेद-बुद्धि, द्वैत रहता है तबतक अपने-आप अच्छे-बुरे का खयाल आ ही जाता है व उसके प्रभाव से बचना असंभव हो जाता है। अद्वैत-सिद्धि होने पर ही मन की ऐसी सहज अवस्था हो जाती है कि भावना, ज्ञान, कर्म एक साथ प्रवर्तित होते रहते हैं। द्वैतावस्था में—साधकावस्था में—पहले भावना जगती है, मन में कोई भाव पैदा होता है, या प्रेरणा उठती है, फिर ज्ञान या बुद्धि से हम उसके गुण-दोष की विवेचना करके एक निश्चय करते हैं, तब उसे कार्य-रूप में परिणत करने का आयोजन करते हैं। इन तीनों प्रक्रियाओं

---

[1]देखिये परिशिष्ट १५

में काफी समय लगता है। परन्तु ज्ञानी व सिद्ध की यह त्रिपुटी इतनी सहज हो जाती है कि भावना के उठते ही निश्चय व उसके अनुसार कर्म तुरन्त आरम्भ हो जाता है। भावना इतनी शुद्ध, ज्ञान इतना तीव्र व कर्मवृत्ति इतनी सजग हो जाती है कि तीनों में कोई संघर्ष नहीं होता। सब एक-दूसरे के अनुकूल सहयोगी व सहायता-तत्पर रहते हैं। यही पूर्ण सिद्धि है।

"वह समस्त प्राणियों का सुहृद् (शुभचिन्तक) शान्त और ज्ञान-विज्ञान के अटल निश्चय से सम्पन्न होता है तथा सम्पूर्ण जगत् को मेरा ही स्वरूप देखता हुआ फिर किसी विपत्ति में नहीं पड़ता।" ॥१२॥

इस तरह जब वह ज्ञान-विज्ञान से इस निश्चय पर पहुंच जाता है कि सबमें एक ही परमात्मा बसा हुआ है तो स्वभावतः ही वह सबका सुहृद् हो जाता है। अब वह किसे अपना शत्रु समझे? उसके तो सभी मित्र, सखा, भाई या आत्मरूप ही हैं न? इस विचार और अनुभूति से उसके मन के सब द्वन्द्व, सब संघर्ष मिट जाते जाते हैं। वह शान्त हो जाता है। फिर उसे कोई विपदा क्यों सताने लगी? जब संसार का प्रत्येक पदार्थ मैं हूं, तो फिर मैं ही क्यों अपनेको कष्ट देने लगा, विपत्ति में डालने लगा? जिसे साधारण लोग विपत्ति समझते हैं वह भी तो मैं ही हूं। जब इस रूप में हम विपत्ति को देखेंगे, तो वह हमें परमात्मा ही दिखाई देगी। उससे जो भय हमें मालूम होता है, वह मन में से निकल जायगा, जब भय चला गया तो फिर वह विपत्ति कहां रही? दुःख, कष्ट, हानि आदि बुरी इसीलिए लगती हैं कि वे हमें भयभीत करती हैं। सांप से हम इसलिए द्वेष करते हैं कि उसके विष में मृत्यु का भय है। शत्रु से हम इसलिए चौकन्ने रहते हैं कि उसके आक्रमण से हमारी हानि का भय है। भय का अर्थ है अनिष्ट की चिन्ता या आशंका। जब सब-कुछ हमारे लिए परमात्मा-स्वरूप है तो हमारे लिए अनिष्ट क्या रहा? अब हम किस बात की चिन्ता या आशंका रखें? मेरे पास से एक वस्तु—समझिये मेरी सम्पत्ति—निकलकर तुम्हारे पास या किसी और के पास चली गई तो मुझे उस अवस्था में खटकेगा जब मैं तुमको गैर समझता होऊंगा। जब तुम अपने ही हो, मैं ही हूं, तो फिर क्यों खटकने लगा? जब मैं सबको ही अपना सुहृद् और अपनेको सबका सुहृद् समझकर बर्तूंगा तो कोई मुझपर या मैं दूसरे पर जोर-जब्र भी क्यों करने लगा? यदि किया भी तो इसके इतने परिणाम हो सकते हैं—दूसरे ही लोग तुम्हारा विरोध, प्रतिरोध करने के लिए खड़े हो जायंगे; ऐसी आकस्मिक

कठिनाइयां खड़ी हो जायंगी कि तुम्हारा मनोरथ सफल न हो सकेगा। फिर जबर-दस्ती की नौबत तो उन्हीं वस्तुओं के लिए आ सकती है, जिनपर मेरा ममत्व हो। मेरी आत्मा व मेरे शरणागत के सिवा मेरे ममत्व की कोई विशिष्ट वस्तु मेरे पास क्या रहेगी? मेरी आत्मा को जो सबकी ही आत्मा है, कौन किसीसे छीन सकता है? यह भाषा व विचार ही व्यर्थ है। शरणागत या आश्रित को भी, यदि मैं सचमुच इस स्थिति को पहुंच गया हूं तो अव्वल तो कोई हाथ लगाने का साहस नहीं कर सकता; यदि मुझमें कसर रहने से किसीने किया भी तो मुझे उनकी रक्षा व बचाव में अपनी सारी आत्मा व बल लगाने का साहस मिल जायगा। जितनी कचाई मुझमें होगी उतना बल मुझे लगाना पड़ेगा। नहीं तो जो विरोधी या आक्रामक होकर मेरे सामने आवेगा वह मेरे कदमों पर आकर गिरेगा। या मैं उसे अपना ही दूसरा रूप समझकर आलिंगन करने लगूंगा। संसार के इतिहास में ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है। भक्त व सन्त-साहित्य तो इनसे भरा पड़ा है। फिर यह अनुभव-गम्य है। जो ऐसी साधना करने लगेगा उसे इस शक्ति या स्थिति का अनुभव खुद ही होने लगेगा।

"श्री शुकदेवजी बोले—हे राजन्! भगवान् का ऐसा उपदेश सुनकर महान् भगवद्भक्त और आत्मतत्व के जिज्ञासु उद्धवजी अच्युत को प्रणाम करके इस प्रकार बोले।" ॥१३॥

"श्री उद्धवजी बोले—हे योगेश्वर, हे योगवेत्ताओं के गुह्य निधि, हे योगस्व-रूप, हे योग के उत्पत्तिस्थान, आपने मेरे निःश्रेयस (मोक्ष) के लिए संन्यासरूप कर्म-त्याग का उपदेश किया।" ॥१४॥

"किन्तु हे भूमन्, हे सर्वात्मन्, मेरा ऐसा विचार है कि विषयलोलुप लोगों के लिए यह कामनाओं का त्याग कठिन है। विशेषतः आपमें जिनकी भक्ति नहीं है उनके लिए तो वह और भी दुःसाध्य है।" ॥१५॥

भगवान का यह उपदेश सुनकर, जो कि संन्यास-रूप कर्म-त्याग-विषयक था, उद्धव बोला—हे योगेश, आप तो स्वयं योग के जन्मदाता व भण्डार हैं, अतः आपने मुझे यह संन्यास-योग या कामना-त्याग का मार्ग बताया, जिससे मेरा श्रेय हो, मैं जगत् के सब दुःखों व बन्धनों से सर्वदा के लिए छूट जाऊं, किन्तु मेरी एक कठिनाई पर आपने ध्यान नहीं दिया। संसार में ऐसे ऊंचे दर्जे के लोग बहुत थोड़े हैं, जो अपने स्वार्थ, विषय-भोग—सांसारिक सुख को छोड़ बैठे हों। अधिकांश तो

विषय-लोलुप ही हैं, जिन्हें खाने-पीने, मौज-मजा उड़ाने, नाच-रंग करने में ही महान् आनन्द आता है, वे अपनी इन कामनाओं को यों सहज में कैसे छोड़ देंगे ? जिनका मन आपकी ओर है, जो ऊंचा आदर्श व ध्येय रखते हैं, स्वार्थ से ऊपर उठकर परमार्थ, परोपकार, दीन-दुःखी की सेवा करते हैं, उनके लिए भी यह एकाएक कठिन है; फिर उनकी तो बात ही दूसरी है, जो आपसे सर्वदा विमुख हैं।

"हे नाथ, ऐसा ही मैं भी हूं। 'यह मैं हूँ, यह मेरा है' इस प्रकार की मूढ़ बुद्धि से युक्त होकर मैं आपकी माया से विरचित देह और स्त्री-पुत्रादि सम्बन्धियों में निमग्न हो गया हूं। अतः, हे भगवन्, इस दास को संक्षेप से कहे हुए इस संन्यासतत्व का इस प्रकार उपदेश कीजिये, जिससे कि मैं सुगमतापूर्वक उसका साधन कर सकूं।" ॥१६॥

और मैं भी ऐसों में ही एक हूं। 'मैं व मेरा' इस ममत्व से मैं भी बरी नहीं हूं। आपकी माया से बने पुत्र, कलत्र आदि में मेरा भी मन अभी तक फंसा ही हुआ है। अतः इतनी ऊंची बात तो मेरे से भी शायद न सध सके। सो आप अपना उपदेश-रूपी प्रसाद मुझे इस तरह सरल बनाकर थोड़े में कहिये, जिससे मैं उसे सुगमता से ग्रहण कर सकूं और साध सकूं। अर्थात् योग व संन्यास तो मेरे बूते का नहीं है; और कोई सरल रास्ता आपके पास हो तो बताइये।

"हे भगवान्, आप सत्यस्वरूप स्वयंप्रकाश आत्मा ही हैं; आपसे अच्छा आत्मज्ञान का उपदेशक तो मुझे देवताओं में भी दिखलाई नहीं देता। ये ब्रह्मा आदि समस्त देहधारी आपकी ही माया से मुग्धचित्त होकर इन मायिक पदार्थों को सत्य मान रहे हैं।" ॥१७॥

आपसे ही मैं इस बात की आशा भी रख सकता हूं, क्योंकि आप स्वयं अपने प्रकाश से प्रकाशित हैं। अतः इस विषय में यथार्थ मार्ग-दर्शन करनेवाला मुझे आपके ऐसा त्रिलोकी में कोई नहीं दिखाई देता। फिर आप सत्य-स्वरूप हैं, अतः आप ही सन्मार्ग दिखा भी सकते हैं। आप यदि कहें कि यह बात तो तुम ब्रह्मदेव आदि से ही पूछ लेना तो, हे परमेश्वर, मुझे तो ये समस्त देहधारी, भले ही वे ब्रह्मदेव जैसे ही क्यों न हों, आपकी इस माया में ही ग्रसित मालूम होते हैं; क्योंकि वे इन पार्थिव पदार्थों को सत्य मानकर चलते हैं। अतः उनसे निःश्रेयस के सरल मार्ग की क्या आशा की जाय ?

"अतः नाना प्रकार की आपत्तियों से सन्तप्त होकर संसार से खिन्नचित्त

हुआ मैं निर्मल, अनन्त, अपार, सर्वज्ञ, ईश्वर, कालादि से अपरिच्छेद्य वैकुण्ठधाम में रहनेवाले तथा साक्षात् नर के सखा नारायणस्वरूप आपकी शरण आया हूं।" ॥१८॥

अतः हे सबसे परे, सब दोषों से रहित, अनन्त, सर्वज्ञ, ईश्वर, सब प्रकार से—अकुंठित वैकुण्ठधाम में रहनेवाले नारायण, मैं तो आपकी ही शरण आया हूं। संसार के दुःखों से अब मैं ऊब गया हूं, मेरा चित्त अब उससे बहुत त्रस्त हो गया है। आप चूंकि मनुष्यों के सखा, हितैषी हैं, अतः आप ही से प्रार्थना करने का साहस मुझे हुआ है। जब जड़ ही मेरे हाथ लग गई है तो मैं दूसरा सहारा क्यों व कहां ढूंढूं ?

"श्रीभगवान्—संसार-तत्व का आलोचन करनेवाले मनुष्य प्रायः स्वयं ही अपने चित्त की अशुभ वासनाओं से अपना उद्धार कर लेते हैं।" ॥१९॥

इसपर श्रीकृष्ण ने कहा—उद्धव, संसार में श्रेष्ठ मार्ग तो यही है कि मनुष्य स्वयं अपना उद्धार करे। जो इस संसार-तत्व को जान लेते हैं, व इसमें निपुण हो जाते हैं वे अपनी कामनाओं, वासनाओं व चित्त के मलों से स्वयं ही अपना छुटकारा कर लेते हैं, क्योंकि संसार का वास्तविक रूप जान लेने के बाद मनुष्य उससे अधिक समय तक मोहित नहीं रह सकता। जब मोह न रहेगा, केवल कर्त्तव्य-भाव शेष रह जायगा, तब बुरी वासनाओं की, और इसलिए चित्त के विकारों की, मलिनता की जड़ अपने-आप कट जायगी।

"(अपने हित या अहित को जानने में) समस्त प्राणियों का आत्मा ही अपना गुरु है। उनमें भी मनुष्य का आत्मा तो विशेष रूप से ऐसा ही है, क्योंकि वह प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा तुरन्त ही अपने श्रेय का निर्णय कर सकता है।" ॥२०॥

क्योंकि ऊधो, अपना हित-अहित जानने में मनुष्य का सबसे बड़ा गुरु उसका आत्मा ही है। शुद्ध चित्त को ही मनुष्य की आत्मा समझ सकते हैं। चित्त के शुद्ध हो जाने पर ही, राग-द्वेष, भोगेच्छा, स्वार्थ-परायणता छूटने पर ही मनुष्य अपने व दूसरों के भी वास्तविक हित-अहित की छान-बीन कर सकता है। जबतक उसके मन में अपना व पराया भाव बना रहेगा तबतक वह वास्तविक न्याय नहीं कर सकता। अपने की तरफ ढुलकेगा, पराये की तरफ से ध्यान हटेगा। यही न्याय का बीज है। पक्षपात अन्याय का ही सौम्य रूप है। अन्याय अपनों की भाषा में पक्ष-

पात और परायों की भाषा में अन्याय कहा जाता है। मन की समतोल वृत्ति से ही न्यायशील हुआ जा सकता है। सबके प्रति सत्य व्यवहार का नियम रखने से समतोलता आती है। जब इस प्रकार शुद्ध या समचित्त होने से मनुष्य हिताहित-विचार करने के योग्य हो जाता है तब वह अपने श्रेय का निर्णय दो आधारों पर करता है। श्रेय का अर्थ है आत्यन्तिक हित, जिसे पाने के बाद अहित की या दुःख की सम्भावना ही न रहे। वे आधार हैं प्रत्यक्ष और अनुमान। प्रत्यक्ष वह है जिसका हमें अपनी इन्द्रियों से ज्ञान या अनुभव हो सके। अनुमान वह तर्क है जो प्रत्यक्ष के आधार पर किया जाय। यह काम मन या बुद्धि के द्वारा होता है।

"मनुष्यों में भी जो बुद्धिमान् पुरुष सांख्य योग (प्रकृति-पुरुष-विवेक) में कुशल हैं, वे सर्व-शक्ति-सम्पन्न मेरे स्वरूप को भली-भांति देख पाते हैं।" ॥२१॥

लेकिन इसमें भी जो सांख्य व योग-शास्त्र से भलीभांति परिचित हैं, वे ही मेरे सर्वव्यापी व सर्व-शक्ति-संपन्न रूप को पहचान सकते हैं। चेतन-रूप से मैं कैसे सबमें व्याप्त हूं, यह सांख्य-ज्ञान से जाना जा सकता है और योग-सिद्धियों से मेरी शक्तियों का कुछ अन्दाज हो सकता है। केवल अपने हिताहित को जान लेना अपने श्रेय का निर्णय कर लेना काफी नहीं है। जबतक कि मनुष्य को मेरी सर्व-व्यापकता व सर्व-शक्तिमत्ता का ज्ञान न होगा तबतक उसे अपनी शक्ति व विद्या का अभिमान रहेगा, व उसकी साधना दूषित हो जायगी।

"मैंने एकपद, द्विपद, त्रिपद, चतुष्पद, बहुपद और पाद-हीन रूप से नाना प्रकार के शरीरों की रचना की है, किन्तु उनमें मुझे सबसे अधिक प्रिय तो मनुष्य-शरीर ही है।" ॥२२॥

"क्योंकि संयतचित्त पुरुष इसी देह में हेतु और फल का विचार करते हुए दिखाई देनेवाले गुण (बुद्धि आदि इन्द्रिय) रूप लिङ्गों के द्वारा अनुमान करके मुझ अग्राह्य का अनुसन्धान करते हैं।" ॥२३॥

वैसे मैंने कई प्रकार की सृष्टि रची हैं, किन्तु मुझे उसमें मानुषी सृष्टि सबसे प्रिय है, क्योंकि इसमें मनुष्य को मन-बुद्धि विकसित रूप में दी गई है, जिससे वह मन को संयम में लाकर, एकाग्र करके मुझ अग्राह्य का भी अनुमान कर लेता है। ऊधो, सच पूछो तो मेरे स्वरूप व शक्ति की कल्पना ही मनुष्य के लिए असम्भव है। जब मनुष्य मेरे रूप व शक्ति का वर्णन करने लगता है, तब मुझे हँसी आने लगती है। लेकिन मनुष्य के मन व बुद्धि को इनके विषय में जाने बिना सन्तोष नहीं

होता। अतः अनुभवी व ज्ञानियों ने अपनी बुद्धि व शक्ति के अनुसार शब्दों द्वारा उनके वर्णन करने का जैसा-तैसा प्रयत्न किया है। उससे कुछ अनुमान किया जा सकता है। जबकि आम की मिठास व मिर्च का तीखापन शब्दों द्वारा प्रकट नहीं किया जा सकता; प्रेम, करुणा और हर्ष की भावनाओं के प्रकाशन में शब्द थक जाते हैं; तब मेरे रूप व शक्ति के बारे में उनकी गति कितनी हो सकती है? तुम यह समझो कि मेरा बहुतांश तो अचिन्त्य ही है। मेरे स्वल्पांश से मैं विश्वरूप में प्रकट हुआ हूं। किन्तु नर-देह में ऐसा सामर्थ्य अवश्य है कि वह कार्य-कारण-पद्धति से बुद्धि, इन्द्रिय आदि के द्वारा सोचकर व अनुमान करके मुझे ग्रहण करने का यत्न करता है।

"इस विषय में अवधूत और महान् तेजस्वी यदु के संवादरूप इस प्राचीन इतिहास का उल्लेख किया जाता है।" ॥२४॥

किन्तु सरल तरीके से तुमको समझाने के लिए एक प्रत्यक्ष उदाहरण देना ठीक रहेगा। कोरे सिद्धान्तों की बनिस्बत किसी व्यक्ति के जीवन का नमूना ज्यादा सहायक होता है। सिद्धान्त को हवाई बात कहकर उड़ा दिया जा सकता है। किन्तु जब किसीका उदाहरण सामने हो तो बड़े-बड़े सिद्धान्तियों या आलोचकों को भी रुककर मानना व सोचना पड़ता है। अतः जो बात मैं तुमको उपदेश से समझाना चाहता था, उसके लिए अब एक इतिहास सुनाता हूं।

"एक बार धर्मज्ञ राजा यदु ने एक सर्वथा निर्भीक महाविद्वान् युवा अवस्थावाले अवधूत को विचरते देखकर पूछा—" ॥२५॥

"यदु—हे ब्रह्मन्, कर्तापन के भाव से रहित आपको ऐसी विमल बुद्धि किस प्रकार और कहां से प्राप्त हुई, जिसका आश्रय लेकर आप विद्वान् होकर भी बालक के समान (असंग भाव से) विचरते हैं।" ॥२६॥

"लोग प्रायः आयु, यश अथवा वैभवादि के हेतु से ही अर्थ, धर्म, काम अथवा तत्त्व-जिज्ञासा में प्रवृत्त होते हैं।" ॥२७॥

"किन्तु आप तो समर्थ, विद्वान्, दक्ष, सुन्दर और मिष्ट भाषी होकर भी जड़, उन्मत्त अथवा पिशाच के समान न कुछ करते हैं और न चाहते ही हैं।" ॥२८॥

"संसार में सभी लोग लोभ और कामनाओं के दावानल से जल रहे हैं, किन्तु गंगाजल में खड़े हुए गजराज के समान उस अग्नि से मुक्त होने के कारण आप

उससे सन्तप्त नहीं हैं।" ॥२६॥

"हे ब्रह्मन्, हम पुत्र-कलत्रादि संसार-स्पर्श से रहित एवं आत्मस्वरूप में स्थित आपके आनन्द का कारण पूछते हैं, सो आप हमें बतलाइये।" ॥३०॥

एक बार राजा यदु ने एक अवधूत[1] को देखा जो युवा था और विद्वान् होते हुए भी बालक जैसे सहज स्वभाव से विचर रहा था। उन्हें स्वभावतः बड़ा आश्चर्य हुआ व उनसे पूछा कि किस उपाय से आपने ऐसी स्थिति प्राप्त कर ली? साधारण लोग तो आयु, यश, धन, सम्पत्ति, पुत्र-दारादि की प्राप्ति के लिए, धर्म, अर्थ, काम या तत्वज्ञान का आश्रय लेते हैं; परन्तु आप तो इन सब गुणों से अलंकृत होकर ऐसे अलमस्त से क्यों घूमते हैं? न तो आप कुछ चाहते ही हैं, न कुछ करते ही हैं। एक ओर जबकि संसार के लोग काम, लोभ आदि की आग में रोज जलते रहते हैं, उन्हें किसी प्रकार शान्ति नहीं नजर आती, तहां आप गंगा-प्रवाह में खड़े निश्चिन्त हाथी की तरह स्थिर गम्भीर हो रहे हैं। आप बिल्कुल संसारी बातों से अलग हो रहे हैं और अपने ही आनन्द में मस्त हैं। सो अपने इस आत्म-स्वरूप में स्थित रहने का कारण हमें बताने की कृपा करें।

"श्रीभगवान्—ब्राह्मणों के भक्त और अच्छी बुद्धिवाले यदु के इस प्रकार पूछने पर वे महाभाग द्विजश्रेष्ठ प्रसन्न होकर उस विनयावनत राजा से कहने लगे—" ॥३१॥

"अवधूत—हे राजन्, मेरे बहुत-से गुरु हैं, जिनको मैंने अपनी बुद्धि से ही स्वीकार किया है और जिनसे विवेक-बुद्धि पाकर मैं बन्धन-रहित होकर स्वच्छन्द विचरता हूं। वे इस प्रकार हैं—" ॥३२॥

अवधूत ने उत्तर दिया कि राजा इसका कारण यह है कि मैंने अनेक गुरुओं से अनेक गुण सीखे है, जिनके कारण मैं इस स्थिति को प्राप्त हुआ हूं। वे गुरु मैंने किसीके कहने-सुनने से, किसीकी देखा-देखी नहीं किये हैं, न किसी गुरु ने बुलाकर ही मुझे दीक्षा दी है। मैंने तो इस सृष्टि के बहुतेरे प्राणियों व वस्तुओं से तरह-तरह की शिक्षाएं ली हैं और उन्हींको मैं अपना गुरु मानता हूं। सच्चा गुरु वही है

[1] अवधूत से मतलब दत्तात्रेय से है। दत्तात्रेय अत्रि व अनसूया के पुत्र थे। अ—त्रि=त्रिगुणातीत+अनसूया=असूया—अतीत अर्थात् बुद्धि (बोध) इन दो के संयोग से उत्पन्न निर्गुण-रूप।

जिससे हमें कुछ शिक्षा मिले। हम स्वेच्छा से व स्वबुद्धि से जो गुरु करेंगे, उसीसे हमें वास्तविक शिक्षा मिलेगी।

"पृथिवी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, कबूतर, अजगर, समुद्र, पतंग, मधुमक्षिका, हाथी, मधुहारी (शहद ले जानेवाला), हरिण, मीन, पिंगला वेश्या, कुररपक्षी, बालक, कुमारी, बाण बनानेवाला, सर्प, उर्णनाभि (मकड़ी) और भृंगीकीट।" ॥३३-३४॥

"हे राजन्, मैंने इन चौबीस गुरुओं का आश्रय लिया था और इन्हींसे शिक्षा ग्रहण करते हुए मैंने इस लोक में अपनेको सुशिक्षित किया है।" ॥३५॥

"अब, हे ययातिनन्दन, मैंने जिससे जिस प्रकार जो कुछ सीखा है, हे पुरुषसिंह, वह सब मैं ज्यों-का-त्यों तुमसे कहता हूं, सुनो।" ॥३६॥

यों तो संसार की सभी चीजें मनुष्य को शिक्षा देती हैं, परन्तु मैं उन चौबीस गुरुओं के बारे में ही तुमसे कहूंगा जिनसे मुझे विशेष शिक्षा मिली है। उनके नाम ऊपर गिनाये हैं। अब मैं यह बता दूं कि किससे क्या शिक्षा मिली।

"पृथिवी पर नाना प्रकार के आघात और उत्पात होते हैं, किन्तु वह सदा समभावयुक्त और शान्त रहती है, उसी प्रकार, दैवमाया से प्रेरित प्राणी यदि कष्ट भी पहुंचावें तब भी विद्वान् को चाहिए कि वह अपने मार्ग से विचलित न हो। यह धैर्य-व्रत मैंने पृथ्वी से सीखा है।" ॥३७॥

पृथ्वी से मैंने धैर्यव्रत की शिक्षा ली है। देखो, पृथ्वी पर लोग नाना प्रकार के उत्पात करते हैं, तरह-तरह से उसे आघात पहुंचाते हैं, मकान बनाते हैं, कुएं खोदते हैं, खेती करते हैं, कारखाने खड़े करते हैं, बड़ी-बड़ी लड़ाइयां होती हैं, मुर्दे जलाते हैं, कब्रिस्तान बनाते हैं, मल-मूत्र का त्याग करते हैं, फिर भी वह इन सबको शान्ति के साथ सहती है। किन्तु वह अपने दैनिक परिभ्रमण से नहीं चूकती, न दुनिया को अपनी देन देने में ही कसर रखती है। इसी तरह मनुष्य को चाहिए कि प्राणियों की ओर से जान-बूझकर हो या दैव-प्रेरित हो, आसमानी हो या सुलतानी हो, किसी भी तरह का आक्रमण, विघ्न-बाधा आवे तो उससे विचलित न हो, घबराये नहीं, डांवाडोल न हो, व अपने कर्त्तव्य व धैर्य को न छोड़े। शान्ति, क्षमा, व धैर्य के द्वारा उन सबको सहन करे व आगे बढ़ता रहे।

"साधु को चाहिए कि जिनकी सारी चेष्टाएं सर्वदा दूसरों के लिए हैं और जिनका प्रादुर्भाव केवल परोपकार के ही लिए हुआ है, उन पर्वत और वृक्षों का

शिष्य होकर उनसे परोपकार करना सीखे।" ॥३८॥

पृथ्वी ही नहीं, उसपर खड़े पहाड़ों व पेड़ों से भी मैंने शिक्षा ली है। देखो, इनका जीवन केवल परार्थमय है।[1] पहाड़ों को लोग खोदते हैं। सुरंग लगाकर चट्टानें तोड़ते हैं, तो भी वे उन्हें कीमती पत्थर, सोना, तांबा, रत्न देते हैं। तरह-तरह की वनस्पतियां व औषधियां, पेड़, फूल, फल देते हैं। पेड़ भी अपने जड़, फल, फूल, पत्ते आदि सभी अंगों द्वारा परमार्थ करता है। 'इतते ये पाहन हनैं उतते वे फल देत,' सूखने पर लकड़ी ईंधन का काम देती है। खुद जलकर भी आपका भला करते हैं। अतः इनका शिष्य होकर मनुष्य को परार्थता सीखनी चाहिए।

"प्राणवायु जैसे आहारमात्र की इच्छा रखता है, किसी प्रकार के रूप, रस आदि की उसे आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार योगी को चाहिए कि जिसमें ज्ञान नष्ट न हो और मन-वाणी भी विकृत न हों ऐसे हित और मित आहार से ही सन्तुष्ट रहे, रसना आदि इन्द्रियों का प्रिय लगनेवाले पदार्थों की इच्छा न करे। तथा बाह्यवायु सर्वगामी होता हुआ भी जैसे स्वरूप से सदा निर्लिप्त रहता है, उसी प्रकार नाना प्रकार के विषयों को ग्रहण करता हुआ भी योगी उनके गुण-दोषों से मुक्त रहकर उनमें लिप्त न हो। गन्ध का वहन करता हुआ भी वायु जैसे सदा शुद्ध रहता है, उसी प्रकार इस पार्थिव शरीर में रहने के कारण इसके गुणों का आश्रय लेकर भी आत्मज्ञानी पुरुष उनमें आसक्त न हो। इस प्रकार

---

[1]भागवत में दधीचि कहते हैं—"मेरा यह प्रिय शरीर एक दिन स्वयं ही मुझे छोड़नेवाला है, इसलिए इसे मैं आप लोगों के हित के लिए आज ही छोड़ देता हूं।

"जो पुरुष इस अनित्य शरीर से जीवों पर दया करते हुए धर्म अथवा यश के उपार्जन का प्रयत्न नहीं करता, वह स्थावरों (वृक्षादिकों) की दृष्टि में भी शोचनीय है।"

"मनुष्य जो कि दूसरों के दुःख में दुःखी और सुख में सुखी होता है, वही पुण्य कीर्तिशाली पुरुषों द्वारा सेवित अक्षयधर्म है।"

"कैसे दुःख की बात है कि जिनसे मनुष्य का कुछ भी स्वार्थ सिद्ध नहीं होता तथा जो दूसरों के ही योग्य और क्षण-भंगुर हैं, उन धन-जन और शरीरादि से वह दूसरों का कुछ भी उपकार नहीं करता।" (६।१०।७ से १०)

मने प्राणवायु से संयम और बाह्यवायु से असंगता की शिक्षा ली है।"॥३६-४०-४१॥

वायु दो प्रकार की है—एक प्राणवायु, दूसरी बाह्यवायु। प्राणवायु वह है जो हमारे शरीर के भीतर संचार करके फेफड़ों में श्वासोच्छ्‌वास करती—निकालती है, जिससे मनुष्य के सजीव रहने की पहचान होती है। बाहरी वायु को सब जानते ही हैं। दोनों से हमें शिक्षा लेनी चाहिए। प्राणवायु केवल आहार की इच्छा रखता है। किसी प्रकार के रूप, रस आदि के चक्कर में नहीं पड़ता। ये सब इन्द्रियों के विषय हैं, जिनसे वह कोई सरोकार नहीं रखता। उन सबको वह अनुप्राणित तो कर देता है, पर खुद उनसे अलिप्त रहता है। इसी प्रकार योगी को चाहिए कि वह केवल हित व मित आहार से ही सन्तुष्ट रहे, सो भी इतना ही कि जिससे न तो ज्ञान नष्ट हो, न मन-वाणी ही विकृत होने पावे। इसके अलावा जीभ, आंख आदि इन्द्रियों को प्रिय लगनेवाले पदार्थों की इच्छा न करे। अब बाह्य वायु को देखिये। वह सब जगह बहता है, सबको छूता है, फिर भी किसीकी छूत उसे नहीं लगती। उसके मूलरूप में कोई फर्क नहीं पड़ता। इसी तरह योगी भी भले ही नाना प्रकार के विषयों को ग्रहण करे; परन्तु वह उनके गुण-दोषों में लिप्त न हो। यदि भोजन स्वादिष्ट बना है तो इसलिए अधिक न खा जाय, कुस्वादु बन गया है तो भूखा न रहे। ऐसे ही और विषयों के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए। देखो, वायु गन्ध को इधर-से-उधर ले जाता है, सुगन्ध भी दुर्गन्ध भी, किन्तु फिर भी सदैव शुद्ध रहता है। इस प्रकार मनुष्य को चाहिए कि वह भले ही शरीर में रहने के कारण इसके गुणों का आश्रय ले, इसके स्वाभाविक कार्य करता रहे, परन्तु उनमें लिप्त न हो, फंस न जाय, केवल कर्त्तव्य समझकर करता रहे। इस प्राण-वायु से संयम की व बाह्यवायु से असंगता की शिक्षा मैंने ली है।

"मैंने आकाश से जो सीखा है, वह बतलाता हूं—आत्मस्वरूप से सबके अनुगत होने के कारण ब्रह्म स्थावर-जंगम सभी उपाधियों में स्थित है। मुनि को चाहिए कि मणियों में व्याप्त सूत्र के समान उस सर्वगत आत्मा की व्याप्ति के द्वारा उसकी अपरिच्छिन्नता, असंगता और आकाशरूपता की भावना करे।" ॥४२॥

"जिस प्रकार तेज, जल और अन्नमय पदार्थों से तथा वायुजनित मेघादि से आच्छन्न हुआ भी आकाश उनसे अछूता रहता है, उसी प्रकार आत्मा भी कालकृत गुणों से अलग है।' ॥४३॥

अब आकाश से जो गुण ग्रहण किया सो सुनो। ब्रह्म आत्मस्वरूप में, या जीव-रूप में जैसे सृष्टि के सभी जड़-चेतन स्थावर-जंगम पदार्थों में व्याप्त है, या जैसे धागा माला की सब मणियों में या फूलों में पिरोया रहता है, फिर भी सबसे अलग, अलिप्त रहता है वैसे ही स्थिति आकाश की भी है। घड़े में आकाश है, मकान में आकाश है, परन्तु फिर भी वह दोनों से जुदा, अलिप्त है। इस तरह आकाश में व्यापकता, असंगता, अपरिच्छिन्नता—बिना रुकावट या सीमा खुला व फैला हुआ होना—ये गुण मैंने देखे हैं। अतः मनुष्य को चाहिए कि इन्हींकी भावना करे। फिर आकाश, तेज, जल और अन्नमय तथा वायु-जनित पदार्थों से जैसे आग, बादल, वृष्टि, पेड़, अनाज आदि से ढंका या घिरा हुआ होकर भी अछूता रहता है, उसी तरह हमारा आत्मा भी जीवन, मृत्यु, वर्ष, मास, आज, कल आदि कालकृत गुणों या उपाधियों से मुक्त व अलग है, ऐसा समझकर अपने-आपको सबमें रहते हुए भी सबसे अलग रखने की साधना करनी चाहिए, अर्थात् शरीर से सब आवश्यक कर्म करते हुए भी मन से उनसे अलग या दूर रहना चाहिए।

"जल से मैंने जो सीखा है, सो सुनो—स्वभाव से ही शुद्ध, स्नेहयुक्त, मधुर-भाषी और मनुष्यों के लिए तीर्थस्वरूप हुआ मुनि अपने साथियों को दर्शन, स्पर्श और यशोगान से ही जल के समान पवित्र कर देता है।" ॥४४॥

अब जल के गुण सुनो। जल स्वभावतः ही शुद्ध-स्वच्छ होता है। आकाश से शुद्ध गिरता है, धरती पर मैला हो जाता है, फिर भी तुरन्त ही स्वच्छ बनने का यत्न करता है और हो भी जाता है। वह जहां लगता है, वहीं भिगो देता है, तर कर देता है, अतः वह स्नेहमय है। मीठा है, जीवनदायी है। मनुष्य को भी चाहिए कि वह इसी प्रकार शुद्ध, स्निग्ध, मधुर, तीर्थ रूप बनता हुआ अपने साथियों को दर्शन, स्पर्श व यशोगान से जल की तरह पवित्र करता रहे।

"अग्नि से मैंने यह शिक्षा ली है कि जितेन्द्रिय मुनि अग्नि के समान तेजस्वी, तप के कारण देदीप्यमान और अक्षोभ्य होता है, वह केवल उदररूप पात्र रखता है अर्थात् जो कुछ मिलता है, उसे पेट में डाल लेता है, संचय करके नहीं रखता तथा अग्नि के समान सर्वभक्षी होकर भी संयतचित्त होता है, और जिस प्रकार अग्नि कभी सामान्य रूप से अव्यक्त और कभी विशेष रूप से प्रकट रहता है, उसी प्रकार वह कभी गुप्त और कभी प्रकट होकर रहता है एवं आत्मकल्याण की इच्छावालों से सेवित होता है। वह भिक्षा देनेवालों के अतीत और आगामी अशुभों को भस्म

करता हुआ सर्वत्र अन्न ग्रहण करता है। योगी को विचारना चाहिए कि भिन्न-भिन्न उपाधियों (काष्ठ लोहादि) में प्रविष्ट हुआ अग्नि जैसे तद्रूप प्रतीत होता है, उसी प्रकार विभु आत्मा भी अपनी माया से रचे हुए इस सत्-असद्रूप प्रपंच में प्रविष्ट हुआ उपाधियों के अनुसार चेष्टा करता है।" ॥४५-४७॥

अग्नि में मैंने इतने गुण देखे—वह तेजस्वी होता है, उसमें हाथ डालने की सहसा किसीकी हिम्मत नहीं होती। अपने तप से वह हमेशा दीप्तिमान रहता है। उसे धारण करना कठिन होता है। जो-कुछ उसमें डालो वह सब खा जाता है, जो कोई भी डाले उसे ग्रहण कर लेता है, लेकिन फिर भी उस खाद्य वस्तु के दोषों से वह सर्वथा मुक्त रहता है। फिर वह उदर पात्र होता है। अर्थात् जो-कुछ आहार उसे मिलता है, उसे वह उदर में ही रखता है, दूसरा पात्र या स्थान उसके पास नहीं होता। फिर कभी तो वह धधकने लगता है व कभी बुझ जाता है। जो उसकी उपासना करते हैं, अग्निहोत्र, हवन, यज्ञादि करते हैं उनको श्रेय प्रदान करता है। सबका दिया खाकर उनके सब आगे-पीछे के अशुभों—दोषों को भस्म कर देता है। अग्नि जिस वस्तु में—लकड़ी में, लोहे में या अन्य वस्तु में—प्रविष्ट होता है उसीका रूप धारण कर लेता है। इस बात में वह आत्मा से मिलता है। आत्मा भी जैसा शरीर होता है वैसा ही अपना रूप बना लेता है। पेड़ में पेड़ का, लता में लता का, पुरुष में पुरुष का, स्त्री में स्त्री का व पशु में पशु का। यही सब गुण मनुष्य को अग्नि से सीखने चाहिए।

"मैंने चन्द्रमा से जो शिक्षा ली है सो सुनो। अलक्ष्य गति काल के प्रभाव से बढ़नेवाली चन्द्रमा की कलाओं के समान जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त सारी अवस्थाएं शरीर की ही हैं, आत्मा की नहीं।" ॥४८॥

"अग्नि की शिखा जिस प्रकार निरन्तर क्षण-क्षण में उत्पन्न और नष्ट होती रहती हैं, किन्तु यह भेद प्रतीत नहीं होता, उसी प्रकार जल-प्रवाह के समान वेग-वाले काल के द्वारा भूतों की उत्पत्ति और नाश क्षण-क्षण में होते रहते है; किन्तु वे अज्ञानवश दिखलाई नहीं देते।" ॥४९॥

काल की अलक्ष्य गति के प्रभाव से चन्द्रमा की कलाएं घटती-बढ़ती रहती हैं। यह हम नित्य ही देखते हैं। इसी तरह मनुष्य के शरीर की अवस्थाएं भी जन्म से लेकर मृत्यु तक बदलती रहती हैं। लेकिन जैसे कलाओं के घटने-बढ़ने पर भी चन्द्रमा के मूल-स्वरूप को कोई बाधा नहीं पहुंचती, वैसे ही शरीर की इन भिन्न-

भिन्न अवस्थाओं से भी आत्मा का स्वरूप ज्यों-का-त्यों अबाध रहता है। अतः चन्द्रमा से मैंने यह शिक्षा ली है कि परिवर्तन देह का धर्म है, आत्मा का नहीं।

काल का वेग जल-वेग की तरह है। जल की धारा में कब नया पानी आया व पुराना बहा इसका पता नहीं चलता। इसी तरह काल का क्षण कब बीता और कब नया क्षण शुरू हुआ, इसका ज्ञान नहीं होता। इसी काल के प्रभाव से संसार में पदार्थमात्र, जीव-मात्र की उत्पत्ति, वृद्धि व विलय होता रहता है। प्रत्येक क्षण में यह सब क्रियाएं होती रहती हैं, किन्तु हमें सहसा उनका बोध नहीं होता। उसी प्रकार जिस प्रकार कि अग्नि की शिखा या ज्वाला प्रतिक्षण घटती-बढ़ती रहती है, पर हमें उसका पता नहीं चलता। अतः हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि क्षय-वृद्धि देह का धर्म है और इसलिए उसका सुख-दुःख नहीं मानना चाहिए।

"मैंने सूर्य से जो सीखा है, वह सुनो—सूर्य जिस प्रकार अपनी किरणों से पृथ्वी के जल को खींचकर समयानुसार उसे बरसा देता है, उसी प्रकार योगी, गुणानुवर्तिनी इन्द्रियों द्वारा त्रिगुणमय पदार्थों से जो कुछ ग्रहण करता है, उनका त्याग भी कर देता है, उनमें आसक्त नहीं होता। योगी को विचारना चाहिए कि जल के पात्रों में प्रतिबिम्बित सूर्य के समान व्यक्तिगत उपाधियों के भेद से ही स्थूल बुद्धिवाले लोगों को आत्मा व्यक्तिविशेष में स्थित-सा प्रतीत होता है। वस्तुतः तो वह एक और अपरिच्छिन्न ही है।" ॥५०-५१॥

अब सूर्य से मिलनेवाली शिक्षा सुनो। सूर्य अपनी किरणों से पृथ्वी के जल को खींचता है और समय आने पर फिर वर्षा के रूप में उसे बरसा देता है। ऐसे ही योगी को चाहिए कि वह अपनी इन्द्रियों के द्वारा जो कि गुणों के प्रभाव से काम करती है, सृष्टि के त्रिगुणमय पदार्थों से जो-कुछ ग्रहण करता है, वह फिर यथासमय संसार के उपकार के लिए त्याग दे। अर्थात् समाज से वह जो-कुछ अन्न-वस्त्र, ज्ञान, सुख, साधन, उन्नति के रूप में पाता है, उसका बदला उसे समाज की समयोचित सेवा करके चुकाते रहना चाहिए। वह न तो इनमें आसक्त हो, न इस ऋण को चुकाने की जिम्मेवारी को ही भूल जाय। सूर्य एक है, परन्तु भिन्न-भिन्न जलपात्रों में वह अलग-अलग स्थित दिखाई देता है, यह भ्रम है। उन्हें जो भिन्न-भिन्न मानता है, वह मूर्ख है। इसी प्रकार आत्मा भी भिन्न-भिन्न शरीरों में एक ही है। किन्तु जो स्थूल बुद्धि हैं, वे उनमें एक-एक-स्थ अर्थात् सबमें अलग-अलग मानते हैं। योगी को इस भ्रम से बचना चाहिए।

"मैंने कपोत (कबूतर) से यह सीखा है कि कभी किसीके साथ अधिक स्नेह अथवा संग न करना चाहिए। नहीं तो दीन बुद्धि कबूतर के समान क्लेश उठाना पड़ता है।" ॥५२॥

अब मैंने कबूतर से भी एक शिक्षा ली कि न तो किसीसे अति स्नेह ही करना चाहिए न किसी बात में आसक्ति ही रखनी चाहिए। नहीं तो कबूतर के एक जोड़े की तरह दुर्गति होगी। उसकी कथा सविस्तर सुन लेना अच्छा होगा।

"हे राजन्! एक कपोत किसी वन में पेड़ पर घोंसला बनाकर कुछ वर्षों तक अपनी स्त्री कबूतरी के साथ उसमें रहा।" ॥५३॥

"वे गृहस्थ और परस्पर के प्रेमबन्धन से बंधे हुए कबूतर-कबूतरी दृष्टि से दृष्टि, अंग से अंग और मन से मन मिलाये हुए रहते थे।" ॥५४॥

"(परस्पर) विश्वस्त होने के कारण वे उस वन्य प्रदेश में एक साथ सोते, बैठते, घूमते, ठहरते तथा बातचीत, क्रीड़ा और भोजनादि करते।" ॥५५॥

"हे राजन्! अपनेको तृप्त करनेवाली अपनी कृपापात्री वह कबूतरी जब-जब जो कुछ चाहती, वह अजितेन्द्रिय कबूतर अत्यन्त कष्ट उठाकर भी, उसे वही यथेच्छ वस्तु लाकर देता।" ॥५६॥

"समयानुसार उस कबूतरी को पहला गर्भ रहा और उस सती ने अपने स्वामी के निकट घोंसले में अण्डे दिये।" ॥५७॥

"श्रीहरि की अचिन्त्य शक्ति से अवयवों की रचना होने पर कुछ काल में उनमें से सुकोमल शरीर और रोएंवाले बच्चे हुए।" ॥५८॥

"उनका शब्द सुनते और कलरव से आनन्दमग्न होते हुए उन पुत्रवत्सल दम्पती ने बड़े प्रेम से उनका लालन-पालन किया।" ॥५९॥

"उन प्रसन्नचित्त बच्चों के सुकोमल स्पर्शवाले पंखों से, कलरव से, बाल-चेष्टाओं से और फुदकने से उन माता-पिता को बड़ा आनन्द होता था।" ॥६०॥

"इस प्रकार भगवान् विष्णु की माया से मोहित होकर परस्पर स्नेह-बन्धन में बंधे हुए और (निरन्तर उनके पालन-पोषण की चिन्ता से) व्याकुल हुए वे कबूतर-कबूतरी अपनी सन्तान उन बच्चों का पालन करते रहे।" ॥६१॥

"एक दिन बड़े कुटुम्बवाले वे दोनों कबूतर-कबूतरी चारा लाने के लिए गये और चारे की खोज में बहुत देर तक उस वन में इधर-उधर भटकते रहे।" ॥६२॥

"इधर अकस्मात् एक वनवासी बहेलिये ने उन कपोत शावकों को घोंसले के

आस-पास फिरते देखकर जाल फैलाकर पकड़ लिया।" ॥६३॥

"इतने में अपनी सन्तान के पोषण में अति उत्सुक रहनेवाले वे कपोत-कपोती भी, जो वन में गये हुए थे, चारा लेकर अपने घोंसले के समीप आये।" ॥६४॥

"कबूतरी अपने बच्चों को जाल में फंसे और दुःख से चिल्लाते हुए देखकर स्वयं भी अत्यन्त दुःखित हो विलाप करती उनके पास दौड़ गई ॥६५॥

"इस प्रकार निरन्तर स्नेहबन्धन में बंधी और दैवमाया से दीनचित्त हुई वह कबूतरी उन बच्चों को बंधे देखकर बेसुध हो स्वयं भी उस जाल में फंस गई।" ॥६६॥

"तब वह कपोत अपने प्राणों से भी प्यारे बच्चों और प्राणप्रिया दुःखिता भार्या को जाल में फंसे देखकर अति दुःखित होकर विलाप करने लगा।" ॥६७॥

"अहो, मुझ भाग्यहीन मन्द-मति की यह दुर्दशा तो देखो, जो मेरे संसार-सुख से तृप्त और कृतार्थ हुए बिना ही मेरा यह अर्थ, धर्म, कामरूप त्रिवर्ग का साधन बना-बनाया घर बिगड़ गया।" ॥६८॥

"अहो, मेरी सब प्रकार योग्य और आज्ञाकारिणी पतिव्रता पत्नी भी मुझे इस सूने घर में अकेला छोड़कर अपने भोले-भाले बालकों के साथ स्वर्ग सिधार रही है।" ॥६९॥

"इस प्रकार जिसके स्त्री और बच्चे नष्ट हो रहे हैं, ऐसा मैं अत्यन्त दीन और विधुर (स्त्रीहीन) होकर इस सूने घर में अपने दुःखमय जीवन को किसलिए रखने की इच्छा करूं।" ॥७०॥

"इस प्रकार जाल में फंसकर मृत्यु ग्रस्त हुए और (उससे छूटने के लिए) प्रयत्न करते हुए उन स्त्री और बच्चों को देखकर भी वह दीन और बुद्धिहीन कबूतर स्वयं भी उसीमें कूद पड़ा ॥७१॥

"तब उस कुटुम्बी कबूतर को तथा कबूतरी और बच्चों को पाकर अपनेको कृतकृत्य मानता हुआ वह निर्दयी बहेलिया अपने घर चला गया।" ॥७२॥

"इस प्रकार जो व्यक्ति कुटुम्बी व अशान्तचित्त होकर निरन्तर द्वन्द्व ही में पड़ा रहता है वह अपने कुटुम्ब के पालन-पोषण में ही लगे रहने से उस पक्षी की भांति स्नेहबन्धन के कारण दीन होकर दुःख भोगता है।" ॥७३॥

"खुले हुए मुक्तिद्वार के समान इस मनुष्य-देह को पाकर जो उस कपोत के समान घर में आसक्त है उसे शास्त्र में 'आरूढ़च्युत' (चढ़कर गिरा हुआ) कहा है।" ॥७४॥

: ८ :

दात्तात्रेय का शिष्य-भाव–२

"मैंने अजगर से सीखा कि दुःख के समान इन्द्रियों के सुख भी स्वर्ग अथवा नरक में स्वतः ही प्राप्त हो जाते हैं, अतः बुद्धिमान पुरुष उनकी इच्छा न करें।" ॥१॥

"मीठा हो या फीका, अधिक हो अथवा थोड़ा, जैसा टुकड़ा बिना मांगे अनायास ही मिल जाय उसीको अजगर के समान निरीह भाव से खा ले।" ॥२॥

"यदि भोजन न मिले तो प्रारब्ध भोग समझकर अजगर के समान उसके लिए कोई प्रयत्न करके बहुत काल तक निराहार ही पड़ा रहे।" ॥३॥

"मनोबल, इन्द्रियबल और शारीरिक बल से युक्त होकर निश्चेष्ट शरीर से पड़ा रहे; बिना निद्रा के भी सोया हुआ-सा रहे और इन्द्रिय युक्त होकर भी कोई व्यापार न करे।" ॥४॥

राजा, अजगर से मैंने यह सीखा है कि यह इन्द्रियों से मिलनेवाला अर्थात् विषय-सुख, चाहे कोई स्वर्ग में हो या नरक में, दुःख की तरह खुद ही चला आता है। अतः मनुष्य उसके विषय में निश्चिन्त रहे और उसकी कामना न करे।

"नारायण सुख दुख उभय, भ्रमत फिरत दिन रात।
बिन बुलाय ज्यों आ रहें, बिना कहे त्यों जात ॥"

इसी तरह बिना मांगे अनायास जो-कुछ मिल जाय, चाहे वह मीठा हो, फीका हो, थोड़ा हो, ज्यादा हो; उसीको खाकर सन्तुष्ट रहे। यदि कुछ न मिले तो 'प्रारब्ध' का फल मानकर किसीकी निन्दा न करे और निराहार ही रह जाय। मनोबल, इन्द्रियबल, व शरीरबल से युक्त होकर भी अपने स्वार्थ के लिए निश्चिन्त रहे, जागता हुआ भी सोया-सा रहे, इन्द्रियों से युक्त होकर भी कुछ न करे, निष्क्रिय, अकर्मी रहे। मतलब यह कि अपने निर्वाह के लिए भगवान् पर श्रद्धा रखे।

"योऽसौ विश्वम्भरो देवः स भक्तान् किमुपेक्षते"

इसपर विश्वास रखे। दूसरे, अपने सुख-दुःख के सम्बन्ध में उदासीन रहे। ये दो बातें अजगर से सीखने योग्य हैं।

"समुद्र से मैंने यह सीखा कि मुनि को निस्तरंग समुद्र के समान शान्त, गम्भीर, अगम्य, अवेद्य, अनन्तपार और क्षोभ-रहित रहना चाहिए। जिस प्रकार नदियों के कारण समुद्र नहीं बढ़ता और न ग्रीष्म ऋतु में घटता ही है उसी प्रकार नारायण-परायण योगी को भी पदार्थों के मिलने से प्रसन्न और न मिलने से उदास न होना चाहिए।" ॥५-६॥

अब समुद्र के गुणों को सुनो। समुद्र बड़ा तूफान आने पर भी शान्त रहता है। ऊपर-ही-ऊपर लहरें भले ही उठें, किन्तु उसका अन्तस्तल ज्यों-का-त्यों अक्षुब्ध रहता है। फिर उसकी लम्बाई-चौड़ाई का भी पार नहीं, उसे पार करना भी कठिन है। यों छोटे-बड़े कारणों से तो वह प्रभावित ही नहीं होता। कितनी ही नदियां उसमें आकर गिरती हैं, लेकिन वह बढ़ता नहीं है और कितना ही पानी बादल उससे खींचकर ले जाते हैं तो भी वह घटता नहीं। अतः मनुष्य को चाहिए कि वह निस्तरंग समुद्र की तरह शान्त, गम्भीर, प्रसन्न, अक्षोभ्य व अविचल होकर रहे। न किसीकी प्राप्ति से खुश हो, न अप्राप्ति से दुःखी।

"अब मैंने पतंग से जो सीखा है सो सुनो—पतंग जैसे रूप पर मोहित होकर अग्नि में जल मरता है उसी प्रकार अजितेन्द्रिय पुरुष देवमायारूपिणी स्त्री को देखकर उसके हाथ-पांवों से प्रलोभित होकर घोर अन्धकार में पड़ता है।" ॥७॥

"स्त्री, सुवर्ण, भूषण और वस्त्रादि मायिक पदार्थों में जो मूढ़ भोग-बुद्धि से फंसा हुआ है वह विवेक-बुद्धि को खोकर पतंग की भांति नष्ट हो जाता है।" ॥८॥

पतंग दीपक की रोशनी पर—रूप पर—मुग्ध होकर उसपर गिरकर जल मरता है। इससे मनुष्य को यह नसीहत लेनी चाहिए कि रूप मारक होता है। रूप, सौन्दर्य ऊपरी चमक-दमक, यह मायामयी समझना चाहिए, चाहे स्त्री की हो, पुरुष की हो, या किसी भी पशु-पक्षी या वनस्पति आदि की हो। केवल रूप देखकर नहीं रीझ जाना चाहिए। उसके गुण को भी देखना चाहिए। बल्कि अच्छी बात तो यह है कि पहले गुण को देखें, फिर रूप को। अच्छे गुण के साथ अच्छा रूप भी हो तो बहुत बढ़िया—फिर भी हमारा ध्यान गुण की तरफ ही विशेष रहना चाहिए। यदि गुण, कर्म व रूप ज्यादा हो तो उसकी ओर आंख उठाकर भी

न देखना चाहिए। अन्त में वह दुखदायी ही होगा। पीला होने से ही कोई सोना नहीं हो जाता। रूप व सौन्दर्य का ही शौक हो तो परमात्मा व जगन्माता लक्ष्मी, सरस्वती के सौन्दर्य की ओर निहारो, जिससे हृदय में आनन्द के साथ पवित्र व ऊंचे भाव हों। इसकी परवा न करके जो व्यक्ति स्त्री, (और स्त्री हो तो पुरुष) सोना-चांदी-जवाहिरात, गहने, कपड़े आदि की चमक-दमक में फंस जाता है और जो इन्हें केवल आनन्द, उपभोग या प्रमोद के लिए ही अपनाता है, जीवन के उच्च उद्देश्यों की पूर्ति के लिए नहीं, वह पतंग की तरह अन्धा होकर उनपर जल मरता है।

यदि पतंग का अनुकरण ही करना हो तो पतंग जैसे रूप पर जल मरता है वैसे ही हम उच्च लक्ष्य पर अपने को न्यौछावर कर दें।

"मैंने मधुमक्खी से जो सीखा है वह कहता हूं—भिक्षुक को चाहिए कि गृहस्थों को किसी प्रकार का कष्ट न देते हुए मधुकरी वृत्ति का आश्रय ले और जितने से शरीर-यात्रा का निर्वाह हो जाय, ऐसा थोड़ा-सा अन्न कई घरों से मांग-कर खा ले।" ॥९॥

"भ्रमर जिस प्रकार भिन्न-भिन्न पुष्पों से उनका स्वाद ले लेता है, उसी प्रकार बुद्धिमान् पुरुष को भी छोटे-बड़े सभी शास्त्रों से उनका सार ले लेना चाहिए।" ॥१०॥

"इसके अतिरिक्त यति को चाहिए कि मधु-मक्षिका की भांति भिक्षा में से सायंकाल अथवा दूसरे दिन के लिए संचय करके न रखे; कर और उदर को ही पात्र बनावे। अर्थात् जितना हाथ में आ सके और पेट में समा सके उतना ही अन्न ले। भिक्षुक को सायंकाल अथवा दूसरे दिन के लिए संग्रह नहीं करना चाहिए। नहीं तो अपने संचित मधु के साथ जैसे मधुमक्षिका नष्ट होती है उसी प्रकार यति भी संग्रह करने पर उस संगृहीत पदार्थ के साथ नष्ट हो जाता है।" ॥११-१२॥

शहद की मक्खियों से इतनी बातें सीखने जैसी हैं—थोड़ा-थोड़ा लेकर, शरीर-रक्षा-मात्र के लिए, रखा जाय। जैसे वे सभी फूलों का रस-सार खींचकर मधु संग्रह करती हैं, वैसे ही विद्वानों को चाहिए कि वे शास्त्रों से सार-मात्र खींच लिया करें। शाम या कल के लिए न तो लावें न बचाकर ही रखें। कर और उदर को ही अपना पात्र बनावें। अर्थात् इधर हाथ में लिया उधर मुंह में डाला व जितना

हाथ में आवे, या पेट में समावे उतना ही लिया जाय। यदि वह संग्रह के लोभ में पड़ेगा तो जैसे संचित मधु के साथ मधु-मक्खी भी मारी जाती है वैसे ही वह भी अपने संग्रह के साथ नष्ट हो जायगा।

अपनी आवश्यकता से अधिक संग्रह करने का अर्थ है दूसरों को जो चीज मिलनी चाहिए, उसे हड़प लेना। संसार में न्याय की रक्षा व अत्याचार से बचाव तभी हो सकता है जब प्रत्येक व्यक्ति इस बात का ध्यान रख के अपने लिए कोई वस्तु ले कि इसके बिना मेरा जीवन असम्भव तो नहीं होगा?

"मैंने हाथी से यह सीखा कि भिक्षु को उचित है कि पैर से भी लकड़ी की बनी हुई स्त्री का स्पर्श न करे; यदि करेगा तो हथिनी के अंग-संग से जैसे हाथी बंध जाता है उसी प्रकार बंध जायगा।" ॥१३॥

"बुद्धिमान् पुरुष को चाहिए कि साक्षात् अपनी मृत्यु-रूप स्त्री को कभी स्वीकार न करे, क्योंकि जो कोई स्त्री-संग करता है उसे सबल पुरुष उसी तरह मारते हैं जैसे हथिनी के पीछे लगे हुए हाथी को दूसरे हाथी मारते हैं।" ॥१४॥

हाथी से मैंने यह शिक्षा ली है कि मनुष्य स्त्रियों के फन्दे में न पड़े। उनके मोह-पाश से सौ कोस दूर रहे। अपना विवेक व होश-हवास न खोवे। भले ही स्त्री लकड़ी की पुतली ही क्यों न हो। उसे दूर से ही नमस्कार करे। देखो, हाथी हथिनी के पीछे ही बांधा जाता है। हाथी पकड़नेवाले एक गड्ढा बनाते हैं। उसे तिनकों से ढंककर उसपर कागज की हथिनी खड़ी कर देते हैं। उसपर मोहित होकर ज्योंही हाथी वहां जाता है, गड्ढे में गिर जाता है और फिर बांध लिया जाता है। बुद्धिमान् मनुष्य अपनी स्त्री के भी मोह-जाल से बचता रहे। बल्कि उसके मोह को मृत्यु की तरह भयंकर समझे। जो पुरुष स्त्री की आसक्ति में फंस जाता है उसे सबल पुरुष उसी तरह मारते हैं जैसे हथिनी के पीछे पागल हुए हाथी को दूसरे सबल हाथी मारते हैं।

स्त्रियों के मोह से बचने पर इतना जोर देने का कारण है। बाज लोग यह सवाल उठाते हैं कि पुरुष से बचने पर इतना जोर क्यों नहीं दिया गया? इसमें स्त्री की निन्दा नहीं है, न पुरुष के साथ पक्षपात ही है। बल्कि स्त्री-पुरुष-स्वभाव के परीक्षण से यह नतीजा निकाला गया है। बात यह है कि काम का वेग स्त्री व पुरुष में भिन्न-भिन्न प्रकार से आता-जाता है। पुरुष में जहां बाढ़ की तरह एका-एक वेग से आता है और जल्दी उतर जाता है, स्त्री में धीरे-धीरे आता है व धीरे-

ही-धीरे जाता है। अतः काम के आवेग में आया हुआ पुरुष अपनेको उतना संभाल नहीं सकता जितना स्त्री संभाल सकती है। यही कारण है कि पुरुष सदैव विषय-भोग में पहल करता है। एक तो इसलिए पुरुष को सावधान किया जाता है, फिर स्त्री का वेग धीरे-धीरे शान्त होता है, व पुरुष का जल्दी, वेग से। इसका परिणाम यह होता है कि जहां पुरुष शान्त हो जाता है तहां स्त्री अशान्त बनी रहती है व पुरुष को छोड़ना नहीं चाहती। इसीसे स्त्री में पुरुष से आठ गुना काम कहा गया है। यदि स्त्री-पुरुष इस मर्म को समझ लें तो एक-दूसरे की रक्षा करने के उपाय हाथ लग जायंगे और न स्त्री इसे अपनी निन्दा समझेगी, न पुरुष ही अपने अधिक आत्म-विश्वास की डींगें हांकेगा।

"मधुहारी से यह सीखा है कि लोभी पुरुष जिस पदार्थ का बड़े दुःख से संग्रह करते हैं उसे वे न तो स्वयं भोगते हैं और न किसी दूसरे को देते हैं। मधु-मक्षिकाओं के मधु को मधुहारी की भांति उनके धन को भी कोई और अर्थवेत्ता ही भोगता है।" ॥१५॥

"मधु-मक्षिकाओं के मधु को जैसे मधुहारी उनके सामने ही खाता है, उसी प्रकार अति कष्टपूर्वक संग्रह किये हुए धन से तरह-तरह के गृहोचित सुखों की आशा रखनेवाले गृहस्थों के पदार्थों को भिक्षु उनसे भी पहले भोगता है।" ॥१६॥

लोभ न रखने की शिक्षा मैंने मधुहारी से ली है। लोभी पुरुष बड़े यत्न से पदार्थों का संग्रह करता है। न खुद भोगता है, न दूसरों को लेने देता है। मधुमक्खी की तरह उसे संचय करके रखता है। अन्त को एक दिन मधुहारी आकर जैसे छत्ते को तोड़कर मधु ले जाता है वैसे ही लोभी या कंजूस के धन को दूसरे अर्थवेत्ता ही ले जाकर भोगते हैं। मधुहारी मक्खियों के सामने ही उस मधु को चाटता है, उसी तरह गृहस्थ जिन वस्तुओं का संग्रह बड़े कष्ट से करता है और उनसे कई प्रकार के गृहस्थोचित सुखों की आशा लगाये रहता है, उनको भिक्षु लोग, उनके पहले ही, व उनके सामने ही भोगते हैं। क्योंकि गृहस्थों के यहां भिक्षु या ब्रह्मचारी को पहले भोजन करने का विधान है।

"मैंने हरिण से जो शिक्षा ली है वह सुनो—वनवासी यति को चाहिए कि कभी ग्राम्यगीतों को न सुनें। व्याध के गीतों से मोहित होकर बन्धन में पड़े हुए हरिण से इसकी शिक्षा ले।" ॥१७॥

"स्त्रियों के ग्राम्य गाने-बजाने व नृत्य देखने-सुनने से हरिणीपुत्र ऋषिशृंग

उनके वशीभूत होकर उनके हाथ की कठपुतली हो गये थे।" ॥१८॥

शिकारी मधुर गीत गा-गाकर हिरनों को फंसाते हैं। हिरनों को मीठी तानों का बड़ा शौक होता है। उसपर लट्टू होकर वे सुध-बुध भूल जाते हैं और शिकारियों के फन्दे में फंस जाते हैं। अतः यति को चाहिए कि वह ग्राम्य अर्थात् अश्लील शृंगारी या गंवारू गाने न सुनें, देखो ऋष्यशृंग स्त्रियों के गाने-बजाने-नाचने को देख-सुन के ही तो उनके हाथ की कठपुतली बन गये थे। मतलब यह कि न तो अश्लील गाने ही सुनना चाहिए न गाना-बजाना और नाच में इतने मुग्ध ही हो जाना चाहिए कि अपना आपा ही भूल जायं। ऊंची व शुद्ध भावों से भरी हुई कला एक वस्तु है, वह सात्विक आनन्द देती है; व कामुक कला दूसरी वस्तु होती है, जो विकारों व वासनाओं को उभारती है। मनुष्य को चाहिए कि कामोद्दीपक कलाओं से अपनेको बचावे।

"मछली से मैंने यह सीखा है कि बुद्धिहीन मत्स्य जैसे कांटे में लगे हुए मांस के टुकड़े के लोभ से अपने प्राण गंवा देता है, उसी प्रकार रसलोलुप मनुष्य इस अत्यन्त बलवती जिह्वा के वशीभूत होकर मारा जाता है।" ॥१९॥

"विवेकी पुरुष निराहार रहकर रसना के अतिरिक्त अन्य इन्द्रियों को शीघ्र ही अपने वश में कर लेते हैं, रसना तो अन्न-त्याग से और भी प्रबल हो जाती है, अतः इसका जीतना अति कठिन है। परन्तु अन्य इन्द्रियों को जीत लेने पर भी जबतक मनुष्य रसनेन्द्रिय को अपने वश में न करे तबतक वह जितेन्द्रिय नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसके जीतने पर ही इन्द्रियों के सब विषय जीते जा सकते हैं।" ॥२०-२१॥

मछली से मैंने जबान को वश में रखना सीखा। खाने के लोभ से ही मछली कांटे में लगे मांस के टुकड़े को खाने लपकती है और मछुए के जाल में फंस जाती है। इस रसना को जीतने का लोग तरह-तरह से उद्योग करते हैं। बाज-बाज उपवास रखते हैं। किन्तु उनसे और इन्द्रियां भले ही काबू में आ जायं, जीभ का जोर तो उल्टा बढ़ जाता है, क्योंकि उपवास के बाद कड़ाके की भूख लगती है और फिर जबान को बस में रखना मुश्किल हो जाता है। सच बात तो यह है कि मनुष्य भले ही दूसरी इन्द्रियों को जीत ले, लेकिन इससे उसे इन्द्रियजित नहीं कह सकते। रसना को जीत लेने पर ही वह जितेन्द्रिय कहला सकता है। जीभ जितनी रसप्रिय है उतनी और कोई इन्द्रिय नहीं। इसका नाम ही रसना पड़ गया है। फिर

कोई जीभ के जीतने से काम नहीं चलता। रस को जीतना चाहिए अर्थात् मन से ही रस का आनन्द लेना छोड़ना चाहिए। जो-कुछ हम ग्रहण करें वह शरीर व मन की पुष्टि के लिए हो, आनन्द के लिए नहीं। क्योंकि रस को ही जहां एक बार जीत लिया तो फिर सभी इन्द्रियां अपने-आप जीती गईं समझो। उनके लिए अलग से प्रयत्न करने की जरूरत नहीं रहती।

"हे राजकुमार, पूर्वकाल में विदेह नगरी में पिंगला नाम की एक वेश्या थी। उससे भी मैंने जो कुछ सीखा है, वह सुनो।" ॥२२॥

"एक दिन वह स्वेच्छाचारिणी किसी प्रेमी को अपने रमणस्थान में लाने की इच्छा से खूब बन-ठनकर बहुत देर तक अपने घर के द्वार पर खड़ी रही।" ॥२३॥

"हे नरश्रेष्ठ, वह अर्थलोलुपा गणिका जो कोई पुरुष उस मार्ग से निकलता उसीको देखकर समझती कि कोई बहुत धन देकर रमण करनेवाला धनवान् नागरिक होगा।" ॥२४॥

"किन्तु उसके वहां से होकर निकल जाने पर वह वेश्या विचारती कि कोई और बहुत धन देनेवाला धनी पुरुष मेरे पास आता होगा।" ॥२५॥

"इसी प्रकार की दुराशा से द्वार के पास खड़े-खड़े उसकी नींद जाती रही और कभी बाहर कभी भीतर आते-जाते उसे आधी रात हो गई।" ॥२६॥

"धन की दुराशा से प्रतीक्षा करते-करते जिसका मुख सूख गया है, ऐसी उस व्याकुल-चित्ता वेश्या को चिन्ता के कारण ही होनेवाला परम सुखकारक वैराग्य उत्पन्न हुआ।" ॥२७॥

"इस प्रकार चित्त में वैराग्य उत्पन्न होने पर उसने जो-कुछ कहा—वह मुझसे सुनो। हे राजन्! पुरुष के आशारूपी पाश के लिए वैराग्य खड्ग के समान है।" ॥२८॥

"हे तात, जिसको वैराग्य नहीं है, वह पुरुष देहबन्धन को नहीं छोड़ सकता, जिस प्रकार कि विज्ञानहीन पुरुष ममता का त्याग नहीं कर सकता।" ॥२९॥

पिंगला नाम की वेश्या को जब कोई ग्राहक आधी रात तक भी न मिला तो इस ग्लानि से उसके मनमें एकाएक वैराग्य प्राप्त हो गया। पहले वह चिन्ता व निराशा से जल रही थी, वैराग्य होने पर बड़ा सुख मालूम हुआ। राजा, जो तरह-तरह की आशाओं के पाश में बंधे रहते हैं, उनके लिए यह वैराग्य तलवार का काम देता है। जबतक भोगों से जी विरत नहीं होता तबतक शरीर-बन्धन नहीं छूट

सकता—उससे होनेवाले दुःख, ताप, सन्ताप से शरीर बच नहीं सकता। प्रत्येक भोग—मोहयुक्त होकर प्राप्त किया भोग या सुख—अपने पीछे पश्चाताप व दुःख की विरासत छोड़ जाता है। उससे मनुष्य उसी प्रकार नहीं छूट सकता, जिस प्रकार कि विज्ञानहीन मनुष्य की ममता नहीं छूट सकती। 'ये मेरे हैं', यह भाव ममता कहलाता है। जब किसीके साथ हमारी ममता होती है तो एक ओर हम उसपर अपना अधिकार-सा मानने लगते हैं और दूसरी ओर उसके साथ विशेष रिआयत, पक्षपात करने लगते हैं। अधिकार मानने का फल तो यह होता है कि हम जबरदस्ती अनिच्छापूर्वक उनपर अपनी इच्छाएं व आज्ञाएं लादते हैं; और पक्षपात का फल होता है दूसरों के साथ अन्याय। ये दोनों फल अवांछनीय व हानिकर हैं। मनुष्य की यह ममता तभी छूट सकती है, जब उसे दूसरों के व अपने वास्तविक सम्बन्ध का ज्ञान हो जाता है। जहांतक व्यक्ति से सम्बन्ध है, जब मनुष्य यह समझ लेता है कि यह भी मेरी तरह परमात्मा की एक स्वतन्त्र अभिव्यक्ति है, कुछ कारणों से मेरे सम्बन्ध या सम्पर्क में आ गया है, अतः हम परस्पर सचाई के साथ अपने-अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हुए स्नेह से रहें, एक-दूसरे पर ममत्व या अधिकार का भाव गलत है, तो ममता छूट जाती है। यही बात वस्तु के विषय में भी समझना चाहिए। किसी वस्तु पर हमारा ममत्व उसी अंश तक वाजिब है जिस तक कि वह हमारे कर्त्तव्य-पालन में सहायक हो, न कि हमारे भोग-विलास को सधाने या बढ़ाने में। क्योंकि संसार में जो भी वस्तु परमेश्वर ने पैदा की है वह निश्चित उपयोग के लिए ही है। मनुष्य उनके द्वारा दुःखी हो, पतित हो, यह उद्देश्य परमात्मा का हरगिज नहीं हो सकता।

"पिंगला बोली—"अहो! मुझ इन्द्रिय-परायणा के स्नेह का विस्तार तो देखो जो मैं मूर्खा इन तुच्छ और असद् बुद्धि प्रेमियों से सुख की कामना करती हूं" ॥३०॥

अहो, मैं कैसी बेवकूफ और अन्धी हूं, किस तरह धन और भोग-वासना की गुलाम बन चुकी हूं कि ऐसे खोटे और तुच्छ लोगों से सुख की व अपनी आशाओं की पूर्ति की उम्मीद रखती हूं, जो अपनी काम-वासना बुझाने के लिए अपनी धर्म-पत्नियों को छोड़-छोड़कर मेरे पास आते हैं। उनसे बढ़कर खोटे और तुच्छ कौन हो सकते हैं? और मैं उनसे भी गई-बीती हूं जो ऐसे नराधमों को सन्तुष्ट करने के लिए अपना तन बेचती हूं, अपनी प्रतिष्ठा और गौरव को मिट्टी में मिलाती हूं।

"अरे, मैं बड़ी बेसमझ हूं जो अपने समीप ही रमण करनेवाले तथा नित्य रति और धन के देनेवाले इन प्रियतम परम पुरुष (परमेश्वर) को छोड़कर कामना-पूर्ति में असमर्थ तथा दुःख, भय, राग, शोक और मोह आदि देनेवाले इन तुच्छ पुरुषों को भजती हूं" ॥३१॥

अरे रे, मैंने अपने उस सच्चे रमण को भुला दिया, जो सदा-सर्वदा मेरे पास ही रहता है, जो चौबीसों घण्टे रति व सारी दुनिया को धन-दौलत दे सकता है, जो हमेशा सबके उपकार व भले में ही निमग्न है, जो सबका प्यारा है व जिसे सत्र प्यारे हैं, और मूर्खतावश ऐसे क्षुद्र और मेरी कामना-पूर्ति में असमर्थ खाली हाथ लोगों के सेवन करने की इच्छा रखती हूं, जो मुझे दुःख, रोग, शोक, मोह के सिवा और कुछ नहीं दे जाते। ले तो जाते हैं मेरी इज्जत लूट के, लेकिन दे जाते हैं कुछ चांदी के टुकड़े और तरह-तरह के ताप-सन्ताप, बीमारियां व बदनामियां।

"अहो, मैंने इस अति-निन्दनीय आजीविका—वेश्यावृत्ति से व्यर्थ ही अपनी आत्मा को सन्तप्त किया। हाय! मैं इन सभी लम्पट, अर्थ-लोलुप, और अनु-शोचनीय पुरुषों द्वारा खरीदे हुए शरीर से रति और धन की इच्छा करती थी" ॥३२॥

"जो अस्थिमय टेढ़े-तिरछे बांसों, और थूनियों से बना हुआ है, त्वचा, रोम और नखों से आवृत है तथा नाशवान् और मल-मूत्र से भरा हुआ नौ द्वारोंवाला घररूप यह देह है, उसका मेरे अतिरिक्त और कौन कान्त समझकर सेवन करेगी" ॥३३॥

छिः-छिः मैंने वृथा ही पाप-वृत्ति का सहारा ले अबतक अपनी आत्मा का पतन किया। सो भी इन स्त्री-लोभी कामियों के पीछे! हाय-हाय! तुच्छ रति व द्रव्य के लिए मैंने अपनी आत्मा, सत्व, इन कुटिल लोगों के हाथ बेच दिया। अरे, इस शरीर को देखो। यह हड्डियों रूपी बांसों की थूनियों के सहारे खड़ा है, रोम, चमड़ी, नखों से ढका हुआ है, भीतर सब प्रकार का मल भरा हुआ है, जो नौ द्वारों से निकलता रहता है। फिर यह कै दिन के लिए रहता है? मुझ जसी मूर्खा ही ऐसे क्षण-भंगुर शरीर के सुख के खातिर ऐसे पाप कर्म कर सकती है।

"इस विदेह नगरी में एक मैं ही ऐसी मूर्खा और कुलटा हूं जो इन आत्म-प्रद अच्युत परमात्मा को छोड़कर किसी अन्य से अपनी कामना पूर्ण करना चाहती हूं।" ॥३४॥

"ये सब शरीरधारियों के सुहृद, प्रियतम, स्वामी और आत्मा हैं, अब मैं इनके ही हाथ बिककर लक्ष्मीजी के समान इन्हींके साथ रमण करूंगी।" ॥३५॥

"अरी, ये जो भोग और भोग-प्रद पुरुष हैं, इन्होंने मेरा कितना प्रिय साधन किया ? अथवा और भी आदि-अन्तवाले पुरुष तथा काल से भयभीत देवगण हैं वे भी अपनी भार्याओं को कितना संतुष्ट कर पाते हैं ?" ॥३६॥

अब तो मैं अपने परम प्रियतम परमात्मा के ही साथ रमा जैसी बनकर रमण करूंगी। अब उन्हींके हाथ बिकूंगी। इन भोगों ने और भोग-पूर्ति करने वाले लोगों ने अबतक मेरा क्या प्रिय किया है ? इन्हें जाने दो। इन देवताओं को ही लो। वे भी अपनी भार्याओं को कितना संतोष दे पाते हैं ? जन्म-मरण का फेरा इनके भी पीछे लगा ही रहता है। मृत्यु और विनाश से ये भी डरते रहते हैं। जब देवताओं तक का यह हाल है तो मैं इन सबको छोड़कर परमात्मा को ही क्यों न अपना सर्वस्व अर्पण करूं ?

"अवश्य ही मेरे किसी शुभकर्म से भगवान् विष्णु प्रसन्न हुए हैं जिससे कि इस दुराशा से मुझको ऐसा सुखकारक वैराग्य उत्पन्न हुआ है।" ॥३७॥

"यदि मेरा भाग्य मन्द होता तो मुझको ये कष्ट न उठाने पड़ते, जोकि उस वैराग्य के हेतु हैं जिसके द्वारा मनुष्य गृह आदि के बन्धन को काटकर शान्ति लाभ करता है।" ॥३८॥

अवश्य ही मेरे सत्कर्मों का उदय हुआ है। भगवान् मुझपर प्रसन्न हुए मालूम पड़ते हैं, क्योंकि इस दुराशा से—इस कुकर्म से भी—मुझे सुखदायी वैराग्य प्राप्त हो गया। आम-तौर पर मनुष्य को जब कोई दुःख या निराशा होती है तो वह परमात्मा को कोसता है, दैव को दोष देता है, अपनी भूल, अपने कर्मों को नहीं देखता। यह उसका अज्ञान है, अंधता है, कुसंस्कारों का प्रभाव है। लेकिन पिंगला के पुण्य-कर्म उदय हो चुके थे, कुसंस्कारों का अंत आ चुका था, अतएव उसे इससे उल्टी भावनाएं होने लगीं। जब मनुष्य बुराई में अच्छाई देखने लगता है तब सच-मुच यह उसकी सद्बुद्धि का, शुभ संस्कारों का लक्षण है। अतः वह कहती है कि यदि मैं सचमुच ही मंदभागिनी होती तो ये क्लेश मेरे लिए सुखदायी वैराग्य के कारण नहीं बनते। अतः, इस विरक्ति ने तो मानों मेरे सब बंधन काट डाले हैं। अब मैं आकाश में उड़नेवाली चिड़िया की तरह सब तरह से स्वतंत्र हूं। अब मेरी शांति का ठिकाना नहीं। परमात्मा अब मैं तेरी ही शरण हूं।

"अतः अब मैं इस उपकार को शिरोधार्य कर विषय-जनित दुराशा को छोड़ उस जगदीश्वर की शरण में जाती हूं।" ॥३९॥

"अब मैं संतोष और श्रद्धापूर्वक प्रारब्ध-वश जो कुछ मिलेगा उसीसे जीवन-निर्वाह करती हुई इस आत्म-रूप रमण के साथ ही सानन्द विहार करूंगी।" ॥४०॥

परमात्मा का यह उपकार मैं अपने सिर लेती हूं। अब काम-भोग की सब इच्छाओं, सब दुराशाओं को, यहीं तिलांजलि देती हूं और उस दयामय प्रभु का पल्ला पकड़ती हूं। आज से मैं व्रत लेती हूं कि सहजभाव से अपने-आप जो कुछ मिल जायगा उसीको पाके जीवन बिताऊंगी। भगवान् पर, उसकी मंगलमयता और विश्वंभरता पर श्रद्धा रखकर संतोष के साथ शेष आयु व्यतीत करूंगी। अब मैं तो उसी आत्मा-रमण के साथ गाऊंगी, नाचूंगी व सानन्द विहार करूंगी।

"संसार-कूप में पड़े हुए, विषय-वासनाओं से नष्ट-दृष्टि और कालरूपी सर्प से डसे हुए इस आत्मा (जीव) की रक्षा परमात्मा को छोड़कर और कौन कर सकता है?" ॥४१॥

"जिस समय जीव संपूर्ण विषयों से उपरत हो जाता है उस समय यह स्वयं ही अपना रक्षक हो जाता है। अतः प्रमाद-रहित होकर इस जगत् को निरन्तर कालरूपी सर्प से ग्रस्त हुआ देखे।" ॥४२॥

जो मनुष्य संसार रूपी कुएं में पड़ा हुआ है, जिसके ऊपर उठने या इधर-उधर हिलने-डोलने की गुंजाइश नहीं है, चारों तरफ नाना-प्रकार के विकार, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर से जकड़ा हुआ है और विषय-वासनाओं से जिसकी आंखें फूट गई हैं, जिससे उसमें से निकलने का रास्ता भी नहीं सूझता, फिर उसमें काल-रूपी सांप ने डंस लिया हो तो उसका रक्षक ईश्वर के सिवा कौन हो सकता है? ऐसी ही दशा पिंगला की हो गई थी।

यों तो जब जीव को उपरति हो जाती है, विषय-भोग से जी ऊब उठता है, ग्लानि हो जाती है, तब एक प्रकार से वह खुद ही अपना रक्षक हो जाता है। बुराई से जी का हटना ही अपने-आप ढाल का काम देने लगता है। अतः बुद्धिमान पुरुष को चाहिए कि वह सदा यह समझे कि काल सिर पर खड़ा है, यह जगत् उससे डंसा हुआ ही है, अतः बिना किसी गफलत के, सजग रहकर इसमें बरते

और पिंगला की तरह बुराई में से भी भलाई को आता हुआ देखे।

"अवधूत बोले—हे राजन्! पिंगला वेश्या इस प्रकार निश्चय करके कान्ताभिलाषाजनित दुराशा को छोड़कर शांतभाव में स्थित हो अपनी शैया पर सो गई।" ॥४३॥

"आशा ही परम दुःख है और निराशा (निरपेक्षता) ही परम सुख है, क्योंकि देखो, पिंगला कांत की आशा छोड़ देने पर सुखपूर्वक सो गई।" ॥४४॥

जब उसकी निराशा में वैराग्य ने उसे परमात्म-सुख की कुछ झलक दिखाई तो उसे शांति से नींद आगई। उसके जी का सारा बोझ उतर गया। पश्चात्ताप भूलों व पापों की असली दवा है। उसे केवल पश्चात्ताप ही नहीं हुआ, बल्कि, उसने परमात्मा के निमित्त ही अपना सारा भावी जीवन लगा दिया। उसके जीवन से यह शिक्षा मिलती है कि किसी बात की अपेक्षा से बढ़कर कोई दुःख नहीं, और निरपेक्षता से बढ़कर कोई सुख नहीं। निस्पृहस्य तृणं जगत्।"

**"चाह गई चिन्ता गई, मनआ बेपरवाह।
जाको कछू न चाहिए, सो जग शाहंशाह॥"**

: ९ :

दत्तात्रेय का शिष्य-भाव--३

अवधूत बोले—"(हे राजन्, मैं ने कुरर पक्षी से यह सीखा है कि) मनुष्यों को जो-जो वस्तुएं अत्यन्त प्यारी हैं, उनका संचय करना ही उनके दुःख का कारण है। ऐसा जानकर जो अकिंचनभाव से रहता है अर्थात् कुछ भी संग्रह नहीं करता, वह उसीमें सुख पाता है।" ॥१॥

"एक कुरर पक्षी को, जो अपनी चोंच में मांस लिये हुए था, बिना मांसवाले दूसरे बलवान् पक्षियों ने बहुत मारा, तब उसने उस मांस को छोड़कर ही शान्ति प्राप्त की।" ॥२॥

कुरर पक्षी से भी मैंने बोध ग्रहण किया है। वह यह कि मनुष्य के लिए अपनी प्रिय वस्तु का संग्रह भी दुःखद हो जाता है, क्योंकि उसपर दूसरों की आंखें लगी रहती हैं व उनके मन में द्वेष-दाह पैदा हो जाते हैं, समय पाकर वे उसे छीनने, चुराने या बिगाड़ने का यत्न करते हैं। एक कुररी के पास एक मांस का टुकड़ा था। उसने भविष्य के लिए उसे बटोर रखा था। दूसरे बलवान पक्षियों ने, जिनके पास मांस नहीं था, उसे देखा और उसपर टूट पड़े। जब कुररी ने मांस का टुकड़ा छोड़ दिया तब जाकर कहीं उसकी जान बची। इससे मैंने यह नसीहत ली कि मनुष्य को अकिंचन बनकर ही रहना उचित है। अपने श्रम, योग्यता व अन्त में ईश्वर पर विश्वास रखकर वृथा संचय के फेर में न पड़े; क्योंकि इससे वह अपने लिए चिन्ता का व दूसरों के लिए द्वेष का विषय होता है।

मनुष्य के लिए सबसे प्रिय परिग्रह उसके शरीर का है, क्योंकि यही सब प्रकार के इन्द्रिय-सुखों का साधन है। अतः वह शरीर का भी परिग्रह छोड़ दे—उसका अभिमान त्याग दे। शरीर से अभिमान छूट गया तो वह आत्म-स्वरूप हो गया। यही पूर्ण व सच्चा अपरिग्रह है। अतः मन को शरीर के विषयों से हटाकर

आत्मा के विषयों में लगाना चाहिए।

"(मैंने बालक से जो शिक्षा ली है उसके कारण) मुझको मान या अपमान का कुछ विचार नहीं है और न घर या परिवार की ही कोई चिन्ता है। मैं तो अपने आत्मा में ही क्रीड़ा करता हुआ और आत्मा में ही मग्न हुआ बालक के समान निःशंक विचरता हूं।" ॥३॥

"संसार में दो प्रकार के व्यक्ति ही चिन्ता से रहित और परमानन्दपूर्ण होते हैं। एक तो भोला-भाला निश्चेष्ट बालक और दूसरा वह जो गुणातीत हो गया हो।" ॥४॥

बालक से शिक्षा लेकर मैंने मानापमान को छोड़ दिया। लोग हमको बड़ा समझें, हमारी आव-भगत करें, हमारी बड़ाई करें—यह भावना मान कहलाती है। इसके विपरीत यथा-योग्य व्यवहार का न होना या न किया जाना अपमान कहलाता है। बालक के मन में तो न ऐसी मान की इच्छा रहती है, न अपमान का ही भाव पैदा होता है। बालक को संसार का ज्ञान नहीं होता, इसलिए सहज स्वभाव से यह भावना रहती है। परन्तु सज्ञान पुरुष को चाहिए कि वह जान-बूझकर इस भावना से ऊपर रहे। ऐसी तटस्थता या तो बालकों में ही पाई जाती है या फिर पहुंचे हुए साधुओं में—गुणातीत में। मान की इच्छा के मूल में अहंकार होता है। ज्ञानी में शरीर के प्रति 'अहम्'-भाव नहीं होता—आत्मा के प्रति होता है। आत्मा सर्वव्यापक होने से उसका अहंकार भी विश्व-व्यापी हो जाता है। जो विश्व में व्याप्त है, वह किससे मान चाहे व क्यों चाहे? फिर मान की इच्छा रखना निरर्थक है। यदि हम वास्तव में योग्य व बड़ाई के लायक हैं तो लोग अवश्य ही हमारा आदर करेंगे। यदि नहीं हैं तो ऐसी इच्छा रखना मूर्खता ही हो सकती है। यदि कोई हमारा अपमान करता है तो इससे हमारा क्या बिगड़ता है? अपमान करने-वाले की हीनता ही सूचित होती है। यदि ऐसे अवसर पर हम शान्त रहते हैं तो दूसरे लोग अपमान करनेवाले को शर्मिन्दा कर देते हैं या उसकी लानत मलामत करते हैं। यदि खुद इसमें उससे भिड़ जाते हैं तो हमारी क्षुद्रता ही प्रकट होती है।

"(मैंने कुमारी से जो सीखा है वह सुनो)—एक बार एक कुमारी कन्या ने अपने बन्धु-बान्धवों के कहीं बाहर चले जाने के कारण अपनेको वरण करने के लिए घर आये हुए लोगों का आतिथ्य स्वयं ही किया।" ॥५॥

"हे राजन्, उनको भोजन कराने के लिए जब वह घर के भीतर एकान्त में

धान कूटने लगी तो उसकी शंख की चूड़ियां बड़ा शब्द करने लगीं।" ॥६॥

"उस शब्द को निन्दाजनक समझकर वह बड़ी लज्जित हुई और उसने एक-एक करके सब चूड़ियां तोड़ डालीं। दोनों हाथों में केवल दो-दो चूड़ियां रहने दीं।" ॥७॥

"धान कूटने पर उन दो-दो से भी शब्द होने लगा, तब उसने एक-एक चूड़ी और तोड़ डाली। फिर एक-एक चूड़ी से शब्द नहीं हुआ।" ॥८॥

"हे अरिमर्दन, लोकतत्व की जिज्ञासा से पृथिवी पर विचरते हुए मैंने उससे यह शिक्षा ली कि बहुत लोगों के एक साथ रहने से तो कलह होता है और दो के भी एकत्र रहने से आपस में बात-चीत तो होती ही है। अतः कुमारी की चूड़ी के समान अकेला ही विचरे।" ॥९-१०॥

कुमारी से मैंने अकेले रहने की शिक्षा ली। उसके यहां मेहमान आये तो उनके स्वागतार्थ वह घर में धान कूटने लगी। इससे उसकी चूड़ियां छनछनाने लगीं। तो उसने सब उतारकर दोनों हाथों में एक-एक चूड़ी रख ली। तब उनका शब्द बन्द हो गया। अतः मैंने नतीजा निकाला कि जब बहुत-से लोगों की भीड़ होती है, तो जरूर लड़ाई-झगड़ा होता है। यदि दो भी रहते हैं तो भी कहा-सुनी हो जाती है। अतः मनुष्य अकेला ही रहे। आवश्यकतानुसार लोगों से मिल-जुल लिया करे। इससे समय, शक्ति, शान्ति सबकी बचत होती है।

अनेकत्व तो ठीक द्वैत से भी मनुष्य को परे रहना चाहिए। एकत्व ही परम साध्य है। केवल शरीर से मनुष्य अकेला रहेगा तो एकांगी हो जायगा। आत्मा में एकता स्थापित करने के बाद उसे अपने लिए जन-सम्पर्क की जरूरत नहीं रहेगी—केवल लोक-संग्रहार्थ वह उनसे मिलेगा।

"(मैंने बाण बनानेवाले से यह शिक्षा ली है कि) वैराग्य और अभ्यास के द्वारा निरालस्य भाव से आसन और श्वास को जीतकर अपने वश में किये हुए चित्त को एक ही लक्ष्य (परमात्मा) में लगा दे।" ॥११॥

"उस परमानन्दरूप परमपद में स्थित हुआ यह मन धीरे-धीरे कर्मरूपी धूलि को छोड़ देता है और फिर सत्त्वगुण के उद्रेक से रज और तम को त्यागकर यह ईंधनरहित अग्नि के समान शान्त हो जाता है।" ॥१२॥

"इस प्रकार आत्मा में चित्त का निरोध हो जाने पर इसे बाहर-भीतर कहीं भी किसी पदार्थ का भान नहीं होता। जिस प्रकार कि एक बाण बनानेवाले ने

बाण बनाने में लगे रहने के कारण पास ही होकर गई राजा की सवारी को नहीं देखा था।" ॥१३॥

बाण बनानेवाले से भी मैंने शिक्षा ग्रहण की है। वह यह कि अपने चित्त को एक ही लक्ष्य में लगा दो, दूसरी सब बातों की ओर से ध्यान हटा लो[1] तभी मनुष्य सफलता प्राप्त कर सकता है। मनुष्य के लिए सबसे श्रेष्ठ प्राप्तव्य परमात्मा ही हो सकता है। अतः वह उसीमें अपना सारा ध्यान एकत्र कर दे। वैराग्य और अभ्यास के बल पर ही वह ऐसा कर सकता है। दूसरी ओर से ध्यान हटाना वैराग्य और अपने लक्ष्य पर बार-बार हटते हुए भी, फिर-फिर करके ध्यान लगाना, वही उद्योग बार-बार करना, अभ्यास है। चाहे परमात्मा की सेवा आप करें, चाहे मन में उसका ध्यान, दोनों के लिए यह आवश्यक है। मन में ध्यान के लिए पहले प्राणायाम से श्वासोच्छ्वास को वश में कर ले व आसन साध ले। फिर जाग्रत व सावधान रहकर उसीमें मन लगावे। जब मन ब्रह्म में स्थित हो जाता है अर्थात् ब्रह्म-विचार के सिवाय दूसरी बात मन में नहीं आने पाती, तब प्रवृत्ति ब्रह्ममय होने लगती है। कर्म के बन्धन धीरे-धीरे टूटने लगते हैं। नये बांधनेवाले कर्म—आसक्तियुक्त कर्म—होने नहीं पाते व पुराने कर्मों के फलभोग नाश को प्राप्त होते रहते हैं। इससे रजोगुण व तमोगुण दबते व सत्वगुण प्रवल होता है। फिर आगे चलकर सत्वगुण भी इस तरह शान्त हो जाता है जैसे अग्नि बिना ईंधन के अपने-आप शान्त हो जाता है।

---

[1]परमहंस श्रीरामकृष्णदेव कहते हैं—

एक स्त्री एक हाथ से ढेंकी में चिउड़ा कूट रही है और दूसरे हाथ से बालक को दूध पिलाती है और मुंह से चिउड़े का डाडम कर रही है, पर उसका ध्यान सदा इस वात पर रहता है कि ढेकी का मूसल हाथ पर न गिर जाय। इसी प्रकार संसार में रहकर सब काम करो। पर ख्याल रखो कि कहीं ईश्वर के लक्ष्य से मन न हटे।

कुलटा स्त्रियां माता-पिता तथा परिवारवालों के साथ रहकर संसार के सभी कार्य करती हैं, परन्तु उनका मन सदा अपने प्रेमी में लगा रहता है। संसारी जीव, तुम भी मन को ईश्वर में लगाकर माता-पिता तथा परिवार का काम करते रहो।

'अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेव विनश्यति।'

जैसे कि एक वाण बनानेवाला अपने काम में इतना लवलीन रहा कि उसके सामने से राजा की सवारी का बड़ा जुलूस गाजे-बाजे के साथ निकल गया, लेकिन उसे पता ही न लगा। वह अपने कार्य—ब्रह्म में ही—समाधिस्थ-सा रहा। उसे बाह्यान्तर का बिल्कुल भान न रहा। ऐसी ही स्थिति मनुष्य की अपने लक्ष्य के विषय में होनी चाहिए।

"(मैंने सर्प से जो सीखा है, सो सुनो—) मुनि को चाहिए कि सर्प की भांति अकेला विचरे, किसी एक स्थान में न रहे, प्रमाद न करे, गुहा आदि में पड़ा रहे, बाह्य आचारों से अपनेको छिपाये रखे तथा अकेला और अल्पभाषी हो।" ॥१४॥

"इस अनित्य शरीर के लिए घर बनाने के बखेड़े में पड़ना व्यर्थ और दुःख का ही कारण है। देखो, सर्प भी ता दूसरों के घरों में रहकर सुखपूर्वक बढ़ता है।" ॥१५॥

अब सर्प से जो सीखा है सो सुनो। मुनि को चाहिए कि वह अकेला ही रहे। कहीं घर बनाकर न रहे। सदा चौकन्ना व सतर्क रहे। गुफा जैसे एकान्त स्थान में रहे, कम बोले, प्रदर्शन न करे। अपने बाहरी आचार आदि दूसरों के सामने प्रकट न करे। फिर इस अनित्य शरीर के लिए घर आदि बनाने व बसाने की भी झंझट में न पड़े। सांप जैसे दूसरों के बिल में रहकर मजे से रहता है वैसे ही वह भी दूसरों के स्थानों का आश्रय लेकर रह ले। अपने लिए, अपने निमित्त न कोई वस्तु बनावे न संग्रह करे। देह-गेह के अभिमान से हीन होकर रहे।

(मैंने मकड़ी से यह शिक्षा ली है—)"पूर्वकाल में अपनी माया से रचे हुए इस जगत् को, कल्प का अन्त होने पर, एकमात्र ईश्वर श्रीनारायणदेव ही काल-रूप से लय करके आत्माधार और सर्वाधिष्ठान रूप से अकेले ही रह जाते हैं। अपने ही शक्तिरूप काल के द्वारा सत्वादि गुणों के साम्यावस्था को प्राप्त हो जाने पर, प्रधान और पुरुष के नियन्ता, समस्त परावर (अलौकिक एवं लौकिक) प्रपंच के परम कारण वह आदिपुरुष कैवल्य रूप से रह जाते हैं। हे शत्रुदमन, फिर वह विशुद्ध विज्ञानानन्दघन निरुपाधिक भगवान ही केवल अपनी शक्ति (काल) के द्वारा अपनी गुणमयी माया को क्षुब्ध करके पहले (क्रियाशक्ति प्रधान) सूत्र (महत्तत्व) की रचना करते हैं। नाना प्रकार की सृष्टि रचनेवाले उस सूत्र को गुणत्रय का कार्य कहते हैं, जिसमें कि यह सम्पूर्ण विश्व ओतप्रोत है तथा जिसके

कारण जीव को संसार-बन्धन प्राप्त होता है।" ॥१६-२०॥

"जिस प्रकार मकड़ी अपने हृदय से मुख के द्वारा जाला फैलाकर उसमें विहार करने के पश्चात् उसको निगल लेती है, उसी प्रकार परमात्मा भी स्वयं अपने में से ही इस प्रपंच को फैलाकर फिर अपने में ही उसका लय कर लेते हैं।" ॥२१॥

मकड़ी जैसे अपने पेट का धागा मुख से निकालकर एक जाल फैलाती है, उसमें कुछ समय विहार करती है और फिर उसे लीलकर पेट में समा लेती है वैसे ही परमेश्वर पहले तो सृष्टि को अपने में से ही उत्पन्न करते हैं, उसे फैलाते हैं व फिर अपने ही अन्दर समेटकर रख लेते हैं। यह शिक्षा मैंने मकड़ी से ली है। परमात्मा की इस लीला को ज़रा विस्तार से समझ लो। एक सृष्टि का जब लय हो जाता है तब यह सारा विश्व परमात्मा में लीन होकर अदृश्य हो जाता है व यह सारी विविधता नष्ट हो जाती है। वह सबकुछ एकाकार एक ही तत्त्वमय हो रहता है। वही श्रीनारायण देव हैं। अपने काल-रूप से अर्थात काल-शक्ति द्वारा वह सृष्टि का लय—साधन करते हैं। फिर वह अकेले ही इन सबके आधार या बीज-रूप से रह जाते हैं। अपना आधार भी वह खुद ही हो रहते हैं। यह सृष्टि प्रकृति के तीन गुणों—सत्व, रज, तम—का विस्तार है। प्रकृति में जब क्षोभ होता है तब ये तीनों गुण घटने-बढ़ने लगते हैं। इसीसे सृष्टि का बनना शुरू होता है। प्रलय के समय यही तीनों गुण फिर से साम्यावस्था में हो जाते हैं। तब इस सारे लौकिक व अलौकिक प्रपंच के परम कारण रूप वह आदि-पुरुष नारायण केवल-रूप से अर्थात् केवल अकेले रह जाते हैं। तीन गुणों से युक्त प्रकृति के समान जड़-तत्व व पुरुष के चेतन-तत्व दोनों के वे नियामक हैं। इन्हींके बनाये नियमों के अनुसार पुरुष व प्रकृति अपना काम करते हैं। यह परमात्मा की सुप्त, अव्यक्त, कैवल्य अवस्था हुई। इस अवस्था में वह अपने विशुद्ध आनन्द व विज्ञान में मस्त रहते हैं। किसी प्रकार की सीमा-उपाधि से घिरे नहीं रहते हैं। कुछ समय के बाद वह फिर सृष्टि-रचना में लगते हैं। सबसे पहले उनकी काल-शक्ति जगती है। उससे त्रिगुणात्मक माया में हलचल शुरू होती है। तीनों गुणों में घटा-बढ़ी शुरू होती है। पहले क्रिया-शक्ति जाग्रत होती है व उससे युक्त सूत्र अर्थात् महत्‌तत्व का उदय होता है। यह तीनों गुणों के क्षोभ का परिणाम अर्थात् कार्य कहा जाता है। इसी महत् में यह सारा विश्व ओत-प्रोत—लबालब भरा हुआ है।

जैसे वस्त्र में चारों ओर सूत-ही-सूत होता है, वैसा ही। इसीलिए इसे सूत्र-सृष्टि-रूपी वस्त्र का धागा कहते हैं। वैज्ञानिक परिभाषा में पदार्थ-मात्र में, शक्ति-मात्र में, प्रत्येक नाम-रूप में जो धारणा (Sensibility) आकर्षण (Attraction) अपकर्षण (Repulsion) सायुज्य (Combination or Assimilation) वैयुज्य (Dissociation and Generation) संलग्नता (Adhesion) आदि धर्म पाये जाते हैं। उन समग्र का मिलकर नाम महत्-तत्व है। इस महत् के ही कारण जीव को संसार-बन्धन प्राप्त होता है अर्थात् चेतन पुरुष जीव रूप होकर संसार में अवतीर्ण होता है। जब यह संसार बनकर फैल गया तो यही परमात्मा की, जीव की विहार-भूमि या लीला हुई। इसमें विहार करके फिर काल पाकर प्रलय अवस्था में परमात्मा इसे अपने ही उदर में मकड़ी की तरह रख लेता है। परमात्मा व सृष्टि का यह सम्बन्ध प्रत्येक जिज्ञासु, भक्त, साधक को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए।

"मैंने भृंगी कीड़े से यह सीखा है कि देहधारी जीव स्नेह से, द्वेष से अथवा भय से जिस किसीमें भी सम्पूर्ण रूप से अपने चित्त को लगा देता है, अन्त में वह तद्रूप हो जाता है। जिस प्रकार भृंगीकीट द्वारा अपने बिल में बन्द किया हुआ कीड़ा भय से उसीका ध्यान करते-करते अन्त में अपने पूर्व-रूप को न छोड़ता हुआ भी उसीके समान रूपवाला हो जाता है।" ॥२२-२३॥

भृंग कीट से मैंने ध्यास-सम्बन्धी एक शिक्षा ग्रहण की। भृंगी अर्थात् गुनगुनी एक कीड़ा पकड़ लाती है और अपने बिल में उसे बन्द कर देती है और उसपर गुनगुनाती रहती है। उसके भय से उसीका ध्यान उसे दिन-रात बना रहता है। फलतः वह भृंगी बन जाता है। इससे मैं यह समझा कि कोई भी जीवधारी यदि स्नेह से, द्वेष से, अथवा भय से जिस किसीमें भी पूरे तौर से अपना ध्यान लगा देता है, तो वह उसी रूप को प्राप्त कर लेता है। ब्रह्म-रूप प्राप्त करने के लिए इसी तरह ब्रह्म का अध्यास करने का उपदेश दिया जाता है। लेकिन अध्यास के लिए किसी रूप का—आकार का—होना जरूरी है। ब्रह्म का आकार यदि कोई माना जाय तो या तो 'ॐ' या सारा विश्व ही कहा जा सकता है। उनकी भिन्न-भिन्न शक्तियों की या अवतारों की मूर्तियां भी ली जा सकती हैं। ऐसे ही किसी आकार का रूप अध्यास से प्राप्त हो सकता। परन्तु ब्रह्म-स्थिति, ब्रह्म-निष्ठा इससे भिन्न [illegible]। मुक्ति—ईश्वर में मिल जाना—चार प्रकार की मानी गई है। एक

भगवान् के लोक में पहुंच जाना—सलोकता, दूसरे उनके निकट पहुंच जाना—समीपता, तीसरे उनके रूप को पा जाना—सरूपता, चौथे उन्हींमें मिल जाना—सायुज्यता। ब्रह्मात्मैक्य यह उसकी चौथी दशा है। अभ्यास से तीसरी अवस्था प्राप्त हो सकती।

समर्थ रामदास अपने दास-बोध में सायुज्य मुक्ति के विषय में लिखते हैं—बन्धन से मुक्त होने का नाम है मोक्ष। जीव अपने संकल्प से बंधता है। 'मैं जीव हूं' अनेक जन्मों के इस संकल्प से जीव की देह-बुद्धि बढ़ जाती है और वह अल्प हो जाता है एवं अपने स्वरूप को भूल जाता है। अतः स्वरूप-जागृति का ही नाम मोक्ष है। अज्ञान की रात खतम होते ही संकल्प—दुःखों का नाश हो जाता है व प्राणी तत्काल मुक्त हो जाता है। संकल्प से बंधा जीव विवेक से ही मुक्त हो सकता है। अभेद भक्ति को ही सायुज्य मुक्ति कहते हैं। असार-निरसन के बाद जो सार बचा सो निगुण ब्रह्म है। वही हम हैं। तत्व-प्राप्ति के साथ ही 'मैं'-पन चला गया व निर्गुण ब्रह्म ही शेष रह गया—'सः अहम्' इस विचार से आत्मनिवेदन हुआ। भक्त-भगवान् की एकता हो गई। विभक्तता छोड़कर भक्त हो गया—यह अनन्यता ही सायुज्य मुक्ति है। प्राणी भ्रम से 'कोऽहम्' कहता है। विवेक होते ही 'सोऽहम्' कहने लगता है। निर्गुण ब्रह्म से अनन्य समरस होते ही अहम्—'सोऽहम्' दोनों मिट जाते हैं। शाश्वत बाकी रह जाता है।

"हे राजन्, इस प्रकार मैंने इतने गुरुओं से ऐसी-ऐसी शिक्षाएं ली हैं। अब अपने शरीर से मैंने जो शिक्षा ली है, वह कहता हूं, सुनो।" ॥२४॥

"मेरे विवेक व वैराग्य का हेतु यह शरीर भी मेरा गुरु है। उत्पत्ति और नाशही इसके धर्म हैं तथा निरन्तर कष्ट पाना ही इसका उत्तरोत्तर फल है। यद्यपि मैं इससे तत्त्व-चिन्तन करता हूं तो भी मेरा यह निश्चय है कि यह पराया (अर्थात् स्यार, कुत्ते आदि का भक्ष्य) है। इससे मैं असंग होकर विचरता हूं।" ॥२५॥

इन गुरुओं के अलावा इस शरीर से भी मैंने शिक्षा ली है। इसीसे मैंने विवेक व वैराग्य ग्रहण किया है। विषयों से विरक्ति, व सारासार-विवेक इस मनुष्य शरीर में ही शक्य है। फिर आपत्ति व नाश ही इसके धर्म हैं। यदि सावधान न रहे तो उत्तरोत्तर दुःख ही इसका फल है। मेरे तत्व-चिन्तन का सबसे बड़ा सहारा यही है। फिर भी मैं यह मानता हूं कि अन्त को यह अपने काम आनेवाला नहीं है। स्यार, कुत्ते का ही भक्ष्य होनेवाला है। इस प्रतीति से मैं इसके प्रति असंग

रहता हूं, इसमें अपना ममत्व, स्वामित्व नहीं रखता।

देह से लाभ भी है और हानि भी है, देह से उपकार भी हो सकता है और अपकार भी, देह से पाप भी हो सकता है और पुण्य भी। अतः या तो देह का सदुपयोग करे, पुण्य कमाये, या देह का अभिमान छोड़कर इसके प्रभावों से परे रहे। इसका उपयोग आत्म-प्राप्ति में करे—इसे प्रभु का मन्दिर बनावे।

"जीव जिस शरीर का प्रिय करने के लिए ही अनेक प्रकार की कामनाएं करता है, तथा स्त्री, पुत्र, धन, पशु, सेवक, गृह और अपने कुटुम्बियों का पोषण करता है, बड़े-बड़े कष्ट उठाकर धन संचय करता है, वही आयु समाप्त होने पर स्वयं तो नाश को प्राप्त होता ही है, परन्तु वृक्ष के समान अन्य देह के लिए (कर्म-रूपी) बीज बोकर उसके लिए भी दुःख की व्यवस्था कर जाता है।" ॥२६॥

मनुष्य इस शरीर की प्रिय कामनाओं की पूर्ति के लिए स्त्री, पुत्र, धन, पशु, सेवक, घर और अपने कुटुम्बियों को जुटाता व उनका सब तरह पोषण करता है। इतनी बड़ी-बड़ी जिम्मेवारियां अपने सिर पर लेता है—बहुत बड़े कष्ट उठाकर, विपत्तियां सहकर धन को बटोरता है। वही यह देह पेड़ की तरह फल में बीज उपजाकर नये शरीर के लिए इस जीवन को समाप्त कर देता है। यह जो तरह-तरह के कर्म करता है, इन्हींके संस्कार इसके अगले शरीर के लिए बीज का काम देते हैं।

"जिस प्रकार बहुत-सी सपत्नियां (सौतें) गृहस्वामी को अपनी ओर खींचती हैं उसी प्रकार जीव को उनकी ज्ञानेन्द्रियां व कर्मेन्द्रियां पीड़ित करती रहती हैं। इसे रसना कभी एक ओर खींचती है तो पिपासा दूसरी ओर। इसी प्रकार शिश्न अन्यत्र खींचता है तो त्वचा, उदर और श्रवणेन्द्रिय किसी और ही तरफ खींचने लगती हैं। ऐसे ही घ्राण एवं चंचल नेत्र दूसरी ही ओर खींचते हैं।" ॥२७॥

इससे बेचारे जीव की बड़ी दयनीय दशा हो जाती है।

"भगवान ने अपनी अजेय माया-शक्ति से वृक्ष, सरीसृप (रेंगनेवाले जन्तु) पशु, पक्षी, डांस और मत्स्य आदि नाना प्रकार की योनियां रचने पर उनसे सन्तुष्ट न होकर जब ब्रह्म-दर्शन की योग्यतावाले इस पुरुष-शरीर को रचा तभी प्रसन्नता प्राप्त की। अतः यह मनुष्य-देह ही सर्वश्रेष्ठ है।" ॥२८॥

"यह मनुष्य-देह अनित्य होने पर भी परम पुरुषार्थ का साधन है। अतः अनेक जन्मों के उपरान्त इस दुर्लभ नर-देह को पाकर बुद्धिमान् पुरुष को उचित

है कि जबतक यह पुनः मृत्यु के चंगुल में न फंसे तबतक शीघ्र ही अपने निःश्रेयस (मोक्ष) प्राप्ति के लिए प्रयत्न कर ले, क्योंकि विषय तो सभी योनियों में प्राप्त होते हैं। इनका संग्रह करने में इस अमूल्य अवसर को न खोवे।" ॥२९॥

भगवान् ने वृक्ष से लेकर पशु तक अनेक योनियां बनाईं, परन्तु उससे उसका जी न भरा, जब अन्त में मनुष्य की सृष्टि की, जिसके द्वारा वह ब्रह्म-दर्शन का अधिकारी हुआ, तो परमदेव को बड़ा आनन्द व सन्तोष हुआ। इतना महत्व इस नर-देह को है। हालांकि यह आज है और कल नहीं है, तो भी हम अपना श्रेय इसीके द्वारा साध सकते हैं। अतः ऐसे दुर्लभ देह को पाकर, जो कई योनियों व जन्मों के बाद मिली है, मनुष्य को चाहिए कि वह अपने श्रेय के लिए जो कुछ कर सकता है समय पर ही, मृत्यु आने के पहले ही, कर ले। यही सबसे ज्यादा जरूरी व महत्वपूर्ण कार्य इस जीवन में उसे करना है; क्योंकि यों विषय-भोग तो सभी योनियों में सुलभ है।

"इस प्रकार हृदय में वैराग्ययुक्त तथा ज्ञानालोक से प्रकाशित हो मैं निरहंकार और निःसंग होकर इस भूमंडल पर (स्वच्छंद) विचरता हूं।" ॥३०॥

"अकेले गुरु ही से यथेष्ठ और सुदृढ़ बोध नहीं हो सकता। (उसके लिए स्वयं भी विचार करने की आवश्यकता है)। एक ही अद्वितीय ब्रह्म का ऋषियों ने नाना प्रकार से निरूपण किया है।" ॥३१॥

इस प्रकार अनेक गुरुओं से शिक्षा ले, अपने जीवन को बनाकर, वैराग्य व विज्ञानरूपी प्रकाश को पाकर मैं निःसंग, अनासक्त और साथ ही निरहंकार होकर मस्त घूमता हूं। संसार का कोई मोह और कोई बन्धन मुझे बाधा नहीं दे सकता। लेकिन एक बात है। इससे कोई इस धोखे में न रहे कि अकेले गुरु कर लेने से ही सब काम बन जायगा। गुरु से बोध तो मिलता है; पर वह सम्पूर्ण, सर्वांगीण नहीं, और न वह पूरी तरह दृढ़ ही हो सकता है। दूर क्यों जायं, साक्षात् परमेश्वर का और ऋषियों का ही उदाहरण लीजिये न! परमात्मा एक, अद्वितीय है; फिर भी भिन्न-भिन्न ऋषियों ने उसका वर्णन नाना प्रकार से किया है। अतः आप सबको चाहिए कि मेरी तरह अपनी बुद्धि और विवेक से काम लेकर गुरु बनावें और उनसे उचित शिक्षा लेकर तदनुकूल अपना जीवन संगठित करें। तभी वह परम श्रेय को पा सकता है, मुक्त, स्वच्छन्द, निर्भय, निःशंक विचर सकता है। अतः जो भेद से अभेद की, अनेक से एक की, द्वैत से अद्वैत की ओर ले जाय, वही गुरु

करने योग्य है। ऐसा गुरु वास्तव में तो परमेश्वर ही हो सकता है—जो हमारे हृदय में विराजमान है। यदि हम उसे समझ लें तो फिर गुरु की खोज ही समाप्त हो गई। मानो वह संसार के परम सत्य को पा गया।

"श्री भगवान् कहते हैं—हे उद्धव, वे गम्भीर-बुद्धि ब्राह्मणश्रेष्ठ इस प्रकार यदु को उपदेश कर, उनसे विदा हो, उनके प्रणाम तथा पूजा आदि करने पर प्रसन्नचित्त से इच्छानुसार चले गए।" ॥३२॥

"इस प्रकार हमारे पूर्वजों के भी पूर्वज राजा यदु अवधूत के उपदेश को सुनकर सर्वथा निःसंग होकर समदर्शी हो गये।" ॥३३॥

सच्ची जिज्ञासा का ऐसा ही फल होना चाहिए। जो ज्ञान आचार में परिणत न हो, जीवन का धर्म न बन जाय, वह कच्चा व अधूरा है। ज्ञान की परीक्षा आचार या कर्म है जैसे कि आचार ज्ञान का दीपस्तम्भ है।

: १० :

संसार मिथ्या है ?

[सर्वथा बंधनमुक्त अवधूत का उदाहरण देकर अब फिर श्रीकृष्ण उद्धव को संसार के मिथ्यात्व का निरूपण करते हैं। वह कहते हैं कि इस संसार में प्रत्येक देह-धारी को जन्म-मरण निरंतर लगे रहते हैं। अतः ये मिथ्या अर्थात् नाशवान् हैं। लेकिन इन सबके अन्दर समाया हुआ जो जीव या चैतन्य है, वह एक, अखण्ड है। वह इस ढांचे से उसी प्रकार भिन्न है जैसे अग्नि काष्ठ से। इस बात को अच्छी तरह पहचानकर मनुष्य को चाहिए कि वह देह आदि पदार्थों में सत्य-बुद्धि को त्याग दे, व यम-नियमों का सेवन करते हुए सद्गुरु की उपासना से मेरे स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करे। यज्ञादि अनुष्ठानों से भिन्न-भिन्न लोकों की प्राप्ति ज़रूर होती है, लेकिन पुण्य क्षीण होने के बाद उन्हें फिर नीचे गिरना पड़ता है। अतः काम्य कर्मों को छोड़कर वह अनासक्त व ममता-हीन होकर एक ही आत्मा को सर्वत्र देखे।]

"श्रीभगवान् बोले—हे उद्धव ! मेरे कहे हुए अपने-अपने धर्मों में सावधान रहकर और मेरे ही आश्रित होकर अपने वर्ण, आश्रम और कुल के आचारों का निष्काम बुद्धि से आचरण करे" ॥१॥

अतः ऊधो, मनुष्य को चाहिए कि वह मेरे बताये हुए अपने-अपने धर्मों में सावधान रहे, सर्वदा अपनेको मेरे आसरे छोड़ दे, एवं अपने वर्ण, आश्रम, कुल के आचार का भली-भांति पालन करे, सो भी निष्काम-बुद्धि से।

वर्ण-व्यवस्था, जिसमें स्वभावानुसार समाज के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र ये चार विभाग किये गए थे, प्राचीन आर्यों की वर्ण-व्यवस्था या चातुर्वर्ण्य कहलाती थी। यह सामाजिक संगठन था। वैयक्तिक उन्नति या साधना के लिए ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ व संन्यास यह आश्रम-व्यवस्था थी। कुल किसी प्रधान पुरुष के

पीछे बनता था और उसकी अपनी विशेषताएं हो जाती थीं। इन तीनों में निर्दिष्ट आचारों का पालन प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक व उपयोगी होता था। यह पालन भी स्वार्थमय हेतुओं से नहीं, निष्काम भाव से, परोपकार-बुद्धि से, या ईश्वर-प्रीत्यर्थ, करने पर ज़ोर दिया जाता था, जिससे समाज में स्वार्थ की होड़ न लगकर सेवा की, परोपकार की होड़ लगती थी। इन सबके अलावा, व्यक्तियों की अपेक्षा—फिर वह चाहे कितना ही महान् क्यों न हो—सदा परमात्मा पर—संसार की सर्वोच्च शक्ति पर या समष्टिसत्ता पर—अपना अवलंबन रखने का उपदेश दिया जाता था। ईश्वर के सिवा किसीकी शक्ति की दाद न देने से एक ओर वे जहां किसीसे दबते न थे, तहां दूसरी ओर अभिमान भी नहीं बढ़ पाता था। एक किस्म की नम्रता, विनय-शालीनता उनमें लाई जाती थी।

आजकल यह वर्ण-व्यवस्था बहुत आलोचना की पात्र हो गई है। फिर भी महात्मा गांधी जैसे वर्तमान् जगत् के महापुरुष व डाक्टर भगवानदासजी जैसे आधुनिक काल के ऋषितुल्य विचारक इस व्यवस्था की खूबी पर मुग्ध हैं।[1] महात्मा-जी ने इसमें सिर्फ एक ही दोष घुस गया बताया है, और वह है ऊंच-नीच का। इसलिए नीच समझे जानेवालों के प्रति घृणा व तिरस्कार-भाव आ जाता है।

"(स्वधर्मानुष्ठान से)[2] शुद्ध चित्त होकर यह देखे कि विषयलोलुप पुरुष जिन त्रिगुणमय कर्मों को सत्य मानकर करते हैं, उन सबका परिणाम विपरीत ही होता है।" ॥२॥

जब वह अपने धर्मानुसार निष्काम कर्म करेगा तो उससे उसका चित्त शुद्ध होता जायगा। काम, क्रोध आदि छः विकार ही चित्त के मल हैं। स्वार्थी कामों

---

[1]डाक्टर भगवानदासजी के वर्ण-व्यवस्था-संबंधी विचार के लिए देखिये परिशिष्ट १६

[2]सारांश कि अपने स्वभाव-धर्मानुसार ब्रह्मार्पण करके या समष्टि तथा समाज-हित की भावना से, प्रत्येक कर्म करे। कुलाचार, देवाचार, धर्माचार सबका आधार मुझे माने। प्रत्येक कर्म का अध्यक्ष मुझे समझे। मेरी अभिलाषा से ही प्रत्येक कर्म करे। कर्म के आदि, मध्य, अन्त सबमें मेरा ही स्मरण, ध्यान रहे। ऐसे सब कर्म अपने-आप निष्काम हो जाते हैं। उनके बन्धन से कर्त्ता मुक्त रहेगा।

से ये मल बढ़ते हैं और निःस्वार्थी कामों से घटते हैं। स्वार्थी कामों में लोगों का उत्तरोत्तर विरोध और निःस्वार्थी में अर्थात् परोपकार में उत्तरोत्तर सहायता-सहयोग बढ़ता है। अतः इन विकारों के बढ़ने की गुंजाइश कम रहती है। जब चित्त के मल धुल जाते हैं तो दृष्टि साफ हो जाती है, सही व सत्य विचार का रास्ता सरल हो जाता है। तब वह देखे और विचारे कि विषय-लोलुप लोग जो सात्विक, राजस व तामस गुणों[1] से प्रेरित होकर विविध कर्म करते हैं और मानते हैं कि ऐसा ही करना ठीक है तो उनका नतीजा उन्हें आखिर क्या मिलता है? वह इस नतीजे पर पहुंचेगा कि सुख चाहते हुए भी, सुख के लिए इतना आकाश-पाताल एक रहते हुए भी, उनको उल्टा दुःख ही मिलता है—द्वेष, कलह, चिन्ता, निराशा, मनस्ताप यही उनके पल्ले पड़ता है।

"सोये हुए पुरुष को (स्वप्नावस्था में) दिखाई देनेवाले पदार्थ तथा चिन्तन करनेवाले के मनोरथ जैसे नानारूप होने से मिथ्या होते हैं, उसी प्रकार त्रिगुणात्मिका भेद-बुद्धि ही मिथ्या है।" ॥३॥

वह देख लेगा कि संसार में यह जो मेरे व तुम्हारे—अपने व पराये का भेद-भाव है, या जो सृष्टि में नाना प्रकार के आकार व रचनावाले पदार्थ दीखते हैं इनका यह प्रत्यक्ष दीखनेवाला भेद वास्तव में मिथ्या है। यह असलियत में, गहराई में जाकर सब एक ही तत्त्व में समा जाते हैं, जैसे कि सारा पेड़ बीज में। मनुष्य जब सोता है तो तरह-तरह के स्वप्न देखता है, या यों ही तरह-तरह के मनोरथ करता है। उस समय तो उसे वे प्रत्यक्ष व सच्चे ही मालूम होते हैं। किन्तु नींद खुल जानेपर सपने झूठे, अवास्तविक हो जाते हैं और सावधान होनेपर मनोरथ कल्पित मालूम होते हैं; वैसे ही दृश्य जगत् की यह भिन्नता और हमारा अपना मैं-मेरा यह भेद-भाव व माया के तीनों गुणों के प्रभाव का फल होने से

---

[1]त्रिगुण—"सत्त्व, रज, तम—इन तीनों गुणों से देह बना है। इनमें सत्व गुण उत्तम है। सत्त्व गुण के कारण हरिभक्ति, रजोगुण के कारण जन्म-मरण का फेरा व तमोगुण से अधोगति प्राप्त होती है। इनमें भी शुद्ध व शबल—पारमार्थिक व सांसारिक ऐसे भेद हैं। परमार्थ-साधक को शुद्ध, संसारग्रस्त को शबल, औपाधिक या बाधक समझना चाहिए।" —दासबोध २।८

मिथ्या है।[1]

"मेरे परायण हुआ पुरुष निवृत्ति के लिए केवल नित्य नैमित्तिक कर्म ही करे, प्रवृत्तिजनक काम्य-कर्मों को छोड़ दे और जिस समय आत्म-जिज्ञासा (ब्रह्म-विचार) में भलीभांति प्रवृत्त हो जाय, उस समय कर्म-विधि की परवा न करे" ।।४।।

भेद-बुद्धि नष्ट होने से उसका मन धीरे-धीरे मुझमें मिलने लगेगा। तब भी उसे नित्य—नैमित्तिक—कर्म करते रहना चाहिए। लेकिन उन्हें मोक्ष की दृष्टि से, परमपद पाने की अभिलाषा से, करे, विषय-भोगों में बांधनेवाले काम्य-कर्मों को छोड़ दे, जिनसे मन उल्टा माया-मोह में फंस जाता है। इससे आत्मा-सम्बन्धी जिज्ञासा बढ़ेगी और वह ब्रह्म-विचार में डूबने लगेगा। जब उसे भली-भांति आत्म-प्रतीति होजाय तब फिर वह जो-कुछ करे स्वभावतः करेगा, कर्म से, विधि-निषेधात्मक नियमों से परे हो जायगा। वह स्वभाववश ही इन नियमों पर चलने लगेगा—इसलिए नहीं कि उनका विधान या निषेध किया गया है। यदि इनमें से कोई नियम उसके द्वारा टूटा या लांघा गया तो किसी ऊंचे उद्देश्य से, महान् कार्य की सिद्धि के लिए, या वह नियम खराब हो तो मिटाने के लिए ही। इनके लिए उसके मन में कोई घृणा नहीं पैदा होगी; बल्कि उसके लिए वे अनावश्यक व निरर्थक हो जायंगे। जैसे जबतक हम बालक होते हैं, कोई काम माता-पिता व बड़ों की आज्ञा मानने के लिए करते हैं; किन्तु जब सज्ञान हो जाते हैं तो उन्हीं

---

[1]**सत्य**="ब्रह्म की दृष्टि से असत्य=माया नहीं है, व माया के रहते हुए ब्रह्म नहीं है। सत्य अथवा असत्य का सम्बन्ध देखनेवाले से होता है। देखने वाला=द्रष्टा व देखना=दर्शन जिसे अर्थात् द्रष्टा को हुआ, त्रिपुटी मिटी कि समाधान हुआ।"

"सत्य के बराबर पुण्य व असत्य के बराबर पाप नहीं। सत्य याने निश्चल ब्रह्म, स्व-रूप; और असत्य याने चंचल, माया, दृश्य। पाप मिट जाने से निश्चल पुण्य शेष रह गया व उससे अनन्य होने पर नामातीत हो गये। जब यह प्रत्यय हो जाय कि हम तो स्वतःसिद्ध वस्तु हैं, हमें देह-संबंध नहीं है, तो फिर पाप के पहाड़ पलक मारते ही जलकर खाक हो जाते हैं। अनेक दोषों का क्षालन करनेवाला ब्रह्मज्ञान ही है—दूसरे साधन तो तुच्छ हैं।" —दासबोध

कार्यों को अपनी जिम्मेवारी समझकर अपने-आप करते या नहीं करते हैं।

[1]**"मेरा भक्त यमों का निरन्तर सेवन करे और नियमों का भी समयानुसार यथाशक्ति पालन करे तथा मेरे स्वरूप के जाननेवाले, शान्त और साक्षात् मेरे ही स्वरूप गुरुदेव की सदा प्रेम और श्रद्धा से उपासना करे" ॥५॥**

उद्धव, मेरे भक्त को चाहिए कि वह सत्य, अहिंसा आदि यमों का नित्य पालन करे। यह अनिवार्य है, क्योंकि इनकी बुनियाद पर ही श्रेय-जीवन की इमारत खड़ी है। शौच, संतोष आदि नियमों का पालन, समय व शक्ति देखकर करे,। इस तथा आगे की साधना के लिए गुरु की शरण जाय। प्रेम व श्रद्धा से गुरु की उपासना करे। गुरु मामूली न हो। यों तो जिससे भी हमें कुछ शिक्षा मिलती है, जो हमसे किसी भी गुण, विद्या, शक्ति में अधिक है। वह गुरु स्थानीय है; परन्तु यहां गुरु उसे समझना चाहिए जो जीवन-निर्माण करे, जीवन को श्रेय का मार्ग बतावे। उसे मेरे स्वरूप का यथावत् ज्ञान होना चाहिए। स्वभाव शान्त हो। अधिक क्या बताऊं, मुझ जैसा ही हो, ऐसा समझ लो। अब शिष्य के लक्षण सुनो—

"(उसे चाहिए कि) **मान और मत्सर से रहित, कार्यकुशल, ममताशून्य, दृढ़प्रेमी, उतावलापन से रहित तथा आत्मतत्त्व का जिज्ञासु हो और परनिन्दा एवं व्यर्थ-वचन से दूर रहे।" ॥६॥**

शिष्य या साधक अपने जीवन में दैवी संपत्तियों का उत्कर्ष साधे। किसीसे मान की इच्छा न रखे, जो काम हाथ में ले उसे दक्षता से—सावधानी व योग्यता के साथ—पूरा करे, कोई वस्तु न मिले तो दूसरों से द्वेष न करे, सच्चा व पक्का

---

[1]जिसका ध्यान मुझमें लग जाता है, उसके काम्य-कर्म अपने-आप छूट जाते हैं। मुझमें प्रीति हो जाने से फिर संसार काकोई पदार्थ प्रेम—आसक्ति—योग्य नहीं जंचता। जब तुच्छ विषय-भोग में मनुष्य को इतना आनंद मालूम होता है तो फिर सारे सांसारिक विषयों के प्रभु मुझमें चित्त लगाने से उसे कितना आनंद मालूम होगा? मुझमें चित्त लगाने का सरल व स्थूल उपाय है मेरे जगत्—मेरे शरीर—की सेवा में प्रवृत्त होना। पहले प्रत्यक्ष की सेवा—उससे फिर मुझ अप्रत्यक्ष, अव्यक्त की ओर झुकाव हो जायगा। स्थूल से सूक्ष्म की ओर झुकाव हो जायगा। स्थूल से सूक्ष्म की ओर अपने-आप गति हो जायगी।

मित्र सबका बनकर रहे, 'यह मेरा है,' ऐसा ममत्व किसी व्यक्ति या वस्तु में न रखे—सबको एक-समान अपना-सा समझे। फिर जल्दबाजी न करे, हर काम सोच-समझकर करे—हर बात सोच-समझकर बोले, ज्ञान व बोध की सदैव इच्छा रखे, उचित अवसर पर उचित सत्य, हित व मित बात कहे। वाचालता न करे। सदा प्रसन्नचित्त, आनन्दी बनकर रहे। खेद के अवसर आवें तो उन्हें मेरे अर्पण करके मेरे भरोसे मस्त रहे।

"अपने परम-धनरूप आत्मा को सर्वत्र देखता हुआ समदर्शी होकर स्त्री, पुत्र, गृह, भूमि, स्वजन और धन आदि में अनासक्त एवं ममताहीन होकर रहे।" ॥७॥

शादी हो या न हो, पानी रहे या न रहे, पुत्र हो या न हो, घर मिले या न मिले, खेती-बाड़ी रहे या चली जाय, स्वजन प्रसन्न हों या अप्रसन्न, रहें या न रहें, धन आवे या चला जाय, सब अवस्थाओं में उदासीन, तटस्थ रहे, अपने चित्त की समता को न खोवे। इनकी प्राप्ति पर हर्ष या अभिमान से फूल न जाय; इनके नाश, वियोग पर दुःख व शोकभार से दब न जाय, न इनकी प्राप्ति, रक्षा व पालन के लिए कोई झूठा, गन्दा, अधर्म का काम ही करे। इन सबकी अपेक्षा मुझीको परमधन समझे। इन सबमें मुझीको व्याप्त माने। इससे उसकी दृष्टि सम-दर्शिनी हो जायगी। जबतक इनको स्वतंत्र व पृथक् मानेगा, भेद-दृष्टि रहेगी व बुद्धि में समता न आ पावेगी। जब इन सबको मेरा ही स्वरूप—मेरे ही भिन्न-भिन्न नाम-रूप—मानेगा तो आप ही सबमें सम-बुद्धि होने लगेगी। देह रहते ही विदेहता प्राप्त होने लगेगी।

"जिस प्रकार दाह्य-काष्ठ से उसका दाहक और प्रकाशक अग्नि पृथक होता है, उसी प्रकार (दृश्यरूप) स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर से उनका साक्षी स्वयं-प्रकाश आत्मा विलक्षण (अत्यन्त भिन्न) है।" ॥८॥

यह जो जड़ या भौतिक स्थूल व सूक्ष्म पदार्थ दिखाई देते हैं इनसे, इनके शरीर व ढांचे में, इनमें चेतन-रूप से जो आत्मा रहता है, वह विलक्षण है, अत्यन्त भिन्न गुण-धर्म रखता है, वह स्वयं-प्रकाश है। यह शरीर उसीके प्रकाश से प्रकाशित है; किन्तु वह आत्मा खुद ही अपने ही प्रकाश से प्रकाशित रहता है। वह शरीर के सब परिवर्तनों—उतार-चढ़ावों—का साक्षी है। नदी-किनारे का पेड़ जैसे नदी के समस्त प्रवाहों को देखता है वैसे ही आत्मा हमारे अन्दर रोम-रोम में रमा हुआ हमारे सब रूपान्तरों को सतत देखता है। देखो, लकड़ी में आग

रहती है। वह उसे जलाती है। आग से लकड़ी प्रकाशमान होती है। परन्तु आग किससे प्रकाशित होती है? वह अपनी ही शक्ति से प्रकाशित है। फिर भी वह काष्ठ से भिन्न है। इसी तरह आत्मा की स्थिति समझो।[1]

"काष्ठ में प्रविष्ट हुआ अग्नि जैसे ध्वंस, उत्पत्ति, सूक्ष्मता, महत्ता एवं अनेकता आदि काष्ठ के गुणों को ग्रहण कर लेता है वैसे ही जन्म-मरण आदि देह के धर्मों को आत्मा ग्रहण कर लेता है। वास्तव में वे धर्म उसके नहीं हैं।" ॥९॥

लकड़ी में प्रवेश करके अग्नि लकड़ी के जैसा लम्बा, टेढ़ा, गोल आदि रूप तथा ध्वंस, उत्पत्ति, सूक्ष्मता, महत्ता एवं अनेकता आदि गुणों को ग्रहण करता है, वैसे ही आत्मा को समझो। वह भी देह में प्रविष्ट होकर उसके जन्म-मरण आदि देह-धर्मों को प्राप्त कर लेता है, वास्तव में ये उसके धर्म नहीं हैं।[2]

---

[1] "परमार्थ के माने हैं अध्यात्म, मोक्ष। परमात्व-तत्व सब सारों का सार है। वह अखण्ड, अक्षय, अपार है। उसे न चोर-भय, न राज-भय, न अग्नि-भय। यह परम-गुह्य है, अतः परमार्थ कहलाता है। इसकी प्राप्ति से जन्म-मृत्यु के फेरे टलते हैं और सायुज्य-मुक्ति अपने पास ही मिल जाती है। विवेक से माया का निरसन होता है, सारासार-विचार स्फुरित होता है। अन्तर में ही परब्रह्म का अनुभव होता है। चारों ओर ब्रह्म भासता है। ब्रह्मभास में ब्रह्मांड डूब जाता है। पंचभूतों का उपद्रव शान्त हो जाता है। प्रपंच मिथ्या हो जाता है। माया की निःसारता प्रकट हो जाती है। ब्रह्म-स्थिति प्राप्त होने से सारे संशय ब्रह्मांड के बाहर चले जाते हैं। जिसे परमार्थ सध गया वही वास्तविक राजाधिराज है। जिसे नहीं सधा वही दीन-दरिद्र।

—दासबोध १।९

[2] विचार के लिए मनुष्य के शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा इतने भाग कर सकते हैं। शरीर स्थूल दृष्टिगोचर है, मन अदृश्य और सूक्ष्म है। शरीर जड़ है, मन जड़ व चेतन दोनों है। शरीर की तरफ झुकने पर, शारीरिक प्रभावों से प्रभावित होने पर वह जड़, व बुद्धि तथा आत्मा के प्रभावों से प्रभावित होने पर चेतन होता है। दोनों से प्रभावित होने के कारण वह डांवाडोल, अस्थिर होता है। बुद्धि आत्मा की तरफ अधिक झुकती है। मन को विवेक से प्रभावित करती रहती है। सार और असार का बोध कराके आत्मा की ओर प्रवृत्त करती है। बुद्धि जब

"चेतनस्वरूप पुरुष का जो यह सत्त्वादि गुणों से बना हुआ शरीर है, इस जन्म-मरणरूप संसार को उसीके निमित्त से समझना चाहिए।" ॥१०॥

यों समझो कि यह शरीर आदि प्रकृति के तीन गुणों की रचना है। इसमें चेतन पुरुष जीवरूप से निवास करता है। वास्तव में तो यह प्रकृति और चेतन-पुरुष दोनों ही परमात्मा के अंश, रूप, शक्ति हैं। इन सबके दो बड़े भाग हो जाते हैं। एक भाग है सत् चित् आनन्द—यह पुरुष है; दूसरा सत्व, रज, तम यह प्रकृति है। जगत् का स्थूल विविध रूप प्रकृति के द्वारा बना है और उसमें सच्चिदानन्द परमात्मा अपने अंशरूप से प्रविष्ट होकर उसे सचेतन बनाता है। यह संसार बनता है और बिगड़ता है, देह उत्पन्न होता है और मरता है। यद्यपि ये क्रियाएं शरीर की, आकार की ही होती हैं तो भी जीव उन सबमें समाया हुआ होने के कारण उसीकी मान ली जाती हैं। इस बात को भूलकर तुम यह समझो कि जीवन-मरण-रूप जो संसार है वह वास्तव में परमात्मा के ही भोग के निमित्त है। जीवरूप धारण करके वह इसका सुख-स्वाद लेता है। जबतक यह जीव यह याद रखता है कि मैं इस देह से व इसके सुख-दुःखों से अलिप्त परमात्मा हूं तब-तक वह इनके कर्म-फलों से नहीं बंधता, जैसे बिजली को चाहे आप लैम्प में लगा दीजिये, चाहे इंजिन में, चाहे मनुष्य को जलाने के यन्त्र में लगा दीजिये, चाहे रेडियो में, वह सब जगह अलिप्त होकर अपना काम कर देगी, उसे इन कर्मों के अच्छे-बुरे होने से सुख-दुःख से कोई सरोकार नहीं; परन्तु यदि वह यह मानने लगे कि लैम्प मैं हूं, इंजिन मैं हूं, जलाने का यन्त्र मैं हूं, रेडियो में हूं तो इनके कर्मों का व उनके फलों का अधिकार, प्रभाव या परिणाम उसे स्वीकार किये बिना गति न रहेगी।

"इसलिए जिज्ञासापूर्वक अपने अन्तःकरण में स्थित उस अद्वितीय परमात्मा को जानकर क्रमशः (अन्य पदार्थों में हुई) इस सत्यत्त्व बुद्धि को त्याग दे।" ॥११॥

अतः भक्त को उचित है कि वह इन दृश्य पदार्थों में जो सत्य-बुद्धि रखता है उसे त्याग दे और अपनी जिज्ञासा के द्वारा परमात्मा को पहचाने। वह कहीं दूर

स्थिर, निर्मल, अकंप हो जाती है तो आत्मा का रूप धारण करने लगती है। उसमें आत्मप्रतीति होने लगती है। ये चारों भेद वस्तुतः तो सद्वस्तु आत्मा के ही हैं। आत्मा ही देह-धर्मों को धारण करता है।

नहीं है। हमारे हृदय में ही मौजूद है। वह सौ-पचास या अनेक नहीं है, जो उसे तलाश करने में दिक्कत या परेशानी हो। वह एक व अद्वितीय है। अतः उसीको एकमात्र सत्य मानकर अन्य वस्तुओं को मिथ्या समझे।

"आचार्य नीचे की अरणि है, शिष्य ऊपर की और उपदेश मध्य का मन्थन-काष्ठ है, तथा सुखप्रद-ब्रह्मविद्या उनकी सन्धि है।" ॥१२॥

यह ज्ञान ही ब्रह्म-विद्या है। इसे एक प्रकार की (यज्ञ की) अग्नि समझो। यज्ञ में अग्नि दो अरणियों—एक प्रकार की लकड़ी—को रगड़कर उत्पन्न की जाती है। उसमें आचार्य को नीचे की अरणि समझो, जो आधार-रूप है। शिष्य को ऊपर की, जो गुरु के सहारे रहता व चलता है। गुरु का उपदेश दोनों के मध्य का मंथन-काष्ठ है व ब्रह्मविद्या उनकी संधि है, जिससे ज्ञान-रूप अग्नि प्रकट होती है।

"वह (ब्रह्मविद्यारूप) अति निपुण और विशुद्ध बुद्धि-गुणों से उत्पन्न हुई माया का ध्वंस कर देती है और फिर इस संसार के कारणरूप गुणों का नाश करके ईंधनरहित अग्नि के समान स्वयं भी शान्त हो जाती है।" ॥१३॥

यह ब्रह्म-विद्या रूप अग्नि, जिसे अति विशुद्ध और निपुण-बुद्धि ही समझो, तीन गुणों से उत्पन्न इस माया का—इस अज्ञान का (कि यह जगत सत्य है, तथा इसकी विचित्रता, विविधता वास्तविक है) ध्वंस कर देती है। और जब संसार के कारण-रूप वे गुण ही नष्ट हो जाते हैं, उनकी असलियत हमारी समझ में आ जाती है, तब यह बुद्धि—ब्रह्मविद्या—खुद भी ईंधन-हीन अग्नि की तरह शान्त हो जाती है। उसमें चंचलता नहीं रहती। इसका कार्य था वास्तविकता का, वस्तु-सत्ता का ज्ञान करा देना। सो करा दिया। अब उसका कोई प्रयोजन बाकी न रहा। अतः पके फल की तरह वह अपने-आप टपक पड़ी।

"हे उद्धव, यदि तुम कर्मों के कर्ता और सुख-दुःखरूप फलों के भोक्ता इन जीवों का नानात्व तथा स्वर्गादि लोक, काल, कर्म-प्रतिपादक शास्त्र और आत्मा (जीव) की नित्यता स्वीकार करते हो, और यह समझते हो कि घट, पट आदि बाह्य आकृतियों के भेद से उनके अनुसार ही बुद्धि उत्पन्न होती और बदलती रहती है, तो हे प्रिय, इस प्रकार भी शरीर और संवत्सरादि कालावयवों के जन्म, मरण आदि भाव निरन्तर होते रहने सिद्ध होते हैं और यहां भी कर्मों के कर्त्ता तथा सुख-दुःखादि के भोक्ता जीव की पराधीनता लक्षित होती है। तो फिर उस परवश जीव को लाभ ही क्या हो सकता है?" ॥१४-१७॥

देखो, यह जीव वास्तव में तो परमेश्वर का ही अंश या रूप है, परन्तु फिर भी वह संसार में परवश देखा जाता है। तुम जैमिनी आदि मुनियों के मीमांसा-तत्व के अनुसार देखो, चाहे विज्ञानवादियों—न्यायाचार्यों के सिद्धान्तानुसार देखो, देहधारियों के जन्म-मरण आदि भाव निरन्तर रहते हुए सिद्ध होते हैं। मीमांसक लोग जीव को कर्मों का कर्ता और सुख-दुःख रूप फलों का भोक्ता मानते हैं। अर्थात् कोरी क्रियाशक्ति या भोग-वासना के रूप में जीव या मनुष्य-शरीर में नहीं पाया जाता, बल्कि करने की व भोगने की 'अहन्ता' के सहित अर्थात् 'मैं कर्त्ता हूं' और 'मैं भोक्ता' हूं, इस कर्तापन व भोक्तापन के भाव के सहित पाया जाता है। ये लोग जीव को एक नहीं अनेक मानते हैं और जीव के साथ ही, स्वर्गादि लोक, काल[1], शास्त्र (कर्म-प्रतिपादक) को भी नित्य मानते हैं। जितने पदार्थ हैं, उनकी भी स्थिति को वे नित्य व यथार्थ मानते हैं। जैसे पानी प्रवाह-रूप से नित्य है उसी तरह अर्थात् पदार्थों के अणुओं में सतत परिवर्तन होते हुए भी उसका रूप वह यही पदार्थ है, इस तरह पहचाना जा सकता है। इसी तरह विज्ञानवादियों

---

[1] **काल** के सम्बन्ध में विस्तृत विचार पीछे (अ० ६ श्लो० १४) किया ही गया है। आधुनिक वैज्ञानिकों के मतानुसार काल एक परिमाण वा दिशा है। वस्तु की स्थिति का बना रहना काल पर अवलम्बित है। कोई वस्तु या घटना चाहे एक पल बनी या होती रहे और चाहे एक युग या कल्प तक होती रहे। यह स्थिरता या सततता एक अलग परिमाण है, जिसे काल कहते हैं। देश जैसे वस्तु-सत्ता की मर्यादा है, काल उसी तरह घटना या कर्म की मर्यादा है। गतिशीलता से ओतप्रोत व्यापक होने के कारण वस्तु-सत्ता-मात्र घटनाओं का समूह है और काल-परिमाण की मर्यादा में निरंतर स्थिति के कारण देश में मर्यादित है। जब काल स्थिति का कारण व परिमाण है, घटनाओं को निरंतर जारी रखता है, तो साथ ही वस्तु-सत्ता के घनत्व के घटते-बढ़ते रहने का भी कारण है और इस तरह देश की वक्रता की वृद्धि व ह्रास का भी कारण है। 'कालयति' 'प्रेरयति'—काल सबकुछ कराता है। सबको प्रेरित करता है, बड़ा बली है, शक्ति का प्रेरक रूप है। गति शक्ति वस्तु-सत्ता का, दिक् सूचना देश का, व स्थिति-रक्षा प्रेरणा शक्ति काल का मूल है। गति, देश व काल—इन तीनों सामग्रियों से 'कर्म' घटित होता है। गति, देश, काल व वस्तु तीनों जो अनात्म के तीन रूप हैं, शक्ति ही हैं।

के अनुसार घट, पट, आदि बाह्य आकृतियों के भेद से, उनके अनुसार, बुद्धि ही उत्पन्न होती और विभिन्न रूप धारण करती है, तो भी यही सिद्ध होता है कि देहधारियों में जन्म-मरण आदि भाव रहते हैं। क्योंकि शरीर की जन्म, बालपन, जवानी, बुढ़ापा, मृत्यु आदि भिन्न-भिन्न अवस्थाएं व समय के भिन्न-भिन्न परिवर्तन—ऋतु, मास, दिन, रात आदि हम प्रत्यक्ष ही देखते हैं। दोनों मतों से कर्म के कर्ता व सुख-दुःखादि के भोक्ता के रूप में जीव की पराधीनता ही सूचित होती है। और ऐसी परवशता में रहने से जीव को क्या लाभ हो सकता है ?

"कर्मकुशल विद्वानों को भी कुछ सुख नहीं होता और मूर्ख को सदा दुःख ही नहीं भोगना पड़ता" ॥१८॥

जीव जो परवश होकर दुःख भोगता है उसके लिए यदि कहो कि जो कर्म-कुशल नहीं है वही दुःख भोगता है, तो ऐसा कोई नियम नहीं देखा जाता; क्योंकि सर्वकुशल विद्वानों को भी सर्वथा सुख मिलता नहीं देखा जाता और न मूर्ख ही सदा दुःखी पाये जाते है। ऐसी दशा में यदि कोई यह अभिमान करता हो कि हम कर्म-कुशल होने से सुखी हैं तो यह बेकार की बात है।

"हम कर्मकुशल होने से सुखी हैं—यह व्यर्थ अभिमान ही है। यद्यपि कुछ लोग सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति के उपाय को जानते हैं, तथापि वे भी उस उपाय को नहीं जानते जिससे कि फिर मरना ही न पड़े।" ॥१९॥

हां, इनमें कुछ लोग ऐसे जरूर होते हैं जो सुख की प्राप्ति और दुःख-निवृत्ति का उपाय जानते हैं, परन्तु इतने से काम नहीं चलता। जबतक जन्म व मृत्यु पीछे लगे हैं तबतक, सच पूछो तो, कोई भी पूरी तरह सुख-दुःख के द्वन्द्व से नहीं छूट सकता। अतः असल बात है जीवन-मरण की समस्या को सुलझा लेना। मनुष्य को ऐसा उपाय कर लेना चाहिए, जिससे उसे मरना ही न पड़े।

"जिस प्रकार वध-स्थान पर ले जाये जाते हुए वध्य मनुष्य को मिष्ठान्न और माला-चन्दन आदि कोई भी योग्य पदार्थ सुखी नहीं कर सकता उसी प्रकार जिसकी मृत्यु समीप है, उसे कौन-सी सुख-सामग्री अथवा काम्य वस्तु प्रसन्न कर सकती है ?" ॥२०॥

मनुष्य यह भूल जाता है कि मैं मृत्यु के मुंह में फंसा हुआ कौर हूं। यदि वह इस बात को याद रखे तो उसे संसार की कोई सुख-भोग सामग्री या काम्य वस्तु प्रसन्न नहीं कर सकती। फांसी के तख्ते पर ले जाये जानेवाले व्यक्ति को कोई

मिष्ठान्न, माला-चन्दन आदि योग्य पदार्थ दिये जायं तो वे उसे कैसे अच्छे लग सकते हैं ?

"दृष्ट सुख की भांति श्रुत सुख भी परस्पर की स्पर्धा, असूया, नाश और क्षय आदि के कारण दोषयुक्त ही है तथा नाना प्रकार के विघ्नों से युक्त कामनाओं के कारण भी कृषि के समान निष्फल है।" ॥२१॥

श्रुत कहते हैं स्वर्गादि-सम्बन्ध व दृष्ट कहते हैं लौकिक वस्तुओं को। कोई यह कहे कि जीव जो यज्ञयागादि विविध काम्य कर्म करता है, उनसे उसे इस लोक के सुख तथा स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति भी तो होती है, क्या यह लाभ नहीं है ? तो मैं कहता हूं कि ये सुख भी दोष-युक्त हैं, क्योंकि इनमें परस्पर की स्पर्धा, डाह होती है, जिससे कलह और अशान्ति मचती है। फिर ये स्थायी नहीं हैं—घटते-बढ़ते या मिलते-मिटते रहते हैं। फिर जिन कामनाओं के लिए ये किये जाते हैं उनमें अनेक प्रकार के विघ्नों की सम्भावना रहती है। जिनके खिलाफ वे कामनाएं पड़ती हैं, वे नाना प्रकार के विघ्न व बखेड़े खड़े करते हैं, व व्यक्ति खुद भी उन कामनाओं की पूर्ति के लिए अनेक कबाड़े करता है, जिससे अपने-आप आये दिन नये-नये विघ्न व संकट खड़े होते रहते हैं। अतः जैसे किसान की खेती का बहुत थोड़ा भाग उसके पल्ले पड़ता है—कीड़े-मकोड़े, पशु-पक्षी आदि से बचाते हुए जो घर आता है, उसे भी राज्याधिकारी भिन्न-भिन्न रूपों में ले जाते हैं—वैसे ही वह भी प्रायः निष्फल जाता है।

"यदि विघ्नों से प्रतिहत न होकर कोई धार्मिक कृत्य (यज्ञादि) सम्पन्न हो जाता है तो उसके द्वारा प्राप्त होनेवाले स्वर्गादि लोक को भी जीव जिस प्रकार जाता है, वह सुनो।" ॥२२॥

मान लो कि इन सब विघ्नों को पार करके कोई धार्मिक कार्य—काम्य-कर्म—सफल भी हुआ तो उससे जीव स्वर्गादि लोकों को ही जाता है, वह कोई बड़ी वांछनीय या श्रेयस्कर गति नहीं है। वहां जीव किस प्रकार जाता है व फिर क्या होता है, यह भी सुन लो।

"अपने पुण्यों के द्वारा प्राप्त हुए शुभ्र विमान पर आरूढ़ हुआ वह मनोहर वेषधारी पुरुष सुर-सुन्दरियों के साथ विहार करता है तथा गन्धर्वगण उसका गुणगान करते हैं।" ॥२३-२४॥

"उस समय किंकिणी जाल से सुशोभित और इच्छानुसार गमन करनेवाले

विमान पर चढ़कर वह देवताओं के विहारस्थल नन्दनादि उपवनों में अप्सराओं के साथ आनन्दपूर्वक क्रीड़ा करता हुआ एक दिन अवश्य होनेवाले अपने पतन को नहीं जानता।" ॥२५॥

जो काम्य कर्मों के लिए देवताओं को पूजते हैं, वे स्वर्ग में जाते हैं। वहां नाना प्रकार के सुख-भोग करते हुए यह भूल जाते हैं कि इन पुण्यों के क्षीण हो जाने पर फिर हमें नीचे गिरना होगा। और हालांकि इन सुखों को छोड़ने की तबीयत नहीं होती तो भी काल-नियम के अनुसार उन्हें स्वर्ग-सुख छोड़कर दूसरी गति प्राप्त करनी ही पड़ती है। अतः इन तुच्छ सुखों के लिए कोई कार्य करना फिजूल है।

"जबतक उसके पुण्य शेष रहते हैं, तबतक वह स्वर्ग में चैन की बंशी बजाता रहता है। परन्तु पुण्य क्षीण होते ही इच्छा न रहने पर भी उसे नीचे गिरना पड़ता है। क्योंकि काल की चाल ही ऐसी है।" ॥२६॥

"यदि कोई जीव असत् पुरुषों के कुसंग में पड़कर अधर्मरत, अजितेन्द्रिय, स्वेच्छाचारी, कृपण, लोभी, स्त्रैण और प्राणिहिंसक होकर बिना विधि के ही पशुओं का वध करके भूत-प्रेतादि को बलि देता है तो वह अवश्य ही परवश होकर नरक में जाता है और अन्त में घोर अन्धकार में पड़ता है।" ॥२७-२८॥

यह तो उन लोगों की बात हुई जो विधिपूर्वक कर्म करते हैं और जो निर्विघ्न समाप्त हो जाते हैं। परन्तु ऐसे लोग भी हैं, जो कर्म का विधि-विधान कुछ नहीं जानते। मनमाने ऊट-पटांग कर्म करते हैं, नीच लोगों की कुसंगति में पड़ जाते हैं, जिससे खोटे कर्मों में ही उनकी प्रवृत्ति हो जाती है। उनकी न जबान अपने काबू में है, न हाथ, न पांव, न जननेन्द्रिय। अतः वे निरंकुश व स्वेच्छाचारी हो जाते हैं। न धर्म का, न कुल का, न बिरादरी का, किसीका ख्याल या लिहाज नहीं रखते हैं। उनके लोभ का ठिकाना नहीं, कोई अच्छी चीज कहीं देखी नहीं कि उनका मन ललचाया नहीं। इसलिए उन्हें दूसरों के सामने दीन बनकर जाना व रहना पड़ता है, फिर स्त्रियों की संगति में, स्त्रियोचित व्यवहार में, स्त्रियों की रहन-सहन में, स्त्री-वशता में जिन्हें सुख व आनन्द आता है, व जीवों की हिंसा से जिनका जी नहीं दुखता, बिना नियम व विधि के ही वे पशु-हिंसा करके भूत-प्रेतादि के नाम पर बलि चढ़ा देते हैं, ऐसे आदमी अवश्य ही परवश होकर नरक अर्थात् दुःखमयी गतियों को पाते हैं व अन्त में घोर अन्धकार-अज्ञान के भागी होते हैं।

"इस शरीर से, दुःख ही जिनका फल है, ऐसे कर्मों को करता हुआ पुरुष उन कर्मों के द्वारा पुनः देह धारण करता है। अतः इससे इस मरणधर्मा जीव को क्या सुख मिल सकता है ?" ॥२६॥

एक बार जो इस शरीर से ऐसे कर्म किये, जिनका फल दुःखमय ही है तो उनके परिणाम में वैसी ही योनि और बुद्धि प्राप्त होती है, जिससे फिर दुष्कर्म में प्रीति व रुचि होती है। यह चक्कर चलता ही रहता है, जबतक मनुष्य अपने इच्छा-स्वातंत्र्य व कर्म-स्वातंत्र्य-शक्ति से लाभ उठाकर सत्कर्म व निष्काम कर्म करने की प्रवृत्ति न बना ले, या सब तरह से मेरी ही शरण न आ जाय। वर्ना इस प्रकार बार-बार के फेरों से मरण-धर्मा जीव को क्या सुख हो सकता है ?

"लोक और कल्पजीवी लोकपालों को भी मुझसे भय है, तथा जिसकी आयु दो परार्ध है उस ब्रह्मा को भी मुझसे भय लगा रहता है।" ॥३०॥

यह मृत्यु अर्थात् काल मनुष्य के ही पीछे लगा हुआ हो, अकेला वही उससे डरता हो सो बात नहीं। ये सारे लोक और एक कल्प तक जिनकी आयु है, वे सब लोकपाल भी, यहांतक कि दो परार्ध आयु रखनेवाले ब्रह्मदेव भी मेरे इस काल-रूप से भय खाते हैं। किसीकी कितनी ही बड़ी आयु क्यों न हो, उसकी एक सीमा मैंने बना दी है। उसके बाद मेरा कालरूप उन्हें उसी रूप में नहीं रहने देता, या तो उनका रूपान्तर हो जाता है या मुझमें लीन होकर मेरे स्वरूप में मिल जाते हैं। इस रूपान्तर का ही दूसरा नाम जन्म-मृत्यु है। मेरे स्वरूप में मिल जाने पर ही मनुष्य मृत्यु को जीतकर अमर हो सकता है।

"गुण कर्म करते हैं और गुण गुणों को कर्म में प्रवृत्त करते हैं। जीव तो अज्ञानवश इन्द्रियादि से युक्त होकर (अर्थात् उनमें अहंबुद्धि करके उनके किये हुए) कर्मों के फलों को भोगता है।" ॥३१॥

'गुण' के दो अर्थ होते हैं—इन्द्रियां, सत्व, रज, तम, ये त्रिगुण। श्रीकृष्ण कहते हैं, ऊधो, वास्तव में कर्म तो इन्द्रियां करती हैं। त्रिगुण उन्हें प्रेरित करते हैं। जिस समय जिस गुण का ज़ोर होता है वैसा ही इन्द्रियां करने लगती हैं। सत्व गुण का ज़ोर होने से अच्छे विचार, अच्छी भावनाएं जगती हैं और शुभ कर्म में प्रवृत्ति होती है। रजोगुण का ज़ोर बढ़ने पर राग-द्वेषात्मक वृत्ति बढ़ती है और तमोगुण के ज़ोर मारने पर नींद, आलस्य, असावधानी बढ़ती है। गुणों को उभा-रने में हमारे पूर्व-संस्कार, वर्तमान संगति व वातावरण, प्रस्तुत विषय आदि

कारणीभूत होते हैं। ऐसा होते हुए भी यह जीव अज्ञानवश यह मानने व समझने लगता है कि इन सब कर्मों का कर्ता मैं हूं। उन कर्मों में जब उसकी ऐसी अहंबुद्धि हो जाती है तो फिर उनके फल भी उससे चिपक जाते हैं। यही उसके सुख-दुःख का कारण होता है।

"जबतक (अहंकारादि रूप से) गुणों की विषमावस्था रहती है तभी तक आत्मा का नानात्व है और जबतक आत्मा का नानात्व है तभी तक पराधीनता है।" ॥३२॥

जबतक इन गुणों की विषमता रहती है, अहंकारादि रूप से भिन्न-भिन्न रूप ज़ोर मारते रहते हैं, तबतक मनुष्य को आत्मा भी नाना—अनेक—दिखाई देती हैं। वह प्रत्येक पदार्थ में अलग-अलग आत्मा देखता है। उन्हें एक-दूसरे से स्वतन्त्र व अलग मानता है। उन सबको एक सूत्र में बांधने या पिरोनेवाली आत्मा की यह एकता उसकी आंखों की ओट हो जाती है। ऊधो, जबतक मनुष्य की दृष्टि में आत्मा की यह अनेकता कायम रहती है तबतक उसे पराधीन ही समझो। क्योंकि उस दशा में प्रत्येक पदार्थ उसका स्वामी हो रहेगा। हर पदार्थ के पास उसे पराये भाव से जाना पड़ेगा और हरेक से उसकी शर्त पर उसे सौदा करना पड़ेगा। यही पराधीनता है। इसके बरखिलाफ यदि वह आत्मिक एकता के भाव को रखता है व फिर संसार के पास जाता है, तो उसकी ऐसी दयनीय स्थिति नहीं हो सकती। वह आत्मिक एकता के बल पर बहुत-कुछ दे-लेकर अपनी स्वाधीनता की रक्षा कर लेगा, व दूसरे की स्वाधीनता को खतरे में न पड़ने देगा।

"तथा जबतक पराधीनता है तभी तक ईश्वर से भय है, अतः जो लोग इस कर्मकलाप के उपासक हैं, वे इसी प्रकार शोकाकुल हुए मोह को प्राप्त होते हैं।" ॥३३॥

जबतक मनुष्य इस तरह पराधीन है, तबतक उसे ईश्वर का भय लगता रहेगा। बल्कि यों कहना चाहिए कि सारे संसार का डर लगता रहेगा; क्योंकि वे नाना प्रकार के ऊटपटांग कर्म करते रहते हैं व उनके फलों से डरते रहते हैं। यही संसार से व ईश्वर से डरने का मतलब है। अतः जो लोग काम्य कर्मों में ही लिप्त रहते हैं वे सदा शोक और मोह को प्राप्त होते रहते हैं।

"हे उद्धव, गुणों का वैषम्य होने पर काल, जीव, वेद, लोक, स्वभाव और धर्म आदि अनेक नामों द्वारा मेरा ही निरूपण किया जाता है।" ॥३४॥

और उद्धव, यह जो काल, जीव, वेद, लोक, स्वभाव और धर्म आदि नाम लिये जाते हैं, इनके द्वारा भी वास्तव में मेरा ही निरूपण किया जाता है। गुणों की विषमता से ये भिन्न-भिन्न नाम मेरे या मेरी शक्ति, गुण आदि के पड़ गये हैं। काल मेरा ही स्वरूप है। यह पहले अच्छी तरह समझा दिया गया है। जीव तो मेरा चेतन-रूप है, यह सर्वविदित है। 'वेद' अर्थात् शब्द-ब्रह्म का अर्थ भी पहले स्पष्ट किया जा चुका है। लोक, स्वर्ग आदि चौदह लोक ब्रह्माण्ड की तहरूप हैं। स्वभाव का वैज्ञानिक अर्थ इस प्रकार है—निश्चित दिशा में क्रिया, प्रक्रिया के चलने, रहने और बढ़ने की प्रवृत्ति जब परिस्थिति के अनुरूप व अनुकूल बन जाती है तो विशेष प्रकार की क्रियाओं का एक सिलसिला बंध जाता है, जिसे स्वभाव कहते हैं। इस स्वभाव को एक ओर से विवेक प्रेरित करता है, दूसरी ओर से प्रत्यगात्मा या जीव। यही स्वभाव नैसर्गिक बुद्धि के अन्तिम विकास का रूप है। इसे अपरा प्रकृति की चित् शक्ति का विकास या परिणाम भी समझा जा सकता है। संक्षेप में स्वभाव ईश्वरी शक्ति का ही विकास या परिणाम है। गीता में मैंने कहा है कि आध्यात्म मेरा स्वभाव कहलाता है। इसका अर्थ यह है कि परमात्मा सर्वत्र समान रूप से रहते हुए भी, प्रत्येक प्राणी के चित्त में तथा पदार्थ में भिन्न-भिन्न रूप से प्रकाशित होता है और इससे प्रत्येक प्राणी तथा पदार्थ में भिन्न-भिन्न लक्षणोंवाले भिन्न-भिन्न आत्मा निवास करते हों। यह परमात्मा का अध्यात्म भाव है और प्राणी की व्यक्तिगत प्रकृति अथवा स्वभाव (अपना भाव) रूप में देखा जाता है। किसी पदार्थ का जो विशेष धर्म, लक्षण, चिह्न, प्रवृत्ति, जिसके द्वारा वह दूसरे पदार्थों से जुदा किया जा सके, उसे उसका स्वभाव कहते हैं। धर्म से अभिप्राय है संसार को धारण करनेवाली नियामक—नियम-रूप शक्ति।

उद्धवजी बोले—"हे विभो, देह के (कर्म और उसके फलादि) गुणों में रहता हुआ भी यह देहधारी जीव कैसे उनके बन्धन में नहीं पड़ता और यदि (आकाश के समान) अनावृत होने के कारण गुणों से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है तो फिर वह उनमें बंध कैसे जाता है।" ॥३५॥

"इस प्रकार गुणों से मुक्त हुआ पुरुष किस प्रकार रहता है, कैसे विहार करता है, किन लक्षणों से जाना जाता है, क्या खाता है, क्या त्यागता है, तथा किस प्रकार सोता, बैठता अथवा चलता है ?" ॥३६॥

"हे अच्युत, हे प्रश्न का यथार्थ उत्तर देनेवालों में श्रेष्ठ, मेरे इन प्रश्नों का

उत्तर द.जिये और एक ही आत्मा नित्यबद्ध तथा नित्यमुक्त किस प्रकार है, मेरी इस शंका को निवृत्त कीजिये।" ॥३७॥

तो अब मुझे आप यह बताइये कि गुणों के प्रभाव में रहता हुआ भी मनुष्य उनमें मुक्त कैसे रह सकता है? और ऐसे मनुष्य की पहचान क्या है? फिर एक ही आत्मा कैसे तो नित्यमुक्त व कैसे नित्यबद्ध हो सकता है? मेरे इन प्रश्नों का उत्तर देने की कृपा कीजिये।

: ११ :

भगवान् का कौन ?

[इसमें बताया गया है कि जीव अविद्या से बन्ध और विद्या से मोक्ष को प्राप्त होता है। आत्मा वास्तव में न बद्ध है, न मुक्त। 'मैं कर्ता हूं,' इस भावना से बद्ध और परमेश्वर कर्त्ता है, मैं तो केवल निमित्त हूं, इस भावना से मुक्त होता है। भक्त या साधु के अट्ठाईस लक्षण बताये गए हैं—१. सबपर कृपालु, २. वैरभाव-हीन, ३. क्षमाशील—प्रतिहिंसाशून्य, ४. सत्यशील, ५. शुद्ध-चित्त, ६. समदर्शी, ७. सर्व-हितेच्छु, ८. कामना-मुक्त, ९. संयमी, १०. मृदुल स्वभाव, ११. सदाचारी, १२. अकिंचन, १३. निःस्पृह, १४. मिताहारी, १५. शान्त चित्त, १६. स्थिर-बुद्धि, १७. मेरा शरणागत, १८. आत्मतत्व-चिन्तक, १९. अप्रमादी, २०. गंभीर स्वभाव, २१. धैर्यवान, २२. शरीर-धर्म-विजयी, २३. अमानी, २४. मानदाता, २५. समर्थ, २६. मिलनसार, २७. करुणामय और २८. सम्यक ज्ञानयुक्त।]

"श्री भगवान् बोले—हे उद्धव ! गुणों के कारण ही मुझे बद्ध या मुक्त कहा जाता है, वस्तुतः नहीं; और गुण माया-मूलक हैं, अतः वास्तव में मेरा न बन्धन है, न मोक्ष।" ॥१॥

"शोक, मोह, सुख, दुःख और देह की उत्पत्ति सब माया ही के कार्य हैं और यह संसार भी स्वप्न के समान बुद्धिजनित प्रतीति ही है, यह वास्तविक नहीं है।" ॥२॥

आत्मा की बद्धता और मुक्तता-सम्बन्धी प्रश्न का उत्तर मैं पहले देता हूं। मैं अर्थात् आत्मा वास्तव में न तो बद्ध होता है, न मुक्त। आत्मा तो स्वभावतः ही शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, स्वतंत्र है। माया[1] के गुणों में जब वह फंस जाता है, तीनों गुणों का प्रभाव जब उसपर पड़ने लगता है और वह अपनेको शरीर द्वारा किये गए कर्मों का जिम्मेवार मानने लगता है तब वह बद्ध हो जाता है। जो कर्म की जिम्मे-

[1] देखिये परिशिष्ट १७

वरी लेगा उसे फल की जिम्मेवरी भी लेनी पड़ेगी, यही बद्धता है। इसके विपरीत गुणों से, अतएव कर्म के कर्तृत्व उनके फलों के भोक्तृत्व से जो परे है, वही मुक्त है। फिर ये शोक, मोह, दुःख-सुख और देह की उत्पत्ति भी माया के ही कार्य हैं। माया अर्थात् अविद्या से ग्रसित होकर जब हम कार्य करते हैं और अहन्ता रखकर करते हैं तो उनका फल शोक-मोहादि ही हो सकता है। कर्मों के जो संस्कार बीज-रूप में बच रहते हैं उन्हींसे फिर देह की उत्पत्ति होती है। जो भी कर्म हम करते हैं वे प्रत्येक हमारे मन पर अच्छा-बुरा संस्कार छोड़ जाते हैं। जब मनुष्य मरता है तो ये संस्कार उसके सूक्ष्म देह के साथ लिप्त रहते हैं। प्रत्येक स्थूल वस्तु का एक सूक्ष्म रूप होता है। उस सूक्ष्म रूप में स्थूल आकार के सभी गुण बीज-रूप में विद्यमान रहते हैं। मनुष्य के सूक्ष्म-रूप को लिंग-देह कहते हैं। इसे मनुष्य-शरीर का बीज-रूप समझना चाहिए। मनुष्य जब मरता है तो स्थूल देह तो उसका छूट जाता है, किन्तु यह सूक्ष्म शरीर या लिंग-देह बना रहता है, जो इन तमाम संस्कारों या वासनाओं का समूहमात्र होता है। यह फिर अपने अनुकूल शरीर की प्राप्ति का अवसर खोजकर वैसा शरीर पा जाता है और उसीके अनुकूल उसकी बुद्धि-वृत्ति या चित्त-प्रवृत्ति बनती है। अतः यह सारा खेल माया का ही है। यह संसार जो हमें दीखता है वह भी हमारी बुद्धि को होनेवाली एक प्रतीति ही है, जैसा कि स्वप्न में अनुभव होता है। इसकी वास्तविक सत्ता नहीं है।

"हे उद्धव! देहधारियों के मोक्ष और बन्धन की कारणभूता विद्या और अविद्या को भी मेरी माया से रची हुई मेरी आद्या शक्तियां ही जानो।"॥३॥

और यह जो विद्या तथा अविद्या कही जाती हैं, ये भी माया से रची हुई मेरी आदि शक्तियां हैं। अविद्या से जीव बन्ध को व विद्या से मोक्ष को पाता है। असल में मैं विद्या और अविद्या दोनों से परे हूं। मेरी ही एक शक्ति तो विद्या दीखती है और दूसरी अविद्या। यही माया का प्रभाव है। माया मेरी उस अनिर्वचनीय स्थिति को कहते हैं जब परस्पर-विरोधी बातें मुझमें देखी जाती हैं। 'सृष्टि में तीनों गुणों' के भाव प्रत्यक्ष रूप से दिखाई देते हैं। इन तीनों गुणों के कर्मों से ही यह सर्व जगत् ऐसा व्याप्त हुआ प्रतीत होता है कि एक ओर सामान्य जीव इसके मोह-जाल में फंसे रहकर इससे परे अविनाशी परमात्मा को समझ ही नहीं सकते और इसीलिए यह मानते हैं कि यह सब त्रिगुण-प्रकृति का ही कार्य है। इसकी ओर विद्वान् लोग भी परमात्मा तथा इन त्रिगुणों के बीच किस प्रकार का सम्बन्ध

समझा जाय और त्रिगुण के भाव परमात्म-स्वरूप होने पर भी परमात्मा को उससे अलिप्त तथा परे किस प्रकार समझा जाय, इस विषय में असमंजस में पड़ जाते हैं और विविध प्रकार के कल्पना-जाल में फंस जाते हैं। इस प्रकार परमात्मा की यह त्रिगुणात्मक प्रकृति एक अटपटी समस्या है, इसलिए जिस तरह बाजीगर के कौशल या युक्तियों को माया कहते हैं, उसी तरह इसे परमात्मा की दैवी माया कहते हैं। यह प्राणियों के ज्ञान को अज्ञान से ढंक देती है और केवल परमात्मा के ज्ञान से ही समझी व पार की जा सकती है। किन्तु समझकर भी वाणी द्वारा समझाई नहीं जा सकती।

माया का अर्थ ही है विद्या से नाश पानेवाली और उसके अभाव में अद्भुत चमत्कारी प्रतीत होती हुई वस्तु।

"हे महामते ! मेरे अंशरूप एक ही जीव[1] को अविद्या से अनादि बंधन और विद्या से मोक्ष की प्राप्ति हुई है।" ॥४॥

यह जीव मेरा ही अंश-रूप है। इस एक ही जीव को अविद्या से बन्धन व विद्या से मोक्ष प्राप्त होता है।

"हे तात ! अब मैं तुझसे एक ही धर्मी में स्थित बद्ध और मुक्त इन दो विरुद्ध धर्मवालों की (अर्थात् जीव और ईश्वर की) विलक्षणता का वर्णन करता हूं।" ॥५॥

अब मैं तुमको एक ही धर्मी (व्यक्ति) में स्थित, बद्ध और मुक्त अर्थात् जीव और ईश्वर दो विरुद्ध धर्मवालों की विलक्षणता का वर्णन करता हूं। दो व्यक्तियों में दो परस्पर-विरुद्ध धर्म हों—एक स्याह हो, दूसरा सफेद हो, एक सच्चा हो, दूसरा झूठा हो, एक क्रोधी हो, दूसरा शान्त—यह तो समझ में आ सकता है; परन्तु एक ही व्यक्ति बद्ध और मुक्त दोनों हो यह अवश्य विलक्षण है। ऐसा व्यक्तित्व एक परमात्मा का ही है। इसका रहस्य अब मैं तुम्हें समझाता हूं।

"ये दोनों पक्षी (बद्ध जीव और मुक्त ईश्वर) समान (चेतन स्वरूप) और सखा (नित्य अवियुक्त) हैं तथा ये एक ही वृक्ष (शरीर) में स्वेच्छा से घोंसला बनाकर रहते हैं। उनमें से एक (जीव) तो उसके फलों (सुख-दुःखादि कर्मफलों) को खाता (भोगता) है और दूसरा (ईश्वर) निराहार (कर्म-फलादि से असंग

---

[1] देखिये परिशिष्ट १८

साक्षीमात्र) रहकर भी बल (ज्ञान, ऐश्वर्य, आनन्द और सामर्थ्यादि) में पहले से अधिक है।" ॥६॥

यों समझो कि ये दो समान अर्थात् चेतन-स्वरूप पक्षी हैं। एक बद्ध जीव और दूसरा मुक्त ईश्वर। ये दोनों सखा हैं, अवियुक्त हैं, एक दूसरे से अभिन्न हैं। दीखने में दो हैं पर वास्तव में एक ही हैं, जुड़वां भाई-बहनों की तरह। ये एक ही वृक्ष पर—शरीर में—घोंसला बनाकर—घर बनाकर रहते हैं। इन्हें किसीने इसके लिए मजबूर नहीं किया है। अपनी मर्जी से ही रहते हैं। लेकिन इनमें से एक—जीव—तो उसके फलों को—सुख-दुःखादि कर्म-फलों को—खाता अर्थात् भोगता है और दूसरा ईश्वर—निराहार ही रहता है, अर्थात् कर्मफलादि से अलिप्त, साक्षीमात्र रहता है, उन्हें केवल दूर से देखता भर है, छूता तक नहीं। फिर भी आश्चर्य यह कि वह बल अर्थात् ज्ञान, ऐश्वर्य, आनन्द, सामर्थ्य आदि में पहले से (जीव से) अधिक है।

जीवन-शोधनकार के शब्दों में—

यह जीव-भाव व ईश्वर-भाव वास्तव में हमारे चित्त से, जो व्यापक चैतन्य का ईश्वर-बद्ध अंश है, सम्बन्ध रखता है। चित्त का जो व्यापार व विचार हमारे शरीर तक ही सीमित रहता है, वह उसका जीव-भाव व जो ब्रह्माण्ड पर असर डालता है वह ईश्वर-भाव है। जैसे सूर्य एक स्थान में रहते हुए भी उसका प्रकाश दूर तक फैलता है, व लोहचुम्बक की शक्ति लोहे के बाहर भी मौजूद रहती है और दूसरी वस्तु के साथ स्पर्श में न आते हुए भी उसपर अपनी शक्ति चला सकती है, वैसे ही मनुष्य का चित्त भी केवल अपने शरीर में ही समाया हुआ नहीं है बल्कि उसके बाहर—ब्रह्माण्ड पर भी उसका व्यापार चलता है। जीव-स्वभाव में उसे पृथक् ब्रह्माण्ड से अपनेको अलग माननेवाले व्यक्तित्व का भान रहता है। परन्तु उसीमें से उसका ईश्वर-स्वभाव उत्पन्न होता है। वह ब्रह्माण्ड पर अपनी सत्ता चलाना चाहता है, उसमें बनाव-बिगाड़, सुधार आदि करने का प्रयत्न करता है। प्रत्येक चित्त में अपनी एक सृष्टि बनाने, उसमें परिवर्तन करने व उसका नियन्ता बनने की कम-ज्यादा प्रवृत्ति रहती है। इसका मूल तो उसके जीव-स्वभाव में है, किन्तु व्यापार ब्रह्माण्ड में है। चित्त की यह वृत्ति उसका ईश्वर-स्वभाव है और इस ईश्वर-स्वभाव का पृथक्करण करेंगे तो इसमें अनेक ब्रह्मा, विष्णु, शंकर (उत्पत्ति, पालन और संहारकारिणी प्रवृत्तियों) का समावेश होता है। इस प्रकार

जीव-भाव व ईश्वर-भाव ये चित्त (निश्चित भाषा में महत्) के साथ जुड़े हुए धर्म हैं। सिक्के के दो पहलुओं की तरह ये दोनों भाव एक ही साथ रहते हैं। जीव-स्वभाव के विकास के साथ चित्त के ईश्वर-स्वभाव के स्वरूप में अन्तर पड़ता है व ईश्वर-स्वभाव में पड़नेवाला अन्तर जीव-स्वभाव में परिवर्तन करता है।

कहीं भी अकेले ईश्वर-तत्व का होना जीव में सम्भव नहीं, न किसीका केवल जीव होना ही शक्य है। प्रत्येक में कुछ ईश्वर-भाव और कुछ जीव-भाव अवश्य रहता है।

ऐसी कल्पना की जाती है कि यह ब्रह्माण्ड जो दिखाई देता है, एक विशाल शरीर है, उसको धारण करनेवाला विराट् कहलाता है। इस कल्पना के आधार पर पूर्वोक्त परिभाषाओं को स्पष्ट किया जाता है। फिर भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों में विभिन्न प्रकार से वासुदेवादिक व्यूह, ब्रह्मादि त्रिमूर्ति, तथा ब्रह्माण्डादि देहों की कल्पना पर विश्वास बैठाने का यत्न किया जाता है।

"जो निराहार है वह (ईश्वर) तो अपनेको और अपने से भिन्न प्रपंचादि को जानता है, किन्तु जो कर्मफलरूप पिप्पलान्न का भोक्ता है, वह (जीव) नहीं जानता। इनमें जो अविद्यायुक्त (जीव) है वही नित्यबद्ध है और जो ज्ञानमय (ईश्वर) है वही नित्यमुक्त है।" ॥७॥

इनमें जो निराहार है वह ईश्वर है।, वह ज्ञानवान है। अपनेको तथा अपने से भिन्न प्रपंचादि को जानता है। उसे पता है कि यह सारा विश्व का फैलाव मेरा व मुझसे ही बना हुआ है। इसे उसने अपनी ही क्रीड़ा के लिए अपनी लीला से बनाया है। अतः वह उसमें बद्ध नहीं होता, नहीं फंसता। किन्तु जो अपनेको कर्मफल-रूप पिप्पलान्न का भोक्ता मानता है—जो अपनी अहन्ता के साथ अपने को ज्ञाता, कर्ता व भोक्ता समझता है—वह (जीव) अज्ञान-ग्रस्त है। वह नहीं जानता कि मैं क्या हूं, मेरा असली रूप क्या है, इस देह या जगत् से मेरा क्या सम्बन्ध है ? अतः वह देहाभिमानी हो जाता है। यही अविद्या है और इससे युक्त होने के कारण वह नित्यबद्ध है।

"स्वप्नावस्था से उठे हुए व्यक्ति के समान विद्वान् देहस्थ होकर भी (देहाभिमान न होने के कारण) देहस्थ नहीं होता और अज्ञानी स्वप्नद्रष्टा के समान देहस्थ न होकर भी देहस्थ रहता है; (अर्थात् देह का अभिमान करके देहजनित नाना आपत्तियों को भोगता है।)" ॥८॥

अब ज्ञानी या विद्वान् तथा अज्ञानी में क्या फर्क है सो तुम्हें बताता हूं। विद्वान् शरीर में रहते हुए भी शरीरस्थ न होने-जैसा रहता है, क्योंकि उसने देहाभिमान छोड़ दिया है। देह के साथ अर्थात् भौतिक वस्तुओं व विषयों के साथ जो अहन्ता व ममता है, इससे मनुष्य के पीछे उसके सुख-दुःख लग जाते हैं। जिसे हम अपना समझते हैं, उसके सुख-दुःख से स्वभावतः ही सुखी-दुःखी होते हैं। लेकिन जब हम केवल कर्त्तव्यपालन-भर का सम्बन्ध उनसे रखते हैं तो सुखी-दुःखी होने से बचते हैं और उनका हित भी अधिक कर पाते हैं। अतः विद्वान् या ज्ञानी की स्थिति स्वप्न से जाग्रत हो जानेवाले व्यक्ति की है। इसके विपरीत अज्ञानी या मोहग्रस्त की स्थिति स्वप्न में सोये हुए के समान है, जो सपने की चीजों व दृश्यों को सत्य माने हुए है। वह देह का अभिमान करके देहजनित नाना आपत्तियों को भोगता है।

"अतः इन्द्रियों के द्वारा विषयों के तथा गुणों के द्वारा गुणों के ग्रहीत होने पर भी विद्वान् कभी अहंकार नहीं करता (अर्थात् यह नहीं मानता कि मैं उनको ग्रहण करता हूं) क्योंकि वह तो सर्वदा अविकारी है।" ॥९॥

अतः जो विद्वान् है वह इन्द्रियों के द्वारा विषयों को भोगते हुए भी, शरीर से प्रायः सभी सांसारिक कर्म करते हुए भी, उनका अहंकार उसे नहीं होता। उनके कर्तापन की जिम्मेदारी वह अपने ऊपर नहीं लेता। इसी तरह प्रसंगानुसार सात्विक, राजस या तामस जैसे दीखनेवाले कर्म करते हुए भी और उनके वैसे ही फलों को भोगते हुए भी वह भोक्तापन की जिम्मेवारी नहीं लेता। बल्कि यह मानता है कि यह तो माया या प्रकृति के गुणों का खेल है। गुण, गुणों में ही ये विकार, भेद या प्रभाव उत्पन्न करते हैं, मैं तो इन सबसे जुदा, केवल साक्षीमात्र या यंत्रवत् काम करनेवाला हूं। इस तरह वह अविकारी रहता है।

"अज्ञानी पुरुष इस दैवाधीन शरीर के द्वारा गुणों की प्रेरणा से होते हुए कर्मों में 'मैं कर्ता हूं' ऐसी भावना करके बंध जाता है।" ॥१०॥

लेकिन अज्ञानी पुरुष की स्थिति इसके विपरीत है। वह शरीर यों दैव के अधीन है। पूर्वकाल के अवशिष्ट-संस्कार भावी जीवन के लिए दैव कहलाते हैं। वैसे देव का अर्थ है देवता—ईश्वर की प्रकाशित होनेवाली शक्तियां। मनुष्य के अवशिष्ट-संस्कार, वासना या संचित कर्मों का ज्ञान या स्मृति खुद उसको नहीं रहती; परन्तु परमात्मा के दैवी बलों को उनका ज्ञान रहता है, बल्कि उनका

नियन्त्रण और नियमन भी उनके अधीन है। मनुष्य अपने पूर्व-कर्मों के अनुसार इन देवताओं की योजना से अगला शरीर पाता है, अतः इसे दैवाधीन कहा गया है। यह वासनात्मक या लिंगदेह आत्मा के आश्रित रहता है—ऐसा सांख्यवेत्ताओं का कथन है। यह इन्द्रियों से अगोचर और आकाश की तरह सूक्ष्म होता है तो भी वज्र से भी कठोर और दुर्भेद्य है। शरीर के मरने से इस लिंग-देह का नाश नहीं होता। वरन् जिस प्रकार वृक्ष की जड़ें जिस ओर पानी मिलने की सम्भावना होती है उसी ओर फैलने की सहज प्रवृत्ति करती हैं उसी प्रकार सनातन सत्ता-रूप अप्रकट वस्तु को ही अक्षर, परमपद कहते हैं और जो इसके भाव को प्राप्त होते हैं, उन्हींका लिंग-देह भी विलीन हो जाता है और उस परमात्मा को पहुंचकर निर्वाण को प्राप्त होता है।

अब तुमने समझ लिया होगा कि ऐसे दैवाधीन शरीर से जो कर्म-कलाप होते हैं—विविध गुणों के जोर या प्रेरणा से जो-कुछ कार्य बनते हैं, उनमें खुद कर्तापन का अभिमान रखना, यह कहना व मानना कि ये सब कर्म मेरे किये हुए हैं, कितनी भूल है। राज-नियम के अनुसार फांसी की सजा देनेवाला न्यायाधीश और फांसी की डोरी खींचनेवाला जल्लाद यदि फांसी की जिम्मेवारी अपने पर लें तो मूर्ख ही कहे जायंगे। अतः हमारा बन्ध या मोक्ष वास्तव में हमारी इस भावना—अभिमान—पर ही अवलम्बित है।

"इस प्रकार विवेकी पुरुष विरक्त रहकर सोने, बैठने, घूमने-फिरने, स्नान करने, देखने, छूने, सूंघने, भोजन करने और सुनने आदि में गुणों को ही कर्त्ता मानने से बन्धन में नहीं पड़ता; प्रत्युत् प्रकृतिस्थ रहकर भी आकाश, सूर्य और वायु के समान असंग ही रहता है तथा असंग भावना से तीक्ष्ण की हुई अपनी विमल बुद्धि से समस्त संशयों को काटकर स्वप्न से जगे हुए पुरुष के समान नानात्व के भ्रम से निवृत्त हो जाता है।" ॥११-१२-१३॥

इस तरह जो पुरुष विवेकी है, जो पुरुष व प्रकृति के भेद व सीमाओं को समझता है, जो (सांख्यशास्त्र के अनुसार) यह जानता है कि पुरुष (जीव) अलिप्त है, प्रकृति—त्रिगुण—ही सारी उखाड़-पछाड़ करती है, बंधन या मोक्ष जो कुछ है, सब चित्त का है, पुरुष या आत्मा या जीव से उसका कोई सरोकार नहीं, (सामान्यतः चित्त और आत्मा का भेद मनुष्य के मन में जाग्रत नहीं रहता, अतः वह आत्मा की जगह अक्सर 'चित्त' शब्द का ही प्रयोग कर दिया करता

है। अशुद्ध चित्त कोचित्त, व शुद्ध चित्त को आत्मा कहते हैं) वह अपने समस्त व्यवहारों में—खाने, पीने, देखने, सोने आदि सबमें गुणों अर्थात् प्रकृति को ही कर्त्ता मानता है, अतः उनके फलों के बन्धन में नहीं पड़ता। बल्कि प्रकृतिस्थ रहकर भी, प्रकृति की तरह सब काम करते हुए भी, आकाश, सूर्य व वायु के समान, असंग, अलिप्त रहता है। आकाश सब वस्तुओं को धारण कर रहा है, क्योंकि उसका स्वभाव है, इसलिए नहीं कि उसे इसका श्रेय प्राप्त करना है, या अभिमान रखना है। वह घड़े में भी है, मकान में भी है, फिर भी घटत्व या गृहत्व से अछूता है; सूर्य अपने स्वभावानुसार उदय व अस्त होता है, नित्य अपने नियमित चक्रानुसार भ्रमण करता है, किसीसे कहने नहीं जाता कि उठो, जागो और काम करो, किसीपर उपकार करने की या अपने बड़प्पन की कोई भावना नहीं रखता व इसीलिए आता-जाता है कि उसका स्वभाव है। संसार के समस्त कार्यों का प्रेरक होकर भी वह खुद सबसे अलिप्त है, अपने परिभ्रमण में मस्त है। वायु बहती है, इसलिए नहीं कि उसे किसीसे ठण्डक या गर्मी लेनी है, किसीको सुगंध या दुर्गन्ध पहुंचानी है, किसीसे प्रशंसा-पत्र लेना है, बल्कि इसलिए कि उसका स्वभाव है, उससे बहे बिना रहा ही नहीं जा सकता। सरदी, गर्मी व गंध को वहन करते हुए भी वह उससे लिप्त नहीं होती। इन सबके ये काम इस भान, जागृति या अभिमान के साथ नहीं होते कि ये कुछ कर रहे हैं। इनमें इन्हें कोई विशेषता मालूम नहीं होती। जैसे रोज नींद ले लेने से सोना मनुष्य का स्वभाव बन गया है, जब कोई सोता या नींद लेता है तो हमें आश्चर्य नहीं होता, न सोनेवाले को उसमें कोई विशेषता ही मालूम होती है। इस प्रकार विरक्त पुरुष अपनी सब प्रवृत्तियों से, उनके करते हुए भी, अलिप्त रहता है; केवल स्वभाव-वश ही वह उन कार्यों को करता है। इनमें उसे न तो कोई विशेषता मालूम होती है, न कोई अभिमान ही होता है। छोटे-से-छोटा काम हो तब भी वह सहज स्वभाव से करता है और महान्-से-महान् हो तब भी वह उसी सरलता व सहजता से कर डालता है और उसके चित्त में विशेषता, अभिमान, उपकार जैसा कोई भाव उदय नहीं होता। क्योंकि उसने असंग या अनासक्त की भावना से अपनी बुद्धि को पैना बना लिया है—मोह, असक्ति से बुद्धि में जो कई प्रकार के विकार, मर्यादाएं, क्षुद्रता व संकोच आ जाते हैं, उन्हें मिटाकर बुद्धि को शुद्ध व प्रखर बना लिया है और उससे अपने मन की समस्त शंकाओं, संशयों को काट डाला है, जिससे स्वप्न से

जगे पुरुष की तरह वह नानात्व-रूपी भ्रम से निवृत्त हो गया है। सांख्य-मतानुसार ज्ञान का अर्थ है अपनी कैवल्य दशा को समझ लेना, व वेदान्त मतानुसार ज्ञान का फल है नानात्व या भेद-बुद्धि का मिट जाना। दोनों स्थितियों का अन्तिम फल एक ही होता है। जो अपनी कैवल्य दशा को समझ लेता है, वह भी अपनेको कर्ता न मानकर कर्म-फलों से नहीं बंधता व जो भेद-बुद्धि को मिटा देता है व त्रिगुणातीत हो जाने के कारण कर्म-फलों की पहुंच के बाहर हो जाता है। दोनों का अन्तिम परिणाम एक ही है—फलों के बंधन से मुक्ति। सांख्यवादी प्रकृति के मत्थे कर्म-प्रवृत्ति का दोष मढ़कर अपनेको बचाता है, तहां वेदान्ती सबको अपने उदर में समाकर डकार ले लेता है।

"जिसके प्राण, इन्द्रिय, मन और बुद्धि की समस्त चेष्टाएं संकल्पशून्य होती हैं, वह देह में स्थित रहकर भी उसके गुणों से मुक्त है।" ॥१४॥

आत्मदर्शी ऋषियों का कथन है कि स्वरूपभूत इस आत्मा की रचना ज्ञानमात्र है। आत्मा ज्ञानरूप होने के कारण संकल्पों का जनक है, सत्यरूप होने के कारण इसके संकल्प सत्य ही होते हैं। इस तरह आत्मा सत्यकाम व सत्यसंकल्प है। प्राणियों को जो अपनी सत्य-कामता और सत्य-संकल्पता का अनुभव नहीं होता, उसका कारण है उनके चित्त की अशुद्धि, चंचलता और अव्यवस्थितता। परन्तु चित्त की शुद्धि के साथ ही वह इन्हें पहचानने लगता है और यह भी समझने लगता है कि अपनी जो कुछ स्थिति है, वह अपनी कामना और संकल्प का ही परिणाम है। परमात्मा ऐसे अनेक प्रकार के काम व संकल्प का आधार-भूत है। संकल्पों के गुण व शक्ति विविध प्रकार की हैं और वे परस्पर-विरोधी भी हैं। ऐसे अनन्त संकल्पों के परिणाम-स्वरूप यह अनन्त प्रकार की सृष्टि उत्पन्न और नष्ट होती है। ये संकल्प क्या हैं—ईश्वर-रूपी चैतन्य-सागर में उठनेवाली हलकी-भारी अनुकूल-प्रतिकूल परस्पर-विरोधी लहरें हैं।

काम, संकल्प, वासना, इच्छा—ये सब शब्द थोड़े-थोड़े छाया-भेद से एकार्थी ही हैं। कोई भी साधारण चाह काम या कामना कहलाती है। जननेन्द्रिय को तृप्त करने की इच्छा को भी काम कहते हैं, पर यह रूढ़ार्थ है। काम में जब निश्चय व योजना का मेल होने लगता है तो वह संकल्प हो जाता है। जब काम विषय-विशेष से संलग्न हो जाता है, आसक्त होने लगता है, तब वह वासना कहलाने लगता है। इच्छा व काम को समानार्थी समझना चाहिए।

संकल्प से कर्म की उत्पत्ति होती है। संकल्प से ही कर्म की योजना बनती है। कर्म को पूरा हुआ देखने की आकांक्षा भी संकल्प ही है। अतः कर्म के अथ से इति तक संकल्प का ही पसारा है। मनुष्य जबतक इस संकल्प से मुक्त नहीं होता तबतक वह कर्म-जाल से नहीं छूट सकता। कर्म-जाल से जबतक नहीं छूटेगा तबतक फल-भोगरूपी बंधन भी टूटने का नहीं। अतः इसका उपाय खोजना चाहिए। संकल्पों का निवास-स्थान मनुष्य का चित्त है। यह चित्त ही उसका शत्रु या मित्र हो जाता है। यह चित्त यदि हमारा मित्र है तो वह हमें बुद्धि की स्थिरता, समता तथा आत्मनिष्ठा जैसा लाभ करा सकता है, और यदि शत्रु है तो जाने कहां-कहां के खाई-खन्दक में गिराकर नष्ट कर सकता है। यही मनुष्य का तारक या मारक है। अतः चित्त के अनुशीलन से ही संकल्प-त्याग की संभावना हो सकती है। परमात्मा की भक्ति, ज्ञान, सत्संग, ध्यान-धारणादि, जप-तपादि सब चित्त को वश में करने के ही साधन हैं। मनुष्य अपनी रुचि के अनुसार इनमें से किसी एक को चुन ले।

इस प्रकार जिसने अपने मन, प्राण, इन्द्रियां सबकी क्रियाओं में अपने चित्त को संकल्प-शून्य कर लिया है, अर्थात् वह जो कुछ करता है स्वभाववश, स्वभावतः, कर्त्तव्य-बुद्धि से, सहजभाव से करता है, संकल्प की प्रेरणा से, चाह करके या खसूसन नहीं। ऐसा पुरुष देहस्थ होते हुए भी, देह से सब प्रकार के कर्म-व्यापार करते हुए भी, प्रकृति के—तीनों गुणों के, या कर्म-फल प्रभावों से परे हो जाता है।

"जिसके शरीर को चाहे हिंसक लोग पीड़ा पहुंचावें और चाहे कभी कोई दैवयोग से पूजनादि करने लगे, फिर भी वह विद्वान् किसी प्रकार विकृत नहीं होता।" ॥१५॥

संसार में चार प्रकार के लोग होते हैं—एक वे जो बेमतलब लोगों को पीड़ा पहुंचाते हैं। इसीमें उन्हें मज़ा आता है। दूसरे वे जो पीड़ा पहुंचाने पर बदले में पीड़ा पहुंचाते हैं। तीसरे वे जो न पीड़ा पहुंचाते हैं, न पहुंचने देते हैं। चौथे वे जो पीड़ा पहुंचाने के बदले में उलटा सुख पहुंचाते हैं। पहले को हम दुष्ट, दूसरे को सामान्य, तीसरे को सावध और चौथे को साधु कहेंगे। इसी तरह एक तरह के लोग वे होते हैं, जो आदर व पूजा पाने के लिए उत्सुक रहते हैं, खुद योग्य न होने पर भी उसकेलिए मरते हैं, चलाकर ऐसे आयोजन करते हैं कि उनका मान हो, दूसरे वे जो मिल जाय, तो प्रसन्नता से ले लेते हैं, तीसरे वे जो आग्रह करने पर भी उससे बचते हैं और चौथे वे जिनके लिए आदर-अनादर सब समान है। पहले को हम

स्वार्थी, दूसरे को सभ्य, तीसरे को साधक और चौथे को सिद्ध कहेंगे। इनमें ज्ञानी या विद्वान् वह है जो जान-बूझकर भी पीड़ा पहुंचाने पर या दैवयोग से पीड़ा हो जाने पर उससे विचलित नहीं होता। मन में क्रोध या दुःख नहीं लाता, प्रारब्ध का भोग समझकर शान्त रहता है, या इसी प्रकार कोई दैवयोग से या योजना करके पूजा करे तो भी उसके हर्ष से अपनेको बचा लेता है। दोनों अवस्थाओं में वह मन में किसी प्रकार का विकार नहीं पैदा होने देता।

"गुण-दोष से रहित समदर्शी मुनि को उचित है कि किसीके भला या बुरा कर्म करने अथवा वाणी से भला या बुरा बोलने पर न तो स्तुति ही करे न निन्दा ही।" ॥१६॥

जिस व्यक्ति ने अपनेको गुण-दोष-दृष्टि से ऊपर उठा लिया है, अर्थात् जो गुणों को देखकर गुणी पर रीझता नहीं व दोषों को देखकर दोषी से घृणा नहीं करता, वह किसीके अच्छा काम करने पर न उस व्यक्ति की स्तुति करेगा, न बुरा काम करने पर उसकी निन्दा ही। अथवा यदि कोई ज़बान से भी बुरा-भला कहे तो भी उसकी स्तुति या निन्दा न करेगा। इसका अर्थ यह नहीं है कि उसकी बुद्धि में अच्छे-बुरे कर्म या अच्छी-बुरी वाणी को पहचानने की शक्ति नहीं रहेगी। बल्कि यह कि वह गुण या दोष के कारण ही किसीकी निन्दा या स्तुति नहीं करेगा, अपनी समता नहीं खो देगा। वह उन्हें अच्छाई-बुराई का भेद समझाकर बुराई से हटायेगा; परन्तु दूसरों के सामने उसकी निन्दा-स्तुति नहीं करेगा।

"मुनि को चाहिए कि किसी प्रकार का भला या बुरा कर्म न करे, न कुछ भला या बुरा कहे और न चित्त में ही विचारे। ऐसी वृत्ति का अवलम्बन कर केवल आत्मा में ही रमण करता हुआ जड़ के समान विचरे।" ॥१७॥

वह न भला कर्म करे न बुरा और न कुछ भला-बुरा कहे ही, न चित्त में ही लावे। ऐसी तटस्थ वृत्ति का अवलम्बन कर, व अपने आप-में ही—अपनी आत्मा में ही—रमण करता हुआ, मग्न रहता हुआ, इस तरह निर्द्वन्द्व रहे कि वह जो कुछ भी करेगा, या जो कुछ बोलेगा, या जो कुछ चित्त में लावेगा वह इस भावना से नहीं कि यह अच्छा है या बुरा, बल्कि इसलिए कि उसका स्वभाव हो गया है। गुण व दोष-बुद्धि से किसी काम को करना या न करना एक बात है। इसमें एकत्व भावना का अभाव है। लेकिन स्वभाव ही ऐसा बन जाना चाहिए कि अपने-आप ही अच्छे कर्मों में प्रवृत्ति और बुरे कर्मों से निवृत्ति होती रहे, निरन्तर सात्विक

विचार व सात्विक आचार का अभ्यास करते रहने से फिर स्वभाव ही ऐसा बन जाता है कि गुण-दोष का विचार ही नहीं करना पड़ता, अपने-आप उचित व्यवहार होता चला जाता है, जैसे पशु-पक्षी कई बातें स्वभाव से, जन्मजात प्रेरणा से, करते हैं वैसे ही। इसका यह अर्थ नहीं कि वह बुरे को अच्छा और अच्छे को बुरा समझने लग जायगा—बुरे-भले की पहचान ठीक-से नहीं रहेगी; बल्कि यह कि उसे इस प्रकार विचार करने की ज़रूरत ही नहीं रह जायगी, वह स्वभावानुसार व्यवहार करेगा और दूसरों को ऐसा मालूम होगा मानो कोई जड़ पुरुष हो।

"जो पुरुष शब्द-ब्रह्म (वेद) का पारङ्गत होकर भी परब्रह्म में परिनिष्ठित नहीं हुआ (अर्थात् समाधि आदि के द्वारा जिसने परमात्मा का अपरोक्ष साक्षात्कार नहीं किया) उसे दुग्धहीना गौ को पालनेवाले के समान अपने श्रम के फल में केवल परिश्रम ही हाथ लगता है।"॥१८॥

शब्द-ब्रह्म वेद या ज्ञान या शास्त्र-ज्ञान को कहते हैं। जो व्यक्ति वेदों का तो पण्डित हो, शास्त्रों में पारङ्गत हो, परन्तु यदि उसकी निष्ठा ब्रह्म में नहीं हो गई हो, उसका स्वभाव ब्रह्ममय नहीं हो गया हो, तो उसका श्रम व्यर्थ है। कोरे पाण्डित्य से कुछ आना-जाना नहीं, असल बात है वृत्ति को तदनुकूल बनाना। यों किसी कोरमकोर व्यक्ति की अपेक्षा तो यह शब्द-ज्ञानी फिर भी अच्छा है; क्योंकि उसकी बुद्धि पर ज्ञान के कुछ संस्कार तो पड़े हैं, उसकी वृत्ति के बदलने में उससे सहायता ही मिलेगी। परन्तु जो मनुष्य इतने पर ही सन्तोष मान लेता है, उसका परिश्रम दूध न देनेवाली गाय को रखने जैसा व्यर्थ होगा।

"न दूध देनेवाली गाय, बदचलन स्त्री, कुसंतति, पराधीन शरीर, अधर्म से कमाया या संचित किया हुआ धन तथा वाणी जो मेरे गुण-गान से—धर्म या कर्त्तव्य-रूप विषयों से शून्य हो, इनका संग्रह वही मनुष्य करता है, जिसकी तकदीर में दुःख-ही-दुःख लिखा हो।"॥१९॥

जो लोग धार्मिक परम्परा में विश्वास रखते हैं, उनका ध्यान यहां 'परतंत्र देह' पर दिलाना ज़रूरी है। ईश्वर-भक्ति का अर्थ गुलामी व गुलामी के ज़ुल्मों या परिणामों को चुपचाप बर्दाश्त कर लेना नहीं है। बल्कि उसका सच्चा अर्थ तो है कि उसका सिर अब ईश्वर के अलावा किसीके सामने नहीं झुकेगा। उसने भगवान् की गुलामी स्वीकार कर ली, अब वह किसी दूसरे का गुलाम न रहा। जो भगवान्

की गुलामी नहीं करता उसे या तो किसी दूसरे व्यक्ति की या अपनी इन्द्रियों की गुलामी स्वीकार करनी पड़ेगी। जो ईश्वर-भक्त है, वह पूर्ण, स्वतंत्र, निर्भय, निःशंक हो गया। उसे न राज-भय सता सकता है, न चोर-भय, न मृत्यु-भय। गुलामी मनोवृत्ति सब भयों की जड़ है। ईश्वर की शरण जाने का अर्थ ही यह है कि अब उसे और किसीके शरण जाने की या और किसीकी धौंस सहने की ज़रूरत नहीं रही।

"वह वाणी फिजूल है, निष्फल है, जिसमें मेरे पवित्र गुण-कर्मों का वर्णन न हो।" ॥२०॥

जो हमारा इष्ट या आराध्य है उसीके सिलसिले में यदि हमारी वाणी का उपयोग न हो तो वह व्यर्थ है। भगवान् के जन्म व कर्म क्या हैं ? यह सृष्टि, इसकी उत्पत्ति, भगवान् का जन्म है, इसकी स्थिति, गति व लय भगवान् के कर्म हैं। इन सबका रहस्य जानना व उसका वर्णन करना वाणी का कार्य होना चाहिए। इसी तरह भगवान् के अवतार भी उनके जन्म व अवतारों के विविध कार्य उनके कर्म हैं। जो वाणी इस तरह के ज्ञान-प्रचार में काम न आती हो, विज्ञ या धीर पुरुष उसे नहीं अपनाया करते।

"इस प्रकार आत्मजिज्ञासा से अपने में भेद-भ्रम का उच्छेद करके अपने निर्मल चित्त को मुझ सर्वव्यापी परमात्मा में अर्पण करके उपरत हो जाय।" ॥२१॥

इस प्रकार आत्मजिज्ञासा के द्वारा मेरे सब रहस्य को जान ले, जिससे उसका भेद-भ्रम मिट जाय। संसार के नानात्व में जो उसकी भावना है, वह मिटकर एकत्व भावना का संचार हो जाय। इस भेद-भाव के निकल जाने से उसका चित्त स्वच्छ, निर्मल, हलका हो जायगा। 'मैं-तू' के भेद से चित्त में जो नाना विकार उत्पन्न होते थे, अब वे शान्त होने लगे। अब 'तू' कहीं नहीं रहा, सब जगह 'मैं' ही 'मैं' हो गया। या 'मैं' कहीं न रहा, सब जगह 'तू-ही-तू' हो गया। या न मैं रहा, न तू, सब जगह नारायण-भाव हो गया। जब चित्त की ऐसी वृत्ति होने लगे तो सबकुछ मुझ सर्वव्यापी परमात्मा में अर्पण करके श्रेयार्थी सांसारिक विषय-भोगों से उपरत हो जाता है। उनमें उसका मन ही नहीं लग सकता। केवल जीवन-निर्वाह या कर्त्तव्य-पालन भर के लिए वह उन्हें ग्रहण करता है। उनमें फंस नहीं जाता। जैसे कोई समुद्र पर तैरता रहता है उसकी लहरों में डूब नहीं जाता, उसी तरह।

"यदि तुम मन को परमात्मा में निश्छलतापूर्वक स्थिर करने में असमर्थ हो

तो निरपेक्ष होकर संपूर्ण कर्म भली-भांति मेरे ही लिए करो।" ॥२२॥

परन्तु यदि इस तरह मन को परब्रह्म में लगाना तुम्हारे बस का न हो, ब्रह्म-भाव से सब काम व व्यवहार करना तुम्हारे लिए शक्य न हो तो मैं एक और सरल तरकीब बताता हूं। जो कुछ करो उसमें फल की अभिलाषा या आसक्ति छोड़ दो। यह समझकर कर्म करो कि मुझे किसी प्रकार का फल नहीं चाहिए, मैं तो ईश्वर के निमित्त सब करता हूं। ईश्वर जैसा भला-बुरा फल भेज देगा, उसको ईश्वर का प्रसाद समझकर ग्रहण कर लूंगा। भगवान् के प्रसाद में जैसे स्वाद नहीं देखा जाता, वैसे ही मैं इसके फलों के कड़वे या मीठेपन सुख या दुःख रूप पर ध्यान न दूंगा। ऐसी वृत्ति बना लोगे तो भी तुम उसी स्थिति को पहुंच जाओगे जिसपर ब्रह्मभावी पहुंचता है। ब्रह्म-भाव में स्थित रहना उसके आगे की एक सीढ़ी मात्र है।[1]

"हे उद्धव, लोकों को पवित्र करनेवाली मेरी अति कल्याण-कारिणी कथा को सुनने से, मेरे दिव्य जन्म और कर्मों का ज्ञान, स्मरण और बारम्बार अभिनय करने से तथा मेरे आश्रित रहकर अर्थ, धर्म और कामरूप त्रिवर्ग का मेरे लिए ही आचरण करने से श्रद्धालु पुरुष मुझ सनातन परमात्मा में

[1] रामकृष्ण परमहंस कहते हैं—"लोग समझते हैं कि हमने ब्रह्म को जान लिया; परन्तु वे यह नहीं जानते कि ब्रह्म मन, वाणी का विषय नहीं। वह अगो-चर है, अनिर्वचनीय है। समाधि-अवस्था में ही उसका अनुभव होता है जबकि मन-बुद्धि शान्त हो जाते हैं। ब्रह्म का यथार्थ वर्णन शब्दों से नहीं किया जा सकता। नमक की पुतली समुद्र की थाह लेने जल में घुसी और अंदर जाकर जल ही में घुल-मिल गई एवं अभिन्न हो गई। अब थाह कौन ले?

"शंकराचार्य ने मनुष्यों को शिक्षा देने के लिए थोड़ा-सा शुद्ध सात्विक अहं-कार रख छोड़ा था, इसी कारण वह उपदेश दे सके। ब्रह्म-साक्षात्कार के बाद मनुष्य मौन रहता है; क्योंकि बुद्धि का कार्य तभी तक रहता है जबतक साक्षा-त्कार नहीं हुआ। ब्रह्मवित् समस्त जगत् को ब्रह्म के ही रूपान्तर के रूप में देखता है। सब धर्म-मार्ग सत्य हैं, भगवान् ने पृथक्-पृथक् मनुष्यों को न्यूनाधिक शक्ति दी है। चींटी से ब्रह्मापर्यंत सबमें ईश्वर विराजमान है। परन्तु किसीमें उसका विकास थोड़ा है, किसीमें ज्यादा।"

निश्चल भक्ति प्राप्त कर लेता है।" ॥२३-२४॥

इस तरह जो पुरुष श्रद्धा से मेरा गुणगान करता है, मेरी कथाओं को सुनता है, मेरे दिव्य जन्म-कर्म का बार-बार स्मरण व अभिनय करता है और संसार में जो कुछ अर्थ, धर्म, काम-रूप त्रिवर्ग है, उसका आचरण मेरे ही लिए, मेरे ही आश्रित होकर करता है वह अवश्य मुझ सनातन परमात्मा में निश्चल भक्ति[1] प्राप्त करता है।

संसार में मनुष्य जितने कार्य करता है उनके तीन हेतु हो सकते हैं—या तो द्रव्य-प्राप्ति के लिए, या धर्म-सिद्धि के लिए, या अपनी वासनाओं की पूर्ति के लिए, सुखोपभोग के लिए। इनमें सूक्ष्म विचार किया जाय तो ऐसा मालूम होता है कि मनुष्य की मूल व सबसे प्रबल इच्छा सुखभोग की ही है—अर्थात् काम की ही है। काम का संकुचित अर्थ भी है—जननेन्द्रिय की तृप्ति। सन्तानोत्पादन इसका फल व गृह-सुखों की आशा इसमें प्रोत्साहक कारण मिल जाने से यह कामेच्छा अन्य सुख-इच्छाओं से कई गुना अधिक प्रबल रहती है और मनुष्य को बेक़ाबू कर देती है। परन्तु मनुष्य आमतौर पर नाना प्रकार की सुख-साधनाओं के ही पीछे पड़ा

---

[1] **भक्ति**—परमहंसदेव कहते हैं—"समाधि के बाद भी योगी को भक्ति की जरूरत है। अहंभाव समाधि-अवस्था में तो लीन हो जाता है, परन्तु पीछे वह फिर आ घेरता है। परमेश्वर को कोई अपनी विद्या या बुद्धि-बल से नहीं पा सकता। षड्दर्शनों की भी वहांतक पहुंच नहीं। इसके लिए तो श्रद्धा व भक्ति चाहिए। यदि किसीके हृदय में भक्ति व प्रेम है तो उसे नैवेद्य पूजन आदि उपचारों की जरूरत नहीं।"

"यदि मन पवित्र न हुआ और भगवान् के पादपद्मों में श्रद्धा-भक्ति उत्पन्न न हुई तो पढ़ना-सुनना सब व्यर्थ है। भक्ति तीन तरह की है—सात्विक, राजस, तामस। सात्विक भक्त अपनी साधना का प्रदर्शन नहीं करता। यह आत्मानुभव के बहुत निकट है। राजस में प्रदर्शन व आडम्बर होता है। तामस बड़े जोर से 'जय काली' चिल्लाते हैं। उन्हें एक तरह का डाकू ही समझो।"

सन्त विनोबा का कहना है कि भक्ति की आर्द्रता के बिना ज्ञान सूखे चूने की तरह है।

"यदि सुई के छिद्र में धागा पहनाना चाहते हो तो उसे पतला करो। मन को ईश्वर में पिरोना चाहते हो तो दीन-हीन अकिंचन बनो।"

रहता है। यह सुख बिना साधनों के, उपकरणों के भोग-सामग्री के नहीं मिल सकता। अतः इसकी सिद्धि के लिए अर्थ का जन्म हुआ। अर्थ का संकुचित अर्थ है धन, द्रव्य—व्यापक अर्थ है सुख-साधन-सामग्री। जब मनुष्य अपनी कामनाओं की सिद्धि के लिए—सुख-प्राप्ति के लिए साधन जुटाने लगता है तब अनुकूल या प्रतिकूल, अच्छे या बुरे साधन की छंटनी करनी पड़ती है। अनुकूल-प्रतिकूल का विचार अपने उद्देश की सिद्धि की दृष्टि से व अच्छे-बुरे का विचार उसके स्थायी रहने की इच्छा से। वही वस्तु स्थायी रह सकती है जिसका दूसरे लोग भी स्वागत करें, पसन्द करें। वे तभी पसन्द या अनुमोदन करेंगे जब उनके सुख-स्वार्थ में वह बाधक न होती हो। अतः जो अपने सुख की साधक व दूसरे के सुख की विघातक न हो वह बात अच्छी व इसके विपरीत बात बुरी समझी जाने लगी। यही नीतिशास्त्र या धर्म की बुनियाद है। इस प्रकार काम से अर्थ व अर्थ से धर्म अपने-आप उत्पन्न हो गया। परन्तु कई लोगों को स्वतन्त्र-रूप से भी काम के बजाय अर्थ या धर्म अधिक प्रिय होने लगता है। यह उनकी उन्नति या विकास का लक्षण है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि किसी भी उद्देश से मनुष्य कार्य करे वह यदि मेरे नाम पर, मेरे लिए, अर्थात् सदुद्देश से, ऊंचे लक्ष्य व पवित्र भाव से, करता है तो वही आरम्भ में मेरी भक्ति और अन्त में मेरी स्थिति को पा जाता है।

"सत्संग द्वारा प्राप्त की हुई मेरी भक्ति से वह मेरा उपासक हो जाता है। और वह सत्पुरुषों द्वारा दिखलाये हुए मेरे परमपद को सुगमता से प्राप्त कर लेता है।" ॥२५॥

मेरी ऐसी भक्ति सत्संग से प्राप्त होती है। जिसके शुभ संस्कारों का उदय होने लगता है उसे सत्संग की इच्छा होती है। ऐसी प्रेरणा को भक्तजन 'ईश्वर-कृपा' कहते हैं। क्योंकि जब उसे ऐसी इच्छा नहीं होती थी उस स्थिति से वह अपनी तुलना करता है तो सत्संगति के लाभ व सुख की इस अवस्था को वह एक वरदान ही समझने लगता है। इधर सत्संगति से उसमें नम्रता आने लगती है। जब मनुष्य अपने ही गुणों व विशेषताओं पर ध्यान रखता है तब अहंकार-प्रवृत्ति होती है। जब दूसरे के गुणों की कद्र करने लगता है तो नम्रता-प्रवृत्ति होती है। सत्संग से स्वार्थ-भाव, भोग-कामना, कम होने लगती है तो दूसरों के सुख-दुःख के प्रति दृष्टि जाती है व उनसे समभाव, होने लगता है। इसीसे उनके गुणों व विशेषताओं के लिए मन में आदर उत्पन्न हो जाता है। यह नम्रता उसे इस सु-स्थिति

का कारण अपने में नहीं खोजने देती व ईश्वर की कृपा पर आरोपित करती है।

जब सत्संगति की इच्छा उदय होती है तो सत्पुरुष भी अपने-आप आने व दीखने लगते हैं। वास्तव में सत्पुरुष तो हमारे आस-पास ही बहुतेरे रहते हैं। पर अबतक हमारी दृष्टि उनतक नहीं जाती थी; क्योंकि वैसी इच्छा ही नहीं उत्पन्न हुई थी। अब छोटा बच्चा, घर का पशु व नौकर भी सत्पुरुष गुरु जैसा मालूम होने लगता है; क्योंकि तब हमारी दृष्टि दोष देखने की तरफ या गुणों की उपेक्षा की ओर थी और अब विपरीत हालत हो गई। एक दफा गांधारी ने कृष्ण से शिकायत की कि कृष्ण तुम तो समदर्शी हो, तुम्हारे लिए दुर्योधन व युधिष्ठिर दोनों समान हैं; फिर क्या कारण है कि तुम दुर्योधन की निन्दा और धर्मराज की स्तुति करते रहते हो ? कृष्ण ने कहा कि इसका रहस्य किसी दिन समझाऊंगा। एक दिन राजसूय-यज्ञ में उन्होंने दुर्योधन को बुलाकर कहा कि इन भोजन करनेवाले ब्राह्मणों में जो सर्वश्रेष्ठ हो उसे ये सौ मुद्रा दक्षिणा दे आओ। उसने दक्षिणा लौटा कर कहा—मुझे तो इनमें कोई भी अच्छा ब्राह्मण नहीं दिखाई दिया व सबके अवगुण व त्रुटियां बताने लगा। तब उन्होंने युधिष्ठिर को मुद्रा की थैली सौंपकर वैसा ही आदेश दिया, उसने भी थैली लौटा दी। मगर कहा—मुझे तो सब एक-से-एक बढ़कर अच्छे मालूम होते हैं, मैं किसे सर्वश्रेष्ठ समझूं ? कृष्ण ने गान्धारी की ओर देखकर कहा—अब तुमने समझा, मैं क्यों युधिष्ठिर की प्रशंसा व दुर्योधन की निन्दा करता हूं। दोष-दृष्टि होने के कारण दुर्योधन को सबमें दोष दिखाई दिये व गुणग्राहक होने के कारण युधिष्ठिर को सबमें गुण-ही-गुण दीखे।

अतः जब सत्पुरुषों की ओर दृष्टि गई तो वही दीखने लगे व उनका सत्संग भी होने लगा, जिससे सत्पथ में प्रवृत्ति होने लगी। उससे मेरे प्रति भक्ति और बढ़ी। अब मेरी उपासना होने लगी, मेरे गुणों का ध्यान व उनकी प्राप्ति की भावना होने लगी। सत्संगति से उसे मेरे परमपद का यथार्थ ज्ञान होने लगता है और सत्पुरुषों की सहायता से वह उसे सुगमता से पा भी लेता है।

"उद्धवजी बोले—हे उत्तम कीर्त्तिशाली प्रभो! आपकी सम्मति में साधु किसको कहना चाहिए ? और साधुजन जिसका आदर करते हैं, ऐसी आपके प्रति किस प्रकार की भक्ति उपयोग में लाई जाय ? हे पुरुषाध्यक्ष ! हे लोकेश्वर ! हे जगत्पते ! मुझ विनीत, अनुरक्त और शरणागत भक्त से यह सब वर्णन कीजिये हे प्रभो, आप परब्रह्म, चिदाकाश-स्वरूप तथा प्रकृति से परे पुरुष-

रूप हैं। हे भगवन्, आप अपनी इच्छा से ही यह पृथक् शरीर धारण कर अवतीर्ण हुए हैं।" ॥२६-२७-२८॥

सत्पुरुष व सत्संगति की महिमा सुनकर उद्धव ने पूछा—प्रभो, साधु को कैसे पहचाना जाय? आपकी उस भक्ति का स्वरूप क्या है? जिसका साधुजन इतना आदर करते हैं। आप मेरी इस जिज्ञासा को तृप्त कीजिये। क्योंकि मैं एकमात्र आपकी ही शरणागत हूं। फिर आपपर इसकी जिम्मेदारी भी है। क्योंकि आपने अपनी इच्छा से ही सद्धर्म की स्थापना के लिए मनुष्य-रूप में यह अवतार लिया है। अतएव अपने भक्तों को समुचित ज्ञान देना, उनकी कठिनाइयों को हल करके उन्हें आगे बढ़ने का प्रोत्साहन देना आपका कर्त्तव्य ही है। वैसे तो आप परब्रह्म और चिदाकाश-स्वरूप हैं। आपका यह मानवी-रूप असली नहीं है। आप तो प्रकृति से परे पुरुष-रूप हैं। चैतन्यमात्र आपकी सत्ता है। इस आकाश को यदि चैतन्य से लबालब भरा हुआ कल्पित करें तो आपकी सत्ता का अनुमान हो सकता है। परन्तु मनुष्यों और प्राणियों के हित के लिए ही आपने उस स्वतन्त्र चैतन्य-रूप या स्थिति को छोड़कर यह मानव-रूप धारण किया है।

"श्री भगवान् बोले—हे उद्धव! जो समस्त देहधारियों पर कृपा करता है, किसीसे वैर-भाव नहीं रखता, तथा क्षमाशील (प्रतिहिंसा से शून्य) है, सत्यशील, शुद्धचित्त, समदर्शी और सबका हितकारी है, जिसकी बुद्धि कामनाओं से मारी नहीं गई है, जो संयमी, मृदुल-स्वभाव, सदाचारी और अकिंचन है, जो निःस्पृह, मिताहारी, शान्तचित्त स्थिर-बुद्धि, मेरा शरणागत, आत्मतत्व का मनन करने-वाला, प्रमादरहित गम्भीर स्वभाववाला और धैर्यवान् है, जो देह के छः धर्मों (क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह जन्म और मरण) को जीत चुका है, स्वयं मान की इच्छा नहीं करता तथापि औरों का मान करनेवाला है तथा समर्थ, मिलनसार, करुणामय और सम्यक् ज्ञानयुक्त है (मेरी सम्मति में इन अट्ठाईस लक्षणोंवाला पुरुष ही श्रेष्ठ साधु है।)" ॥२९-३१॥

ऊधो, यों तो साधु या सत्पुरुषों के लक्षणों का अन्त नहीं है, क्योंकि ज्यों-ज्यों वह साधु होता जाता है त्यों-त्यों वह मेरे स्वरूप को ही प्राप्त होता जाता है। अतः जो गुण-धर्म मेरे हैं वे ही उसके होते जाते हैं। परन्तु साधारण पहचान के लिए अट्ठाईस लक्षण तुम्हें बताता हूं, सो सुनो।

पहली बात तो यह कि वह समस्त देहधारियों के प्रति कृपालु रहता है।

किसीकी बुराई निगाह में आई तो भी मिठास, कृपा व स्नेह से वह उसे दूर करने की प्रेरणा व उपाय करता है। कटु वचन कहकर वह उसका तिरस्कार नहीं करता। अच्छे व बुरे सभी लोग उसके नजदीक आश्वस्त रहते हैं, उसकी कृपा का उन्हें सदैव भरोसा रहता है। माता, पिता या गुरु से जैसे पुत्र या शिष्य सदैव मृदुलता, कृपा, वात्सल्य की आशा रखते हैं, वैसे ही सत्पुरुष की स्थिति समझो।

उसे किसीसे वैर-भाव नहीं रहता, क्योंकि वह किसीसे कुछ चाह नहीं रखता। उसने अपनी आवश्यकताएं इतनी कम रखी हैं कि जिससे उसे किसीसे शत्रुता करने की जरूरत नहीं रहती। जब मनुष्य अपनी आवश्यकता अनाप-शनाप बढ़ा लेता है और उनकी पूर्ति के लिए दूसरों की सुख-सुविधा का ध्यान नहीं रखता तो अपने-आप दूसरों से शत्रुता हो जाती है। संसार में ऐसे बहुत कम लोग हैं, जो अकारण किसीसे शत्रुता रखते हों। हां, अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए लोग अलबत्ता दूसरों को कष्ट में डाल देते हैं, परन्तु साधु पुरुष ऐसों से भी वैर-भाव नहीं रखता। उनकी उचित मांग की पूर्ति में वह कभी बाधा नहीं डालता, भरसक उसमें सहायक ही होता है। और अनुचित मांग में वह शरीक या सहायक नहीं होता। उसे प्रेम से समझाकर उससे परावृत्त करने का यत्न करता है। ऐसों के प्रति तो उल्टा शत्रु भी वैर-भाव भूलने लगता है।

फिर वे क्षमा-शील होते हैं। किसीने उन्हें नुकसान पहुंचाया या कुछ बिगाड़ कर दिया तो बदले में वे उसका अहित नहीं चाहते। व्यक्तिगत अपराधों को वे सदैव क्षमा कर देते हैं। हां, यदि सामाजिक या नैतिक दोष किसीने किया हो तो अलबत्ते वे उसकी उपेक्षा नहीं करते, परन्तु उनके सुधार का उपाय दण्ड नहीं प्रायश्चित्त होता है। या तो वे उसे समझाकर उसीसे प्रायश्चित्त कराते हैं या स्वत: अपनेको दण्ड देकर उसकी आंख खोलने का प्रयत्न करते हैं। मगर उसे सताने की कल्पना तक उन्हें छू नहीं जाती। जब अपराध को मन से भी भुला दिया जाता है तब वह क्षमा कहलाती है। ऊपर से क्षमा कर दी व मन में गांठ बांधकर रखी तो उससे न अपनेको शान्ति मिलती है न दूसरे को सुधार की प्रेरणा। हमारी आन्तरिक गांठ कहीं-न-कहीं अन्तराय पैदा करती रहती है।[1]

---

[1] इसके सम्बन्ध में ज्ञानदेव की व्याख्या इस प्रकार है—"अलंकार जिस भावना से शरीर पर पहने जाते हैं, वैसे ही जो सबकुछ सहता है, आध्यात्मिक,

वे सत्यशील होते हैं। सत्य ही सोचने, सत्य ही बोलने व सत्य ही करने का आग्रह रखते हैं। ऐसी सत्य-शीलता की ओर मनुष्य तभी अग्रसर हो सकता है जब पहले वह अपने चित्त से पक्षपात को हटाने का उपाय करे, पक्षपात से अन्याय व अन्याय से सत्य का घात होता है। पक्षपात दो कारणों से होता है। एक तो हमारी स्वार्थ-भावना से, दूसरे, दूसरों के प्रति राग या आसक्ति होने से। उसका यह विश्वास रहता है कि सत्य[1] के अवलम्बन से सदैव उभय पक्ष का कल्याण होता है। हो सकता है कि सत्य कभी-कभी किसीको कड़वा या बुरा लगे। परन्तु इसके लिए सत्य कहते या करते हुए हिचकने की जरूरत नहीं है। आप अपने प्रेम व सद्भाव की मिठास जिसे अहिंसा कहते हैं, उसे इसमें इस तरह जोड़ दीजिये कि जिससे वह कटु या तीव्र न लगे। जैसे कुशल वैद्य रोगी को मिठास मिलाकर कड़वी दवा पिलाते हैं।

हमने जो कुछ किया या सोचा, वह सच ही है, इसकी क्या पहचान? आप अपने मन को निष्पक्ष और निष्पृह बनाकर सोचिये और जो निर्णय हो उसपर डंटे रहिये।

आधिदैविक और आधिभौतिक ताप जिनमें मुख्य हैं, ऐसे उपद्रवों के समुदाय आ पड़ने पर भी जो तनिक विचलित नहीं होता, जिस सन्तोष से इच्छित वस्तु की प्राप्ति को स्वीकार करता है उसीसे जो अनिष्ट बात का भी सम्मान करता है, जो मानव-अपमान को सहता है, जिसमें सुख-दुःख समा जाते हैं, जो निन्दा व स्तुति से द्विधा नहीं होता, जो उष्णता से नहीं तपता, शीत से नहीं कंपता, और कोई भी संकट प्राप्त हो उससे नहीं डरता; अपने सिर का भार जैसे मेरु नहीं जानता अथवा वाराह अवतारी भगवान् जैसे पृथ्वी को बोझ नहीं समझते अथवा पृथ्वी जैसे चराचर भूतों के बोझ से नहीं झुकती वैसे ही सुख-दुःखों के द्वन्द्व प्राप्त होते हुए जो श्रमी नहीं होता, नद और नदियों के समुदाय आ उपस्थित होते ही समुद्र जैसे जल के प्रवाह से अपना पेट भर लेता है वैसे ही जिसमें न तो सहने की ही वार्ता है, न जिसे यह स्मरण होता है कि मैं कुछ सहता हूं, शरीर को जो प्राप्त हो वही जो अपना कर रखता है और उसे सहकर अभिमान के वश नहीं होता—इस प्रकार जिसमें दुःख-रहित क्षमा रहती है, उससे ज्ञान की महिमा बढ़ती है।"

[1]सत्य की विशेष व्याख्या के लिए देखिये परिशिष्ट १८ अ

तबतक, जबतक कि फिर आपको किन्हीं कारणों से यह न प्रतीत हो कि हमने निर्णय करने में भूल की है। आपके लिए वही सत्य है। हो सकता है कि यह सत्य शुद्ध न हो, पूर्ण न हो। परन्तु यदि आपकी वृत्ति में सत्य है तो आप अवश्य किसी दिन शुद्ध सत्य को पा लेंगे। शुद्ध या पूर्ण सत्य तो संसार में एक ही हो सकता है, जहां सत्य-शोधकों की एकवाक्यता हो, वहां तो सत्य मान लेने में कोई बुराई ही नहीं है, जहां मतभेद हो वहां उनके अनुभव की कमी या दृष्टि-बिन्दुओं का भेद हो सकता है। उनमें अपनी बुद्धि से आपको जो ग्रहणीय मालूम हो उसे फिलहाल सत्य मानकर आगे अपनी खोज जारी रखिये।

उसका चित्त शुद्ध होता है। न उसे अपने स्वार्थ की सिद्धि करनी होती है, न भोग-वासना की ही पूर्ति, न दूसरे को हानि पहुंचाने की भावना होती है। इन सबके फल-स्वरूप उसका चित्त शुद्ध हो जाता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर ये चित्त के मल या विकार माने जाते हैं। सबका मूल 'काम' है। काम की अपूर्ति से क्रोध उत्पन्न होता है, व पूर्ति होते रहने से लोभ तथा मोह—वस्तुओं से लोभ व व्यक्तियों से मोह—अति काम-सिद्धि से मद व दूसरों की काम-सिद्धि देखकर मत्सर उत्पन्न होता है। साधु ने तो सब लौकिक सुख-भोग की कामनाएं छोड़ रखी हैं, ईश्वर या उसकी तथा उसके जगत् की सेवा से बढ़कर उसकी और कोई चाह या कामना नहीं रही है, अतः ये विकार उसके मार्ग में बाधा नहीं डाल सकते।

वह समदर्शी होता है। वह सबमें एक ही आत्मा—नारायण का निवास देखता है। अतः सबके प्रति समभाव रखता है, चाहे गाय हो या कुत्ता, या मनुष्य, या राजा, या रंक, अछूत या चण्डाल, या सांप या शेर, सदा सबका भला चाहता व करता है। जिस प्रेम से वह अपने पुत्र की सेवाशुश्रूषा करेगा उसीसे वह बीमारी या कष्ट की हालत में कुत्ते, चाण्डाल, या सांप की भी करेगा। समदर्शिता की परीक्षा सामनेवाले के दुःख-सुख-विपत्ति के समय होती है। यदि किसीपर कोई कष्ट या विपत्ति नहीं है तो आम तौर पर सभी थोड़ा-बहुत सम-भाव रखते हैं। परन्तु सच्चे समदर्शी वही हैं, जो विपत्ति के समय किसी भेद या विषमता के प्रभाव में न आकर घृणा, तुच्छता, तिरस्कार या उपेक्षा का भाव न लाकर, आत्मीय व स्वजन की तरह सेवा-सहायता करते हैं। 'सुख के साथी बहुत हैं दुःख के बिरले होंय।'

सबका हितकारी होता है। सबमें एक ही—बल्कि अपनी ही—आत्मा का अनुभव करता है; अतः सदा सबके हित में तत्पर रहता है। इसका अर्थ यह नहीं कि उसे योग्य-अयोग्य की तमीज नहीं होती, गुण-दोष का विवेक नष्ट हो जाता है; बल्कि यह कि उनके बावजूद वह सबमें एक भावना रखकर उनका हित-साधन करता है। गुण की अवस्था में हित-साधन का कोई महत्व ही नहीं है; क्योंकि गुणी के पास तो सभी दौड़-दौड़कर जाते हैं। दोष की अवस्था में ही उसका उपयोग व महत्व है। साधु दोषी या त्रुटियुक्त का तिरस्कार नहीं करता, बल्कि यह समझता है कि मेरी जरूरत यदि कहीं व किसीको है तो सबसे पहले इन्हीं पीड़ित, पतित, शोषित, अत्याचारित के यहां व इन्हींको।

उसकी बुद्धि कामनाओं-वासनाओं से भ्रष्ट नहीं है अर्थात् कामनाएं उठीं भी तो उनका वेग इतना प्रबल नहीं होता कि वह उसकी बुद्धि—विचार-शक्ति को कुण्ठित कर दे। हलकी हवा का झोंका जैसे शरीर को छूकर निकल जाता है वैसे ही वह कमना इधर उठी व उधर विलीन हो जाती है। उनसे वह किंकर्त्तव्य-विमूढ़ नहीं होता। कामना के उड़ते ही विचार-बल से भगवत्स्मरण से उसे वहीं दबा देता है व अपने अंगीकृत कार्य में लीन हो जाता है। उसका झोंका उसकी आत्मा तक नहीं पहुंचता।

वह संयमी होता है। अपने मन व इन्द्रियों को उतनी ही वही खुराक—विषय—देता है जितना उनकी सुस्थिति व उन्नति के लिए आवश्यक है, इससे अधिक नहीं। जीवन की आवश्यकताओं तक सीमित रहना संयम व भोग की, और मौज-मजा की तरफ बढ़ना असंयम की प्रवृत्ति है। शक्तियों को सब ओर से हटाकर एक ओर लगाना भी सयम कहलाता है।

उसका स्वभाव मृदुल होता है। कठोरता, परुषता उसे छू नहीं जाती। कठोर वह सिर्फ अपने प्रति होता है, दूसरों के प्रति फूल की तरह कोमल, रेशम के लच्छे की तरह मुलायम। "वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।" दूसरों के थोड़े भी दुःख से द्रवित हो जाता है, किन्तु अपने पर विपत्तियों के पहाड़ भी टूट पड़ें तो उफ नहीं करता। साधारण मनुष्यों की रीति इससे उल्टी होती है। श्री ज्ञानेश्वर के शब्दों में "जैसे कोई चमेली, खिली कली, अथवा चन्द्रमा का शीतल तेज, दिखाने के साथ ही जो रोग का निवारण करती है और जीभ को भी जो कड़वी नहीं लगती। जैसे पानी जो इतना मृदु रहता है कि कमल-दल उसमें

हिलोरते हैं तो भी वह नहीं चुभता और वैसे तो पहाड़ को भी फोड़ डालता है। वैसे ही जो सन्देह का नाश करने में लोहे के समान तीक्ष्ण होता है परन्तु श्रव्य-गुण में जो मधुरता को भी लजाता है, जिसे कुतूहल से सुनते ही कानों को वाणी-सी फूटती है और यथार्थता के बल से जो ब्रह्म का भी भेद करता है; प्रिय होने के कारण जो किसीकी प्रतारणा नहीं कर सकता और यथार्थ होता है तथापि जो किसीका मर्म-भेद नहीं करता।"

वह सदाचारी होता है। सदाचार का अर्थ है नीति व धर्म के अनुकूल आचार। जो आचार इस बात को ध्यान में रखकर किया जाता है कि उससे दूसरे को कष्ट, हानि तो न हो, व हमारी भी उन्नति, श्रेय, हितसाधन हो, उसे सदाचार कहना चाहिए। 'विष्णु पुराण' में कहा है—

"साधवः क्षीण दोषास्तु सच्छब्दः साधुवाचकः।
तेषापाचरणं यत्त सदाचारः तदुच्यते॥"

व्यक्ति व समाज के संबंधों को मधुर व उन्नतिशील बनानेवाले आचार को सदाचार समझना चाहिए। आचरण मनुष्य या तो स्वतः अपने विवेक से करता है, या संस्कारवश। इसका अर्थ यह हुआ कि सत्पुरुष के संस्कार भी ऐसे होते हैं और वह इतना विवेकशील भी होता है कि जिससे सर्वदा सदाचार की ओर ही उसकी प्रवृत्ति रहती है। साधारणतः पाप व बुराइयों से बचने को सदाचार कह सकते हैं। चोरी, हिंसा, व्यभिचार, झूठ व बलात्कार—इन्हें पाप, बुराई या अनीति कहना चाहिए। इनको बचाकर जो आचार हो, वही सदाचार है। सूक्ष्म विचार करें तो पांचों बुराइयां असत्य व हिंसा में समा जाती हैं। चोरी, व्यभिचार बिना झूठ के आश्रय के हो ही नहीं सकते। बलात्कार हिंसा का ही एक रूप है। अतः असत्य व हिंसा पापाचार, व इसके विरुद्ध सत्य व अहिंसा का पालन सदा-चार है।

सभ्य या शिष्ट आचार को भी सदाचार कह सकते हैं। किन्तु इसका संबंध बाह्याचार से विशेष है। सदाचार का संबंध भीतरी शुद्धि से भी है। ऊपरी आचार को ठीक-ठाक रख लेना दम्भ और मिथ्याचार भी हो सकता है। असल चीज भीतरी प्रवृत्ति है। बाहरी आचार तो उसका दिग्दर्शक मात्र है। दोनों में सर्वथा मेल रहे—ऐसा ही आचार होना चाहिए।

वह अकिंचन हो रहता है। अपने पास किसी प्रकार का परिग्रह नहीं

रखता। अत्यन्त आवश्यक वस्तुओं के सिवा किसी चीज का संग्रह या स्वामित्व नहीं रखता। 'मेरा या मेरे पास कुछ भी नहीं है', ऐसा जो कह सके वह अकिंचन है। मन की ऐसी वृत्ति होते हुए भी यदि लोकोपकार या सेवा के लिए वह कुछ संग्रह कर लेता है तो इससे उसकी अकिंचनता में बाधा नहीं पड़ती। जो-कुछ मेरे पास है वह सब समाज का या ईश्वर का है, ऐसी भावना अकिंचनता में रहती है; व जब-जब समाज को या ईश्वरी कार्यों को उसकी जरूरत हो तब वह उत्साह व प्रसन्नतापूर्वक उन कार्यों में लगा दी जाय तभी अकिंचनता सार्थक कही जा सकती है। दूसरे शब्दों में सत्पुरुष अपने कब्जे की वस्तुओं का ट्रस्टी—रखवाला—अपनेको समझता है, मालिक नहीं, व माता-पिता जिस प्रकार चिन्ता से बालकों की रक्षा व पोषण करते हैं, उसी प्रकार वह अभिभावक बनकर उन वस्तुओं की रक्षा करता है। साधारण लोग अपनी मालिकी की चीजों की हिफाजत चिन्ता से करते हैं, व पंचायती वा दूसरे की चीजों के प्रति लापरवाह होते हैं; सत्पुरुष इससे उल्टी प्रवृत्ति रखता है। यों तो चीज चाहे अपनी हो, घरू हो, या पंचायती, सबकी रक्षा अच्छी तरह करनी चाहिए; परन्तु पंचायती वस्तुओं की देख-भाल तो खासतौर पर सावधानी से करनी चाहिए। तभी अकिंचनता सच्ची कही जा सकती है।

वह निःस्पृह होता है। किसी-से-किसी प्रकार की चाह नहीं रखता। निर्भयता व अदम्यता की यह सबसे अच्छी कुंजी है। "चाह गई, चिन्ता गई, मनुआ बेपरवाह, जाको कछू न चाहिए, सो जग शाहंशाह।" 'निःस्पृहस्य तृणं जगत्'। इसका यह अर्थ नहीं कि दूसरों की चाह के प्रति वह उदासीन रहता है, भरसक दूसरों की इच्छाओं का ध्यान रखता है, उनमें जो अच्छी होती हैं उनको पूरा करने का उद्योग करता है, जो बुरी होती हैं उनको हटाने का उपाय करता है। किन्तु फिर भी उसके बदले में खुद कुछ नहीं चाहता है, यह सच्ची निस्पृहता है।

वह मिताहार करता है। शरीर के रक्षण व पोषण के लिए जितना आवश्यक है उतना ही आहार करता है, आधा पेट भोजन करना व १।४ पानी, १।४ हवा के लिए खाली छोड़ देना मिताहार समझना चाहिए। मिताहार में वस्तुओं की भी मर्यादा होती है। वही वस्तुएं खाई जायं, जो हमारे आरोग्य को कायम रख सकें व हमें काम के लायक रख सकें। यदि स्वादिष्ट हैं तो उसको चाहकर अधिक नहीं खा जायगा, व यदि संयोग से बेस्वाद है तो उसे छोड़ या फेंक नहीं देगा। उसका

ध्यान उपयोगिता की ओर रहेगा, स्वाद की ओर नहीं। सादा व अजीर्ण न हो इतना खाना मिताहार समझना चाहिए। भूख लग जाय, दस्त साफ हो जाय, पेट में दर्द या गुड़गुड़ न हो, दिमाग में भारीपन या सिर-दर्द न हो, शरीर में आलस्य न भरा रहे तो समझो कि हम मिताहारी हैं। इनमें से कोई भी कष्ट होने लगे तो फौरन अपने आहार की छान-बीन करनी चाहिए।

उसका चित्त सदैव शान्त रहता है। अपने या पराये कारणों से वह क्षुब्ध नहीं होता—अपने मन की समतोलता नहीं खो बैठता। चाहे हर्ष का समाचार हो, चाहे खेद का, चाहे भय का हो या चिन्ता का, हानि का हो या लाभ का, मृत्यु का हो या जन्म का, वह सब अवस्थाओं में अपने मन की स्थिति एक-सी रखता है। क्योंकि एक तो उसकी दृष्टि प्रधानतः बाहरी उथल-पुथल की ओर नहीं रहती—आन्तरिक जगत् की एकता, स्थिरता, शान्ति का उसे मर्म मालूम रहता है; व दूसरे व्यवहार-बुद्धि से भी वह ऐसे अवसरों पर शान्ति खो देना हानिकर समझता है। शान्ति खो देने से उस दुःख या हानि आदि का अच्छी तरह विचार नहीं हो पाता और इसलिए उसका ठीक-ठीक उपाय भी नहीं हो पाता। शान्त रहने का अर्थ सुप्त या निष्क्रिय रहना नहीं है, बल्कि धांधली, घबराहट में आकर किसी बात का विचार या उपाय करने के विपरीत भावना का नाम शान्ति है।

वह स्थिर-बुद्धि होता है। उसके विचार बार-बार व जल्दी-जल्दी नहीं बदलते। जो बहुत सोच-विचारकर निर्णय करता है, उसके विचार जल्दी नहीं बदला करते। जबतक अपनी गलती मालूम न हो तबतक पूर्व-निर्णय को वह नहीं बदलता। उसके पालन में जो कुछ भी कष्ट या आपत्ति आवे उसे वह हर्षपूर्वक स्वीकार करता है। वह यह विचारता है कि यह कष्ट या आपत्ति क्यों आई ? यह मेरे किसी सात्विक आचरण का परिणाम है या राजस, तामस का। यदि राजस-तामस-भाव कारणीभूत हों तो वह उन भावों को त्यागने का प्रयत्न करता है, व आये कष्टों को 'योग्य फल' मानकर धीरज से सहता है। यदि सात्विक भाव का परिणाम है, जैसे समाज-सेवा, देश-सेवा या ईश्वर-सेवा करते हुए राज या समाज का कोप हो जाता है तो उसे तप का आवश्यक अंग मानकर प्रसन्नता से सहता है। इसी तरह यदि सुख सात्विकता के फलस्वरूप आता है तो उसको अपना लेता है, अहो-भाग्य नहीं समझता। प्रकृति का आवश्यक नियम मानकर सरलता से ग्रहण कर लेता है, परन्तु यदि राजस या तामस भाव से मिला हो तो उसे छोड़ने

का यत्न करता है; क्योंकि उसका रूप आरम्भ में भले ही सुख का हो, वह वास्तव में—अन्त में दुःख-रूप ही होता है जैसे किसीको धोखा देकर, सताकर या लूट-कर लाया या आया धन। पहला सात्विक का उदाहरण है व दूसरे राजस-तामस के हैं।

वह मेरा शरणागत होता है। मेरे सिवा किसी दूसरे का अवलम्बन नहीं रखता। फिर चाहे वह कोई धनी-मानी, राजा-रईस हो, या देवी-देवता हो। मुझसे बड़ा शक्तिशाली किसीको नहीं मानता। 'मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई', 'दीन को दयालु दानि दूसरो न कोऊ', 'नहिं साधन बल वचन चातुरी, एक भरोसो चरणे गिरिधारी।' 'त्वमेव शरणं मम'। इसकी पहचान यह है कि वह मेरे सिवा न किसीसे दबता है, न डरता है। जबतक उसे किसीसे दबना या डरना पड़ता है तबतक समझो कि मेरी शरणागतता में कचाई है। मेरा अभय-दान पाकर भी जो दूसरों से डरता है, उसे मन्दभागी ही कहना होगा।

वह सर्वदा आतम-तत्व का मनन करता है। वह संसार की सारी विविधता व विचित्रता में से एकता की खोज करता रहता है। उसकी बुद्धि सामंजस्य, मेल की तलाश में रहती है, भेद या नानात्व की नहीं। भेद व नानात्व का वह विचार अवश्य करता है, परन्तु उन्हें स्वतन्त्र सत्ता के रूप में नहीं, बल्कि उनमें से एक-सत्ता—सामान्य-सत्ता खोजने की बुद्धि से। जिसने अनेकता को स्वतन्त्र सत्ता मान लिया, उसके लिए संसार से अपना मेल मिलाना बड़ा मुश्किल हो जाता है। संसार से बे-मेल रहकर, मनुष्य कैसे तो सुखी हो सकता है व कैसे उन्नति साध सकता है? जब वह देख लेला है कि इस सारी विविधता के भीतर, तिलों में तेल की तरह, एक ही आत्मरस या तत्व समाया हुआ है, तो फिर वह दिन-रात उसीका चिन्तन-मनन करता रहता है। इस चिन्तामणि को वह स्वप्न में भी नहीं भूलता।

वह प्रमाद-रहित होता है। हर काम सावधानी से जाग्रत रहकर करता है। अपने कर्त्तव्य-कर्म में कभी गाफिल नहीं होता। 'आज नहीं कल कर लेंगे' ऐसी वृत्ति नहीं रखता। न दूसरों के भरोसे काम छोड़कर सो ही रहता है। जैसे सूर्य, चन्द्र प्रमाद-रहित होकर अपने भ्रमण-मार्ग में नियत परिक्रमा करते हैं, वैसे ही सतत जागरूक रहकर वह अपना जीवन बिताता है। आलस्य, नींद, गफलत उसके पास उसी तरह फटकने नहीं पाते जैसे दीपक के पास अंधेरा।

उसका स्वभाव गंभीर होता है। मन स्वभावतः चंचल है। उसपर विवेक

का अंकुश रखकर वह उसे गंभीर बना लेता है। किसी बात में वह जल्दबाजी नहीं करता, अपने आचार-विचार जल्दी-जल्दी नहीं बदलता, जो बात सामने आती है उसकी तह तक पहुंचकर चारों ओर का विचार करके निर्णय करता है। झट से न अपनी राय देता है, न उबल ही पड़ता है। सब बातों को तौलकर जब राय परिपक्व हो जाती है, तभी देता है। छिछले बरतन की तरह उसके पेट का पानी उछलता नहीं, बल्कि गम्भीर समुद्र की तरह गहरा गोता लगाने पर ही उसमें के रत्न हाथ आते हैं। उसके पास जाते ही ऐसा मालूम पड़ता है मानो किसी नाले के नहीं बल्कि समुद्र-तट पर बैठे हैं।

फिर वह धैर्यवान होता है। दुःख, विपत्ति, भय में उसके छक्के छूट नहीं जाते। कैसी ही भयंकर आकस्मिक घटना क्यों न हो वह हताश नहीं होता, न धीरज ही खो बैठता है, बल्कि उसके कारणों पर गंभीरता से विचार करके उन्हें दूर करने का यत्न करता है। 'धीरज, धर्म, मित्र अरु नारी, आपति काल परखिए चारी।' अपना कर्त्तव्य-कर्म करते हुए न तो थकता है, न ऊबता है, न घबड़ाता है, न परेशान होता है। जैसे हाथी गंभीर गति से चलता है, या पर्वत आंधी, तूफान, ओलों को धैर्य से सह लेता है वैसे ही वह बाधाओं से विचलित नहीं होता।

'तू तो राम सुमरि जग लडवा दे।
हाथी चलत है अपनी गति को कुतर भुंकत वाको भुंकवा दे।'

इसका नमूना होता है। कठिनाइयों से न अपने उच्च विचारों को छोड़ता है, न उदार आशय को। जहां पांव रौप दिया वहां रौप दिया—बिना विचारे, बिना विशेष कारण के अब वह नहीं उठ सकता। जैसे रावण की सभा में अंगद का पांव।

देह के छः धर्म या उर्मियां मानी गई हैं—क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह, जन्म और मरण प्रत्येक देहधारी के साथ लगे ही हुए हैं। लेकिन इनको भी वह जीत लेता है। समय पर भोजन न मिला तो भूख के मारे चिढ़ता नहीं, पानी नहीं मिला तो विलाप नहीं करता। किसीकी मृत्यु से या किसी हानि या अप्राप्ति से वह शोक के समुद्र में डूब नहीं जाता। न किसी लाभ या सुप्राप्ति के मोह में ही फंसता है। इसी प्रकार न जिसे जन्म की चाह है, या गर्भवास के दुःखों का भय है, न मृत्यु का भय, या संसार के दुःखों से ऊबकर मृत्यु की चाह ही रखता है। वह उनके प्रभाव में नहीं रहता, बल्कि इनपर अपना प्रभाव व अंकुश रखता है। इनके बदौलत अपने निश्चित कर्त्तव्य से विरत नहीं होता, न मन की शान्ति या समता को ही

खाता है। जल में कमल की तरह इनके स्पर्श से अलिप्त रहता है।

खुद मान की इच्छा नहीं रखता। लेकिन दूसरों का मान अवश्य करता है। उसे यह विश्वास रहता है कि जो मान-योग्य है, संसार उसका मान अवश्य करता है। यदि कोई उसका मान नहीं करता तो वह उनपर नाराज होने के बदले यही समझता है कि मैं इस योग्य ही नहीं हूं, व संतुष्ट रहता है। किसीसे इसकी शिकायत नहीं करता, बल्कि मन में भी ऐसे विकार को आने नहीं देता। यहांतक कि यदि मान मिलता हो तो उसमें घबराने लगता है। जिसमें वह अपनेको अधिकारी नहीं समझता है वहां यदि उच्च पद या मान मिलता है तो उसमें उलटी अपनी हानि समझता है; क्योंकि किसी दिन जाकर उसमें से हानि व अनर्थ ही प्रकट होगा। मान देनेवाले हमारी परीक्षा कर लेते हैं और मन में हमारी कीमत कम आंकने लगते हैं। दूसरों को, न चाहते हुए भी, मान देता है। अनधिकारी को मान मिलना उतना बुरा नहीं है, जितना अधिकारी को मान से वंचित रखना बुरा है। अनधिकारी को मान या तो खुशामद से या उदारता से दिया जाता है। उसे अपना कोई स्वार्थ तो रहता नहीं, फिर ईश्वर से बढ़कर वह किसीको अपना आश्रयदाता या सहायक मानता नहीं। अतः खुशामद का कोई प्रयोजन ही नहीं रहता। गुण की कद्र करने की भावना से मान देने की प्रवृत्ति होती है। मनुष्य में जहां अवगुण होते हैं वहां कोई गुण भी अवश्य होता है। यदि हम गुणों पर ही ध्यान रखें तो हरएक में हमें कोई गुण अवश्य मिल जाता है और इसके लिए उसका मान करने की इच्छा हो आती है। अपमान की भावना तभी पैदा हो सकती है जब अवगुणों पर दृष्टि रखी जाय व उन्हें ही महत्व दिया जाय। सच तो यह है कि अवगुणों के प्रति भले आदमी की भावना तो सदयता की या सुधार की ही होनी चाहिए। अपमान की भावना तो दुष्टता-मूलक ही हो सकती है, हीन संस्कृति की सूचक होती है। यदि भूल से अपमान हो गया तो फौरन् उसका परिमार्जन कर लेता है। किसीको दिखाने के लिए नहीं, अपने हृदय को स्वच्छ, शान्त व सन्तुष्ट रखने के लिए। क्योंकि सज्जन का हृदय ही खुद किसी प्रमाद या भूल की अवस्था में टोंक देता है और उसे तबतक शान्ति नहीं मिलती जबतक वह उसे पोंछ न डाले।

अपने गुणों की कद्र दूसरों से कराने की इच्छा ही मान है। इसकी जरूरत तब पेश आती है जब दूसरे से हमें कुछ चाह हो, अपने बड़प्पन के बल पर कुछ करवा लेना हो। परन्तु सत्पुरुष अपने गुणों व सेवा-बल पर ही दूसरों से कुछ कराना चाहता

है—अपना स्वार्थ नहीं,परोपकार। अतः वह इस बात की ओर से उदासीन रहता है कि लोग उसका मान-सम्मान करते हैं या नहीं। बल्कि यह जरूर देखता है कि लोगों पर उसके आचार-विचार का क्या असर होता है, कहांतक वे उन्हें माननीय, गृहणीय समझते हैं। उनपर क्या आलोचना, टीका-टिप्पणी होती है। क्योंकि इनके प्रकाश में उसे आत्म-निरीक्षण व सुधार का अवसर मिलता है। मान-अपमान के झंझट में पड़ जाने से तो उलटा मन में राग-द्वेष पैदा हो जाता है, जिससे मनुष्य कर्त्तव्य-विमुखता की खाई में गिर जाता है। मान करनेवालों के प्रति राग, न करने या अपमान करनेवालों के प्रति द्वेष की भावना पैदा होने या बढ़ने लगती है। इसके विपरीत खुद मान न चाहने से, यदि कहीं मिल गया तो उलटे कृतज्ञता का भाव पैदा होता है; और न मिला तो अपने मन में असन्तोष नहीं पैदा होता, न दूसरों के प्रति द्वेष ही। दूसरों का मान करते रहने से उनके मन में अपने प्रति द्वेष पैदा होने की आशंका नहीं रहती, जिससे सदैव उनके सहयोग का ही विश्वास रहता है। अतः यह वृत्ति उभय-रूप से कल्याणकारिणी है।

वह समर्थ भी होता है। शरीर, मन, बुद्धि को सर्वदा योग्य स्थिति में बनाये रखता है, जिससे उसे सर्वदा सब काम करने में समर्थता का ही अनुभव होता है,किसी शुभ काम में वह अपनी असमर्थता न तो अनुभव करता है, न जाहिर ही करता है। स्वामी रामतीर्थ, अभ्यास न होते हुए भी, पहले ही दर्शन में मीलों बरफ के पहाड़ पर दौड़ते चले गये थे, व अमरीका में चालीस मील तक समुद्र में तैरते हुए चले गये थे। मन जिधर ले जाओ, चला जाता है, बुद्धि जिस विषय में भी डालो चलने लगती है। शरीर, मन, बुद्धि का परस्पर सहयोग रहता है। जिसके भी सम्पर्क में वे आते हैं, ऐसा मालूम पड़ता है, मानों पूर्व-परिचित हैं व उनके हृदय में प्रवेश कर रहे हैं। तीनों अपनी शक्ति को कहीं भी अकुण्ठित नहीं पाते, जैसे सूर्य की किरणें सभी जगह प्रवेश पाने में अपनेको समर्थ मानती हैं। उसके मन में हिचकिचाहट नहीं होती, कहीं पासा उलटा न पड़ जाय—ऐसा भय नहीं होता। कहीं बात दूसरों में न फैल जाय, दूसरे इससे बेजा फायदा न उठावें—ऐसी चिन्ताओं से परेशान नहीं होता। आवश्यकतानुसार इनका विचार कर लेने पर फिर निःशंक रहता है। बेखटके, बेधड़क रहना समर्थता का पहला लक्षण है। जो सत्य-नारायण की उपासना करता है वही ऐसी समर्थता का अनुभव अपने अन्दर कर सकता है।

समर्थ होने से वह अभिमानी, अहम्मन्य नहीं हो जाता, बल्कि मिलनसार होता

है। जो दूसरों को अपने बराबर समझता है, उनके सुख-दुःखों के प्रति समभाव रखता है उसीमें मिलनसारी देखी जाती है। मिलनसारी का मतलब खुशामद नहीं, बल्कि समभाव है। खुशामद के मूल में स्वार्थ-सिद्धि का भाव रहता है, मिलनसारी में दूसरों के गुणों के प्रति आदर, अवगुणों के प्रति दया, या क्षमा या उपेक्षा, व सामान्यतः प्रेम का भाव रहता है। उसके उद्देश या कार्य के प्रति सहानुभूति भी रहती है। जिसका हृदय मृदुल, मधुर, स्निग्ध होगा, वही मिलनसार हो सकता है। समर्थता जहां सत्य की साधना से आती है तहां मिलनसारी अहिंसा की साधना से। दूसरों में घुल-मिल जाना, उन्हें पराया न मालूम होने देना, मिलनसारी की कसौटी है। जबतक उसकी आत्मा में अपनी आत्मा को मिलाने का उद्योग नहीं किया जाता तबतक मिलनसारी नहीं आती। ऊपरी मिठास, या भलमनसी का बर्ताव ढोंग होता है व दूना नुकसान पहुंचता है। न अपनी आत्मा पर ही उसका शुभ परिणाम होता है, न दूसरों के हृदयों को ही आकर्षित कर पाते हैं। इससे अपने मन में निराशा व दूसरों के मन में हमारे लिए उपेक्षा व घृणा का भाव पैदा होने लगता है।

वह कोरा मिलनसार ही नहीं, करुणामय होता है। दूसरों के दुःखों, कष्टों, अवगुणों के प्रति उसका हृदय करुणा से सराबोर रहता है। जगत् में दुःखों का अन्त नहीं है। अतः उसकी करुणा का भी ओर-छोर नहीं होता। दुःख में सहायता पहुंचाने, व दुखियों को उबारने का भाव करुणा-भाव है। 'जैसे के साथ तैसा' न्याय-भाव है। 'बुरे के साथ भला' दया या करुणा-भाव है। अनुभव बताता है कि जो न्याय-भाव को लेकर चलता है वह परिणाम में स्वार्थी ही रहता है; जो स्वार्थ को लेकर चलता है वह अत्याचारी हो रहता है और जो दया या करुणा-भाव को लेकर चलता है वह न्यायी हो रहता है। ऊंचा आदर्श रखेंगे तो नीची मंजिल तक पहुंच जायंगे। शेर के शिकार का सामान ले चलेंगे तो भालू के शिकार के लिए काफी हो रहेगा, क्योंकि मनुष्य का मन विषयों में इतना फंसा हुआ रहता है, स्वार्थ में, स्व-सुख में इतना रंगा हुआ रहता है कि प्रायः हर मौके पर वह अपने अनुकूल ही अर्थ लगाने व कार्य करने की प्रवृत्ति रखता है। इसमें हम सतर्क रहें—इसीलिए यह पद्धति बताई गई है। यह करुणा-भाव मनुष्य में तभी जाग्रत हो सकता है जब वह यह मान ले या समझ ले कि अब संसार में दुःखियों के दुःख दूर करने या करते रहने के अलावा मेरा कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रहा है। इसके लिए उसे अपना सर्वस्व—शरीर तक होम देना पड़े तो उसे इसमें आनन्द ही हो सकता है।

(दधीचि, शिवि, हरिश्चन्द्र, ईसा मसीह, बुद्ध, गांधी इसके उदाहरण हो सकते हैं।)

अन्त में वह सम्यक् ज्ञानयुक्त होता है—'कवि', शब्द प्राचीन समय में इसी अर्थ में प्रयुक्त होता था। कोरी कविता करनेवाला कवि नहीं समझा जाता था, बल्कि 'मनीषि', 'परिभू', 'स्वयंभू' समझा जाता था। स्वयं ईश्वर को कवि[1] कहा गया है, जिसने यह सृष्टि जैसी अद्भुत रसमयी कविता की है।

---

[1]**कवि**—"कविता मानव-सृष्टि में उतनी ही प्राचीन वस्तु है जितना कि मानव-हृदय और उसमें उमड़नेवाले विविध भाव। छन्दों की बेड़ियों में कसी हुई कविता स्वतन्त्र आदिम मनुष्य की कविता न थी। मानव-हृदय आन्दोलित होकर जिस धुन में, जिस लय में जो गाता था उसीको पीछे के लोगों ने छन्द बना दिया। छन्द कविता का कलेवर मात्र है। उसकी आत्मा—प्राण नहीं। प्रकृति अपने सहज सुन्दर रूप में अपना वैभव छिटकाती है और मनुष्य उसे काट-छांटकर अपने मतलब का बनाने की चेष्टा करता है। जो सारी प्रकृति पर ही अपनी प्रभुता स्थापित करते हैं—उसीपर अपनी अन्तरात्मा का रंग चढ़ाते हैं, जो छन्दों, रागों और रेखाओं के जीवन से टक्कर नहीं लेते, बल्कि काव्य, संगीत, कला के मूल और आत्मा पर ही संस्कार करते हैं और उसे नया जीवन, नया वेग, नया दर्शन देते हैं वे कवि हैं। कवि एक विधाता ही है। उसे प्रति ईश्वर ही समझिये। वह नई सृष्टि की रचना करता है। नवीन जीवन व नवीन आकांक्षाओं को जन्म देता है। वह त्रिकाल-दर्शी है, वह द्रष्टा है। वह भूतकाल की अस्थियों पर पांव रोपकर वर्तमान की जटिल समस्याओं को भविष्य का सन्देश देता और पथ-दर्शन कराता है। उसका सिर आकाश में, पैर जनता में और बाहु चारों दिशाओं में फैले रहते हैं। आकाश में उठकर वह सृष्टि के गूढ़ों को, मानव-समाज की पहेलियों को अपने अन्तश्चक्षुओं से देखता है, समाज में मिलकर उसे उठाता और जगाता है तथा दिन-रात कोने-कोने में अपना गाना गाता है, अपना रोना रोता है। न वह गाने से थकता है, न रोने से। रोकर वह मानव-हृदय को जगाता है, गाकर उसे जुझाता है। उसका गाना व रोना परस्पर पूरक हैं। वह रोते हुए हँसता है और गाते हुए रोता है। वह पागल है, विश्व की वेदना उसके हृदय को हिलाती है। वह 'उफ्' कहकर चीख पड़ता है। यही काव्य है। उसकी चीख से ब्रह्माण्ड हिलने लगता है। यह कवि व काव्य की महिमा है। कवि की करुणा कविता है।"

जो इन अट्ठाईस लक्षणों से युक्त है, उसे श्रेष्ठ साधु पुरुष समझो।

"(वेदरूप) मेरे द्वारा किये गए अपने वर्णाश्रमादि धर्मों के (पालन में) गुण और (त्याग में) दोष जानकर भी जो मेरे लिए उनकी उपेक्षा करके मुझे भजता है, वह साधुओं में श्रेष्ठ है।" ॥३२॥

मैंने सबके लिए अपने-अपने धर्मों का उपदेश दे दिया है। वैसे तो उनके गुण-दोषों का विचार करके ही—गुणों को ग्रहण करने व दोषों को छोड़ने की वृत्ति से ही—उनका पालन करना उचित व श्रेयस्कर है, परन्तु वह भक्त और भी श्रेष्ठ है, जो उनकी अपेक्षा भी मेरी तरफ ही अपना ध्यान रखता है। एक बार उनकी उपेक्षा भले ही हो जाय, पर मेरी भक्ति में, मेरे भजन में कसर न होने दे; क्योंकि उन धर्मों के पालन के मूल में भी असल बात तो मुझे ही याद रखने की है। मुझे भूलकर उन धर्मों का कोई पालन करे भी तो वह यन्त्रवत् होगा, उससे विशेष लाभ नहीं हो सकता। किन्तु यदि मुझे याद रखेगा व उन्हें भूल जायगा तो कोई हानि नहीं हो सकती।

"मैं जो हूं, जितना हूं और जैसा हूं, इस बात को जानते हुए भी जो अनन्य-भाव से मेरा भजन करते हैं, मेरी सम्मति में वे ही मेरे परम भक्त हैं।" ॥३३॥

फिर मेरी भक्ति के लिए मेरे स्वरूप का ज्ञान भी, मैं क्या हूं, कैसा हूं, कितना हूं, आदि को जानने की खास जरूरत नहीं है। यदि किसीको इन विषयों का ज्ञान हो जाय तो अच्छा, न हो तो भी काम चल सकता है। इस झंझट में न पड़ते हुए भी जो केवल अनन्य भाव से मेरा भजन करते हैं—अपने इष्ट में ही अपना तन-मन लगाये रखते हैं—उन्हें मेरा परम भक्त जानो। ऊधो, मेरा स्वरूप जानना पेड़ गिनने जैसा, व मुझे एकनिष्ठा से, अनन्य भाव से भजना आम खाने जैसा है। फिर मैंने यह भक्ति-योग या शरणागति-योग तो खासकर उन्हीं लोगों के लिए चलाया है जो न इतनी बुद्धि रखते हैं, न जिन्हें ऐसा साधन या सुविधा है कि वेद-शास्त्रादि का अध्ययन करके बहुत-सी बातों का ज्ञान प्राप्त करें व फिर श्रेय को प्राप्त हों। यदि वेद-शास्त्रों का ज्ञानी होकर भी मुझे भूल जाय, मेरी भक्ति मेरे जगत् की सेवा छोड़ दे तो वह भारवाही गधे के जैसा ही कोरा रह जायगा। अतः वेद-शास्त्रादि पढ़कर भी जो मूल तत्व प्राप्त करना है वह यही कि मुझमें मन लगाकर, मेरे प्रीत्यर्थ ही सारा जीवन लगावे—जीवन के सब कामों को करे।

"मेरी प्रतिमा तथा मेरे भक्तजनों के दर्शन, स्पर्श और पूजन, सेवा-शुश्रूषा,

स्तुति तथा विनीत-भाव से गुण और कीर्तन करना, मेरी कथा सुनने में श्रद्धा रखना, मेरा ध्यान करना, जो कुछ प्राप्त हो मुझे निवेदन कर देना, दास्य-भाव से आत्म-समर्पण करना, मेरे दिव्य जन्म और कर्मों की चर्चा करना, मेरे पर्वदिनों को मनाना, गान, नृत्य, वाद्य और भक्त समाज के साथ मेरे मन्दिरों में उत्सव करना, समस्त वार्षिक पर्वतिथियों पर मेरे स्थानों की यात्रा और पूजनादि करना, वैदिकी अथवा तान्त्रिकी दीक्षा लेना, मेरे व्रत रखना, मेरी प्रतिमादि की प्रतिष्ठा में श्रद्धा रखना, उद्यान (पुष्पवाटिका), उपवन (बगीचा), क्रीड़ागृह और मन्दिर आदि के निर्माण में स्वतः अथवा औरों के साथ मिलकर प्रयत्न करना, निष्कपट-भाव से दास के समान मार्जन-लेपन, जल-सेचन और मण्डलावर्तन (सर्वतोभद्ररचना) आदि के द्वारा मेरे मन्दिर की सेवा करना, निर्मान तथा निष्कपट रहना और अपने किये हुए सेवादि कार्यों को किसीसे न कहना (हे उद्धव ! ये ही सब मेरी उत्तम भक्ति के लक्षण हैं) । इसके सिवा मेरे भक्त को चाहिए कि वह मुझे निवेदन किये हुए दीपक अथवा किसी अन्य पदार्थ को अपने काम में न लावे ।" ॥३४-४०॥

अब मैं इससे भी सुलभ अर्चा व क्रिया-योग[1] तुझे बताता हूं । जो भक्त इनमें

---

[1] पहले (अ० ४ श्लो० ४७ में) बता चुके हैं कि वैष्णवागम में पाञ्चरात्र व भागवत का समावेश होता है । 'पाञ्चरात्र' नाम पड़ने के कई कारण बताये जाते हैं । महाभारत के अनुसार चारों वेद तथा सांख्य योग के समाविष्ट होने के कारण इस मत की संज्ञा 'पाञ्चरात्र' थी । ईश्वर-संहिता (अ० २१) के कथनानुसार शाण्डिल्य, औपगायन, मौञ्जायन, कौशिक तथा भरद्वाज ऋषि को मिलाकर पांच रातों में उपदेश दिया गया था, तथा पद्म संहिता, (ज्ञान पद अ० १) का कथन है कि इसके सामने अन्य पांच शास्त्र रात्रि के समान मलिन पड़ गये थे, अतः पाञ्च-रात्र नामकरण हुआ । नारद पाञ्चरात्र के अनुसार इसका कारण विवेच्य विषयों की संख्या है । रात्र का अर्थ होता है ज्ञान । परम तत्व, मुक्ति, भुक्ति, योग तथा विषय (संसार) इन पंच विषयों के निरूपण करने से इस तन्त्र का नाम 'पाञ्चरात्र' पड़ा है ।

पाञ्चरात्र संहिताओं के विषय चार हैं (१) ज्ञान, ब्रह्म, जीव तथा जगत् के आध्यात्मिक रहस्यों का उद्घाटन एवं सृष्टि-तत्व का विशेष निरूपण (२) 'योग' —मुक्ति के साधनभूत योग तथा योग-सम्बन्धी क्रियाओं का वर्णन (३) 'क्रिया'

निपुण व तल्लीन हो वह भी इसके द्वारा धीरे-धीरे मेरे स्वरूप के ज्ञान को पा जाता है। मेरी प्रतिमा तथा मेरे भक्तजनों के दर्शन, स्पर्श, और पूजन, सेवा-शुश्रूषा, स्तुति तथा विनीतभाव से गुण व कर्मों का कीर्तन करना, मेरी कथा सुनने में श्रद्धा रखना, मेरा ध्यान करना, जो कुछ प्राप्त हो मुझे निवेदन करना, दास्य-भाव से आत्म-समर्पण करना, मेरे दिव्य जन्म-कर्मोंकी चर्चा करना, मेरे पर्वदिनों को मनाना, गान, नृत्य, वाद्य, और भक्त-समाज के साथ मेरे मन्दिर में उत्सव करना, समस्त वार्षिक पर्वतिथियों पर मेरे स्थानों की यात्रा और पूजनादि करना, वैदिकी तथा तान्त्रिकी दीक्षा[1] लेना। मेरे व्रत रखना, मेरी प्रतिमादि की प्रतिष्ठा में श्रद्धा रखना, उद्यान (पुष्प-वाटिका), उपवन (बगीचा), क्रीड़ागृह और मन्दिर आदि के निर्माण में स्वत: अथवा औरों के साथ मिलकर यत्न करना, निष्कपट भाव से दास के समान मार्जन-लेपन, जल-सेचन और मण्डलावर्तन (सर्वतोभद्र रचना) आदि के द्वारा मेरे मन्दिर की सेवा करना, निर्मान तथा निष्कपट रहना और अपने किये हुए सेवादि कार्यों को किसी से न कहना। ये सब मेरी उत्तम भक्ति के साधन व लक्षण हैं। इनके सिवा मेरे भक्त को चाहिए कि वह मुझे निवेदन किये हुए दीपक अथवा किसी अन्य पदार्थ को अपने काम में न लावे।

मतलब यह कि भगवान् के या उनके कार्य के निमित्त ही सारा दिन व जीवन लगाना। इसमें तीन बातों की ओर खासकर पाठकों का ध्यान जाना चाहिए।

—देवालय का निर्माण, मूर्ति का स्थापन, मूर्ति के विविध आकार-प्रकार का सांगोपांग वर्णन (४) 'चर्या'—आह्निक क्रिया, मूर्तियों तथा यन्त्र के पूजन का विस्तृत वर्णन। वर्णाश्रम-धर्म का परिपालन, पर्व तथा उत्सव के अवसर पर विशिष्ट पूजा का विधान। इनमें चर्या का वर्णन आधे से अधिक है। आधे में सबसे अधिक क्रिया, क्रिया से कम ज्ञान और सबसे कम योग का विवेचन है। अत: चर्या और क्रिया की व्यावहारिक विवेचना ही पांचरात्र संहिताओं का मुख्य प्रयोजन है। वेद की 'एकायन' शाखा से इसका सम्बन्ध है। भगवान् ही उपेय (प्राप्य) हैं तथा वह ही उपाय (प्राप्ति-साधन) हैं। बिना भगवान का अनुग्रह हुए जीव भगवान को नहीं पा सकता। भगवान् की शरणागति ही केवल-मात्र उपाय है। इसीका दूसरा नाम भागवत-धर्म है।

[1] देखिये परिशिष्ट १६

१. मेरे भक्त-जनों का दर्शन, स्पर्श और पूजन। २. अपने किये सेवा-कार्यों का विज्ञापन न करना तथा ३. मुझे निवेदित दीपकादि को अपने काम में न लेना। पहली में भगवान् ने अपने भक्तों, अपने या जगत् के निमित्त किसी भी शुभ काम में लगे हुए लोगों की कद्र करने, उन्हें सहायता पहुंचाने, उनका आदर करने की ओर संकेत किया है, दूसरी में मौन या मूक सेवा का और तीसरी में भगवान् या समाज को अर्पित वस्तुओं पर अपना अधिकार न मानने का उपदेश दिया है।

पहले बता चुके हैं कि भक्त दो प्रकार के होते हैं—एक वे जिन्हें खुद भगवान् की व्यक्तिगत सेवा-पूजा में रस आता है, दूसरे वे जिनकी रुचि भगवान् के कामों को पूरा करने में होती है। प्रस्तुत प्रसंग में जो दूसरे प्रकार के भक्त हैं, वे किसी भी सेवा-कार्य—वर्तमान में सर्वजातीय एकता, हरिजन व विधवा-उद्धार, खादी तथा गृह-उद्योगों का प्रचार, राष्ट्र-भाषा का प्रचार, गो-सेवा, स्वास्थ्य-ओषध-प्रचार, किसान, मजदूर, गरीब अनाथों की सेवा-सहायता आदि, आदि को चुनकर उसमें उसी तल्लीनता से लग सकते हैं।

"संसार में जो-जो वस्तु अपनेको सबसे अधिक प्रिय और अच्छी लगती हो उस-उसीको मेरे अर्पण कर दे; ऐसा करने से वह अत्यन्त फल देनेवाली हो जाती है।" ॥४१॥

जो फल की अभिलाषा नहीं छोड़ सकते, फल की इच्छा से ही जिन्हें कर्म में रुचि है, उनको भी मैं ऐसी तरकीब बताता हूं, जिससे अनन्त गुना फल मिले। जो-जो वस्तु संसार में उन्हें सबसे अधिक प्रिय व अच्छी लगती हो वह सब मेरे अर्पण कर दिया करे। अर्थात् वह उन वस्तुओं को लावे व संग्रह भले ही करे, परन्तु शर्त यह है कि वे सब मुझे दे दे। फिर मेरा प्रसाद समझकर आवश्यक वस्तुएं उनमें से ग्रहण करे व शेष को अच्छे लोक-सेवा के कामों में लगा दे। इससे उसे एक तो अनन्त गुना फल मिलेगा, दूसरे उसकी आत्मा को यह सन्तोष मिलेगा कि मैं पुरुषार्थी हूं, बहुत कमाता हूं, बहुत खर्च करता हूं, किन्तु इसकी बुराई से, इनके दुरुपयोग से, बच जायगा; क्योंकि यह कर्म मेरे लिए होगा, उसकी किसी स्वार्थी या दुष्ट भावना से न होगा।

"हे भद्र ! सूर्य, अग्नि, ब्राह्मण, गौ, वैष्णव, आकाश, वायु, जल, पृथ्वी, आत्मा और समस्त प्राणी—ये सब मेरी पूजा के आश्रय हैं।" ॥४२॥

फिर भले ही वह मेरे भिन्न-भिन्न रूपों की, विभूतियों की पूजा करे। साधा-

रण लोग प्रत्यक्ष-पूजक होते हैं। मेरा मूल-रूप तो निर्विशेष, निर्गुण, अव्यक्त, अचिन्तनीय है। वह केवल सूक्ष्म बुद्धि या प्रज्ञा से ही पहचाना जाता है। मेरा दर्शन तो मन-बुद्धि के भी परे की समाधि अवस्था में ही शक्य है। अतः सर्व-साधारण को इसका न तो ज्ञान ही हो सकता है, न सहसा विश्वास ही। उनके लिए विभूति-पूजा ही उचित है। हां, एक बात की वे सावधानी रक्खें। इन विभूतियों या भिन्न-भिन्न देवों, शक्तियों, आदि को स्वतन्त्र शक्तियां न मानें। सर्व-तन्त्र स्वतन्त्र तो एक मैं ही हूं। मेरे ही ये भिन्न-भिन्न अंग या रूप हैं। ऐसी भावना व श्रद्धा रखकर चाहे वह सूर्य[1] को पूजे, चाहे गाय या ब्राह्मण या पीपल या बड–वह मेरी ही पूजा के बराबर है।

"वेदत्रयी द्वारा सूर्य में, घृताहुतियों द्वारा अग्नि में, आतिथ्य द्वारा ब्राह्मण में, चारे आदि के द्वारा गौ में, बन्धुवत् सत्कार के द्वारा वैष्णव में, ध्यान-निष्ठा द्वारा हृदयाकाश में, मुख्य प्राण द्वारा वायु में, जल-पुष्पादि सामग्री द्वारा जल में, गुप्त मन्त्रों द्वारा मिट्टी की वेदी में, अनेक भोगों द्वारा आत्मा में और समदृष्टि द्वारा सम्पूर्ण प्राणियों में मुझ क्षेत्रज्ञ आत्मा की पूजा करे।" ॥४३-४५॥

अब मैं तुम्हें यह भी बता देता हूं कि पूर्वोक्त रूपों में किस वस्तु या कार्य से मेरी पूजा अथवा भजन किया जाय। सूर्य के माध्यम से मुझे पूजना हो तो वेद-त्रयी अर्थात् ऋक्, साम, यजुर्वेद के द्वारा करे। अर्थात् इन वेदों का अध्ययन करके, इनका रहस्य समझके, तदनुकूल अपना जीवन बनाते व जीवन-कार्यों को करते हुए। यदि अग्नि के द्वारा पूजन करना हो तो घृत के द्वारा करे अर्थात् गायों को पालकर, उनका स्वच्छ घृत घर में बनाकर उसे समाज के अर्पित करे—उचित दाम में शुद्ध गाय का घी जरूरतमन्दों को दे—बेचें। ब्राह्मण[2] के द्वारा करना हो तो अतिथि-सत्कार करके। अर्थात् खुद ब्राह्मण का या आगत अतिथियों का अपने

---

[1] देखिये परिशिष्ट २०

[2] यजुर्वेद में प्रार्थना की गई है—'आब्रह्मन्! ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्—अर्थात् हे ब्रह्मन्, ब्राह्मण ब्रह्मवर्चस्वी उत्पन्न हों।' ज्ञान के अधिष्ठाता वर्ग को 'ब्राह्मण' कहते हैं। जन्मना ब्राह्मण 'विप्र' कहलाते हैं, शास्त्रज्ञ ब्राह्मण 'ब्राह्मण'। शास्त्र-ज्ञानपूर्वक कार्य में प्रवृत्त ब्राह्मण 'देवता', 'भूदेव', प्रकृतिक तत्वों का परीक्षक ब्राह्मण 'ऋषि', सर्वरहस्यवेत्ता सर्वज्ञ ब्राह्मण 'ब्रह्मा' कहलाता है।

सामर्थ्य व श्रद्धा के अनुसार भले प्रकार स्वागत-सत्कार करके गो-सेवा के द्वारा करना चाहें तो उसके लिए अच्छे चारे, कुट्टी, खल, बिनौले आदि खिलाकर, व उनकी प्राप्ति की समुचित व्यवस्था करके अर्थात् उसे चरागाह, तिलहन, बिनौले व दूसरे अनाज की पैदावार में सहायता करनी चाहिए। गो-माता को स्वच्छ स्थान में रखना, उसकी भली-भांति रक्षा करनी चाहिए। वध के लिए उसे न तो बेचना न बेचने में किसी तरह की सहायता देनी चाहिए। घर के बड़े-बूढ़े जब बेकार हो जाते हैं तो जिस तरह अपना कर्त्तव्य व धर्म समझकर उनका पालन-पोषण करते हैं उसी तरह आदर व कृतज्ञता से बेकार गाय-बैलों का पोषण करना चाहिए। बीमारी में भी घर के आदमी की तरह उनकी सेवा-शुश्रूषा करनी चाहिए। उनके मल-मूत्र का उपयोग कण्डे बनाने की जगह खाद बनाने में करना चाहिए तथा मरने के बाद उसके किसी भी उपयोगी अंश या अंग को व्यर्थ न जाने देना चाहिए। प्रकृति में मैंने जितनी चीजें उपजाई हैं, वे सब प्राणि-मात्र के उपयोग के लिए हैं। इन विचित्रताओं से मेरा मनोविनोद तो होता ही है; परन्तु इनके उपजाने में केवल मैंने विनोद-बुद्धि से काम नहीं लिया है। प्राणियों के हित व उपयोग का भी बखूबी ध्यान रक्खा है। मैंने खासकर मनुष्य को इतनी बुद्धि भी दे दी है कि वह उसका उपयोग करे, इनके लाभ-हानि का अनुभव करके इनसे लाभ उठाता रहे व हानि से बचता रहे। एक वस्तु में यदि एक हानि की बात है तो चार लाभ की बातें हैं और जो हानि की बात दीखती है उसे भी बुद्धिमान मनुष्य लाभ में परिणत कर सकता है—जैसे बड़े-बड़े भयंकर विषों का उपयोग भी दवाओं के लिए किया गया है। बुद्धि के ऐसे उपयोग से मैं खुश हूं। मेरी सृष्टि की रक्षा व उन्नति के लिए मनुष्य इस तरह हानिकर व घातक दीखनेवाली वस्तुओं का भी जितना सदुपयोग करेंगे उतनी ही उनकी बुद्धि-शक्ति मेरी निगाह में सार्थक होगी। अतः किसी भी जीवित या मृत प्राणी का उपयोग इस बुद्धि या विधि से किया जाय कि मेरी सृष्टि का पालन व उन्नति हो तो इसे मैं धर्म ही समझता हूं।

जो वैष्णव हो अर्थात् मेरा भक्त हो उसके प्रति बन्धु-भाव रखकर, भाई की तरह उसका आदर-मान करके मेरी पूजा करे। आकाश के द्वारा पूजना हो तो ध्यान लगाकर अर्थात् आकाश के गुणों का ध्यान करके, तदनुरूप अपनी वृत्ति बनाकर। दत्तात्रेय ने आकाश को गुरु बनाया था। उन्होंने उसके गुणों का वर्णन पहले कर दिया है। वायु के द्वारा करना चाहें तो मुख्य प्राण को संयम करके

अर्थात् आन्तरिक प्राण को बाह्य वायुगत प्राण में मिलाकर, दोनों प्राणों में, जीव व जगत् की चेतना-शक्ति में एकता स्थापित करके। दूसरे शब्दों में प्राणायाम आदि के द्वारा पहले श्वासोच्छ्वास को नियंत्रित करके फिर जगत् के साथ अपना तादात्म्य करने का प्रयत्न करना चाहिए। जल के द्वारा मुझे पूजना हो तो फल व जल से ही अर्थात् तरह-तरह फूलों के पौधे, पुष्प-वाटिका लगाकर, कुएं, जलाशय आदि खुदवाकर, उनका उपयोग मेरे या जगत् की सेवा के लिए करके, सर्व-साधारण के लिए ऐसे पुष्पोद्यान या जलाशय मुक्त करके। वेदों के द्वारा करना हो तो अच्छे-अच्छे मन्त्र बनाने की या गुह्य मन्त्रों का अर्थ स्पष्ट करने की योग्यता प्राप्त करके, वेदों की समृद्धि या महत्व बढ़ा के करना चाहिए। आत्मा के द्वारा करना हो तो जितने भोग भोगने हों वे शारीरिक नहीं, आत्मिक होने चाहिए, जिनसे आत्मा को सन्तोष हो, आत्मा की शुद्धि हो, आत्मा प्रगतिशील, उन्नत बने, ऐसे ही भोग-साधन स्वीकार करके। शरीर-सुख की दृष्टि को छोड़कर केवल आत्महित का ही विचार भोग व सुख के संबंध में करना चाहिए। मैं अच्छा खाने-पीने, आमोद-प्रमोद करने, वा सुख-भोग करने का कतई निषेध नहीं करता। जिनका मन न माने वे इनका सीमित उपयोग भले ही करें। परन्तु वे ऐसा देहदृष्टि से नहीं, आत्मदृष्टि से करें। तो ऐसा भोग भी मेरी पूजा के ही बराबर होगा।

यदि भूतों के द्वारा मुझे भजना है तो सबमें साम्यभाव रख के। क्योंकि मैं तो सब भूतों में समा रहा हूं। अंगूर का रस जैसे उसके कण-कण में व्याप्त है, कपूर की गंध जैसे उसके एक-एक कण में बसी है, वैसे ही मैं भूत-मात्र में जीव—प्रकट या अप्रकट चेतन-रूप से बसा हुआ हूं। क्योंकि मेरी दृष्टि में सब सम हैं। हाथी हो तो क्या, व चींटी हो तो क्या, राव क्या, रंक क्या, मनुष्य क्या व पशु क्या, पत्थर क्या व प्राणी क्या, सबके देह-आकार भले ही पृथक् हों, छोटे-बड़े हों, उनकी आवश्यकताओं को मैं सामानरूप से पूर्ण करता हूं। चींटी को कण व हाथी को मण देता हूं। यदि मैं चींटी को मण व हाथी को कण देने लगूं तो मेरे साम्यभाव में फर्क आ जाय। शक्ति व आकार सबका भिन्न-भिन्न है, परन्तु प्राकृतिक आवश्यकताएं समान हैं। पत्थर हो, प्राणी हो, पशु हो, मनुष्य हो, जिसकी जो प्राकृतिक आवश्यकताएं हैं, उन्हें समभाव से पूर्ण करने का यत्न करना चाहिए। इसमें सबका समान अधिकार है। इसका अर्थ यह नहीं कि कोई पत्थर को

हलुआ, गाय को पत्थर व मनुष्य को चारा खिलाने लगे। बल्कि वह पत्थर के विकास के लिए आवश्यक खुराक पत्थर को, गाय की उन्नति के लिए आवश्यक गाय को व मनुष्य की उन्नति के लिए आवश्यक खुराक आदि मनुष्य को दे। गाय को पशु व पत्थर को जड़ समझकर उनकी उपेक्षा व मनुष्य को मनुष्य समझकर उसकी अधिक चिन्ता या पक्षपात उसे नहीं करना चाहिए। जिस प्रेम से मनुष्य की उन्नति का ध्यान रखते हैं, उसी प्रेम से पशु, पौधे, व पत्थर के विकास का ध्यान रखना चाहिए। इनके कष्ट के समय हमारा हृदय वैसे ही व्यथित होना चाहिए जैसे अपने या अपनों के कष्ट के समय। यही साम्य का सच्चा अर्थ है। साम्यभाव यान्त्रिक क्रिया नहीं, उन्नत सुसंस्कृत,सहानुभूति-शील, प्रेममय हृदय का सुन्दर गुण है। यही नियम मनुष्यों के भिन्न-भिन्न ऊंचे-नीचे समझे जानेवाले वर्गों—धनी, अमीर, किसान, मजदूर, मालिक, जंगली, अस्पृश्य, अशिक्षित व पिछड़ी हुई तथा सभ्य, नागरिक, उन्नत जातियों या श्रेणियों के संबंध में भी समझना चाहिए। मानवता के नाते सब समान हैं—समाज में सबको एक मनुष्य की हैसियत से रहने व उन्नति या सुख प्राप्त करने का समान अधिकार है, अपनी प्राकृतिक या मानवी आवश्यकताओं को पूर्ण करने का, समाज या सृष्टि की वस्तुओं पर अधिकार भोगने का सबको समान अधिकार है। इसमें ऊंच-नीच या घृणा के भावों की न जगह है, न गुंजायश। इसमें समानता रखते हुए फिर कोई अच्छा या बुरा कर्म करता है या जीवन व्यतीत करता है तो उसके अनुसार उसे अच्छा या बुरा समझने, कहने या तदनुसार वर्त्ताव करने का प्रत्येक को अधिकार है। इस क्षेत्र-रूपी शरीर में जो क्षेत्रज्ञ इसको जानने या नियंत्रित रखनेवाले के रूप में मैं स्थित हूं, उसकी पूजा करनी हो तो सब भूतों में इस प्रकार साम्यभाव रखकर ही करनी चाहिए।

उद्धव, ये तो मैंने कुछ रूपों के द्वारा मेरी पूजा करने के उपाय बताये हैं। मेरे अनेक नाम-रूप हैं। बुद्धिमान् मनुष्य स्वयं सोचकर अन्य रूपों के लिए ऐसे ही पूजा-उपायों की योजना कर सकते हैं। सबके मूल में मुझ एक परमेश्वर की पूजा की ही भावना होनी चाहिए। जैसे सब नदियों का पानी एक समुद्र में जाता है वैसे ही प्रत्येक रूप में की गई मेरी पूजा अन्त में मुझीको पहुंचती है, जिस तरह मैं इस सत्य को जानता हूं, उसी तरह पूजक, साधक, जिज्ञासु या भक्त को भी यह सत्य समझ रखना चाहिए।

"इस प्रकार भिन्न-भिन्न बुद्धि से उक्त स्थानों में शंख-चक्र-गदा-पद्मयुक्त मेरे चतुर्भुज शान्त स्वरूप का ध्यान करते हुए समाहित चित्त से मेरी पूजा करे।" ॥४६॥

इन भिन्न-भिन्न विभूतियों या रूपों में पूजा करते हुए एक काम करना चाहिए, जिससे भेद-भाव का असर मन पर न रहने पावे। किसी भी रूप को लो, उसमें मुझ शंख-चक्र-गदा-पद्म युक्त चतुर्भुज शान्त रूप का ध्यान करलो[1]। फिर समाहित चित्त से पूजा करोगे तो यह न होगा कि मेरे सिवा किसी दूसरे की पूजा की है।

"इस प्रकार जो पुरुष (यज्ञादि) इष्ट और (कूप, बावड़ी आदि) पूर्त कर्मों द्वारा समाहित चित्त से मेरा पूजन करता है यह मेरी उत्तम भक्ति प्राप्त करता है और निरन्तर साधु-सेवा से उसे मेरे स्वरूप का ज्ञान भी हो जाता है।" ॥४७॥

इस प्रकार जो इष्ट और पूर्त[2] कर्मों के द्वारा समाहित चित्त से मेरा भजन करता है, उसे मेरी उत्तम भक्ति प्राप्त होती है। किन्तु साथ ही उसे निरन्तर सत्संग व साधु-सेवा करते रहना चाहिए। सत्संग से उसकी वृत्तियां सदैव ताजा बनी रहेंगी, नित्य नई स्फूर्ति व प्रेरणा व उत्साह मिलता रहेगा व साधु-सेवा से नम्रता कायम रहेगी व प्रत्यक्ष मेरी पूजा किये के समान होगा। मेरी जड़ विभूति या रूप की अपेक्षा तो चेतन विभूति या रूप कहीं श्रेष्ठ है। उनकी पूजा से मेरे स्वरूप का ज्ञान भी हो जाता है, क्योंकि सत्संग में ज्ञान-चर्चा तो सदैव होती ही रहती है।

[1] भगवान् की भिन्न-भिन्न विभूतियों या रूपों के जो चित्र चित्रित किये गए हैं, या उनके रूपों की कल्पना की गई है, वह ऊटपटांग नहीं है। प्रत्येक अंग, अवयव, आयुध, भूषण, वर्ण, सब सार्थक हैं। विष्णु-रूप का ही उदाहरण लीजिये—'विष्णु पुराण' के अनुसार कौस्तुभमणि आत्मा या क्षेत्रज्ञ का प्रतीक है, श्रीवत्स प्रधान का, गदा बुद्धि का, शंख तामस अहंकार का, शार्ङ्ग धनुष राजस अहंकार का, सुदर्शनचक्र मन का, वैजयन्ती माला तन्मात्रा भूतों का, बाण ज्ञानाकर्मेन्द्रियों का, खड्ग ज्ञान (अविद्यामय कोश से आच्छादित विद्यामय) का प्रतीक है। इसा तरह श्याम रंग आकाश का, पीताम्बर बिजली का, आदि-आदि।

[2] इष्ट फल-प्राप्ति के लिए किये जानेवाले अर्थात् सकाम कर्म जैसे यज्ञादि को 'इष्ट' कर्म व दूसरों की आवश्यकता-पूर्ति के लिए किये जानेवाले जैसे कूप, बावड़ी, तालाब, आदि परोपकार के कामों को 'पूर्त' कर्म कहते हैं।

"हे उद्धव ! सत्संग-सहित भक्तियोग के अतिरिक्त (इस संसार सागर से पार होने का) और कोई उपाय है ही नहीं; क्योंकि मैं साधुजनों का नित्य सहगामी और एकमात्र अवलम्बन हूं।" ॥४८॥

प्यारे ऊधो, देखो, सत्संग-सहित भक्ति-याग के बिना संसार-दुखों-रूपी इस विषम महासागर पार करने का और कोई सरल उपाय नहीं है। बिना सत्संग के कोरी भक्ति उसी प्रकार नहीं टिक सकती जैसे कि नित्य जल-सिंचन के बिना कोई नया पौधा। मुझे तुम साधुजनों का नित्य सहगामी ही समझो। 'मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद।' मुझे उनकी छाया ही मान लो। वे एक-मात्र मेरा ही अवलम्बन रखते हैं, जैसे परीक्षित का महल एक खम्भे पर खड़ा था या जैसे पतिव्रता का आधार उसका एक पति ही होता है, वैसे उनका महल एकमात्र मेरे ही अवलम्बन पर खड़ा रहता है। अतः मुझे सर्वदा उनके ही समीप समझो। उनके सत्संग का अर्थ मेरा ही दर्शन, उनकी सेवा का फल मेरी ही सेवा के बराबर जानना चाहिए।

"हे यदुनन्दन ! इसके बाद सुनने के इच्छुक तुमसे इस विषय में भी अत्यन्त गूढ़ और गोपनीय रहस्य बताऊंगा, क्योंकि तुम मेरे अनन्य सेवक, सुहृद् और सखा हो।" ॥४९॥

तुम्हारे प्रश्न का उत्तर मैंने यहां दिया ता; परन्तु अभी और भी गूढ़ बातें बताना रह गई हैं। तुम सच्चे जिज्ञासु हो, अतः तुम्हारे प्रश्न मुझे अच्छे लगते हैं। फिर तुम मेरे प्यारे सखा, सुहृद् भी तो हो। सखा होते हुए भी तुमने अपने-को मेरे नजदीक भृत्य-सा मान रक्खा है। तुम्हारी इस नम्रता की मुझपर बड़ी छाप है। बड़ों का साथीरहकर भी जो अपनी नम्रता नहीं छोड़ता वास्तव, में वही उनका साथी रहने के योग्य है। यद्यपि तुम अपनेको मेरा सेवक मानते हो, परन्तु सच पूछो तो मैं तुम्हें अपना सखा व सुहृद ही समझता हूं। यदि मैं भी तुम्हें अपना सेवक समझने लगूं तो मुझमें बड़प्पन का अभिमान आ जायगा व तुम्हारे मन में भी वह आदर-भाव न रहेगा। तुम्हारा मेरा संबंध तो शरीर व आत्मा जैसा, या दूध-मिसरी जैसा, समझो। अपने ज्ञान, जीवनादर्श व अनुभव की कोई बात तुमसे छिपा रखना नहीं चाहता।

: १२ :

भक्ति का हार्द

[इस अध्याय में भगवान् कृष्ण ने सत्संग की महिमा बताते हुए भक्ति का हार्द समझाया है। गोपियों की भक्ति को सर्वोत्कृष्ट बताते हुए भक्ति-मार्ग की यह बड़ाई बताई है कि उसमें दोषी, विकारवान्, पतित, पीड़ित, पंगु सबके लिए उद्धार की आशा है। वास्तव में यह प्राणिमात्र को मांगल्य व उद्धार का संदेश है। भक्ति का अर्थ ही है अनुराग, अहैतुकता—प्रेम के सिवा किसी वस्तु की चाह न रखना—समर्पण व एकनिष्ठा। अनुराग या प्रेम भक्ति की बुनियाद है। अहैतुकता उसका प्राण—आत्मा है। समर्पण उसका स्वरूप है। एकनिष्ठता उसकी पुष्टि या पूर्णता है। यह भी बताया है कि परमात्मा संसार में किस तरह लबालब भरा हुआ है, उससे संसार की कैसे उत्पत्ति हुई है। परमात्मा ताने-बाने की तरह संसार में व्याप्त है। माया परमात्मा की ही एक शक्ति है। उसको पार करने से परमात्मा की प्राप्ति होती है।]

"श्री भगवान् बोले—हे उद्धव, सर्वसंगनिवारक सत्संग के द्वारा मैं जैसा वशीभूत होता हूं, वैसा योग, सांख्य, धर्म, स्वाध्याय, तप, त्याग, इष्ट, पूर्त, दक्षिणा, व्रत, यज्ञ, वेद, तीर्थ, यम, नियम—किसीसे नहीं होता।" ॥१-२॥

ऊधो, सत्संग की महिमा अपार है। मनुष्य यदि आसक्ति से बचना चाहता है तो उसे सत्संग का आश्रय लेना चाहिए। यदि आसक्ति में फंस गया है तो भी उसके लिए सत्संग से बढ़कर रामबाण उपाय नहीं है। मैं भी जैसा सत्संग से वशीभूत होता हूं, वैसा और किसी साधन से नहीं। जैसे चींटी बड़ी दूर से शकर को सूंघ लेती है और दौड़कर वहां पहुंच जाती है वैसे ही मुझे सत्संग की गंध स्वभावतः ही आ जाती है और मैं चाहे कहीं भी, कितनी ही दूर पर होऊं, जहां सत्संग होता हो वहां दौड़कर आ जाता हूं और धक्का देने पर भी वहां से नहीं हटता। वहां मुझसे

तुम पालतू पशु की तरह काम करा सकते हो। उसमें मुझे लज्जा या ग्लानि का अनुभव नहीं होता। जिन साधु-सन्तों ने मेरे लिए सर्वस्व छोड़ दिया है, उनका वफादार मैं न रहूं तो मेरी साख कैसे कायम रहे ? हम 'भक्तन के भक्त हमारे, सुन अर्जुन परतिज्ञा मोरी'। जिन्होंने मुझपर विश्वास किया, मेरे नाम पर या मेरी खातिर तरह-तरह के कष्ट उठाये, मैंनेअपने को उन कष्टों में डालकर उनको फूल की तरह बचा लिया है। यह मेरा उनपर उपकार नहीं है। उनके विश्वास का बदला मात्र है। फिर भी भक्तों व सन्तों की महिमा देखो। जब उन्हें पता लगता है कि मैंने खुद कष्ट उठाकर उनके कष्ट को दूर किया है, तो उनका हृदय टूक-टूक होने लगता है। 'अरे हम बड़े पापी हैं, हमारे लिए भगवान् को कष्ट उठाना पड़ा,' ऐसा कहकर उलटा वे पश्चात्ताप करते हैं। उनके मन में क्षणभर के लिए भी यह खयाल नहीं आता कि हमारी सेवा-पूजा, त्याग व कष्ट-सहन का ही तो थोड़ा-सा बदला भगवान् ने चुका दिया—इसमें कौन बड़ी बात की ? हां, भक्तों ने प्रेम के तीखे उलहने तो इस तरह दिये हैं; पर वह उनकी शिकायत नहीं है, उच्चतम व अन्तस्तल की गहराई में बसे उत्कट प्रेम के वचन हैं और वे मुझे बड़े प्यारे लगते हैं। भक्तों की ऐसी प्रेमभरी मीठी झिड़कनें सुनकर मैं अहोभाग्य मानने लगता हूं। मेरी भक्ति ने उन्हें यह अधिकार दे रखा है। यदि इसके प्रयोग में वे झिझकें—कंजूसी करें तो मुझे दुःख हो। जब मुझसे उनका दुराव ही नहीं रहा, तो झिझक किस बात की ? जब संसार से, समाज से उन्होंने शिकायत, झिड़कन, ताने उलहने का रिश्ता तोड़ दिया तो फिर वे ये अरमान मुझपर नहीं तो किसपर निकालेंगे ? साधु समझते हैं, हमने सबकुछ परमात्मा को दे दिया। पर दरअसल उन्होंने सबकुछ मुझसे ले लिया और फिर दान देकर मानो मुझे लौटा दिया हो।

इस सत्संग का जादू जितना मुझपर चलता है, उतना न तो अष्टांगयोग[1] का,

---

[1] यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान व समाधि—ये पतंजलि के बताये हठयोग के आठ अंग हैं। व्यापक अर्थ में ज्ञानयोग, भक्तियोग, लययोग, राजयोग आदि भी योग के ही प्रकार हैं। इस अर्थ में योग 'भगवत्प्राप्ति की युक्ति' कहलाता है।

न सांख्यों की ज्ञाननिष्ठा[1] का, न स्मृतिकारों की धर्म-व्यवस्था[2] या उसके पालन का, न विद्वानों के स्वाध्याय[3] का, न तपस्वियों के कठोर तपों[4] का, न महान् त्यागों का, न इष्टापूर्त कर्मों का, न दान-दक्षिणा का, न कष्ट-साध्य व्रतों का, न मीमांसकों के यज्ञ-याग-हवनादि का, न ब्राह्मणों के वेदपाठ का, न तीर्थ-यात्रादि का और न यम-नियमादि के पालन का ही चलता है।

"सत्संग के द्वारा ही भिन्न-भिन्न युगों में दैत्य, राक्षस, मृग, पक्षी, गन्धर्व, अप्सरा, नाग, सिद्ध, चारण, गुह्यक, विद्याधर, मनुष्यों में वैश्य, शूद्र, स्त्री और अन्त्यज आदि राजस-तामस प्रकृति के जीव, एवं वृत्रासुर, प्रह्लाद, वृषपर्वा, बलि, बाणासुर, मय दानव, विभीषण, सुग्रीव, हनूमान, जाम्बवान्, गज, गृध्र, तुलाधार वैश्य, व्याध, कुब्जा, व्रज की गोपियां, यज्ञ-पत्नियां और ऐसे ही अन्यान्य अनेक जन मेरे परम पद को प्राप्त हुए हैं।" ।।३-४-५-६।।

देखो, सत्संगति की ही बदौलत, क्या देवयोनि के, या मनुष्य-योनि के और क्या राजस-तामस प्रकृति के जीव, सब मेरे परमपद को प्राप्त हो जाते हैं। देवयोनि में गन्धर्व, अप्सरा, नाग, सिद्ध, चारण, गुह्यक, विद्याधर, मनुष्यों में वैश्य, शूद्र व अन्त्यज आदि भी; राजस-तामस प्रकृति के दैत्य-राक्षस तक एवं वृत्रासुर, प्रह्लाद, वृषपर्वा, बलि, बाणासुर, मयदानव, विभीषण, सुग्रीव, हनूमान्, जाम्ब-

---

[1] **सांख्य**—पुरुष-प्रकृति दो तत्त्वों का, मुक्ति या कैवल्य के लिए पूर्ण चित्त-शुद्धि का प्रतिपादन करनेवाला शास्त्र है। आगे अ० २४ में इसका सविस्तर विवेचन मिलेगा।

[2] **धर्म**—इसकी भिन्न-भिन्न व्याख्याएं की गई हैं—'प्रकृति-सिद्ध नियमों' को धर्म कहते हैं। 'जिससे संसार का धारण-पोषण हो, वह धर्म है।' 'जिससे ऐहिक उन्नति व पारमार्थिक श्रेय की प्राप्ति हो, वह धर्म है।' जो व्यवस्था इस उद्देश में सहायक हो उसे धर्म-व्यवस्था कह सकते हैं। प्राचीन समय में 'वर्णाश्रम-व्यवस्था' धर्म-व्यवस्था मानी जाती थी।

[3] धर्म व ज्ञान-सम्बन्धी ग्रन्थों का मनन या तत्त्वों का चिन्तन स्वाध्याय कहलाता है।

[4] निश्चित लक्ष्य की प्राप्ति के लिए एकाग्रता से जो कष्ट सहा जाता है, उसे तप कहते हैं। सर्वांगीण संयम भी तप है।

वान्, गज, गृध्र, तुलाधार वैश्य, व्याध, कुब्जा, व्रज की गोपियां, यज्ञ पत्नियां और ऐसे ही अन्य अनेक लोगों के उदाहरण दे सकता हूं।

"देखो गोपिकाएं, गौएं, यमलार्जुन एवं ब्रज के अन्यान्य मृग आदि तथा और भी मन्दबुद्धि नाग एवं सिद्धगण, जिन्होंने न तो वेदों को पढ़ा था, न महत्पुरुषों की उपासना की थी और न कोई व्रत या तप ही किया था, केवल सत्संगजनित मेरे भक्तिभाव से ही सुगमतापूर्वक मुझको प्राप्त हो गये, जिसको कि बड़े-बड़े साधन-सम्पन्न प्रयत्नशील भी योग, सांख्य, दान, व्रत, तप, यज्ञ, श्रुति के कथन और मनन तथा संन्यास आदि किसी उपाय से भी नहीं पा सकते।" ॥७-८-९॥

योगी व ज्ञानी मुझे योग व ज्ञान के द्वारा पाने का प्रयत्न करते हैं। दान, व्रत, तप, यज्ञ, वेद-पाठ, स्वाध्याय, तथा संन्यास आदि नाना उपाय से बहुत कष्ट उठा-कर ये तथा दूसरे लोग भी मेरी आराधना करते हैं। परन्तु ऊधो, जितनी सरलता से केवल सत्संग-जनित मेरे भक्ति-भाव से व्रज की गोपियों, गायों, यमलार्जुन एवं व्रज के अन्यान्य मृग आदि ने तथा नागों व सिद्धों ने मुझे पा लिया, उतनी उनके हजार कष्ट उठाने से भी नहीं पा सके। फिर गोपियों आदि ने न तो वेदादि को पढ़ा था, न किसी महत्पुरुषों की उपासना की थी।

"(हे उद्धव ! उन गोपियों के प्रेम के विषय में क्या कहा जाय ?) जिस समय श्वफल्क-पुत्र अक्रूरजी श्रीबलरामजी के साथ मुझे मथुरा ले आये उस समय परम प्रेम के कारण मुझमें अनुरक्त हुई उन गोपियों को मेरे वियोग की विषम व्यथा के कारण संसार में अन्य कोई भी वस्तु सुखदायक न दीख पड़ी।" ॥१०॥

"वृन्दावन में स्थित मुझ प्रियतम के साथ जिन रात्रियों को उन्होंने आधे क्षण के समान बिताया था, हे प्रिय ! वे ही रात्रियां मेरे बिना उन्हें एक-एक कल्प के समान हो गईं।" ॥११॥

"समाधि में स्थित होकर मुनिजन तथा समुद्र में मिल जाने पर नदियां जैसे अपने नाम और रूप को गंवा देती हैं, उसी प्रकार अतिशय आसक्तिवश निरन्तर मुझमें ही मन लगे रहने के कारण उन्हें अपने शरीरादि की कोई भी सुधि नहीं रही थी।" ॥१२॥

"मेरे (वास्तविक) स्वरूप को न जाननेवाली तथा रमण और जार-बुद्धि से ही मेरी कामना करनेवाली उन सैकड़ों-हजारों अबलाओं ने निरन्तर मेरा संग रहने के कारण मुझे परब्रह्मरूप से ही पा लिया।" ॥१३॥

अपनी भक्ति की महिमा बताते हुए श्रीकृष्ण ने कई भक्तों के उदाहरण दिये। कई दूसरे साधनों से इसे सहज, सरल व शीघ्र फल-दायी बताया। किन्तु, इस समय उनके मन में सबसे अधिक भक्ति गोपियों की बसी हुई थी। उनके प्रेम व आत्म-समर्पण की स्तुति होते ही गद्गद् हो उठे। उन्होंने कहा—उद्धव, गोपियों के अद्भुत व अवर्णनीय प्रेम व उसके बदौलत उन्होंने जो कुछ पाया उसका तो हद-हिसाब ही नहीं। देखो, जब अक्रूर मुझे व बलदादा को मथुरा ले गये तब गोपियां अपने सारे सुखों को भूल गईं। मुझमें उनका चित्त इतना लगा हुआ था, ऐसे प्रगाढ़ भाव से उन्होंने अपना सर्वस्व मुझीको सौंप दिया था कि व्रज की कोई वस्तु उन्हें सुख-दायिनी नहीं मालूम होती थी। मेरे साथ वृन्दावन में रहते हुए सारी रातें जिन्होंने-आधे क्षण की तरह बिता दी थी, उन्हें मेरा वह वियोग एक असीम भीषण अन्धकार सा मालूम हुआ और एक-एक रात उन्हें कल्प-सी मालूम होने लगीं। ऊधो, उनके इस भाव को बड़े सिद्ध, योगी व मुनि भी सहसा नहीं समझ सकेंगे। फिर साधारण संसारी लोगों की तो बात ही क्या है? वे तो उसे शंका व दोष की दृष्टि से ही देखें तो ताज्जुब नहीं। उन्होंने संसार की सारी आसक्ति छोड़कर एक मुझमें ही उसे केन्द्रित कर दिया था। जैसे बत्ती में तेल बत्ती के अग्रभाग—सिरे में अपने-को बटोर रखता है। उन्हें अपने शरीर तक की सुधि न रही। समाधि में जैसे साधु या योगी का सब बाह्यज्ञान नष्ट हो जाता है उसी प्रकार बिना समाधि की प्रक्रिया जाने ही उनकी दशा हो गई थी। या जैसे नदी समुद्र में मिल जाने पर अपने नाम व रूप को छोड़ देती है, सब तरह समुद्र में ही लीन हो रहती है; इसी तरह वे शरीर व नाम-रूपधारिणी गोपियां नहीं रह गई थीं, मुझमें मिलकर मैं-मय हो गई थीं।

यह स्पष्ट है कि शुरू में वे मेरा असली—ब्रह्मरूप—नहीं जानती थीं। कृष्ण-रूपी शरीरधारी से ही उनका प्रेम था। यह भी मान लो कि उनका प्रेम मुझसे रमण करने के लिए अथवा जार-बुद्धि से युक्त था, तो भी अनन्य भाव व अटूट प्रेम की महिमा देखो, वे मेरे—परब्रह्म रूप—को पा गईं। इसीलिए मैं कहता हूं कि यह भक्ति-मार्ग सबसे सुलभ है। यदि सकाम ही नहीं, दूषित भाव से भी कोई मेरा ध्यान करेंगे, मुझे ही चाहेंगे, मुझे ही याद करेंगे तो वे मेरे असली ब्रह्म-भाव को पा जावेंगे। तुमने तो देखा है कि शत्रु-भाव से भी जिन-जिन लोगों ने मुझे याद किया है उनतक को मैंने सद्गति दी है। जो जिस भाव से मुझे पूजता है, उसी रूप

में मैं उसे प्राप्त हूं। ज्ञान की अपेक्षा भक्ति की यही विशेषता है।

ऊधो, भक्ति में मूल भावना प्रेम की है। आम तौर पर मनुष्य भगवान् को अपने से बड़ा मानता व अनुभव भी करता है। अतः उसके प्रति मन में कुछ भय, आदर, पूज्यता का भाव रहता है। भक्ति में ऐसा ही भाव समाया हुआ है। बूंद छोटी है व सिन्धु बड़ा है। फिर भी सिन्धु में समा जाने पर बूंद सिन्धु की महिमा को पा जाती है। इसी तरह भक्त अपनेको लघु मानते हुए भी परमात्मा में मिल जाने पर बड़ा ही हो जाता है। किन्तु भक्ति की अपेक्षा प्रेम के भाव में उस रूप को ग्रहण करने से और भी आसानी हो जाती है। प्रेम समान वय व स्थितिवाले के साथ होता है। अतः मनुष्य इसमें अधिक खुलकर एक दूसरे के साथ रहता व बर्तता है। बड़ों के प्रति अपने हृदय के सारे भावों को खोलकर रख देने में संकोच से लड़ना पड़ता है व उसको पछाड़ देने पर ही आगे बढ़ा जा सकता है। फिर भी कुछ-न-कुछ हिचक रह ही जाती है। हृदय खोलकर प्रेम की रसभरी बातें जैसे बराबरी-वाले के साथ की जा सकती हैं व सहज स्वभाव उनके सामने हृदय का एक-एक परदा खुलता जाता है वैसे बड़ों के सामने जिनके प्रति हृदय में भक्ति या आदर का भाव है, नहीं हो सकता। इससे मनुष्य कई बार पूर्ण असंतोष, पूर्ण आत्म-अभिव्यक्ति, पूर्ण समर्पण या शरण को अनुभव नहीं करता। भक्त को यह तो भरोसा रहता है कि भगवान् मुझे उबार लेंगे, पर यह आनन्द नहीं मिलता है कि वह उनसे जी खोलकर बातें कर रहा है और वह उसके सामने अपना हृदय उंडेल रहे हैं। अतः जिनके मन में प्रेम का यह मधुर भाव अधिक प्रबल रहता है, वे इसी प्रेम के उपासक हो जाते हैं।

फिर जब मैं भक्तों से पूछता हूं कि आखिर तुम चाहते क्या हो? लो मैं आ गया। तो वे मेरी तरफ देखकर हँस देते हैं। चाहिए क्या? चाहिए कुछ नहीं। मैं कहता हूं, वाह, यह भी कोई बात हुई? इतने रोये-चिल्लाये, घरबार, मौज-मजा छोड़ा, मुझे तरह-तरह से कोसा, गालियां दीं, ताने-तिश्ने सुनाये, अब जब मैं आया तो कहते हो—'चाहिए कुछ नहीं' तो फिर इतनी झंझट की किसलिए। मेरा सबकुछ ले लो, खुद मुझे ले लो। तब कहते हैं—हम तुम्हारे ऐश्वर्य के भूखे नहीं। ऐश्वर्य तो और जगह और तरीके से भी मिल सकता था। और तुमको लेकर हम क्या करेंगे? देना ही चाहते हो तो अपना प्रेम दे दो। बस, हमें और कुछ नहीं चाहिए। मैं पूछता हूं कि ख़ूब रही। अरे प्रेम लेना तो तुम्हारे ही हाथ में था, सो

तुमने ले लिया। उसीका बंधा व मारा तो तुम्हारे पास आया हूं। अब तो कुछ और मांगो। "और तुम्हारे पास कोई चीज़ हमारे काम की नहीं है। हम तो प्रेम के पुजारी हैं। न तुम्हारी जरूरत है, न तुम्हारे ऐश्वर्य या सर्वस्व की। इसे और कहीं देकर ललचाते व फंसाते रहो। हमारे लिए तो सिर्फ इतना ही कर जाओ-- 'जन्म-जन्म रति राम-पद यह वरदान न आन।' तुम्हारा यह प्रेम ही हमेशा हमें मिलता रहे, ऐसी व्यवस्था कर दो। बस और कुछ नहीं। तुमको लें तो इस महासागर में हमारा पता ही न चले। तुम तो होशियार हो। हमें डकार जाना चाहते हो। मगर हम भी ऐसे बुद्धू नहीं हैं, जो तुम्हारे ललचावे में आकर अपने-आपको ही मिटा दें। तुम्हारे से इतना प्रेम लगाकर उसका फल मिले तुम्हारी पराधीनता, तुम्हारा बन्दा, गुलाम बनकर रहना! तुम्हारी हां-में-हां मिलाना! तो उससे फायदा ही क्या हुआ? हम तो तुम्हारे प्रेम का अमृत अपने पास रखना चाहते हैं कि जब तबीयत हुई एक बूंद मुंह में डाल ली या जी भरकर नहा लिये। और हम तुमसे तुम्हारे प्रेम की भी भिक्षा मांगना नहीं चाहते। कौन तुम्हारी बार-बार खुशामद करता फिरे, तुम्हारे आगे-पीछे फिरता फिरे? जब तुम आ ही गये हो और कुछ देना ही चाहते हो तो सिर्फ इतना ही दो कि हमारे हृदय से तुम्हारे प्रेम की अखण्ड धारा बहती रहे। हम तो अपने ही हृदय को संभालकर रखना चाहते हैं। तुम अपनेको, अपने हृदय को, अपने प्रेम को, अपने ही पास बनाये रखो। केवल इतना करो कि हमारे हृदय का प्रेम का सोता न सूखे। सदा-सर्वदा झरता व बहता रहे।'

उन्हें नरक व स्वर्ग समान है। नरक का उन्हें डर नहीं, स्वर्ग की उन्हें चाह नहीं। क्योंकि वे कहते हैं कि हमने तो सब कर्म तुम्हें सौंप रखे हैं, उनका फलाफल तुम भोगो। हम उनसे बरी हैं। और यों भी तुम सब जगह हो। न स्वर्ग तुमसे खाली है, न नरक। नरक से हमें भय तब हो जब वहां तुम्हारा अभाव हो।

ऊधो, देखा इन सन्तों, भक्तों व प्रेम के पागलों का ठाठ। है न इनकी निराली शान। इस मस्ती की कोई मिसाल तुम दे सकते हो? गोपियों का प्रेम भी इसी नमूने का समझो।[1] उन्हें मेरे प्रेम के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहिए था। मेरा

[1] जो पुरुष सम्पूर्ण कर्म मुझे अर्पण करते हैं तथा जिनका समय मेरी ही कथा-वार्ताओं में बीतता है, वे यदि गृहस्थाश्रम में भी रहें तो भी घर उनके बन्धन का कारण नहीं होता। मैं ज्ञान-स्वरूप परमात्मा उनके हृदय में नित्य नया-नया-सा

अंग-संग तो उस प्रेम का प्रारंभिक उभार मात्र था। प्रथमावस्था में वह निर्विकार नहीं था—ऐसा भी समझ लो। परन्तु मेरे सम्पर्क में आते ही उनका उतना दोष भी जाता रहा। उनके काम-विकार का मुझपर असर होने के बदले मेरे सम्पर्क से उनका काम-मोह नष्ट हो गया। मेरे प्रेम की खूबी ही यह है कि उसका चस्का लगने पर मनुष्य के मन के विकार भी धुल व गल जाते हैं। सच्चे प्रेमी को न शरीर चाहिए न शरीरवान, न रूप या रूपवान। उसे केवल प्रेम, शुद्ध हृदय से उमड़ता हुआ प्रेम चाहिए। बालक को जैसे माता के दूध से पोषण मिलता है वैसे ही सच्चे प्रेमियों को केवल एक दूसरे के प्रेम की धारा से—इस एहसास से कि हमारा एक दूसरे से शुद्ध प्रेम है, हमारे दिल में कोई कपट, मलिनता, स्वार्थ, चाह नहीं है; हमारे दिल दो दीखते हैं पर वास्तव में एक ही है—इस भावना व अनुभव से जो पोषण मिलता है, उसकी उपमा व मिसाल नहीं दी जा सकती। मैं सदा ऐसे प्रेमी भक्तों की तलाश में रहता हूं और जहां वे होते हैं वहीं, अपने वैकुण्ठ को ले जाकर रहता हूं एवं उसके विशुद्ध व अखण्ड प्रेमरस से खुद पोषण पाता हूं।

ऊधो, गोपियों को लोगों ने कम समझा है। उनके आरम्भिक विकार का मैं भी समर्थन नहीं करता, परन्तु उनके उदाहरण से मैं यह समझाना चाहता हूं कि यदि उनमें कुछ दोष या दुर्भावना भी हो तो भी मुझसे निष्कपट व अहैतुक प्रेम करने का फल हमेशा अच्छा ही होगा। दोष व विकार तो कहीं भी हो, वह समर्थनीय नहीं हो सकता। पर मेरे इस प्रेम-पन्थ या भक्ति-मार्ग की बड़ाई यही है कि इसमें दोषी, विकारवान, पतित, पीड़ित, पंगु सबके लिए उद्धार की आशा है। वास्तव में यह प्राणि-मात्र को मांगल्य व उद्धार का संदेश है।

"अतः, हे उद्धव, अब तुम श्रुति, स्मृति, प्रवृत्ति, निवृत्ति, श्रोतव्य और श्रुत—सबका परित्याग करके अनन्यभाव से समस्त देहधारियों के आत्मस्वरूप एक मेरी ही शरण में आ जाओ और मेरे आश्रित होकर सर्वथा निर्भय हो जाओ।" ॥१४-१५॥

अतः प्यारे ऊधो, तुमको भी मेरी यही सलाह है, यही उपदेश है कि तुम और

भासता हूं। मुझे ही ब्रह्मवादी लोग ब्रह्म कहते हैं, जिसे प्राप्त होकर लोग न मोह को प्राप्त होते हैं, न शोक को ही, न हर्ष को।

—भाग० स्कं० ४।३०।१९-२०

सब बातों को छोड़ दो। श्रुतियों ने, वेदों ने, क्या विधान किया है, स्मृतियों ने क्या उपाय बताया है, इस झंझट में न पड़ो। तुम तो सरल उपाय चाहते हो। अतः प्रवृत्ति क्या व निवृत्ति क्या, प्रवृत्तिमार्ग अर्थात् कर्ममार्ग कैसा व निवृत्ति अर्थात् ज्ञानमार्ग क्या है—इसे जानने या याद रखने की भी उलझन में मत पड़ो। अबतक तुमने इस विषय में जो कुछ भी पढ़ा या सुना या जाना है, उसे भी भूल जाओ। इससे कोई हानि नहीं होगी। तुम इस बात का भय मत रखो कि तुम्हारी मेहनत बेकार गई। तुम तो अनन्य भाव से मेरी शरण आ जाओ। एकमात्र मुझमें पतिव्रता की तरह मन को लगा दो। नट जैसे दुनियाभर के खेल-कसरत दिखाता है पर अपना सारा ध्यान तौल संभालनेवाले उस बांस पर रखता है (या सरकसवाले छाते पर रखते हैं) उसी तरह तुम भले ही चाहो तो दुनिया के दूसरे काम करते रहो पर मेरा ध्यान न छूटने पावे। इस तरह सर्वथा मेरे आश्रित होकर रहो। अपना भला-बुरा, हानि-लाभ, दुःख-सुख, यश-अपयश, जीवन-मरण, चिन्ता-भय, सब मुझपर छोड़ दो। क्योंकि इसे मत भूलो कि आखिर इन तमाम देहधारियों में आत्मरूप में मेरा ही निवास है। वे जानते हों या न जानते हों, वे मेरा ही आश्रय लेकर रह रहे हैं। लेकिन उन्हें इसका पता नहीं होता है। अतः इसके फल व आनन्द या निश्चिन्तता से भी वे वंचित रहते हैं। लेकिन तुम तो अब इसको जान रहे हो। अतः मेरा ही पल्ला पकड़कर निर्भय होकर संसार में रहो। इस एकनिष्ठता में बड़ा बल है। भक्ति का अर्थ ही है अनुराग व अहैतुकता—प्रेम के सिवा किसी वस्तु की चाह न रखना—समर्पण व एकनिष्ठता। अनुराग या प्रेम भक्ति की बुनियाद है। अहैतुकता उसका प्राण—आत्मा है। समर्पण उसका स्वरूप है। एकनिष्ठता उसकी पुष्टि या पूर्णता है।

जिस प्रेम या भक्ति में शरीर, शारीरिक अथवा भौतिक सुखों या फलों की चाह हो वह एक या कुछ व्यक्ति या वस्तु तक सीमित रह जाती है, फैलती नहीं है, व अनेक प्रकार के रागद्वेषमय कर्मों की जनक होकर सुख-दुखों का कारण बनती है। अगर अन्त में ऐसा ही फल प्राप्त करना है तो फिर उसके लिए प्रेम या भक्ति का आश्रय लेने की जरूरत ही क्या है? दुनिया के अन्य कबाड़ों से भी यह नतीजा निकलता है। अतः प्रेम या भक्ति की कसौटी ही यह है कि अपने प्रेमी से उसकी कोई मांग न हो। अर्थात् किसी मूर्त वस्तु पर उसका लक्ष्य न हो। अमूर्त

प्रेम पर ही उसका आधार हो, वही उसकी मांग हो। यह बाहर से अमूर्त किन्तु भीतर से सजीव अमृत—प्रेमधारा सूर्य-किरणों की तरह संसार में चारों ओर फैलती है, प्रेम-सूर्य का सन्देश प्रभाव, प्रेरणा, जीवन-संसार का रस सूर्य को लाकर देती है। इसमें न प्रेमी को कुछ खोने का भय रहता है, न प्रेमिका को। दोनों को पाने-ही-पाने का लाभ मिलता है। जो दिया वह पाया ही है—प्रेम दिया व तृप्ति पाई। दोनों तरफ बहीखाते में यही हिसाब दर्ज मिलेगा। दिया अकेला प्रेम मिली ब्याजसहित तृप्ति। ऊधो, ऐसा प्रेम ही मेरा जीवन है। यह प्रेम ही संसार में सबसे बड़ा धर्म है। यही संसार में अमृत है। मेरा रूप अगर मुझसे पूछो तो वह यह प्रेम—इसका रस ही है। कवियों, ज्ञानियों, पण्डितों ने इसे 'आनंद' नाम दिया है; पन्तु यह तो फल-वाचक हुआ। मूल-दर्शक नाम तो यह 'ढाई अक्षर प्रेम है' (पढ़ै सो पण्डित होय)।

समर्पण या एकनिष्ठता से अभिप्राय किसी एक व्यक्ति के प्रति एकनिष्ठता से नहीं है—जो प्रेम या भक्ति में सीमित हो गई वह या तो कुछ दोषयुक्त, स्वार्थ-मूलक, भोग-मूलक होगी, या भक्त की आरम्भिक साधना के रूप में होगी। मैं तो भक्ति की अन्तिम सीढ़ी, असली रूप, मर्म या हार्द तुम्हें बता रहा हूं। उस अवस्था में प्रेम या भक्ति केवल अपने प्रति एकनिष्ठ रहेगी अर्थात् उसकी एकता अखण्डता, स्थिरता में च्युति न आने पावे। जीवन प्रेम या भक्ति-भाव से सराबोर रहे—अब 'बस' या 'दूसरा कुछ'—ऐसा भाव मन में न पैदा होने पावे। योग में इसी स्थिति को 'समाधि' कहा है। भक्ति की भाषा में हम इसे भाव-समाधि कहेंगे। सतत् एक, अनन्य, अखण्ड भाव—शान्त नदी की धारा, निर्वात स्थान के दीपक की अकम्पित ज्योति की तरह।

"उद्धवजी बोले—हे योगेश्वरों के अधीश्वर, आपका इतना उपदेश सुनकर भी अभी मेरे मन का सन्देह पूर्णतया निवृत्त नहीं होता है, जिससे मेरा चित्त भ्रमित हो रहा है (आप भलीभांति समझाकर उसे दूर कीजिये)।" ॥१६॥

"श्रीभगवान् बोले—आधार आदि चक्रों में जिनकी अभिव्यक्ति होती है, वे ही ये जीवनदाता परमेश्वर पहले परावाणीयुक्त प्राण के सहित गुहा (आधार-चक्र) में प्रविष्ट हो (मणिपूर चक्र में आकर पश्यन्ती नामक) मनोमय सूक्ष्म रूप धारण करते हैं। तदनन्तर (विशुद्धि-चक्र में मध्यमा रूप से परिणत होते हुए अन्त में मुख के द्वारा) मात्रा, स्वर और वर्णरूप स्थूल (वैखरी) वाणी होकर

प्रकट होते हैं।" ॥१७॥

इतने विवेचन से भी उद्धव का संशय दूर न हुआ। और भी विस्तार से जानने की इच्छा बनी रही। तब भगवान् ने कहा—'मैं ही सबकी आत्मा हूं। सब जड़-चेतन में आत्मरूप से व्याप्त हूं'—मेरा यह कथन तुमको चक्कर में डाल रहा होगा। अतः पहले इसीको अच्छी तरह समझ लो। तुम परमात्मा या परमेश्वर के तत्त्व और रूप को तो समझ ही गये हो। सारे ब्रह्माण्ड में जो चेतन-शक्ति बिखरी या फैली हुई दीखती या अनुभव में आती है, वह परमात्मा, परमेश्वर या ब्रह्म आदि नाम से कही जाती है और उस चेतना का जो अंश व्यक्ति या वस्तु-विशेष में आकर उसके नाम-रूप में बंध जाता है, उसे जीवात्मा कहते हैं—इसको फिर अच्छी तरह याद रख लो। अब अपने इस शरीर को एक छोटा ब्रह्माण्ड ही समझो। यह शरीर मेरुदण्ड—रीढ़ की हड्डियां जिस डांडे में जुड़ी हुई है—उसके ऊपर बहुत-कुछ आधार रखता है। यह डाण्डा गुदा-स्थान के ऊपर से ठेठ गर्दन तक गया है। इसमें नीचे से लेकर ऊपर छः ऐसे मर्मस्थान हैं जहां प्राण का विशेष-रूप से स्थान या पड़ाव होता है। इन्हें षट् चक्र अथवा पद्म-कमल कहते हैं। उनके नाम नीचे से ऊपर तक क्रम से इस प्रकार हैं—

१. गुदा में मूलाधार स्थान या चक्र है, यह चतुर्दल कमल है।

२. लिंग मूल में स्वाधिष्ठान चक्र है, यह षड्दल कमल है।

३. नाभि में मणिपूरक चक्र है, यह अष्टदल कमल है।

४. हृदय में अनाहत चक्र है, यह द्वादशदल कमल है।

५. तालुमूल में विशुद्धि चक्र है, यह षोडशदल कमल है।

६. भौंहों के मध्य में आज्ञा चक्र है, यह द्विदल कमल है।

ये सूक्ष्म शक्ति के केन्द्र हैं। योगी लोग साधना-विशेष से इनका अनुभव कर सकते हैं, और उन-उन स्थानों के प्राण या शक्ति को जगा सकते हैं। यह प्राण या शक्तिविद्युत् रूप है, यह पहले बता चुके हैं। योगी लोग सबसे पहले इस प्राण या आत्म-रूपी चेतन शक्ति को मूलाधार चक्र में अनुभव करते हैं, जिसे 'विवर' 'गुहा' आदि कहते हैं। परमेश्वर परावाणी के साथ प्राण-रूप में पहले इसी गुहा में प्रविष्ट होते हैं। फिर मणिपूरक चक्र में चढ़ते हैं। वहां वे मनोमय रूप धारण करते हैं और पश्यन्ती नामक वाणी के रूप का लिये रहते हैं। वहां से विशुद्धि चक्र में मध्यमा वाणी के रूप में परिणत होते हुए अन्त में मुख के द्वारा मात्रा,

स्वर और वर्णरूप स्थूल (वैखरी) वाणी होकर प्रकट होते हैं। यह शब्द-ब्रह्म की उत्पत्ति व विकास का क्रम मैंने बताया। मानव-शरीर की तरह अब परमात्मा के विराट शरीर की कल्पना करो। परमात्मा प्राण या चेतनमय महासमुद्र है। चेतन शक्ति के रूप में वह निराकार है, जैसे कि बिजली या हमारे शरीर में प्राण। जिस आकार या शरीर में ये पहुंचते हैं उसीके अनुकूल इनका आकार हो जाता है, जैसे पानी जिस आकार के बरतन में डालोगे वैसा ही आकार धारण कर लेता है। यह चेतन तत्त्व या शक्ति पानी से भी बहुत सूक्ष्म है। पानी आंख से दिखाई देता है, बिजली कभी-कभी चमक जाती है, जिससे उसके अज्ञात या अप्रकट रूप की कल्पना मन को हो जाता है। यह परमात्म-चेतन-तत्त्व बिजली व आकाश (ईथर) से भी अधिक सूक्ष्म है, अतः जब किसी रूप या आकार में चेतना दिखाई देती है तभी व उसीसे हम उसकी सत्ता का अनुमान करते हैं। योगी लोग समाधि के द्वारा व ज्ञानी प्रज्ञा के द्वारा उसकी झलक देख भी लेते हैं। इसी चेतन तत्त्व के शरीर की मानव-शरीर की तरह कल्पना करके इन चक्रों आदि की वैसी ही स्थिति का चित्र अपनी आंखों में खींचो। इस चेतन तत्व में जब प्रारम्भिक प्रकट क्रिया शुरू हुई तो पहले कुछ आवाज़ निकली—इसीको वेदज्ञ व वेदान्ती शब्द-ब्रह्म कहते हैं। यही तन्त्र-शास्त्र में 'नाद' कहलाता है। शब्द के निकलने के पहले कई भीतरी क्रियाएं हुईं। उन्हींका वर्णन मैंने ऊपर किया है। इस शब्द, नाद या वाणी का जो अत्यन्त सूक्ष्म रूप है वह पहले मूलाधार में प्रतीत या प्रविष्ट हुआ। यह परमात्म-चेतन-तत्व से सूक्ष्मता में बहुत ही निकट का रूप है, अतः इसे परा अर्थात् हमारी बुद्धि या अनुमान के उस पार की वस्तु-वाणी कहा गया। इसके बाद मणिपूरक में पहुंचकर उस प्राण ने विकसित होकर अधिक स्थूल रूप ग्रहण किया, जिसे मन कहते हैं। यहां इस शब्द या वाणी का नाम पश्यन्ती हुआ; क्योंकि मन-रूप होने के कारण अब इसका ग्रहण मन या बुद्धि के द्वारा कुछ-कुछ किया जा सकता है। फिर विशुद्धि चक्र में जाकर उसकी ध्वनि गूंज-जैसी सुनाई पड़ती है। अतः मध्यमा कहलाती है, और विकास होने पर वह ध्वनि मात्रा, स्वर, वर्ण, अर्थात् ऊंची-नीची ध्वनि, अ, आ, इ, ई, क, ख, च, आदि रूप में व्यक्त हुई। यह क्रिया मुख के द्वारा हुई, जिसमें जीभ का सहयोग मिला। अतः इसे वैखरी कहा गया। वैखरी अर्थात् मुंह से निकलनेवाली। वाणी की ओर से चलो तो 'परा' तक उसके एक-से-एक सूक्ष्म-रूप मिलेंगे। वाणी के रूप में मेरे आत्म-रूप या चेतन का जो विकास हुआ, वह मैंने तुम्हें समझाया।

"जिस प्रकार आकाश में ऊष्मा रूप से स्थित अव्यक्त अग्नि काष्ठ के बल-पूर्वक मथे जाने पर वायु की सहायता पाकर पहले अणु (सूक्ष्म) रूप से प्रकट होता है और फिर आहुतियों द्वारा प्रचण्ड (स्थूल) रूप धारण कर लेता है, उसी प्रकार (परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी) वाणी रूप से यह मेरी (शब्द-ब्रह्म की) हीं अभिव्यक्ति होती है।" ॥१८॥

इसे और अच्छी तरह समझने के लिए अग्नि का उदाहरण लो। यह तो तुमने देखा है कि लकड़ी से लकड़ी रगड़कर यज्ञ में आग पैदा की जाती है। जंगल में बांस में परस्पर रगड़ से आग पैदा हो जाती है और बांस ही नहीं, अक्सर सारा पहाड़ जल जाता है। सोचो, यह अग्नि कहां से आई? यही मानना होगा कि लकड़ी के भीतर छिपी हुई थी। दो लकड़ियों की रगड़ से वह प्रकट हो गई व हवा लगकर आसमान में फैल गई। अब हवा में व आसमान में यदि उसी अग्नि के छिपे हुए कण नहीं तो उसकी लपट कैसे उठी? लपट का मतलब ही यह है कि आकाश-स्थित अग्नि-कण लकड़ी की आग से चिनगारी ग्रहण करके प्रज्वलित हो उठते हैं। उन कणों का समूह शृंखला जैसा होनी चाहिए, जिससे लपट एक लगातार सिलसिले की तरह दीखती है। फिर वह लपट बुझकर गई कहां? लकड़ी तो जलकर खाक हो गई, उसमें तो वापस घुसी नहीं, राख को सुलगाने से फिर जलती नहीं। अतः यही मानना होगा कि वह आकाश में फैल गई—अलबत्ते अदृश्य रूप में अर्थात् आकाश में रही। आकाश में अग्नि-कण अप्रकट रूप से संचित रहते हैं। अतः जिस तरह आकाशस्थ या काष्ठस्थ सूक्ष्म अदृश्य अग्नि प्रकट होकर पहले एक अणु जैसी छोटी होकर फिर बढ़कर प्रकट होती है उसी तरह यह वाणी मेरे अव्यक्त चेतन-तत्व से क्रमशः स्थूल रूप धारण करती हुई अन्त में मुख के द्वारा संसार में प्रकट होती है व फैलती है। वाणी-रूप में यह मेरी ही अभिव्यक्ति है। जहां-जहां शब्द, ध्वनि, वाणी है, वहां-वहां मेरा ही निवास, मेरी ही अभिव्यक्ति, कृति समझो।

"इसी प्रकार, वाणी, कर्म, गति, विसर्जन, घ्राण, रस, दर्शन, स्पर्श, श्रवण, संकल्प (मन), विज्ञान (बुद्धि), अभिमान, सूत्र (महत्तत्त्व) और सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण के विकार—ये सब मेरे ही कार्य हैं।" ॥१९॥

इस वाणी के उदाहरण से ही और बातें भी समझ लो। संसार में जितने प्रकार के कर्म देखते हो, ऊंची-नीची, आगे-पीछे, चारों ओर गतियां देखते हो,

जितने कुछ पदार्थ या नाम-रूप दीखते हैं, विविध प्रकार की जो महक, गन्ध, खुशबू, तैल, इत्र, कपूर आदि नजर आते हैं या खट्टे-मीठे, तरह-तरह के रस, पेय, अनुभव में आते हैं, जो कुछ संसार में आंखों से दिखाई देता है या हाथ तथा त्वचा से छूने में आता है, या कानों से सुनने में आता है, या हमारे मन-बुद्धि जो कुछ संकल्प-विकल्प या निश्चय-निर्णय करते हैं, तथ्य निकालते हैं, तत्वों, सिद्धान्तों का आविष्कार करते हैं, संसार में जो कुछ अभिमान योग्य, मैं-तू, मेरा-तेरा, अपना पराया, आदि भेद-भाव से युक्त मालूम होता है, वह सब मेरा ही कार्य, मेरा ही रूप, मेरी ही अभिव्यक्ति है, ऐसा समझ लो। इनसे भी सूक्ष्म महत् तत्व तथा प्रकृति के तीनों गुणों का जहां-जहां पसारा देखो वह सब मेरा ही रूप या कार्य है।

"यह जीव (मायोपाधिक ईश्वर) इस त्रिगुणमय ब्रह्माण्ड-कमल का कारण है। यह आदिपुरुष पहले एक और अव्यक्त था। जिस प्रकार उर्वरा-भूमि में पड़ा हुआ बीज (शाखा-पत्र-पुष्प आदि) अनेक रूप धारण कर लेता है, उसी प्रकार काल-गति से (माया का आश्रय करने पर) शक्तियों का विभाग होने से यह परमात्मा भी नाना रूप से प्रतीत होने लगता है।" ॥२०॥

यह परमात्मा एक से अनेक कैसे हुआ, भिन्न-भिन्न नाम-रूपी कैसे बन गया, सो सुनो। परमात्मा जब माया की उपाधि से युक्त हो जाता है, माया का प्रभाव उसपर पड़ जाता है, माया से घिर जाता है, जैसे सूर्य बादलों से कभी-कभी ढंक जाता है, तब वह और उसीसे यह ब्रह्माण्ड बनता है। यह मायोपाधिक ईश्वर कहलाता है। यहां जीव से अभिप्राय उसी ईश्वर से है। मायोपाधिक ईश्वर इस ब्रह्माण्ड-कमल का कारण अर्थात् जन्मदाता है, जो कि प्रकृति या माया के सत्व, रज, तम, इन तीन गुणों से युक्त है। यह परमेश्वर आदिपुरुष कहलाता है, क्योंकि इसके पहले कुछ नहीं था, न कोई व्यक्ति, न कोई वस्तु। शुरू में यह आदिपुरुष या परमात्मा भी अव्यक्त, अदृश्य रूप में था। जिसका हम इन्द्रियों से अनुभव कर सकें, देख सकें, सुन सकें, सूंघ सकें, छू सकें, वह व्यक्त कहलाता है और जिसका पता हमें अपनी इन्द्रियों से न लगे, केवल तर्क, अनुमान या यौगिक अनुभवों में ही जो जाना जाय, उसे अव्यक्त कहते हैं। एक बीज में वृक्ष अव्यक्त छिपा हुआ रहता है, उसे हम इन्द्रियों के द्वारा नहीं देख सकते। पर जब काल-गति से अर्थात् समय पाकर, वह अंकुरित होता है व उसमें पत्ते-टहनियां, फूल-फल लगते हैं तब उसे प्रत्यक्ष पेड़ के रूप में देखते हैं और यही नतीजा निकालते हैं कि यह वृक्ष अदृश्य

रूप से इस बीज में समाया हुआ था। उसी तरह परमात्मा काल पाकर, माया के आश्रय से, अलग-अलग शक्तियों के विभाग के अनुसार, नाना रूपों से प्रतीत होने लगता है। माया या प्रकृति के तीनों गुण परस्पर में घुलते-मिलते हैं, जिससे तरह-तरह के मिश्रण बन जाते हैं। उन्हींसे नाना रूप की सृष्टि दिखाई देती है। पहले वे मिश्रण भिन्न-भिन्न बीज रूप में आते हैं, फिर उनसे यह व्यक्त सृष्टि विकास पाती है। सृष्टि का भौतिक रूप या ढांचा तो माया के गुणों से बना है और उनमें चेतना परमात्मा की चेतन शक्ति से प्राप्त हुई है। यह माया भी परमात्मा से कोई अलग वस्तु नहीं है। उसीकी एक विलक्षण शक्ति है। इसको कार्य-कारिणी शक्ति भी कहते हैं। इस भ्रम को मिटाने के लिए कार्य-कारिणी शक्ति को महामाया व भुलावे में डालनेवाली शक्ति को माया व अविद्या भी कहा जाता है। समुद्र को परमात्मा समझो। उसमें लहर का उठना माया का प्रभाव समझो। तीनों गुण क्षुब्ध हो रहे हैं और उनका परस्पर मिश्रण हो रहा है, एक की दूसरे में व दूसरे की पहले में, इस तरह सबकी सबमें आहुति हो रही है—सृष्टि का प्रारम्भिक यज्ञ हो रहा है, जिससे लहरें उठकर बूंद, फेन, बुद्-बुद्, बन व बिखर रहे हैं। वह अखण्ड समुद्र खण्ड-खण्ड होकर नाना-रूपों में विभक्त दीखने लगा। ऐसा ही हाल उस एक परमात्मा का हो जाता है। यही उसके एक से अनेक होने का रहस्य है।

"जिस प्रकार तागों के ताने-बाने में वस्त्र ओत-प्रोत रहता है, उसी प्रकार यह सम्पूर्ण विश्व उस परमात्मा में ही ओत-प्रोत है। यह जो सनातन संसार-वृक्ष है, कर्ममय है तथा (भोग और मोक्ष ही) इसके फूल और फल हैं।" ॥२१॥

एक और दृष्टान्त देकर इसे समझाता हूं कि किस तरह परमात्मा संसार में लबालब भरा हुआ है। कपड़े को देखो तो उसमें सिवा धागे के ताने-बाने के और क्या मिलेगा? कपड़े को परमेश्वर समझो। ताना-बाना प्रकृति के तीन गुणों की मिलावट समझो। कपड़ा चेतन पदार्थ नहीं है, अतः केवल तीन गुणों का खेल हो रहा है। इसमें परमात्मा की चेतन-सत्ता प्रत्यक्ष नहीं है जैसी कि मनुष्य, पशु या पौधे में है। फिर भी ये तीनों गुण जिस प्रकृति या माया के हैं, वह भी तो परमात्मा से पृथक् नहीं है, उसीकी एक शक्ति है। अतः इन तीन गुणों के इस ताने-बाने में—इस अखिल संसार में—वह परमात्मा ही भरा हुआ है,या यों भी कह सकते हैं कि यह संसार, कपड़े के ताने-बाने की तरह, परमात्मा में ओत-प्रोत है। यह संसार एक सनातन वृक्ष है। सनातन उसे कहते हैं, जिसका न ओर हो न छोर,

न आदि हो न अंत। यह कर्ममय है। इसमें जितने जड़-चेतन पदार्थ हैं, वे सब कर्ममय हैं, क्रियाशील हैं। जिन्हें आमतौर पर जड़ वस्तु समझा जाता है, उनमें सूक्ष्म शक्ति अणु, विद्युत्-कण, सर्वदा शक्तिशील रहते हैं। यह गति व क्रिया ही कर्म है। प्रतिक्षण प्रत्येक पदार्थ व जीव कोई-न-कोई क्रिया करता ही रहता है। जो क्रिया हेतु-पूर्वक, जान-बूझकर की जाती है उसे कर्म कहते हैं। कर्म करने के अधिकारी वे ही हैं, जिनमें उनके परिणामों के या कर्म की योग्यता-अयोग्यता का विचार करने की शक्ति है। मनुष्य में यह शक्ति सबसे अधिक है, अतः मनुष्य केवल प्राकृतिक प्रेरणा से कर्म नहीं करता, जैसा कि पशु-पक्षी करते हैं; बल्कि अपनी शक्ति भर सोच-समझकर करता है। इसीलिए वह कर्म करने का जैसे अधिकारी है, या उसकी क्रियाएं जैसे कर्म की कक्षा में आ जाती हैं, वैसे ही उसे उनके फल को भोगने का भी अधिकार है।

इस कर्ममय वृक्ष के फूल तो 'भोग' को व फल 'मोक्ष' को समझ लो। सांसारिक आनन्द, विषय-भोग से मिलनेवाला, स्त्री, पुत्र, धन, मान, कीर्ति, ऐश्वर्य, सत्ता से मिलनेवाला सुख, 'भोग' कहलाता है। यह क्षणिक है, और भोग के उपरान्त, खिन्नता, क्लेश, दुःख, आपत्तियों का कारण बनता है। प्रत्येक संसारी को इसका नित्य अनुभव है। परन्तु इस आनन्द या सुख में कुछ ऐसा नशा, मोहिनी या जादू है कि मनुष्य फिर-फिर इसमें डूबता-उतराता रहता है। अतः इसे संसार-वृक्ष का 'फूल' कहा है। फूल में रूप व गंध के सिवा कुछ नहीं। अपने इन ऊपरी गुणों से थोड़ा-सा आनन्द देकर फूल मुरझा जाता है। और हमारा सब मज़ा किरकिरा हो जाता है।

इसका फल है 'मोक्ष'। मोक्ष कहते हैं सब दुःखों से छुटकारे को—जन्म-मरण रूपी दुःख व झंझट तक से छूट जाने को। अतः जो संसार में पैदा होकर उसका सच्चा फल पाना चाहता है, उसे उसके भोग-रूपी फूल को छोड़कर मोक्ष-रूपी फल को ही ग्रहण करना चाहिए।

"इस संसार-वृक्ष के (पाप और पुण्य) दो बीज हैं, अनन्त (वासनाएं) जड़ें हैं, तीन (गुण) तने हैं, पांच (भूत) स्कन्ध हैं, पांच (शब्दादि विषय) रस हैं, ग्यारह (इन्द्रियां) शाखाएं हैं, (जीव और ईश्वर) दो पक्षी इसमें घोंसला बनाकर रहते हैं, इसके (वात, पित्त और कफ) तीन वल्कल हैं, और (सुख तथा दुःख) दो फल हैं। यह अति विशाल वृक्ष सूर्य-मण्डल तक फैला हुआ है। इसके आगे।

लोकातीत स्थान है। इसीसे मुक्त पुरुष सूर्य-मण्डल भेदकर जाते हैं।" ॥२२॥

अब इसी पेड़ के उदाहरण से मैं तुम्हें इस सिलसिले की और भी तफसील बता या समझा देना चाहता हूं। इस संसार-वृक्ष का बीज क्या है ? पाप-पुण्यात्मक जो कर्म संसार में किये जाते हैं, वही इसका बीज है। प्राणियों के कर्म या तो अच्छे होते हैं या बुरे। समाज को हानि पहुंचानेवाले होते हैं या लाभ पहुंचानेवाले। हानि पहुंचानेवाले पाप व लाभ पहुंचानेवाले पुण्य कहे जाते हैं। इसीको धार्मिक भाषा में कहें तो परमात्मा की तरफ ले जानेवाले कर्म शुभ, या पुण्य कहे जाते हैं। और परमात्मा से विमुख अर्थात् विषय-भोग में लिप्त करनेवाले या हिंसा, असत्य, दम्भपूर्वक किये जाने वाले कर्म पाप कहलाते हैं। वे कर्म होकर ही नहीं रह जाते, अपना असर डालते हैं, फल देते हैं। अच्छे कर्म अनुकूल प्रतिक्रिया व बुरे कर्म प्रतिकूल प्रतिक्रिया पैदा करते हैं, जो अच्छे व बुरे फल के रूप में कर्ता के पास आ पहुंचती है। ये सब अच्छे-बुरे फल कर्ता को भुगतने पड़ते हैं। पूरा फल भुगते बिना ही वह मर गया तो शेष फलों को भोगने के लिए उसे फिर जन्म लेना पड़ता है। ये अभुक्त फल उसके जन्म के लिए बीज का काम देते हैं।

फिर ऊधो, मनुष्य जो कर्म करता है, उनके मूल में उसकी कामना व वासना मुख्य रहती है। किसी-न-किसी उद्देश्य या हेतु से ही वह कर्म में प्रवृत्त होता है। प्राणी के मरते समय ये हेतु, कामना या वासनाएं भी अपूर्ण, अतृप्त, अवशिष्ट रह जाती हैं। ये भी उसके अगले जन्म के लिए बीज रूप बन जाती हैं। प्राणी के मरने के साथ ही उसकी वासना के संस्कार भी मर या मिट नहीं जाते। कायम रहते हैं तबतक जबतक कि उनको भून नहीं दिया जाता। बीज को भून देने पर फिर उससे किसी भी दशा में वृक्ष नहीं पैदा हो सकता, क्योंकि भूनने से उस बीज के चेतन अणु नष्ट हो जाते हैं। इसी प्रकार वासना-रूपी बीज को जबतक अनासक्ति या नैष्कर्म्य-रूपी आग में भून नहीं दिया जाता तबतक उससे फिर जन्म अर्थात् संसार की उत्पत्ति होती ही रहेगी।

मनुष्य और जीवों के ही कर्म नहीं, पदार्थ मात्र जो कुछ क्रिया इस संसार में करते हैं उनके भी सूक्ष्म प्रभाव अणु या तरंग-रूप में, या और किसी अदृश्य-रूप में, वातावरण में या आकाश में सोये रहते हैं। उन्हें जड़ पदार्थों की वासना कहना हो तो विषय को समझने के लिए कह दो। इस संसार के लोप हो जाने पर अर्थात् प्रलय के बाद दूसरी सृष्टि के जन्म के लिए ये सब प्रभाव, संस्कार, वासना बीज

का काम देते हैं।

अच्छा, अब यह पेड़ खड़ा किन जड़ों पर है ? किसके द्वारा यह अपने जीवन के लिए पोषण रस प्राप्त करता है ? तो इसका उत्तर है वासनाएं इसकी जड़ें हैं। जबतक जड़ें रहती हैं तबतक वृक्ष डिग नहीं सकता—जबतक वासनाएं रहेंगी तबतक उनके द्वारा संसार को पोषण मिलता ही रहेगा। इन वासनाओं की न कोई गिनती लगा सकता है, न कोई हिसाब ही लगाया जा सकता है। जैसे संसार में अनन्त व्यक्ति व वस्तुएं हैं, वैसे ही वासनाएं भी अनन्त हैं।

इस संसार-वृक्ष के तीन तने हैं, जिन्हें प्रकृति के तीन गुण समझ लो। इन तीन तनों पर इसका सारा ढांचा खड़ा है। और पांच महाभूत इसके स्कन्ध या कन्धे हैं, जहां से दूसरी शाखाएं फूटती हैं। महाभूत पदार्थ की अवस्था बतलाते हैं, यह पहले समझा चुके हैं। तमोगुण से पदार्थों की आकृति, रजोगुण से क्रिया व सत्वगुण से उनकी गतियों व आकृतियों में पाई जानेवाली व्यवस्थितता का बोध होता है। या यों समझो कि तमोगुण से वस्तु-सत्ता या पदार्थ, रजोगुण से क्रिया या गति और सत्वगुण से मन-बुद्धि की उत्पत्ति हुई है। पांच भूतों—पृथ्वी, जल, तेज, वायु आकाश—का सम्बन्ध मुख्यतः तमोगुण से है, क्योंकि पदार्थ के रूप, आकृति या अवस्था पर से यह वर्गीकरण किया गया है। जिसमें ठोसपन है वह पृथ्वी, जो तरल है वह जल, जो विरल या भाप-रूप है वह वायु व उससे भी सूक्ष्म अवस्था में रहने वाले पदार्थ आकाश कहे जाते हैं। तेज इन सबके रूपान्तरों की एक अवस्था में प्राप्त होता है। प्रत्यक्ष अग्नि-प्रयोग से एक भूत दूसरे भूत से बदला जाता है, अतः इसे भी पांच भूतों में ही गिन लिया। ये भूत ही पदार्थों की विभिन्नता—विभिन्न रूप के सूचक हैं। अतः संसार-वृक्ष की विभिन्न डालियों के फूटने के स्थान—स्कन्ध—के रूप में उन्हें ग्रहण किया गया है।

पांच भूतों की तरह पांच वर्ग रजोगुण अर्थात् सूक्ष्म क्रियाओं के भी हैं, जिन्हें शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध कहते हैं। इन्हींको तन्मात्रा[1] भी कहते हैं। जैसे प्रत्येक पदार्थ या भूत की सत्ता है और कोई आकृति या परिमिति है वैसे ही उसमें सूक्ष्म क्रियाएं भी होती रहती हैं। ये यों तो असंख्य हैं, परन्तु विद्वानों व विचारकों ने उनके पांच वर्ग कर दिये हैं, क्योंकि हमारी पांच इन्द्रियों से उतने ही वर्गों का

---

[1] देखिये परिशिष्ट २१

ज्ञान हो सकता है। कान से शब्द का, त्वचा या चमड़ी से स्पर्श का, आंखों से रूप का, जबान से रस का और नाक से गन्ध का। प्रत्येक तन्मात्रा को उस-उस इन्द्रिय का विषय कहा जाता है। कान बाहरी जगत् का रस या आनन्द शब्दों के—मधुर वचन, सुस्वर, सुरीला संगीत, आदि द्वारा लेते हैं, नाक विभिन्न प्रकार की गन्ध द्वारा, आंख सुन्दर रूपों द्वारा, जबान मीठी वाणी, या मीठे, नमकीन स्वाद द्वारा त्वचा कोमल स्पर्श द्वारा। यही पांच इस संसार-वृक्ष के रस रूप हैं।

जैसे पहले शब्द उठा तो उसके फैलने के लिए या फैलने से या गूंज से आकाश बन गया। शब्द के गूंजने की शक्ति ने आकाश बना लिया। शब्द या ध्वनियां यदि आकाश, अवकाश या पोल न हों तो नहीं रह सकतीं, न सुनाई दे सकती हैं, न एक जगह से दूसरी जगह जा-आ ही सकती हैं। यह शब्द व आकाश का सम्बध हुआ।

अब वायु को लो। यह स्पर्श का स्थूल रूप है। स्पर्श के लिए पदार्थ या वस्तु का एक स्थान से दूसरी जगह जाना जरूरी है। उनके जाने से जो गति होती है उसीसे हवा की उत्पत्ति हो जाती है, अर्थात् पदार्थों की परस्पर स्पर्शेच्छा ने वायु को उत्पन्न किया। हवा ऑक्सिजन, नाइट्रोजन आदि गैसों के मेल का नाम है, अतः वायु को गैस भी कह सकते हैं।

जब प्रकाश होता है तभी उसके सहारे हमें कोई वस्तु दीखती है। प्रकाश जब उस वस्तु पर टकरा कर लौटता है तो उसकी चमक में हमें पदार्थ दिख जाता है। पदार्थों की या जीव की देखने की इच्छा प्रकाश का कारण बनी। प्रकाश से तो हम पदार्थ के रूप को देख पाते हैं और प्रकाश स्वयं भी रूपवान है। अतः रूप तेज का गुण कहलाया। गर्मी भी तेज से हमें मिलती है, जो पदार्थों के रूपान्तर में काम आती है। इस दशा में वह पदार्थों का आगन्तुक धर्म है।

रस के दो गुण हैं बहाव व स्निग्धता—आर्द्रता या गीलापन। भगवान् प्राण-रस से परिपूर्ण हैं। चैतन्य जब पहले-पहल स्थूल रूप धारण करता है तो वह प्राण रूप में हमें उपलब्ध होता है। यह प्राण रस-मय है। अधिक सूक्ष्म अर्थ या रूप में उसे विद्युत्मय व और आगे चलें तो मनोमय, कह सकते हैं। परन्तु यहां उसके स्थूल-रूप का विचार करना है। परमात्म-प्राण जब विश्व-रूप में आने लगा तो उसमें तरलता व गीलापन आया, जिसके समुच्चय का नाम या संकेत 'जल' रख दिया गया।

अब रही पृथ्वी। गन्ध किसी-न-किसी पदार्थ का आश्रय लेकर रहता है। यह

पृथ्वी न हो तो गन्धोत्पादक पदार्थ भी न हों।

ये पांच सूक्ष्म गुण ही इस विश्व-वृक्ष के जीवन-रस हैं। इसी सूक्ष्म रस की बदौलत यह स्थूल ढांचा खड़ा व जीवित है। अब ग्यारह इन्द्रियां—पांच कर्मेन्द्रियां, पांच ज्ञानेन्द्रियां व मन मिलाकर—इसकी शाखाएं हैं, अवयव हैं, जिनसे यह शरीर अपना सारा व्यापार करता है।

इस पेड़ पर दो पक्षी अपना घोंसला बनाये बैठे हैं, एक तो है जीव, दूसरा है शिव या ईश्वर। वात, पित्त व कफ रूप तीन इसके वल्कल या छाल की परतें हैं। शरीर की रचना तीन संस्थाओं में बंटी हुई है। हृदय व फेफड़े वात-संस्थान, जिनके द्वारा वायु का जाना-आना शरीर में होता है, जठर, जिगर, तिल्ली आदि पित्त-संस्थान जिनके द्वारा अन्न का रस बनता है और अन्न-नाली, आंतें—छोटी-बड़ी दोनों—कफ-संस्थान हैं, जिनके द्वारा रस के रक्त रूप में परिणत होने या मल के रूप में अवशिष्ट रह जाने की क्रिया होती है। वैद्य लोग नाड़ी-परीक्षा से अर्थात् रक्त की गति के संचालन से यह देख लेते हैं कि विकार या रोग किस संस्थान में उत्पन्न हुआ है, या प्रधानतः सम्बन्ध रखता है। इन्हीं तीन संस्थानों को इस संसार-वृक्ष के तीन छाल-रूपी आवरण समझो। सुख-दुःख रूपी इसमें दो फल लगे हुए हैं और यह विशाल वृक्ष ठेठ सूर्य-मण्डल तक फैला हुआ है।

"जो ग्राम-निवासी गृहस्थ रूप गृध्र हैं, वे (नाना प्रकार के यज्ञादि कर्मों के बन्धन में फंसे रहने के कारण) इसके (दुःखरूप) एक फल को भोगते हैं और जो वनवासी परमहंसरूप राजहंस हैं वे इसके (सुखरूप) दूसरे फल के भागी होते हैं। जो पुरुष गुरुओं के द्वारा इनमें नाना रूप से भासनेवाले एक मायामय प्रभु को जानता है, वही इसको वास्तव में जानता है।" ॥२३॥

ऊधो, इस वृक्ष में जो दो फल लगे हैं, उन्हें वे दोनों पक्षी खाते हैं; एक तो उनमें गीध है, दूसरा हंस है। गीध तो गांव में रहता है और हंस जंगल में। गीध दुःख-रूपी फल को व हंस सुख-रूपी फल को खाता है। गीध से मतलब गृहस्थों से है, जो संसार के विषय-भोग व आमोद-प्रमोद में ही मस्त रहते हैं। इससे बड़ा या ऊंचा जीवन का आदर्श जिनके सामने नहीं है, समाज-सेवा, देश-सेवा, धर्म-सेवा, ईश्वर-भक्ति, परोपकार, दीन-दया, जैसी कोई उच्च व पवित्र भावना जिन्हें छू नहीं गई है, वे इस दुःख-रूपी फल के भागी होते हैं। ये विषय-भोग अफीम के फूल की तरह ऊपर से सुन्दर व भीतर अर्थात् फल-रूप में मादक व मारक हैं। जो

बाहरी सुन्दरता, आनन्द में फंस जाता है, उसीपर लट्टू हो रहता है, वह इस भीतरी विनाश या दुःखरूपी परिणाम को नहीं देख पाता। प्रेय के चक्कर में पड़कर पहले श्रेय व फिर प्रेय दोनों को खो देता है। जैसे शराबी पहले धन व पीछे होश-हवास भी खो देता है—जाता है शराब का आनन्द लेने, व गिरता है सड़क की गंदी नालियों में। लेकिन जो दूसरा हंस बताया है वह श्रेय को चाहनेवाला है। विषय-भोगों के मर्म व परिणाम को जानता है, अतः इनके पंजे में नहीं फंसता। इनसे वह 'काम-से-काम' रखता है, अधिक मुंह नहीं लगाता। उसे अरण्य-वासी तो इसलिए कहा है कि वह अपने निवास स्थान को अरण्य की तरह ही समझता है। अरण्य में रहा क्या, व घर रहा क्या—दोनों उसके लिए समान हैं। जिसके मनोविकार बहुत प्रबल हैं, घर-गृहस्थी की हर छोटी-बड़ी बात, सुख या आनन्द जिसे सहज ही प्रभावित व प्रलोभित कर लेती हो व जो उनकी तरफ की अपनी मन की दौड़ को सहज ही प्रभावित व प्रलोभित कर लेतीं हो व जो उनकी तरफ अपनी मन की दौड़ को काबू में नहीं रख पाता हो, जैसे बदमाश घोड़ा, तो उसे कुछ समय के लिए अरण्यवास अर्थात् एकान्त आवश्यक है।

इस संसार-वृक्ष का भेद वही जान सकता है, जिसने मायामय प्रभु को वास्तविक रूप में जान लिया है। गुरु, ज्ञानी या अनुभवी जनों से जिसने ईश्वर के स्वरूप व उसका जगत् से सम्बन्ध अच्छी तरह समझ लिया है वह मेरे इस रूप का मर्म तुरन्त समझ जायगा।

प्रत्येक वस्तु के दो रूप होते हैं, एक वह जो स्थूल है; आंखों से दिखाई देता है; दूसरा वह जो उसके भीतर छिपा रहता है, इसलिए जिसे सूक्ष्म कहते हैं। कोरा बाहरी या स्थूल रूप देख लेने से, या उसका परीक्षण कर लेने से मनुष्य असली जड़ तक, असलियत तक नहीं पहुंच सकता। सूक्ष्म रूप की छान-बीन करने के लिए बुद्धि को सूक्ष्म बनाना होगा व बाहरी इन्द्रियों ने जो ज्ञान हमारे सामने लाकर रखा है उसके आधार पर अनुमान, तर्क व प्रयोग या अनुभव की रोशनी में उसका स्वरूप निश्चित करना पड़ेगा। जैसे पानी के ऊपरी रूप-रंग, बहना-धर्म, पात्रानुसार आकार धारण कर लेना आदि बाहरी जानकारी हमारी आंख, नाक आदि इन्द्रियों ने हमें दी। लेकिन यह जल का ऊपरी ज्ञान हुआ। इसे आंशिक ज्ञान कहेंगे। पूरा ज्ञान हमें तभी हो सकता है जब हम इस बात की भी छानबीन कर लें कि जल किन तत्त्वों या पदार्थों के मेल से बना है और उन तत्त्वों का स्वरूप क्या है? यह जल

के सूक्ष्म रूप में प्रवेश करने व उसके आन्तरिक तत्त्व को जानने की क्रिया हुई। पहली—बाहरी—परीक्षा को पदार्थ-विज्ञान व आन्तरिक परीक्षण को अध्यात्म-विज्ञान कहा जाता है। अतः जबतक मनुष्य अधिकारी जानकारों द्वारा इस संसार का असली मर्म—इसके बाहरी व भीतरी दोनों रूपों का धर्म या ज्ञान नहीं प्राप्त कर लेता तबतक वह उसके ऊपरी रूप के भुलावे में पड़कर दुःखरूपी फल ही पाता व भोगता रहेगा।

"हे उद्धव, इस प्रकार गुरु की उपासनारूप अनन्य भक्ति के द्वारा तीक्ष्ण किये गए विद्यारूप कुठार से धैर्य और सावधानतापूर्वक जीव-भाव का उच्छेद करके परमात्मा स्वरूप हो जाओ और फिर उस विद्यारूप शस्त्र को भी त्याग दो (क्योंकि वृत्तिज्ञान भी अज्ञान ही है)।"॥२४॥

यह निश्चत है कि संसार व परमात्मा का पूरा ज्ञान बिना गुरु या जानकार, तत्त्वज्ञ के नहीं हो सकता। फिर जबतक भक्ति-भाव से चेष्टा न की जाय, ऐसा ज्ञान सहज रास्ते चलते नहीं मिल सकता। गुरु के प्रति नम्रता, कृतज्ञता, आदर का भाव, उनकी आवश्यकताओं व अभावों की पूर्ति पर ध्यान, विषय की तह तक पहुंचने में रुचि, जो परिप्रश्नों के रूप में प्रकट होती है, ये गुरु की उपासना या भक्ति के कुछ चिह्न हैं। कोई बात समझ में न आवे तो बार-बार प्रश्न करके उसे अच्छी तरह समझने का यत्न करना चाहिए। जबतक वह समझ में न आ जाय तबतक प्रयत्न छोड़ न देना चाहिए। एक विषय समझ लेने के बाद उसके आगे का विषय समझने में रुचि प्रदर्शित करनी चाहिए और आगे बताने के लिए आग्रह करना चाहिए। इन सब लक्षणों से गुरु प्रसन्न होते हैं और वे ऐसी-ऐसी कुंजियां साधक को बता देते हैं, जिनसे उनकी जिज्ञासा की गुत्थियां आसानी से खुलने लगती हैं। देखो, तुम जिस तरह से प्रश्न करते हो व और जानने की अभिलाषा प्रकट करते हो उससे मैं भी तुम्हें तरह-तरह से, बार-बार दुहराकर भी, सभी आवश्यक जानकारी देता जा रहा हूं। इससे मुझे थकान नहीं मालूम होती न मन ही ऊबता है। बल्कि और अधिक सुनाने को उमंग उठती रहती है।

इस प्रकार गुरु के प्रसाद से जो नई-नई जानकारी प्राप्त होती है, उससे हमारा ज्ञान-रूपी शस्त्र पैना होता चला जाता है, जिससे हमें जीव-भाव को काटने में सहायता मिलती है। यह शरीर ही जीव है। इस ज्ञान या भावना में स्थित होना 'जीव भाव' को काटना है। यह काम तभी हो सकता है जब सावधानी के साथ,

गाफिल न रहकर, व कठिनताओं तथा असफलताओं से धीरज न खोकर सतत प्रयत्नशील रहेंगे। एक दिन किसी किताब में पढ़ लिया, या व्याख्यान में अथवा गुरु-मुख से सुन या समझ लिया कि शरीर—आत्मा नहीं—परमात्मा है और थोड़ी देर बाद भूल गया या याद तो रक्खा परन्तु अपने जीवन-व्यवहारों में उस वृत्ति को लाने का प्रयत्न न किया, इसी भावना से प्रेरित होकर जीवन-कार्य न करने लगे, या घरवालों की तरफ से या समाज-राज की तरफ से कोई भय या प्रलोभन पाकर उस भावना को छोड़ दिया व ज्ञान को भुला दिया तो इससे काम नहीं चलने का। एक चौकीदार की तरह बिना गाफिल हुए, एक शिकारी या वीर योद्धा की तरह बिना घबराये या धीरज छोड़े जब इस भाव की अपने जीवन में सतत साधना की जायगी तभी परमात्मा रूप में मिलना हो सकेगा। और जब यह सिद्धि हो गई तो फिर यह ज्ञान यह साधना अपने-आप तुम्हारे लिए निरर्थक हो रहेगी। विद्या-अविद्या, ज्ञान-अज्ञान का भेद या स्फुरण तभी तक होता है जबतक जीव या शिव के भेद में विश्वास रहता है।

: १३ :

परमात्मा, जीव, जगत्

[इस अध्याय में वैदिक धर्म या वेदान्त के परम सिद्धान्त—विश्व, जीव व जगत् की एकता—का प्रतिपादन किया गया है व परमात्मा अव्यक्त से व्यक्त कैसे होता है तथा जीव किस प्रकार परमात्मा-पद को पहुंचता है, इसका स्पष्टीकरण किया गया है।]

"श्रीभगवान् बोले—हे उद्धव, सत्त्व, रज और तम—ये बुद्धि के गुण हैं, आत्मा के नहीं। सत्त्व के द्वारा रज और तम दोनों को जीते और फिर सत्त्व (मिश्र-सत्त्व) की प्रवृत्ति को भी सत्त्व (शुद्ध सत्त्व) के द्वारा शान्त कर दे।" ॥१॥

इसके लिए पहले सात्त्विक गुणों का विकास अपने अन्दर करना चाहिए। यह याद रक्खो कि सत्त्व, रज, तम, ये तीन गुण बुद्धि अर्थात्—प्रकृति के हैं—मन या बुद्धि प्रकृति से ही बने हैं—जीव या आत्मा के नहीं। लेकिन यह मन, चित्त या बुद्धि किसी भी नाम से पुकारो, जीवात्मा व परमात्मा के बीच का माध्यम है। चित्त इन तीन गुणों के संस्कारों व प्रभावों से भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को प्राप्त होता रहता है और जिस गुण से वह व्याप्त होता है उसीके अनुसार एक तरफ से परमात्मा व दूसरी तरफ से जीवात्मा के प्रतिबिम्बों को रंगीन बना देता है। इसके लिए शीशे की मिसाल अच्छी रहेगी। शीशे पर जो रंग चढ़ा होगा, या शीशा जैसा मैला या स्वच्छ होगा, उसीके अनुसार वह चीजों को रंगीन, मैला या स्वच्छ दिखावेगा। ये त्रिगुण इस चित्त पर भिन्न-भिन्न रंगों का काम देते हैं। अतएव पहला प्रयत्न हमारा यह होना चाहिए कि चित्त अपनी स्वाभाविक शुद्ध, स्वच्छ अवस्था में रहे। तमोगुण व रजोगुण को दबाकर जब सत्त्वगुण को प्रबल बनाने व रखने का प्रयत्न करते रहेंगे तो मन एक दिन स्वाभाविक अवस्था में आ जायगा, व रहने लगेगा। क्योंकि सत्त्वगुण की प्रधानता से ही मन की उत्पत्ति है। यह सत्त्व गुण परमात्मा की तरफ जाने के लिए प्रकृति की अंतिम सीढ़ी, आखिरी छोर है और

परमात्मा की तरफ से प्रकृति में आने की पहली सीढ़ी है। सत्त्वगुण का चरम उत्कर्ष ही गुणहीन अवस्था को अर्थात् परमात्म-रूप को पाना है। जैसे समुद्र में मिलनेवाली नदी का अन्तिम छोर समुद्र ही है।

ऊधो, प्रत्येक गुण शुद्ध गुण नहीं है। एक में दूसरा मिला ही रहता है। जब या जिसमें जिसकी प्रधानता होती है तब व उसे उसी नाम से पुकारते हैं। अतः सत्त्वगुण का सामान्य अर्थ हुआ सत्व-प्रधान। पहले मनुष्य तमोगुण को दबावे, जिससे सत्व व रज मिश्रित सत्त्वगुण रह जाय। फिर रजोगुण को दबावे जिससे शुद्ध सत्वगुण रह जाय। इस सत्त्वगुण में अधिक समय तक स्थिर रहने से अपने आप निर्गुण, गुणहीन, या त्रिगुणातीत अवस्था आ जाती है। सात्त्विक गुण के उत्कर्ष का अर्थ है दैवी संपत्तियों को या सद्गुणों को, सद्भावों को बढ़ाना। सदा अच्छा सोचने, अच्छी भावना रखने, अच्छी बात बोलने व अच्छा ही काम करने का दृढ़ संकल्प करने से सत्त्वगुण की वृद्धि होने लगेगी।

"बढ़े हुए सत्त्वगुण के द्वारा ही पुरुष को मेरे भक्तिरूप धर्म की प्राप्ति होती है। सत्त्वगुण की वृद्धि सात्त्विक वस्तुओं के सेवन से होती है और उनसे मेरे भक्ति-रूप धर्म में प्रवृत्ति होती है।" ॥२॥

जैसे-जैसे सत्त्व गुण की बढ़ती होगी वैसे-वैसे मेरी ओर मनुष्य का झुकाव होता जायगा। विषय-भोगों से, संसार की बुरी बातों से उसका मन हटता जायगा व मेरी ओर अग्रसर होता जायगा, जिससे मेरी भक्ति-रूपी धर्म की बातें सूझने लगेंगी। नाना प्रकार के पुण्य, भक्तिमय सेवा-कार्यों में रुचि बढ़ेगी, जिससे नये अशुद्ध कर्मों पर रोक लगेगी। सात्त्विक आचार से वह सत् अर्थात् सत्य रूपी परमात्मा की ओर ही बढ़ता चला जायगा। ज्यों-ज्यों जीवन में सत्य को अपनायेगा, त्यों-त्यों उसकी प्रवृत्ति धर्म की ओर अग्रसर होगी।

"सत्त्व की वृद्धि से युक्त सर्वोत्तम धर्म रजोगुण और तमोगुण को नष्ट करता है और उन दोनों का नाश होने पर उनके द्वारा होनेवाला अधर्म भी शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।" ॥३॥

जैसे-जैसे सात्त्विक गुणों की वृद्धि होती जाती है वैसे-वैसे शुद्ध धर्म में प्रगति होती जाती है, क्योंकि सात्त्विक गुणों के प्रभाव से मन, बुद्धि निर्मल होते जाते हैं, व मन के संकल्प शुद्ध व बुद्धि के निर्णय शुभ, उचित न्याय व सत्ययुक्त होते जाते हैं। इसका उल्टा दबाव फिर रज व तम गुणों पर पड़ता है, जिससे वे और

निर्बल हो जाते हैं। ज्यों-ज्यों रजोगुण व तमोगुण का पराभव होता जाता है, त्यों-त्यों उससे उत्पन्न होनेवाले, प्रोत्साहन, व पोषण पानेवाले अधर्म भाव भी नष्ट होते जाते हैं। वह कोरे व्यक्तिगत हानि-लाभ या सुख-दुःख के विचार करने के बजाय सारे कुटुम्बियों, जाति या देश-बन्धुओं के लाभ-हानि व सुख-दुःख का अधिक विचार करने लगता है। दूसरों को कष्ट, हानि, असुविधा पहुंचाकर भी अपना काम बनाने की जो आदत पड़ी हुई थी वह बदलने लगी, अब वह उसी मर्यादा में अपने काम को सफल बनाना चाहता है, जिसमें दूसरों को हानि व कष्ट न हो। पहले वह उद्दंड, उच्छृंखल रहता था, हर किसीका अपमान कर देता था, हर किसीका उपहास करने में उसे मज़ा आता था, दूसरों की फजीहत होती हो तो उसमें आनन्द मिलता था, निन्दा, चुगली, एक-दूसरे को भिड़ा देने में रस आता था, अब इनकी तरफ से उदासीनता आने लगी। इनमें तुच्छता, छोटापन अनुभव होने लगा। इस तरह धीरे-धीरे उसकी चित्त-वृत्तियां अशुभ से शुभ की ओर, झूठ से सत्य की ओर, असंयम से संयम की ओर, दुष्टता से सौम्यता व सौजन्य की ओर झुकने लगती हैं।

"शास्त्र, जल, कुटुम्ब, देश, काल, कर्म, जन्म, ध्यान, मन्त्र और संस्कार—ये दस गुणों के आविर्भाव के कारण हैं।" ॥४॥

अब तुम पूछोगे कि आखिर इन गुणों का आविर्भाव कैसे होता है? कौन इन्हें प्रेरित करता है? तो सुनो—उसके दस निमित्त या प्रेरक कारण होते हैं। पहला शास्त्र है। शास्त्रों में विविध प्रकार के क्रिया-कर्म व विधि-विधान लिखे होते हैं। अनेक प्रकार के देवी-देवताओं के पूजा-विधान किये गए हैं। इनसे कर्त्ता के विविध गुणों को उत्तेजना मिलती है। जल से अभिप्राय यहां भिन्न-भिन्न प्रकार के जलीय पदार्थों, पेयों से है। दूध, विविध रस, छाछ, शराब कई प्रकार के शर्बत आदि पीने से, या विविध प्रकार के जलवायु में रहने से भी गुणों की प्रेरणा मिलती है। प्रजा से मतलब भिन्न-भिन्न जाति के लोगों के सम्पर्क से है। इन सम्बन्धों, व सम्पर्कों के कारण भी गुणों का उभार होता है। देश से मतलब भिन्न-भिन्न प्रदेशों व भूखण्डों से है। वहां की जलवायु, प्रभाव, पद्धतियों के अनुसार भी गुण प्रोत्साहित होते हैं। काल का मतलब है सुबह, शाम, रात, जवानी, बुढ़ापा, बचपन आदि। इनके प्रभावों से भी गुण घटते बढ़ते या रूप बदलते हैं। मनुष्य के विविध कर्म-कलाप भी गुणोत्तेजक होते हैं। जिस वंश, कुल, योनि में जन्म हुआ हो उसके मुताबिक भी गुण अपना-अपना जोर जताते हैं। मनुष्य जैसा ध्यान, चिन्तन करता

है वैसे ही गुण उसमें उत्पन्न होते हैं। जैसा मन्त्र या उपदेश उसको मिलता हो, जिस प्रकार के मन्त्रों की साधना वह करता हो वैसे ही गुणों से अभिभूत मनुष्य होता है। जैसे संस्कार उसपर पड़ते हैं वैसे ही गुणों का पात्र वह होता है।

"इनमें से जिन-जिनकी वृद्धजन प्रशंसा करते हैं वे-वे ही सात्त्विक हैं, जिनकी निन्दा करते हैं वे तामस हैं और जिनकी उपेक्षा करते हैं, वे राजस हैं।" ॥५॥

अब इन तीन गुणों की पहचान क्या है? सो गीता में मैं इसका विवेचन कर चुका हूं। किन्तु यहां एक सरल युक्ति उसको जानने की बताता हूं। बड़े-बूढ़े व अनुभवी लोग जिन गुणों की प्रशंसा करें उन्हें सात्विक, जिनकी वे निन्दा करें, जिनके लिए मना करें, वे तामस, व जिनके बारे में चुप रह जाते हों, न अच्छा कहें न बुरा, तटस्थता धारण कर लेते हों या जिनकी उपेक्षा करते हों उन्हें राजस गुण समझो। यह शास्त्रीय व्याख्यान नहीं है। यह व्यावहारिक काम-चलाऊ तरकीब तुम्हें बताई है। क्योंकि इस समय मेरी निगाह के सामने तुम ही नहीं, बल्कि आज के व आनेवाले जमानों के वे तमाम अपढ़-कुपढ़, गंवार, स्त्री-जन, अबोध, किसान-मज़दूर अछूत, कोल-भील, नागा आदि जंगली लोग भी हैं, जिन्हें मुझे उद्धार का सरल रास्ता बताना है। ऊधो, सच पूछो तो जो पढ़े-लिखे, साधन-सम्पन्न, विद्वान्, धार्मिक, ज्ञानी, साधक, श्रेयार्थी हैं, उन्हें मेरी या मेरी सहायता की जरूरत ही क्या है? जो धन[1] ऐश्वर्य, सत्ता आदि के नशे में चूर हैं वे तो मेरी परवाह ही नहीं करते, अतः उन्हें मेरी जरूरत नहीं है—हालांकि एक तरह से वे ही मेरी सहायता व आश्रय के सबसे अधिक पात्र हैं, परन्तु ये गहरे डूबे हैं, अतः इनके लिए प्रयास व समय चाहिए। वे मेरी परवाह नहीं करते हैं, और जो खुद समझदार, विवेकी, विद्वान्, धार्मिक, सत्पुरुष हैं उन्हें मेरी खास ज़रूरत नहीं है हालांकि वे

---

[1]जिनका धन आतमा ही है, वे निर्धन पुरुष जिन्हें परम प्रिय हैं और जो भक्ति-रस को जानते हैं, वह श्री हरि उन कुबुद्धियों की पूजा को स्वीकार नहीं करते जो अपनी बहुज्ञता, धन, कुल और कर्मों के मद से अंधे होकर अकिंचन सत्पुरुषों का अपराध करते हैं। जो स्वरूपानन्द से ही परिपूर्ण होने के कारण अपनी सेवा करने-वाली लक्ष्मी, उनकी इच्छा करनेवाले राजाओं और देवताओं को भी कुछ नहीं गिनते, किन्तु अपने भक्तों के सदा अधीन रहते हैं, उन श्री भगवान् को कोई कृतज्ञ पुरुष कैसे त्याग सकता है? (भाग० स्कं० ४।३१+२१-२२)

मेरा पल्ला पकड़े ही रहते हैं। मेरी सच्ची ज़रूरत तो उन सरल, निर्दोष, भोले-भाले, आश्रयहीन, लोगों को है, जिनका जिक्र मैंने अभी किया है और जिनकी मुझे हद से ज्यादा चिन्ता है। शबरी के जूठे फल, सुदामा का चिवड़ा, विदुर का साग, केवट के जंगली फल-मूल, वन-फूलों की व तुलसी की माला, गरीबों व साधन-हीनों की इन भेंटों व वस्तुओं की मेरी निगाह में जो कीमत है, वह मेरे त्रैलोक्य के ऐश्वर्य की भी नहीं है। ऊधो, सच पूछो तो मैं उन्हींका हूं, जिनका कोई नहीं है। जिसका पिता नहीं है उसका मैं पिता, जिसकी मां-बहन नहीं है उसकी मां-बहन और शायद तुम शायद हँसोगे—जिसकी स्त्री नहीं है उसकी स्त्री भी मैं ही हूं। उसके सच्चे हृदय की पुकार पर उसकी स्त्री बनकर भी उसकी सेवा करने में मुझे लज्जा या संकोच न होगा। इसी तरह जिसके धन नहीं उसका धन, ऐश्वर्य नहीं उसका ऐश्वर्य, राज-पाट नहीं उसका राजपाट मैं ही हूं। जिसका जो अभाव है वह मैं ही हूं। उसी अभाव के रूप में वह मुझे पा सकता है। उसके सच्चे हृदय से पुकारने की देर है कि मेरी तरफ से देर न होगी। इसके कितने उदाहरण तुम्हें दूं? मेरा तो यह स्वभाव ही है और नित्य ऐसे ही कामों में लगा रहता हूं।

तुम पूछोगे कि तो फिर सबको इसका अनुभव क्यों नहीं होता? इसका कारण है। मनुष्य दो घोड़ों पर सवारी करते हैं। इधर मुझे पुकारते हैं, उधर पुरुषार्थ पर, अपनी अहन्ता पर भी भरोसा रखते हैं। मैं पुरुषार्थ का विरोधी नहीं हूं। मुझपर भरोसा रखकर पुरुषार्थ या उद्योग करना एक बात है, व पुरुषार्थ पर भरोसा रखकर मुझे पुकारना दूसरी बात है। जिनका अन्तिम विश्वास, आधार, मुझपर है वे जो कुछ पुरुषार्थ, परिश्रम, उद्योग, प्रयत्न करते हैं वह केवल मेरे साधन, एजेण्ट, या गुमाश्ते के तौर पर। उसके कर्तापन का व फलाफल का जिम्मेदार—वे जानते हों या न जानते हों—वास्तव में मैं रहता हूं, वे नहीं। लेकिन जिनका अन्तिम विश्वास पुरुषार्थ पर है, अर्थात् खुद अपने पर है, अपनी योग्यता, परिश्रम, जोड़-तोड़ भिड़ाने के सामर्थ्य या कूट-कपट युक्तियों, मारकाट आदि पर है, वे मुझे दर-असल ऊपर-ही-ऊपर से पुकारते हैं, बदर्जे मजबूरी पुकारते हैं, इसीसे मेरे हृदय पर उसका असर नहीं होता। अस्तु।

"जबतक आत्मतत्त्व का अपरोक्ष ज्ञान और देहद्वय तथा उनके कारणभूत गुणों की निवृत्ति न हो तबतक सत्त्वगुण की वृद्धि के लिए मनुष्य को सात्त्विक शास्त्रादि का ही सेवन करना चाहिए, उससे धर्म की वृद्धि होती है और फिर उससे

ज्ञान उत्पन्न होता है।" ॥६॥

इसका सारांश यह हुआ कि मुझे पाने के लिए सात्त्विक वृत्ति बढ़ाना चाहिए। इसके लिए चारों ओर से सात्त्विक बातों को ही ग्रहण करने का उद्योग करना चाहिए। यहांतक कि शास्त्रादि भी वही सेवन करें जो सात्विक धर्म या उपदेश-प्रधान हों। जैसे जिन शास्त्रों में मांसाहार, पशु-बलि, मारण, मोहन, उच्चाटन आदि सिद्धियों या शक्तियों का विधान हो; तथा जिनमें कूट-कपट, हत्या-हिंसा का समर्थन हो, या दुर्व्यसन को बढ़ानेवाली वस्तुओं या विषयों के बनाने व सेवन करने की विधियां हों, ऐसे शास्त्रों से बचना चाहिए। किसी भी विषय की विधिवत चर्चा करनेवाले ग्रन्थ को शास्त्र कहते हैं। वैसे शास्त्र से प्रायः धर्म-शास्त्र ही समझा जाता है। परन्तु शास्त्र का व्यापक अर्थ भी है। और धर्म के नाम पर व नाम से भी तो कई तामस विधियों का प्रचार है व हो जाता है तथा धर्म-शास्त्रों में भी उनका विधान मिल जाता है। क्योंकि ये शास्त्र समय-समय पर बनते, संशोधित व सम्पादित होते हैं और जिस समय जैसी आवश्यकता समझी जाती है वैसे धार्मिक आचारों का रूप समाज के धुरीण बदल दिया करते हैं तथा शास्त्रों में भी तदनुसार परि-वर्तन कर दिया जाता है। प्रिय ऊधो, भले ही प्रसंगानुसार कभी कोई समाज-नेता या व्यवस्थापक किसी तामसिक विधि-विधान को थोड़े समय के लिए आवश्यक या अपरिहार्य समझ ले; परन्तु उसका सदैव प्रयास तो समाज में सात्त्विकता बढ़ाने का ही रहता है व रहना चाहिए, क्योंकि इसीसे धर्म की वृद्धि व पुष्टि होती है व समाज आगे बढ़ता है। इस तरह राग-द्वेष-मूलक रजोगुणी शास्त्रों से भी बचना चाहिए।

सत्त्वगुण को बढ़ाने का प्रयत्न तबतक करते रहने की जरूरत है जबतक आत्म-तत्त्व का अपरोक्ष यानी प्रत्यक्ष ज्ञान न हो तथा स्थूल शरीर व सूक्ष्म अथवा लिंग-शरीर की और उनके कारण बननेवाले गुणों की निवृत्ति न हो। इसे अच्छी तरह समझ लो।

आत्म-तत्त्व तो तुमने अबतक के विवेचन से समझ ही लिया है। बुद्धि से जो ज्ञान आत्म-तत्त्व का होता है उसे आत्मा का वास्तविक ज्ञान नहीं कहते। जैसे मेरे समझाने से आत्मा के सम्बन्ध में तुम्हारी बुद्धि को कुछ परिचय हो गया है, आत्मा की एक कल्पना या चित्र उसमें अंकित हो गया है। कहना ही हो तो परोक्ष अर्थात् प्रकारान्तर से, अप्रत्यक्ष, ज्ञान कह सकते हैं। अपरोक्ष अथवा प्रत्यक्ष ज्ञान को

साक्षात्कार भी कह सकते हैं। सरल भाषा में उसे प्रत्यक्ष दर्शन ही कहो ना। अब वह आत्मा या ईश्वर का प्रत्यक्ष दर्शन क्या वस्तु है, इसके बारे में दो मुख्य मत हैं। एक तो यह कि जैसा मैं तुम्हारे सामने प्रत्यक्ष बैठा हूं, तुमसे बातें कर रहा हूं इस तरह प्रत्यक्ष दर्शन होना, दूसरा यह कि आत्मा या ईश्वर के जो गुण हमने मान लिये हैं उनका अपने में व जगत् में विकास देखना। अवतार-कल्पना को मानने-वाले व कुछ योग-साधक इस बात पर विश्वास रखते हैं कि भगवान् मनुष्य की तरह प्रत्यक्ष दर्शन देता है व जगत् में आता रहता व अपना काम पूरा करके चला जाता है। योग-साधकों या भक्तों को ध्यान की, स्वप्न की या अन्य चिन्तन अथवा भावलीनता की अवस्था में जो मूर्तियां, आकृतियां, तेजोगोल, दीप्तियां दिखाई देती हैं उन्हें वे ईश्वर-दर्शन मानते हैं। उनके ये अनुभव गलत नहीं हैं। परन्तु इस प्रकार का भगवद्दर्शन न तो कठिन ही है और न साधक को बहुत आगे ही ले जा सकता है। इससे दर्शक को भगवान् के दर्शन का एक अद्भुत आनन्द अवश्य होता है, परन्तु साथ ही कृतार्थता भी मालूम होने लगती है, जिससे भक्त या साधक आगे साधना में शिथिल होकर उसी तृप्ति को अन्तिम अवस्था मान लेता है। वास्तव में इन अनुभवों का इतना ही अर्थ है कि उसकी सात्त्विकता बढ़ रही है, चित्तवृत्ति एकाग्र हो रही है, परमात्मा की कृपा उसपर बरसने लगी है। इससे उसका उत्साह आगे की साधना में बढ़ना चाहिए। किन्तु जब वह यह समझकर कृतकृत्य होने लगता है कि मुझे तो ईश्वर-दर्शन हो गये, आत्म-साक्षात्कार हो गया तो फिर उसकी प्रगति रुक जाती है। अतः मैं इसका दूसरा व अधिक स्थायी या सार्थक पहलू तुम्हें समझना चाहता हूं।

परमात्मा को या तो हम 'सच्चिदानन्द' या षड्गुणों के लक्षण से जानते हैं। एक-एक लक्षण एक-एक विशेष गुण के सूचक हैं। 'सत्' 'होने के' भाव का, 'स्थिति' का, अथवा 'सत्य' का सूचक है। इसमें संसार के सभी स्थिर भावों का समावेश हो जाता है जैसे प्रेम, न्याय, दया, उदारता, क्षमा, आदि। 'चित्' क्रिया-शीलता व ज्ञान का सूचक है। इसमें सभी प्रकार के कर्म व ज्ञान का समावेश हो जाता है। 'आनन्द' सुख, तृप्ति, अशोक, आदि भावों का सूचक है। इसी तरह षड्-गुणों को समझ लो।

परमात्मा तो अनंत गुणों व भावों का सागर है। हमने उसकी पहचान के लिए कुछ विशेष गुण, संकेत के तौर पर, चुन लिये हैं। इनमें से जो गुण या भाव साधक या

भक्त को अपने हृदय के नजदीक लगता हो, प्रिय लगता हो, उपास्य लगता हो, उसका विकास वह अपने में करे। अपने शरीर व मन के प्रत्येक अंश, प्रत्येक परमाणु में वह उसी गुण को देखे व अनुभव करे। जब वह अपने-आपको उसी गुण की प्रत्यक्ष मूर्ति अनुभव करने लगे तब समझे कि उसने अपने लिए परमात्मा या ईश्वर के दर्शन कर लिये। अपने अन्दर उसने ईश्वर को पा लिया। लेकिन जगत् में अभी ईश्वर-दर्शन करना बाकी रहा है। उसकी यही भावना जब संसार के प्रत्येक परमाणु में व्याप्त हो जायगी, जगत् की प्रत्येक वस्तु जब उसे उस रूप में दीखने लगेगी, अनुभव होने लगेगी, तब समझना चाहिए कि उसने संसार में ईश्वर-दर्शन कर लिये। इस तरह पिण्ड व ब्रह्माण्ड, व्यष्टि व समष्टि, दोनों में जबतक उसकी ऐसी भावना, वृत्ति या अनुभव नहीं हो जाता तबतक उसका ईश्वर-दर्शन अधूरा, झलक मात्र, अस्थायी, क्षणिक, तात्कालिक ही समझना चाहिए। केवल मानसिक चिन्तन या अभ्यास से यह स्थिति नहीं प्राप्त होती। हमारे जीवन-व्यापारों में उसके दर्शन या परिणत होने पर ही इस स्थिति को पहुंचा कहा जा सकता है। इस तरह सत्य को, प्रेम को, ऐश्वर्य को, यश को—किसीको भी लेकर साधना करनेवाला अपने अन्दर व बाहर सब सत्यमय, प्रेममय, ऐश्वर्यमय, यशमय, देखने लगेगा।[1]

प्रत्येक वस्तु की तरह हमारे शरीर के भी दो रूप हैं—स्थूल व सूक्ष्म। ऊपर का ढांचा स्थूल व भीतरी रूप सूक्ष्म है, जिसे लिंग-शरीर कहते हैं। लिंग का अर्थ है अवयवहीन। उसमें बाहरी शरीर की तरह प्रत्यक्ष इन्द्रियां तो नहीं होतीं परन्तु इनके सूक्ष्म तत्त्व होते हैं, जो अठारह हैं। मनुष्य की वासना, कर्म व कर्म-फलों के संस्कार इस लिंग-शरीर में चिपके या जुड़े रहते हैं। मृत्यु के समय यह स्थूल शरीर तो निर्जीव हो जाता है, परन्तु प्राण के साथ लिंग-शरीर, इसे वासनात्मक शरीर भी कहते हैं, बाहर निकलकर वातावरण में चला जाता है। (सूक्ष्म होने के कारण हमें आंखों से या दूरबीन से नहीं दिखाई देता। कुछ प्रयोगों से वैज्ञानिकों या शोधकों ने इसका पता लगाया है।) यह लिंग-शरीर मनुष्य के नवीन जन्म का

---

[1] जैसे दुर्योधन को अपनी सभा में, या श्रीअरविन्द को अदालत में, या गोपियों को रास-मण्डल में, कृष्ण-ही-कृष्ण दिखाई देते थे। दुर्योधन को भगवान् की योगमाया से व श्रीअरविन्द तथा गोपियों को अपनी तन्मयता से।

बीज है, व कारण बनता है। इसका मूल वासना है। अतः जबतक मनुष्य वासना को निर्मूल नहीं कर लेता तबतक वह संसार-बन्धन या आवागमन के चक्र[1] के दुःखों से नहीं छूट सकता। सात्त्विकता की साधना से वासना क्रमशः शुद्ध होती जाती है। शुद्ध भाव, शुद्ध, निष्काम, परमात्म-प्रीत्यर्थ कर्म, अनासक्ति यह सात्त्विकता का दूसरा नाम है। इनसे वासना शुद्ध होते-होते उसका ज़ोर इतना धीमा पड़ जाता है कि वह मनुष्य को कर्म में प्रेरित नहीं कर सकती; जैसे शान्त महासमुद्र में ऊपर-ऊपर चलनेवाली बहुत हल्की लहरें, या मनुष्य-शरीर को लगनेवाले मन्द हवा के हलके झोंके, या मन में उठनेवाली ऐसी तरंगें जो उसके ऊपर

---

[1] "जिस प्रकार भूख से व्याकुल व दीन कुत्ता घर-घर फिरता हुआ अपने प्रारब्धानुसार कहीं लाठी व कहीं भात खाता है, उसी प्रकार विविध प्रकार की वासनाओं से बंधा हुआ जीव ऊंचे-नीचे मार्ग से उत्तम, अधम अथवा मध्य योनियों में भ्रमता हुआ इष्ट-अनिष्ट प्रारब्ध भोगता है।

"यदि कहो कि उन दुःखों को दूर करने का उपाय करने से उनका छुटकारा भी तो मिल सकता है, तो यह बात नहीं। क्योंकि आधिदैविक, आधिभौतिक, और आध्यात्मिक—तीन प्रकार के दुःखों में से किसी एक से भी जीव का सर्वथा छुटकारा हो ही नहीं सकता। जिस प्रकार बोझे को सिर पर रखकर ले जानेवाला पुरुष सिर की पीड़ा से छूटने के लिए उसे कन्धे पर रख लेता है, उसी प्रकार दुःख से छूटने के सारे उपाय हैं। जिस प्रकार स्वप्न में होनेवाला स्वप्नान्तर उस स्वप्न से छूटने का उपाय नहीं है, उसी प्रकार कर्म-फल के योग से सर्वथा छूटने का साधन केवल कर्म—कर्म-काण्ड—नहीं है। क्योंकि दोनों ही (कर्म) अविद्या-जन्य हैं। जिस प्रकार मनोमय लिंग-शरीर से स्वप्न में विचारनेवाले प्राणी को स्वप्न के पदार्थ वास्तव में न होने पर भी भासते रहते हैं, उसी प्रकार देह, अन्तःकरण आदि अनात्म पदार्थ वास्तव में न होने पर भी उनमें अभिमान करनेवाले जीव का जन्म-मरण-रूप संसार निवृत्त नहीं होता। (भाग, स्कं०, ४ अ० २९।३० से ३५)

कहते हैं जीव ८४ लाख योनियों में भटकता है। वे इस प्रकार हैं—२० लाख बार धातु-योनि में, ९ लाख वनस्पति-योनि में, ९ लाख सरीसृप-योनि में, १० लाख पक्षि-योनि में, ३० लाख पशु-योनि में, ४ लाख वानर-योनि में व शेष मानव-योनि में।

की सतह को छूकर ही चली जाती है, कोई विकार, प्रेरणा क्रिया नहीं उत्पन्न करती। यह वासना भुने बीज की तरह नवीन जन्म देने में समर्थ नहीं रहती। इसीको वासना-क्षय कहते हैं। जबतक वासना की निवृत्ति होकर लिंग-शरीर का नाश नहीं होता, तबतक यह सात्विकता की उपासना जारी रहनी चाहिए।

"बांसों के संघर्ष से उत्पन्न हुआ अग्नि जैसे उनके वन को भस्म करके ही शान्त होता है वैसे ही गुण-वैषम्य से उत्पन्न हुआ देह भी वैसी ही क्रियावाला होकर (अर्थात् अपने से उत्पन्न हुए ज्ञान के द्वारा गुणों के सम्पूर्ण कार्य का लय करके) ही शान्त होता है।" ॥७॥

इस तरह सात्त्विकता की उपासना से धर्म की वृद्धि व ज्ञान की प्राप्ति होती है। यह ज्ञान मनुष्य के अन्दर होनेवाले गुणों के सब कार्यों को अर्थात् तीन गुणों के उतार-चढ़ाव से होनेवाले सब परिणामों को लय कर देता है। उनके फलों को नष्ट कर देता है। तब यह देह भी जो गुण-वैषम्य से ही उत्पन्न हुआ है, खुद अपने ही ज्ञानरूपी कर्मों द्वारा शान्ति को प्राप्त होता है जैसे कि बांसों की परस्पर रगड़ से ही बांसों में आग जलने लगती है और फिर वह सारे वन को जलाकर ही शान्त होती है। अर्थात् मनुष्य के ज्ञानात्मक कर्मों से या ज्ञानाश्रित जीवन से, दूसरे शब्दों में निष्काम कर्मों से, ही वह अपने कर्म-फलों को काटकर शान्ति प्राप्त करता है।

"श्री उद्धवजी बोले—हे कृष्णचन्द्र, प्रायः सभी लोग सांसारिक विषयों को दुःखमय बतलाते हैं, फिर भी वे कुत्ते, गधे और बकरे के समान उनको क्यों भोगते रहते हैं?" ॥८॥

"श्री भगवान् बोले—हे उद्धव, अविचारी पुरुष के चित्त में जो 'मैं हूं,' ऐसी अन्यथा-बुद्धि उत्पन्न होती है, उससे उसका वैकारिक (सत्त्व-प्रधान) मन घोर रजोगुण की ओर प्रवृत्त हो जाता है।" ॥९॥

इसपर ऊधो ने पूछा कि भगवन्! मैं देखता हूं कि संसार में सभी लोग विषयों को बुरा बताते हैं, उन्हें दुःखदायी कहते व मानते हैं। फिर मुझे बड़ा आश्चर्य होता है कि क्यों ये बकरों, गधों व कुत्तों की तरह उन्हीं विषयों का सेवन करते हैं? इसके जवाब में श्रीकृष्ण कहते हैं—सत्त्वगुणी होने पर भी मनुष्य का मन जब गाफिल हो जाता है, या अविचारवश उसमें 'अहंभाव' उत्पन्न हो जाता है अर्थात् वह यह मानने लगता है कि 'मैं भी कुछ हूं,' ईश्वर के अस्तित्व से अपने अस्तित्व को अलग मानने व समझने लगता है, तब वह रजोगुण की ओर प्रवृत्त

होता है, जिसमें अनेक संकल्प-विकल्प उठते हैं, इनकी उत्पत्ति सत्त्वगुण से है, अतः उसमें अभेद-भाव, 'यह जीव व परमात्मा एक है,' तथा जगत् व परमात्मा भी एक ही है,' यह भाव स्वाभाविक है; किन्तु किसी भी निमित्त या कारण से जब उसमें भेद-भाव अर्थात् अपने अलग अस्तित्व का भान पैदा हो जाता है, जिससे वह जीव व जगत् को भी ईश्वर से भिन्न देखने लगता है, जैसे ऐंचाताने को सभी वस्तुएं दो दीखती हैं, तो उसका पतन रजोगुण में हो जाता है, जिससे वह अभेद की जगह भेदों में ही डूबने लगता है।

"चित्त के रजोयुक्त होने पर अनेक विकल्पों-सहित संकल्प उठते हैं और फिर गुणों के चिन्तन से उस मन्दमति को नाना प्रकार की दुःसह कामनाएं आ घेरती हैं।" ॥१०॥

"इस प्रकार रजोगुण के प्रबल प्रवाह में पड़कर विमूढ़ हुआ वह अजितेन्द्रिय पुरुष कामनाओं के वशीभूत होकर नाना प्रकार के कर्मों को, जो परिणाम में दुःखमय होते हैं, करता है।" ॥११॥

जब रजोगुण का जोर बढ़ता है तब मनुष्य बन्दर की तरह चंचल हो जाता है। बन्दर जैसे इस डाली से उस डाली पर ऊपर-नीचे चारों तरफ उछलता-कूदता रहता है, उसी तरह उसका मन अस्थिर हो जाता है। कभी एक मनोरथ उठता है, कभी दूसरा। क्षुब्ध तालाब की तरह उसके मन में लहरें उठा ही करती हैं। कभी प्रेम से तो कभी द्वेष से, कभी हर्ष से तो कभी शोक से, कभी लोभ से तो कभी भय से। अनेक विचार उसके मन में उठते हैं, जिनसे उसकी बुद्धि झकझोर हो जाती है और वह किसी बात में सही राय नहीं बना पाती, न सही निर्णय ही कर पाती है। सही निर्णय तबतक नहीं होता जबतक सब बातों को अच्छी तरह तौल नहीं लिया जाता, लेकिन यहां तो उस तराजू की डण्डी पल-पल पर हिलती-डुलती रहती है। इससे उसके कर्म भी बिना विचारे या आधे विचारे होते हैं। उनका नतीजा दुःख के सिवा और क्या हो सकता है?

ऊधो, मन ही तो सब इन्द्रियों का राजा है, जब वही होश में नहीं है तो फिर इन्द्रियरूपी प्रजा को वह कैसे शान्त व व्यवस्थित रख सकता है? मन को बहकता देख इन्द्रियां भी अपनी मनमानी चलाती हैं और पहले जहां मन इन्द्रियों को हांकता था, अब इन्द्रियां उसे हांकती हैं और यदि वह चेता नहीं तो न जाने किस गर्त में गिराकर दम लेती हैं!

"यद्यपि विवेकी पुरुष कभी-कभी रज-तम से विक्षिप्तचित्त भी होता है तथापि दोषदृष्टि के द्वारा अपने विक्षिप्त चित्त को सावधानतापूर्वक समाहित कर देने से वह उनमें आसक्त नहीं होता।" ॥१२॥

यह तो अविचारी, अविवेकी लोगों की बात हुई, जिन्होंने मन को संयम में रखना सीखा ही नहीं है। किन्तु, ऊधो, कभी-कभी विवेकी पुरुष भी रज व तम के प्रभाव में आ जाता है। गुण तो हर अवस्था में तीनों मौजूद रहते हैं, कभी-कभी ऐसे अकल्पित कारण उपस्थित हो जाते हैं, जिनसे विवेकी व समझदार आदमी भी मन का तौल खो बैठता है; परन्तु वह तुरन्त ही संभल भी जाता है। मन में चंचलता व बुद्धि में अव्यवस्थितता आते ही, दूसरे शब्दों में काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर इनमें से किसी भी विकार का उदय होते ही वह फौरन समझ लेता है कि गलत बात हो रही है और सावधान होकर अपने मन को उधर से हटाने का यत्न करता है। किसी स्त्री का रूप-सौन्दर्य देखकर उसके मन में उसके नजदीक जाने की, उससे बात-चीत करने की इच्छा पैदा हुई और नजदीक जाने पर भी उसका साथ न छोड़ने की प्रवृत्ति हुई तो फौरन वह समझ लेता है कि गलत रास्ते पर पांव पड़ रहा है और दृढ़ता के साथ वहां से उलटे पांव भागने लगता है। इसी तरह किसीने आलोचना या निन्दा की या कड़ी, कड़वी अनुचित बात कह दी और वह भी उत्तेजित होकर उसका वैसा ही जवाब देने में प्रवृत्त हुआ तो तुरन्त समझ लेता है कि मैं रज व तम के चक्कर में आ रहा हूं और मुंह बन्द कर लेता है। किसीने अवज्ञा की, अपमान कर दिया तो बदन में यहां से वहांतक आग लग गई, शरीर थरथराने लगा, आंखों से चिनगारियां निकलने लगीं तो उसी समय वह सावधान होने लगता है कि अरे, क्रोध ने हमला कर दिया है। और वह सामनेवाले के गुणों का स्मरण करके मन को शान्त कर लेता है। ऐसे ही और विकारों के सम्बन्ध में भी समझो। अविवेकी व विवेकी में यही फर्क है कि विवेकी गुणों के चक्कर में आ जाने पर भी तुरन्त सावधान होकर अपने चित्त को समाहित करने का प्रयत्न करके उन विकारों में लिप्त नहीं हो जाता। जैसे सारथि मचले हुए घोड़ों की रास खींचकर उसे काबू में ले आता है।

"(चित्त समाहित करने के लिए साधक को चाहिए कि वह) सावधान और चिन्तारहित होकर नियत समय पर क्रमशः श्वास और आसन को जीतकर धीरे-धीरे मुझमें चित्त लगाकर योग का अभ्यास करे।" ॥१३॥

"मेरे शिष्य सनकादि ने इसीको मुख्य योग कहा है कि जिससे चित्त को सब ओर से खींचकर सर्वथा मुझमें ही लगा दिया जाय।" ॥१४॥

यह तो मैंने मनुष्यों के विषयों में खिचने का कारण बताया। अब संक्षेप में यह भी सुन लो कि ऐसे अवसरों पर मन को काबू कैसे किया जाता है? विकार का प्रभाव मालूम होते ही लम्बी सांस खींचो और मुंह को बन्द कर लो। विकारों को उभाड़नेवाले व्यक्ति या वस्तु की ओर से मुंह हटा लो। फिर आंखें मूंदकर एक स्थान पर दृढ़ आसन लगाकर बैठ जाओ। यदि हो सके तो ठण्डे पानी से नहा डालो, कम-से-कम हाथ-पैर मुंह जरूर धो लो। फिर धीरे-धीरे अपना चित्त मुझमें लगाओ। यह अभ्यास नित्य करने से ऐसे विकारों के उन्माद के अवसर पर मन को वश में करना बहुत आसान हो जायगा। यह एक प्रकार का योगाभ्यास ही है, जिसे मेरे शिष्य सनकादि ऋषियों ने मुख्य योग कहा है।

"श्री उद्धवजी बोले—हे केशव, आपने जिस समय और जिस रूप से सनकादि को योग का उपदेश किया था, उस रूप के विषय में मैं जानना चाहता हूं। (कृपया बतलाइये)।" ॥१५॥

"श्री भगवान् बोले—एक बार ब्रह्माजी के मानस पुत्र सनकादि ने अपने पिता से योग की सूक्ष्म पराकाष्ठा के विषय में प्रश्न किया।" ॥१६॥

"सनकादि ने कहा—प्रभो, चित्त स्वभाव से ही गुणों (विषयों) में जाता है और गुण (वासना रूप से) चित्त में प्रवेश करते हैं, फिर इस संसार-सागर से पार होकर मुक्ति-पद चाहनेवाला व्यक्ति इनको परस्पर कैसे पृथक् कर सकता है।" ॥१७॥

"श्री भगवान् बोले—देवशिरोमणि भूतभावन श्री ब्रह्माजी, इस प्रकार पूछे जाने पर, कर्ममयी बुद्धि होने के कारण बहुत-कुछ विचार करने पर भी प्रश्न का यथार्थ कारण न समझ सके।" ॥१८॥

"तब इस प्रश्न का पार पाने की इच्छा से उन्होंने मेरा ध्यान किया। उस समय मैं हंस रूप से उनके पास प्रकट हुआ।" ॥१९॥

"मुझे देखकर उन्होंने ब्रह्माजी को आगे कर मेरे समीप आ, मेरा चरण-वन्दन करने के अनन्तर पूछा कि आप कौन हैं।" ॥२०॥

"हे उद्धव, उस समय उन तत्त्व-जिज्ञासु मुनियों के इस प्रकार पूछने पर मैंने उनसे जो कुछ कहा सो सुनो।" ॥२१॥

उद्धव ने पूछा—आपने कब व किस तरह सनकादि को उपदेश दिया था सो कहिये। तब श्रीकृष्ण ने कहा—एक बार ब्रह्माजी के मानस पुत्र सनकादि ने उनसे योग की अन्तिम स्थिति के बारे में पूछा था और यह जानना चाहा था कि यह चित्त स्वभावतः ही गुणों अर्थात् विषयों की ओर जाता है व जाया करता है। और ये गुण फिर वासना रूप से चित्त में प्रवेश करते हैं। ऐसी घट-माल लगी रहती है, तब जिज्ञासु या मोक्षार्थी कैसे तो इस संसार-सागर से पार हो, और कैसे इनके प्रभावों से बचे—इनका एक दूसरे से सम्बन्ध न होने दे?

पर ब्रह्मा तो ठहरे कर्म-बुद्धि—उनका काम है कर्म-ही-कर्म करना, सृष्टि की उत्पत्ति-ही-उत्पत्ति करते जाना। बस, उन्हें सदैव इसी बात की धुन लगी रहती है, अतः सोचने की फुरसत ही कहां। उन्होंने बहुत अपना दिमाग छीला, लेकिन इस प्रश्न के मर्म तक ही न पहुंच पाये। तब इस समस्या को हल करने के लिए उन्होंने मेरा ध्यान किया तो मैं हंस-रूप से उनके सामने प्रकट हुआ। तब उन लोगों ने पूछा—आप कौन हैं, उसके उत्तर में मैंने जो कुछ कहा—उससे तुम्हारी जिज्ञासा पूरी हो जायगी। वह सुनो—

"(मैंने कहा—) हे विप्रगण! यदि तुम्हारा यह प्रश्न आत्मा के विषय में है तो आत्मवस्तु तो एक ही है, (उसमें किसी प्रकार का भी सजातीय-विजातीय अथवा स्वगत भेद नहीं है,) अतः तुम लोगों का यह प्रश्न हो ही कैसे सकता है, अर्थात् मैं भी निर्विशेषरूप होने से किस जाति, गुण अथवा व्यक्तिरूप विशेष का आश्रय लेकर इसका उत्तर दूं।" ॥२२॥

मैंने कहा—विप्रो! तुम्हारा प्रश्न यदि आत्मा के विषय में है, अर्थात् मैं कौन हूं, इस प्रश्न से यदि तुम मेरे आत्म-रूप के बारे में पूछते हो तो आत्म-वस्तु सब जगह व सबमें एक ही है। उसमें सजातीय, विजातीय या स्वगत ऐसा कोई भेद नहीं है। अर्थात् उसके लिए यह नहीं कहा जा सकता कि वह अमुक जाति का है, या अमुक जाति का नहीं है, एक या दूसरी जाति का है, न स्वतः आत्मा में ही स्वगत या परगत अपने-आपमें रहनेवाला या दूसरों में जाने वा रहनेवाला, ऐसा कोई भेद है। सो तुम्हारा यह प्रश्न निरर्थक है। क्योंकि जो आत्मा तुममें है वही मुझमें है—जो तुम हो वही मैं हूं। और मैं जो इसका उत्तर देनेवाला हूं उसका भी क्या आश्रय हो सकता है? मेरा रूप तो निर्विशेष है। किसी भी विशेषण द्वारा उसका परिचय नहीं दिया जा सकता। क्योंकि मैं सब विशेषताओं से रहित हूं, अखंड

एकरस हूं, छोटा-बड़ा, अच्छा-बुरा, लम्बा-चौड़ा, काला-पीला, ऐसी किसी विशेषता का आरोपण मुझपर नहीं किया जा सकता। अतः न कोई जाति, न गुण, न किसी व्यक्ति का आश्रय लेकर मैं रहता हूं, तो इसका उत्तर कैसे दूं? यह जो बोल रहा है सो तो इस हंस-नामक शरीर का आश्रय लेकर। किन्तु शुद्ध आत्मा तो शरीर की उपाधि से मुक्त है, अतः मेरे लिए शुद्ध आत्म-रूप से कुछ कहना भी कठिन है। कोरी बिजली की शक्ति जब आसमान में रहती है तब वह न किसी गुण से सम्बन्ध रखती है, न व्यक्ति से और न किसी जाति से। इनमें से किसीका आश्रय उसे नहीं होता। जब बादल का आश्रय उसे होता है तो चमकती है। जब विज्ञानी तारों का आश्रय उसे देते हैं तो उससे नाना प्रकार के काम लिये जा सकते हैं, किसी आश्रय के निमित्त से ही वह प्रकट होती है व कुछ काम करती है। यही हाल आत्मा का है। जबतक उसे शरीर-रूपी आश्रय न हो तबतक वह प्रकट या व्यक्त होकर काम नहीं कर सकता। अतः आत्म-रूप से तो मैं किसीका आश्रय लिये नहीं हूं, अतः कैसे तुमसे बोल या बतला सकता हूं।

"और यदि तुम पंचभूतात्मक शरीर से ऐसा पूछते हो तो समस्त शरीर भी पंचभूतरूप होने से वास्तव में अभिन्न ही हैं, अतः तुम्हारा यह प्रश्न कि आप कौन हैं, वाणी का आरम्भ-मात्र (व्यर्थ आडम्बर) ही है।" ॥२३॥

यदि इस पंच भूतों के बने शरीर से तुमने यह पूछा है तो भी तुम्हारा प्रश्न फिजूल है। संसार के सभी शरीर, सभी आकार, सभी नाम-रूपधारी पांच भूतों से बने हैं, अतः भूत रूप में सब अभिन्न हैं। हड्डी, चमड़ी, मांस आदि जो स्थूल पदार्थ इसमें दीखते हैं वे सब पृथ्वी अर्थात् घन पदार्थ हैं। रस, रक्त, मूत्र, पसीना आदि जो गीला, चिकना या प्रवाही अंश इसमें है वह जल है। शरीर में जो गर्मी मालूम होती है, अन्न की जो पाचन-क्रिया होती है, उसे अग्नि समझो। प्राण, अपान, उदान, व्यान, समान आदि जो वायु शरीर में है वही वायु और जिस पोल में हड्डियों, स्नायुओं व नाड़ियों का जाल गुंथा हुआ है व जिसमें अन्न, रस, रक्त, वायु आदि रहते व अपना काम करते हैं, वह आकाश है। तुम देखोगे कि ये पांचों तत्त्व सभी शरीरों में विद्यमान हैं, चाहे वह शरीर मनुष्य का हो, पशु-पक्षी का हो, पेड़-पौधे का हो, या जड़-अचेतन दीखनेवाले मिट्टी, पत्थर आदि धातु-द्रव्य का हो। किसी-न-किसी रूप में पांचों भूत उसमें दिखाई देते हैं। चेतन पदार्थों का उदाहरण तो झट समझ में आ सकता है, परन्तु जड़, जैसे मिट्टी-पत्थर सोना आदि, का

नहीं। अतः देखो सोने में जो घनता है सो पृथ्वी, गरम करने से जो रस बन जाता है, सो जल, गरम करने से या धूप खाने से जो गरम हो जाता है वह उसमें छिपे अग्नि-कणों का ही सबूत है। भीतरी गुप्त अग्नि-कण बाहरी अग्नि को ग्रहण कर लेते हैं, जिससे पदार्थ गरम हो जाता या मालूम होता है। विशिष्ट प्रयोगों से, रासायनिक प्रक्रियाओं से कोई भी पदार्थ वायु-रूप में लाया जा सकता है। अतः यह उसमें वायु-तत्त्व का सूचक है। सोने के परमाणुओं के बीच में जो उसमें स्थान या पोल रहती है वह आकाश का प्रमाण है। इस पोल के कारण ही सोना चपटा, लम्बा, तार रूप में हो जाता है।

इस प्रकार जब तुम लोगों में व मुझमें कोई भिन्नता नहीं है तो फिर यह प्रश्न कि "आप कौन हैं?" केवल वाणी का विलास या आडम्बर ही हुआ न?

"मन से, वाणी से, दृष्टि से अथवा अन्य इन्द्रियों से भी जो कुछ प्रतीत होता है, निश्चय जानो वह सब मैं ही हूं, मुझसे पृथक् कुछ भी नहीं है।" ॥२४॥

अतः विप्रो, इस कथन का सार यह निकला कि हमें अपने मन से जो कुछ कल्पित प्रतीत होता है, आंखों से जो कुछ देखा जाता है, या अन्य इन्द्रियों से जो कुछ भासता या अनुभव में आता है वह सब मैं ही हूं। मुझसे भिन्न या पृथक् किसी भी वस्तु की सत्ता नहीं है। यह जो नाना नाम-रूपमय जगत् दिखाई देता है यह मेरा ही रूप या विस्तार है। शक्कर की तरह-तरह की मिठाइयां या मिट्टी के नये-नये तर्ज के खिलौने सब शक्कर या मिट्टी ही तो हैं—उसी तरह यह जगत् मेरे सिवा कुछ नहीं है।

"हे पुत्रगण! यह ठीक है कि चित्त विषयों का अनुसरण करता है और विषय चित्त में प्रवेश करते हैं; किन्तु वे दोनों विषय और चित्त (परस्पर संश्लिष्ट होते हुए भी) मेरे ही स्वरूपभूत जीव की उपाधि ही हैं, उसके स्वरूप या स्वभाव नहीं।" ॥२५॥

तो भी, पुत्रो, तुम्हारा यह कहना सच है कि चित्त विषयों की ओर दौड़ता है, और विषय भी चित्त में प्रवेश करते हैं। मन खाने को ललचाता है, अच्छे नाटक खेल (सिनेमा) देखने को चलता है और ये भी चीज़ें मन को अनुरंजित करके उसमें अपने लिए प्रीति का स्थान पैदा कर लेती हैं। इस तरह ये विषय और चित्त दोनों एक-दूसरे से मिले रहते हैं, एक-दूसरे में उलझे रहते हैं। परन्तु यह मेरा अर्थात् आत्मा का स्वरूप नहीं हैं, उपाधि मात्र हैं। अन्तरंग नहीं, ऊपरी आगन्तुक

धर्म-मात्र है। जो वस्तु तीनों काल में टिक रहती है व एक-रूप रहती है वही आत्मा का स्वरूप या स्वभाव कहा जा सकता है। और वह सत्-चित्-आनन्द के सिवा दूसरा नहीं है। मन और विषय अर्थात् संसारी पदार्थ सब मेरे शुद्ध रूप में उसके उपाधि होने से, मिश्रण होने से देश-काल आदि की सीमा में सीमित होने से बन गये हैं। आत्मा जब देश की सीमा से घिरा तो ब्रह्माण्ड, ओंकार या इस विश्व के रूप में दिखाई दिया। जब काल से सीमित हुआ तो आज है, कल नहीं है, ये अवस्थाएं भूत, भविष्य, वर्तमान, बचपन, जवानी, बुढ़ापा, सुबह, शाम, रात आदि दीखने लगे। इसीसे संसार में विविध आकृतियां—नाम—रूप—शरीर, तुम—मैं, पेड़—पौधे—लता, पशु, मिट्टी—सोना, बादल, तारे, चांद—सूरज दिखाई देते हैं।

"विषयों का पुनः-पुनः सेवन करने से चित्त उनसे आविष्ट हो जाता है और फिर वासनारूप से चित्त ही से उनकी अभिव्यक्ति होती रहती है, इसलिए अपने शुद्धस्वरूप को मेरा ही रूप जानकर चित्त और विषयरूप दोनों उपाधियों को त्याग देना चाहिए।" ॥२६॥

फिर जब चित्त बार-बार विषय-सेवन करने लगता है, मन से विषयों का ध्यान व शरीर से उनका भोग करता रहता है, तो फिर चित्त विषयमय बन जाता है। इसीको वासना कहते हैं। अब वे कोरे विषय नहीं रह गये। वासना बन गये। उनकी जड़ गहरी बैठ गई। चित्त में उनके लिए अब आसक्ति हो गई। वे न मिलें तो चित्त छटपटाता है, तरह-तरह की उधेड़बुन व कबाड़े में लग जाता है। उसकी प्राप्ति के लिए न जाने क्या-क्या और पाप करता है। शराबियों, जुआरियों व कामी पुरुषों की चेष्टाओं व करतूतों से इसका अनुमान लगा सकते हो। अतः मनुष्य को चाहिए कि वह मेरे शुद्ध स्वरूप को पहचानने, मन विषयों की असलियत व परस्पर आकर्षण को भी समझ ले व उससे सावधान रहे। विषयों से दूर रहे, मन को काबू में रखे व मेरे आत्म-स्वरूप में उसे सदा लगाये रहे।

"जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति ये गुणवैषम्य के कारण हुई बुद्धि की वृत्तियां हैं, इनके साक्षी रूप से निश्चय किया हुआ जीव तो इनसे भिन्न ही है।" ॥२७॥

जैसे चित्त और विषय जीव की उपाधियां हैं वैसे ही जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति ये बुद्धि की वृत्तियां हैं, जो तीन गुणों की घटाबढ़ी से बनती-बिगड़ती रहती हैं। भिन्न-भिन्न गुण जब बुद्धि पर प्रभाव डालते हैं तब भिन्न-भिन्न वृत्तियां बुद्धि

में उदय होती हैं। जिस अवस्था में मन, शरीर व उसकी सब इन्द्रियां काम करती रहती हैं उसे जाग्रत् अवस्था या जागृति कहते हैं। जिसमें शरीर व इन्द्रियां शान्त रहती हैं, केवल मन काम करता रहता है उसे स्वप्न व जब मन भी शान्त हो जाता है, उसे सुषुप्ति कहते हैं। गहरी नींद की अवस्था ही सुषुप्ति है। ये तीनों अवस्थाएं बुद्धि को प्राप्त होती हैं, जीव को नहीं। सुषुप्ति में जब मन-बुद्धि सो जाती हैं तब भी जीव अर्थात् आत्मा, जीवात्मा या प्रत्यगात्मा तो जागता ही रहता है। उसका अनुभव हमें तब होता है जब हम गहरी नींद से जग जाते हैं और यह याद आता है कि आज तो खूब सोये। यह जीव ही है जो उस समय भी जगकर हमारी सुषुप्ति अवस्था को देखता रहता है और जगने पर हमें उस अवस्था की याद दिलाता है। इसीलिए इसे साक्षी कहते हैं। जागृति व स्वप्न में वह सबकुछ जानता रहता है, बुद्धि के द्वारा वही इन अवस्थाओं का भोग करता है, इसका हमें नित्य प्रत्यक्ष अनुभव होता है। परन्तु सुषुप्ति के सम्बन्ध में अक्सर शंका उठती है, अतः उसका समाधान करना जरूरी था। इसका अर्थ यह हुआ कि यह जो हमें अपनी भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का भान होता है यह है तो हमारे मन या बुद्धि की उपज, जो कि प्रकृति के कार्य या परिणाम हैं, परन्तु इनका जो भोग करता है, इनका जो आनन्द लूटता है, वह वास्तव में जीव है। जीव इनका साक्षी या द्रष्टा या केवल देखनेवाला बनकर इनका भोग करता है। अतः तुम यह अच्छी तरह समझ रखो कि ये तीनो अवस्थाएं बुद्धि से सम्बन्ध रखती हैं, जीव से नहीं; जीव इन अवस्थाओं से पृथक् स्वतन्त्र, भिन्न है और इनमें लिप्त नहीं, बल्कि इनका साक्षी है। जीव का यही शुद्धस्वरूप व वास्तविक स्थिति है। लेकिन जब जीव भुलावे में पड़कर मन-बुद्धि की जगह ले लेता है, इन अवस्थाओं में मन-बुद्धि की तरह लिप्त हो जाता है, तो इनके सुख-दुःख का भागी बनकर पामर हो जाता है। राजा जब सब काम अपने मन्त्री, सेनापति, भण्डारी, खजांची आदि को बांटकर स्वयं केवल निरीक्षक की हैसियत रख लेता है तो वह जीव की तरह केवल साक्षी या द्रष्टा समझा जा सकता है। पर वह जब इनके कामों में खुद लिप्त हो जाता है, मन्त्री, सेनापति आदि के कामों में सीधा दखल देने लगता है तो वह उनकी जिम्मेदारियों, त्रुटियों, भलाई-बुराइयों व इसलिए उनके सुख-दुःखों से भी बरी नहीं रह सकता। अतः जीव की इस स्वतन्त्र, अलिप्त, सत्ता को हमें सर्वदा याद रखना चाहिए।

"जीव को गुणवृत्ति प्रदान करनेवाला जो यह संसारबन्धन है, उसे साक्षीरूप मुझ तुरीय में स्थित होकर त्याग दे। इससे चित्त और गुणों के परस्पर सम्बन्ध का त्याग हो जायगा।" ॥२८॥

अब तुम यह समझ गये होगे कि गुण और उनकी वृत्तियां अर्थात् विविध अवस्थाएं, ये मन-बुद्धि के या यों कहें कि प्रकृति के धर्म हैं; जीवात्मा अर्थात् पुरुष के नहीं। इस संसार-बन्धन में पड़ने से अर्थात् विषय-भोग में लिप्त होने से, देह का व कर्त्तापन का अभिमान रखने से, मन-बुद्धि मैं हूं, ऐसी भावना कर लेने से, जीव स्वतः इन गुणों व वृत्तियों में आत्मीयता का अनुभव करने लगता है। इस स्थिति से निवृत्त होना चाहिए। जीव की जो सर्वदा साक्षी-रूप स्थिति है उसीको तुरीय अवस्था कहते हैं। अर्थात् ऐसी अवस्था तो तब आती है जब मन-बुद्धि भी सो जाते हैं; परन्तु जीवात्मा नहीं सोता, जागता ही रहता है। संसार की स्थिति में ऐसी किसी अवस्था की कल्पना नहीं की जा सकती जब यह जीव सचमुच सोता हो। बिजली को, सूर्य को कभी कोई सोता हुआ कह सकता है? वह सिर्फ गुप्त या प्रकट, दृश्य या अदृश्य, होते हैं। वे सर्वदा जाग्रत रहते हैं। यही दशा तुरीय कहलाती है। जीवात्मा की या मेरी यही सहज स्वाभाविक स्थिति है। मनुष्य को चाहिए कि वह मेरी इस स्थिति में अपनेको स्थित कर दे तो फिर यह संसार-बन्धन उसके लिए कुछ न रह जायगा। वह केवल साक्षी या द्रष्टा रहकर संसार के सब उतार-चढ़ावों को देखता रहे। जैसे नाटक में नट की दो स्थितियां होती हैं। एक तो नट की, जब कि वह भिन्न-भिन्न भूमिकाओं को लेकर तदनुकूल अभिनय करता है, कभी राजा बना, तो कभी सेवक, कभी राक्षस बना तो कभी साधु, कभी स्त्री बना तो कभी पुरुष—इन सब भूमिकाओं में वह सच्चे आदमी की तरह अपना करतब दिखाता है; प्रेक्षक भूल जाते हैं कि यह नट है, एक ही आदमी अनेक रूपों में अपनी कला दिखा रहा है। परन्तु इन सब भूमिकाओं व अभिनयों के बावजूद नट-नटी अपने दिल में कभी इस बात को नहीं भूलते कि असल में हम कुछ और हैं। यह विभिन्नता तो केवल हमारी नट-लीला है। इसी तरह जीव इस संसार को एक रंगशाला समझकर अपनेको एक नट या खिलाड़ी की स्थिति में रखता रहे, और सदा-सर्वदा अपने असली-रूप को याद रखता रहे, तो जैसे नट प्रेक्षक-मण्डली के सुख-दुःखों से या अपनी भिन्न-भिन्न भूमिकाओं, अभिनयों, लीलाओं से प्रभावित नहीं होता, क्षणभर के लिए हुआ भी तो लिप्त नहीं होता, वैसे वह भी संसार-बन्धन

से, इसके सुख-दु:खों आदि द्वन्द्वों से परे व सुखी रह सकता है। इस तरकीब से, गुणों व चित्त में जो शृंखला दृढ़ हो गई है, वह टूट जायगी। दोनों को एक-दूसरे का जो चस्का लग गया है वह जाता रहेगा; अब केवल स्वाभाविक सहज सम्बन्ध बना रहेगा। काम-पुरता, न कि भोग या आनन्द या तृप्ति के लिए, चित्त विषयों में लगेगा। और विषय भी उतने ही पुरते चित्त में ठहर पावेंगे। शरीर को स्वस्थ रखने के लिए वह आवश्यक व उचित भोजन करेगा, बढ़िया स्वाद के लिए नहीं। कुटुम्बियों, इष्ट-मित्रों, समाज व देश के लोगों के सम्पर्क में वह आवेगा, उनसे काम लेगा व उन्हें काम देगा तो कर्त्तव्य-दृष्टि से, न कि लोभ, मोह, आसक्ति, विषय-भोग, आमोद-प्रमोद के लिए। राग-रंग, खेल-तमाशे, विनोद में सम्मिलित होगा तो केवल अपने या दूसरों के सात्विक मनोरंजन के लिए, न कि इन्द्रिय-तृप्ति के लिए।

"इस अहंकारजनित बन्धन को आत्मा के लिए अनर्थ का हेतु जाननेवाले विज्ञपुरुष को चाहिए कि उसकी ओर से उपरत होकर मुझ तुरीयरूप आत्मा में स्थित हो सांसारिक चिन्ता को छोड़ दे" ।।२६।।

जब जीव इस देह, इन्द्रियों या या मन-बुद्धि को अपना मानने लगता है, व इनके कार्यों में कर्त्तापन की जिम्मेदारी अपनी मानने लगता है तो इसीको अहंकार या देहाभिमान कहते हैं। जबतक जीवात्मा अपनी दृष्टि परमात्मा की ओर लगाये रहता है, तबतक यह अहंकार नाम-मात्र का रहता है, जीवात्मा व परमात्मा के दो अस्तित्व-जैसे हो जाने पर भी उनके अन्तरंग में फर्क नहीं होता, जीव संसार में बद्ध व आसक्त नहीं होता, क्योंकि सदा-सर्वदा उसे यह जागृति रहती है कि मैं आत्मा ब्रह्म हूं; परन्तु ज्योंही किसी कारण से उसकी दृष्टि परमात्मा या पर-ब्रह्म से हटकर संसार, देह की ओर लगी अर्थात् वह संसार व देह-गेह में आसक्त होने लगा, परमात्मा को भूलने लगा, तो यह अहंकार अपना जोर जमाने लगा, अब वह परमात्मा से रही-सही एकता का भाव भी तोड़ देता है। जब परमात्मा से एकता टूटती है, जगत् में भेद-दृष्टि बढ़ जाती है, जगत् की विविधता सच्ची मालूम होने लगती है और जीव की बुद्धि, विचार, आचार सबमें भेद-बुद्धि की प्रधानता हो जाती है। जबतक परमात्मा से एकता रहती है तबतक संसार की अनेकता, अनेकरूपता, में भीतरी एकता दीखती रहती है, जिससे बुद्धि, विचार व आचार उसी ऐक्यभावना से प्रभावित रहते हैं। जब भेद-बुद्धि आ गई व बढ़ गई

तो रागद्वेष आदि विकार अपना प्रभाव जमाने लगे, और मनुष्य न जाने कबतक के लिए इस संसार-भंवर में पड़ गया। अतः विप्रो, तुम अहंकार को ही सब बन्धनों का मूल और आत्मा के लिए अनर्थ का हेतु समझो। जबतक शरीर है, चाहे स्थूल, चाहे सूक्ष्म तबतक यह अहंकार-रूपी सर्प मर तो नहीं सकता; परन्तु बुद्धिमान् व सुख-स्वतन्त्रता के उत्सुक व्यक्ति को चाहिए कि इसके विषदन्त जरूर तोड़ डाले। इसका सरल उपाय यही है कि मनुष्य मुझ तुरीय-रूपी परमात्मा में अपनेको स्थित कर दे अर्थात् आत्मा-परमात्मा का ऐक्य फिर से साध ले व जगत् के प्रति मोह, सुख, आनन्द-भोग की दृष्टि न रखते हुए केवल कर्त्तव्य-दृष्टि रखे, इससे वह निरर्थक चिन्ताओं व झंझटों से छूट जायगा और संसार की आवश्यक सेवा भी उसके हाथ से होता रहेगी तथा संसार से उचित व स्वाभाविक सुख-शान्ति भी उसे मिलती रहेगी। विषय-भोग या संसार की आसक्ति से मन हटा लेने से यह डरने की जरूरत नहीं है कि मनुष्य का सुख, आनन्द, तृप्ति, छिन जायगी व अभाव, दुःख, अकेलापन, उसके पल्ले पड़ जायगा; बल्कि अब उसे शराब की जगह दूध, वेश्या या कुलटा या विलासिनी की जगह धर्म-पत्नी, स्वार्थी इष्ट-मित्रों व कुटुम्बियों की जगह सच्चे हितैषी व मित्र, विरोध या बनावटी आदर की जगह सच्चा स्वाभाविक स्वागत, मिलेगा। अबतक उसके सुख, आनन्द, तृप्ति में जो मलिनता थी वह निकल गई। बरसात का गंदला पानी शुद्ध होकर अब पवित्र गंगा की धारा की तरह निर्मल होकर उसके शरीर व मन को स्वस्थ व प्रफुल्लित करता रहेगा। इस सुख, आनन्द, तृप्ति, निश्चिन्तता, निर्भयता, निःशंकता, सन्तोष, शान्ति का सम्बन्ध उसके शरीर व इन्द्रियों से न रहेगा, केवल बुद्धि ही उसे सीधा ग्रहण करके जीव को पहुंचा दिया करेगी। मन-बुद्धि भी उस समय जीवात्मा के कोरे माध्यम का काम करेंगे, अपना रंग उसपर न जमा सकेंगे।

"जबतक युक्तियों के द्वारा पुरुष की भेद-बुद्धि निवृत्त नहीं होती तबतक वह मूर्ख जागता हुआ भी सोते के ही समान है, जिस प्रकार कि स्वप्नावस्था में भी (विषयों का अनुभव होने के कारण) जागरण का भ्रम होता है।" ॥३०॥

विप्रो, जबतक मनुष्य युक्तियों से, जैसी कि मैंने ऊपर बताई हैं, यह भेद-बुद्धि जिसका मूल अहंकार है, मिटा नहीं देता, तबतक उसे मूर्ख ही समझो। जागता हुआ भी वह सोते के ही समान है। विद्वान्, शास्त्रज्ञ, योग-साधक, जिज्ञासु, श्रेयार्थी, भक्त, समाज-सेवक, देश-प्रेमी, विश्वहितैषी, होते हुए भी उसे मूर्ख, गुम-

राह, समझो, क्योंकि इससे वह नित्य नये अनर्थों का ही कारण होता है। सपने में जैसे मनुष्य वास्तव में सोया होता है, पर वह समझता है कि मैं तो जाग रहा हूं, वैसी ही दशा इन लोगों की समझो। विद्वत्ता आदि जो ऊपर गिनाये हैं, इनकी परीक्षा या कसौटी ही यह है कि भेद-बुद्धि मिटी या नहीं। संसार के प्रति एकात्म-भावना से वे प्रेरित हो रहे हैं, या 'मेरा-तेरा', 'मैं-तू', 'अपना-पराया', 'यह-वह' इसी भाषा में सदा सोचते रहते हैं। भेद तो संसार में अनन्त हैं। व्यक्ति, कुटुम्ब, जाति, समाज, देश, अवस्था, स्थिति, रूप, रंग, आकार, प्रकार के अनन्त भेदों के इस समूह का नाम ही जगत् है। फिर ये भेद नित्य नये बनते-बिगड़ते भी रहते हैं। मनुष्य कहां-कहांतक इनका हिसाब अपने कार्य-क्रमों व योजनाओं में लगावेगा। इनको प्रधानता देने से तो वह किसी भी एक केन्द्र में स्थिर नहीं हो सकेगा। एक पागल की-सी उसकी दशा समझो। अतः इस सारे भेद व विविधता के मूल में जो एकता-रूपी सत्य या परमेश्वर है, उसीको वह अपना केन्द्र बना ले तो बाहरी अनेकताओं व भेदों का सामंजस्य उसके विचारों व कृतियों में अपने-आप होता चला जायगा। कोई स्त्री सामने आवेगी तो उसके बारे में वह अपने को 'पुरुष' मानकर विचार नहीं करेगा—यह तो भेद-दृष्टि हो गई। इससे उसके मन में विकार पैदा हो सकता है। तो वह अपनेको स्त्री मानकर उसे देखेगा व उसके प्रश्न पर विचार करेगा। यही उसकी आन्तरिक एकता का सबूत होगा। कोई दीन-हीन गरीब किसान-मजदूर आगया, पीड़ित, दुखी, रोगी, आगया तो वह अपनेको दीन-हीन, रोगी आदि महसूस करने लगेगा और उस भावना से उसकी समस्या को देखेगा व सुलझावेगा। राजा, सेनापति, राष्ट्रपति, सैनिक, जो भी सामने आवेगा, उसीके कार्यक्षेत्र में आ जायगा, उसके प्रति ऐसा ही समभाव उसमें दिखाई देगा। एक मुसलमान या हब्शी की कठिनाई है तो वह अपनेको मुसलमान व हब्शी मान-कर उसपर ध्यान देगा।

इस पद्धति से सामनेवाले की समस्या या कष्ट या अभाव को मनुष्य जल्दी ग्रहण भी कर लेता है और उसके सही हल तक शीघ्र पहुंच भी जाता है। व्यक्ति भी तुरन्त राहत अनुभव करता है। अपने मन में वह भी इस एकता की भावना से प्रभावित होने लगता है और उसके हृदय के ऐक्य तन्तु झनझना उठते हैं। 'प्रथम दृष्टि में ही प्रेम' वाली कहावत ऐसी ही जगह चरितार्थ होती है।

यह एकता की बुद्धि, भावना, या वृत्ति हुई। इसमें सिर्फ अपने-आपको ही

साधना पड़ता है, व दुनिया अपने-आप सध जाती है। लेकिन ऊधो, भेद-दृष्टि, बहिर्मुखी, या संसाराभिमानी मनुष्यों की पद्धति इससे उलटी होती है। वे बाहरी भेदों को पकड़कर उनके सहारे प्रत्येक समस्या को हल करना चाहते हैं। इससे उनका हल करना तो दूर, उनकी गिनती करना भी उनके सामर्थ्य के बाहर हो जाता है। परन्तु सूर्य-प्रकाश की तरह उज्ज्वल यह सत्य उन्हें दिखाई नहीं देता। इसीलिए मैंने उन्हें जगते हुए भी सोता रहनेवाला मूर्ख कहा है।

"क्योंकि आत्मा से अतिरिक्त अन्य सब पदार्थों का अत्यन्त अभाव है, इसलिए आत्ममाया से प्रतीत होनेवाले भेद (देहादि), उनकी गतियां (स्वर्गादि) और हेतु (कर्म) स्वप्नद्रष्टा के स्वप्न-प्रपंच के समान मिथ्या हैं।" ॥३१॥

सच तो यह है कि यह सारा विश्व (दृश्य) प्रपंच ही स्वप्न की तरह मिथ्या है। इस संसार में सत्य पदार्थ जो कुछ है सो आत्मा ही है। व्यक्ति में स्पष्ट और वस्तु में अदृश्य चेतना-रूप से वही निवास करता है और विश्व में भी चैतन्य-रूप से वही व्याप्त है। एक ही परमात्म-तत्त्व का दृश्य या प्रकट रूप यह सारा विश्व है। अतः आत्मा के सिवा और सब वस्तुएं नहीं ही समझनी चाहिए। इस जगत् को परमात्मा का एक स्वप्न ही समझो या मन के मनोरथ ही मान लो न। देह आदि या उनकी गतियां जैसे स्वर्ग, नरक, आदि और उनके हेतु या कारण अर्थात् कर्म ये सब आत्मा की दृष्टि से मिथ्या ही हैं। वस्तु-तत्त्व एक है, ये भेद परमात्मा की माया से दिखाई देते हैं। जैसे जल में प्रतिबिम्ब, समुद्र में लहरें, मनुष्य आदि की छाया। अथवा माला या रस्सी में सांप का या सीप में चांदी का आभास। देखो, पेड़ से उसकी डालियां, फूल-फल, अलहदा नहीं गिने जा सकते। उसी तरह शरीर से उसकी इन्द्रियां भिन्न नहीं हैं। दोनों वास्तव में एक ही हैं। इसी तरह यह जगत् प्रपंच परमात्मा के अवयव-रूप समझो। उससे भिन्न या पृथक् इनकी सत्ता नहीं है। यह देह खुद भी शरीर-रूप में प्रकृति का, व जीव-रूप में परमात्मा का अंश लेकर बना है व प्रकृति खुद परमात्मा का अक्षर-रूप है, कार्यकारिणी शक्ति है, ऐसी दशा में सारा देह परमात्मा से अलग नहीं हो सकता। जब देह उससे भिन्न नहीं तो उनकी गतियां और कर्म उनसे जुदा कैसे हो सकते हैं? ये जो जुदा दीखते हैं, यही हमारी दृष्टि या मन का भ्रम है, बाहरी दृष्टि से यह सब अलग-अलग दिखाई देते हैं। भीतरी दृष्टि से सब एक अभिन्न हैं। उनकी भिन्नता स्वप्न की विविधता की तरह है।

"जो जागरण-काल में अपनी समस्त इन्द्रियों से बाह्य क्षणिक पदार्थों को भोगता है, स्वप्न में वैसे ही वासनामय विषयों का हृदय में अनुभव करता है तथा सुषुप्ति में उनका लय कर देता है, वह आत्मा एक है तथा तीनों अवस्थाओं की स्मृति से यक्त होने के कारण उनका साक्षी और इन्द्रियों का नियामक है।" ॥३२॥

जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति तीन अवस्थाएं शरीर की ऊपर बताई जा चुकी हैं। इनके ऊपर भी चौथी अवस्था (तुरीय) आत्मा की है। जाग्रत् अवस्था में जो मनुष्य खाता-पीता, चलता-बोलता, देखता-सुनता, आनन्द-विनोद करता है, अर्थात् इन्द्रियों से बाह्य पदार्थों या विषयों को भोगता है, वास्तव में शरीर नहीं आत्मा ये सब क्रियाएं करता है। आत्मा या जीव मन को प्रेरणा करता है, मन इन्द्रियों को संचालित करके यह काम पूरा करता है। इसी तरह स्वप्न में भी वह नाना प्रकार के विषयों का आनन्द लेता है, नाना दृश्य देखता है, व उनका रस लेता है। स्वप्न में जो विषय उपस्थित होते हैं वे प्रत्यक्ष नहीं होते, वासनामय होते हैं।

जाग्रत काल में मनुष्य जो-जो वासनाएं करता है वे ही प्रत्यक्ष शरीर-रूप में स्वप्न में हाजिर होती रहती हैं। भले ही जाग्रत् समय की वस्तुएं प्रत्यक्ष हों व स्वप्न की अप्रत्यक्ष, कल्पना या वासनामय, परन्तु रस दोनों में एक-सा होता है; फर्क इतना ही कि प्रत्यक्ष का रस अधिक स्थायी व स्वप्न का स्वप्न रहने तक होता है। किन्तु दोनों अवस्थाओं में उनका भोक्ता जीव या आत्मा ही रहता है। इसी तरह जब गाढ़ नींद आ जाती है, सुषुप्ति अवस्था छा जाती है, तब वही आत्मा इन सब विषयों को उसमें लय कर देता है। यह अवस्था भले ही तीन हों, परन्तु इनका भोग करनेवाला आत्मा एक ही है। और इसलिए इन तीनों अवस्थाओं की उसे स्मृति रहती है। यह स्मृति ही इस बात को साबित करती है कि तीनों अवस्थाओं में जाग्रत् रहनेवाला, उनका साक्षी कोई एक है और वह आत्मा ही है। वही मन के द्वारा सब इन्द्रियों का नियामक, नियम व अनुशासन में रखनेवाला है।

"अतः विचार के द्वारा ऐसा निश्चय करके मन की ये तीनों अवस्थाएं मेरी माया के गुणों द्वारा मुझमें ही कल्पित हैं, अनुमान और आप्तोक्तियों द्वारा तीक्ष्ण किये ज्ञान-रूपी खड्ग से सर्वसंशयों के आश्रयरूप अहंकार को काटकर अपने हृदय में विराजमान मेरा भजन करो।" ॥३३॥

अब तुम यह अच्छी तरह समझ गये होगे कि मन की ये तीनों अवस्थाएं तीन गुणों के प्रभाव से, जो कि मेरी ही माया से निर्मित हैं, मुझीमें कल्पित की गई हैं।

मुझसे भिन्न या पृथक् तो संसार में कुछ है ही नहीं। जो मनुष्य इन अवस्थाओं को अनुभव करता है, वह भी मैं हूं, जो जीव-रूप से इन सबको देखता है, इनका साक्षी रहता है, वह भी मैं हूं, जिस काल-रूपी पर्दे पर ये अवस्थाएं रहती व आती-जाती दीखती हैं वह भी मैं ही हूं, इन अवस्थाओं में जो क्रियाएं होती हैं वे भी मेरी ही चेतना-शक्ति के प्रताप से हैं। जागृति में जिन पदार्थों का उपभोग किया जाता है वे भी मैं हूं। स्वप्न में जिन वासनाओं का प्रतिबिम्ब देखा जाता है वह भी मैं ही हूं, क्योंकि वासनाएं पिछले कर्म के ही संस्कार-रूप हैं। अतः तुम इस प्रकार तर्क व अनुमान से तथा वेद, उपनिषद्, शास्त्रकारों तथा मुझ जैसे आप्तवचनों पर विश्वास रखकर—दोनों तरह से इस निश्चय पर दृढ़ हो जाओ। तर्क, अनुमान व आप्तवचन से पैनी करके ज्ञान-रूपी तलवार से इस अहंकार को—भेद-बुद्धि को—काट डालो; क्योंकि यही सब संशयों की जड़ है। जब इसको मिटा दोगे तो देखोगे कि मैं तुम्हारे हृदय में सर्वदा विराजमान हूं। फिर बस मेरा ही भजन करते रहो। मेरे ही निमित्त जीवन के सब कार्य करते रहो।

"इस भ्रान्तिरूप जगत् को मन का विलासमात्र, दृश्य, नश्वर और अलात-चक्र के समान अति चंचल जानना चाहिए। यह एक ही विज्ञान नाना रूप से भास रहा है, अतः गुणों के परिणाम से हुआ यह (जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिरूप) तीन प्रकार का विकल्प मायामय स्वप्नरूप ही है।" ॥३४॥

विप्रो, यह बात फिर याद कर लो कि यह जगत् भ्रान्ति-रूप है। मन का विलास-मात्र है। परमात्मा के संकल्प से इसकी उत्पत्ति हुई है, इसलिए उसके मन का ही यह एक खेल है। जो कुछ यह दिखाई देता है, इसका ऊपरी रूप है, दृश्य रूप है, और इसलिए यह नश्वर है। जैसे आज तुम इस सृष्टि को देखते हो, वैसे ही एक दिन यह प्रलय के गर्भ में डूब जानेवाली है। ये बाहरी दृश्य—संसार के भिन्न-भिन्न पदार्थ तो तुम नित्य ही बनते-बिगड़ते देखते हो। यह नित्य का सृष्टि-प्रलय तो तुम्हारे सामने ही होता है। इसे तुम अलात-चक्र की तरह दृष्टि का भ्रम या दोष समझो। एक लकड़ी के दो सिरों पर कपड़े बांधकर जलाओ और उसे जोर से घुमाओ तो एक आग का चक्र बन जाता है। यही अलात-चक्र कहलाता है। यह जितना चंचल होता है उससे भी अधिक चंचल, अस्थिर या गति-परिवर्तनशील समझो। वास्तव में तो यह एक ही विज्ञान है, परन्तु नाना रूप से भास रहा है। इसमें जो जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति-रूपी विकल्प दीख रहा है यह प्रकृति या माया के

तीन गुणों का परिणाम है, सो पहले कहा जा चुका है। अतः मायाभय होने के कारण इसे स्वप्नरूप ही समझो।

"इस प्रकार मायिक प्रपंच से दृष्टि हटाकर तृष्णारहित, मौन, निजानन्दपूर्ण और निश्चेष्ट हो जाय। फिर यद्यपि (आहारादि के समय) इसकी प्रतीति भी होगी, तथापि अवस्तु समझकर छोड़ा हुआ होने के कारण यह भ्रम उत्पन्न न कर सकेगा। हां, देहपात-पर्यन्त इसकी प्रतीति तो होती ही रहेगी।" ॥३५॥

अतः तुम इस सामयिक प्रपंच से दृष्टि हटा लो, और सब तृष्णाओं को छोड़ दो। तृष्णा को ज्यों-ज्यों तृप्त करने जाते हैं त्यों-त्यों वह बढ़ती है, जैसे आग में घी डालने से आग उल्टा भड़कती है। सब तरह से संयम को साधो-बोलो भी काम पुरता ही—बल्कि निश्चित समय तो मौन ही साधे रहो। जब निःस्पृह और संसार के भोगों के विषय में निश्चेष्ट हो जाओगे तो तुम निजानन्द का अनुभव करने लगोगे। उस समय तुमको अपने-आप प्रतीति होगी कि उस आनन्द के सामने यह विषयानन्द तुच्छ है। एक असली सोना है, व दूसरा नकली, महज मुलम्मा। कई बार मुलम्मे में चमक ज्यादा होती है, अतः सीधे-भोले लोग चक्कर में आ जाते हैं। इसी तरह जो विषयानन्द में लीन हो जाते हैं, उन्हें भी एक तरह का गंवार ही समझो।

निजानन्द में, अपने स्वरूप में, आत्मा में स्थित होने के बाद, वृत्ति के ब्रह्म-मयी हो जाने के बाद भी, शरीर के रहने तक संसार की व विषयों की प्रतीति होती रहेगी। उनका सम्पर्क तो बना रहेगा, परन्तु अब उससे मन को भ्रान्ति नहीं होगी, क्योंकि सदा यह जागृति रहेगी कि मैं संसार, देह, पदार्थ नहीं, आत्मा हूं। देह या जगत् मेरा वास्तविक रूप नहीं है। मैं तो सच्चिदानन्द-रूप परमात्मा हूं।

"मदिरा से उन्मत्त पुरुष जैसे अपने शरीर पर ओढ़े वस्त्र के दैववश रहने या गिरने के विषय में कुछ भी नहीं जानता वैसे ही सिद्ध पुरुष का यह नाशवान् शरीर बैठा हो या खड़ा हो उसे कुछ पता नहीं होता, क्योंकि वह अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर चुका है।" ॥३६॥

जब मनुष्य इस अवस्था को पहुंच जाता है तब वह सिद्ध कहलाता है। जब-तक तीनों गुणों पर उसका प्रभाव नहीं हुआ है, तबतक साधक व जब इनका स्वामी, नियन्ता हो गया तो सिद्ध कहलाता है। जिसे केवल आत्मा का बौद्धिक ज्ञान है, उसे उसकी प्रतीतिमात्र होती है। जो आत्मा का दर्शन करना चाहता है

व उसके लिए साधना करता है—सात्विक गुणों, दैवी-सम्पत्तियों को प्राप्त करने का उद्योग करता है वह साधक कहलाता है और जब सब इन्द्रियों पर व मन पर भी काबू पा लिया तो वही सिद्ध हो जाता है। एक ही यात्रा के ये तीन पड़ाव हैं। बहुत-से लोग पुस्तकें पढ़कर, शास्त्रों को रटकर, या समझकर मान लेते हैं कि हम ब्रह्मज्ञानी हो गये। यह उनका भ्रम है। इसी तरह थोड़ी साधना से जो शक्ति या सिद्धि मिलती है, उसीको पाकर चमत्कार बताते फिरना भी ब्रह्मज्ञान का लक्षण नहीं है। जो वस्तु तुममें होगी, वह प्रसंगानुसार अपने-आप दीखेगी। उसके प्रदर्शन की क्या जरूरत है ? सूर्य के साथ उसका प्रकाश व ताप लगा ही हुआ है, फूल के साथ ख़ुशबू सदैव रहती ही है। ब्रह्मज्ञानी स्वभावानुसार सहज रूप से रहता व व्यवहार करता है। यही सहज-समाधि है। छोटे या बड़े काम पर, छोटे या बड़े आदमी पर, अच्छी या बुरी अवस्था पर, सुख या दुःख पर, लाभ या हानि पर, भय या शोक पर, निन्दा या स्मृति पर, मान या अपमान पर, यश या अपयश पर, जीवन या मृत्यु पर, स्त्री या पुरुष पर, मनुष्य या पशु पर, कानून व नियम पर, विधान या शास्त्र पर उसकी दृष्टि नहीं रहती। तुम्हारे अभाव व आवश्यकता पर, दुःख या कठिनाई पर, और उसके अपने कर्त्तव्य पर उसकी दृष्टि रहती है। दूसरी बातें उसके नजदीक गौण हैं। दूसरों का भला करते हुए अपने कर्त्तव्य का सहज-रूप से पालन करते हुए, यदि इनकी अवहेलना भी हो जाय तो इसकी वह परवाह नहीं करता। जान-बूझकर वह इनकी अवगणना नहीं करता; परन्तु ये भेद उसके जीवन या कार्यों को एक हद् से आगे प्रभावित नहीं करते। यही सिद्ध की सच्ची पहचान है। उसकी परीक्षा किसीके सुख के समय उतनी नहीं होती, जितनी दुख के समय होती है। सुख में तो साथी व साझी मिल ही जाते है, इसलिए वह दूसरों के सुख की अवस्था में अपने-आप उससे सुखी होकर बैठा रहता है। वह यह नहीं चाहता कि सुख में कोई उसे याद करे। हां, किसीके दुःख या कष्ट की बात सुनने पर वह अपनी जगह स्थिर नहीं रह सकता।

अतः विप्रो, ऐसा सिद्ध पुरुष इस बात का खास तौर पर ध्यान नहीं रखता कि मेरे देह-गेह की क्या अवस्था है, आत्म-स्वरूप का ही विशेष व सर्वदा ध्यान रखता है और उसी वृत्ति से संसार में रहता है। उसकी उपमा एक शराबी से दी जा सकती है। शराब से छका होने पर जैसे उसे बाहरी जगत् का भान नहीं रहता, अपनी देह, कपड़े की भी सुध नहीं रहती—प्रायः ऐसा ही हाल सिद्ध पुरुष का

समझो। इसने ब्रह्मानन्द का प्याला चढ़ाया होता है, अतः सर्वदा उसीके नशे में चूर रहता है। अलबत्ते शराबी की तरह वह पागल होकर प्रलाप नहीं करता। यदि कभी-कभी ऐसी अवस्था हो भी जाय तो वह स्थायी नहीं होती। भावातिरेक से ही ऐसा हो सकता है। भाव जब साम्यावस्था में आ जाता है तब फिर साधारण संसारी आदमी की तरह उसका व्यवहार हो जाता है।

"जबतक देहारम्भक प्रारब्ध कर्म शेष रहता है तबतक यह देवाधीन शरीर प्राणादिक सहित जीता रहता है। किन्तु समाधि-योग में आरूढ़ होकर तत्त्व का साक्षात्कार कर लेने पर विज्ञ पुरुष फिर प्रपंचसहित इस स्वप्नवत् शरीर में आसक्त नहीं होता।" ॥३७॥

ऐसे सिद्ध पुरुष को ही जीवन-मुक्त कहते हैं। जबतक उसका प्रारब्ध कर्म शेष है तबतक उनको भोगता हुआ वह शरीर में रहता है; क्योंकि ये कर्म ही तो जन्म या देह-धारण के निमित होते हैं, अतः देहारम्भक कहलाते हैं। परन्तु चूंकि वह तत्त्वदर्शी है, समाधि के द्वारा उसने आत्मा या तत्त्व का साक्षात्कार कर लिया है, वह उसके शरीर के रग-रग में, मन के एक-एक अणु में व्याप्त हो गया है, अतः भले ही शरीर व प्राण रहे, व वह जगत् के विभिन्न व्यापार भी करे, इस प्रपंच या शरीर में आसक्त नहीं हो सकता। इसे स्वप्न समझकर इसकी लीला का साक्षी-मात्र बना रहता है।

विप्रो, समाधि मन की एकाग्रता की उस अवस्था का नाम है जहां बाहरी जगत् का उसे अनुभव या ज्ञान नहीं रहता। जिस बात पर मन लगाया है वह, खुद मन, व मन को लगानेवाला सब एक-दूसरे में ऐसे तल्लीन हो जाते हैं कि उन्हें अपनी पृथकता का बोध नहीं होता। गहरी नींद से इसकी तुलना हो सकती है; परन्तु नींद एक प्रकार की मूर्च्छा है, उसमें मन सो जाता है, समाधि में आनन्द मीठी नींद जैसा ही आता है, परन्तु मन सो नहीं जाता, प्रयत्नपूर्वक एकाग्र अवस्था में रहता है जिससे वह निष्क्रिय, शान्त हो जाता है, या मालूम पड़ता है। यह आवश्यक नहीं कि समाधि के लिए किसी विशेष साधन का ही सहारा लिया जाय। किसी भी काम में जब मन इतना तल्लीन हो जाता है कि पास-पड़ौस की बातों का खयाल नहीं रहता तो यह समाधि का ही रूप है।

"हे ब्राह्मणो, मैंने तुमसे यह जो सांख्य और योग का परम गुह्य रहस्य है, कहा। तुम मुझे अपनेको धर्मोपदेश देने के लिए आया साक्षात् यज्ञपुरुष नारायण

जानो।" ॥३८॥

"हे द्विजश्रेष्ठ, मैं योग, सांख्य, सत्य, ऋत, तेज, श्री, कीर्ति और दम—इन सबकी परम गति (अर्थात् अधिष्ठान) हूं।" ॥३९॥

ब्राह्मणो, तुम्हारे प्रश्न के उत्तर में मैंने तुम्हें सांख्य व योग का सारा रहस्य बता दिया है। अब तुम ऐसा ही समझो कि मैं साक्षात् यज्ञ-पुरुष नारायण ही हूं, जो तुम्हें धर्म का उपदेश देने के निमित्त आया हूं। सांख्य, योग ही नहीं, बल्कि सत्य, ऋत, तेज, श्री, कीर्ति, और दम आदि सबकी परम गति, अधिष्ठान, मैं ही हूं। मेरे लिए ही मनुष्य इन सब साधनों का अवलम्बन करते हैं।

सांख्य व योग का मर्म तो मैंने तुम्हें ऊपर बता ही दिया। सत्य आदि का भी संक्षेप में समझ लो। जो सर्वदा एक-स्थिति में पाया जाय या रहे वह सत्य है। एक परमात्मा ही ऐसा है। अतः उसे 'सत्य' कहते हैं। साधक यदि 'सत्य' को ही परमात्मा मानकर चले तो हर्ज नहीं है। 'ऋत' सत्य का व्यापक रूप है। 'ऋत' जब किसी केन्द्र में सिमटने लगता है तो 'सत्य' हो जाता है। जैसे आकाश में फैली हुई बिजली ऋत है, जब वह बादलों में चमकती है तो 'सत्य' है। मनुष्य उसी अवस्था में उसे देख सकता है। 'ऋत' भी जब 'सत्य' होता है, प्रकाशित होता है, तभी जाना जाता है। अतः प्रत्यक्ष या प्रकाशित 'ऋत' सत्य है। मनुष्य का काम इसीसे पड़ता है। जिसके प्रभाव से अन्धकार मिट जाता है, वह 'तेज' है। मनुष्यों में जो अन्याय, बुराई, या पाप के प्रति अरुचि का, विरोध का, तिरस्कार का भाव पैदा होता है उसे 'तेज' कहते हैं। 'श्री' कहते हैं शोभा, सौन्दर्य, सम्पद्, चमक को। लक्ष्मीजी में ये सब गुण हैं। अतः उन्हें 'श्री' कहा जाता है। शुभ गुणों व कार्यों के यश-विस्तार को 'कीर्ति' कहते हैं। संसार में यश व सफलता का फैलना 'कीर्ति' है। इन्द्रियों पर शासन करके या ताडन करके उनपर हावी होना 'दम' कहलाता है।

"समता और असंगता आदि सम्पूर्ण गुण अपने परम प्रिय सुहृद् और आत्मा मुझ निर्गुण और निरपेक्ष को ही भजते हैं। (अर्थात् इन सबका आश्रय भी मैं ही हूं।" ॥४०॥

और देखो, ये जो समता, असंगता, आदि दैवीगुण हैं वे भी मुझीको भजते हैं, मेरे ही आश्रय होकर रहते हैं, मेरे ही लिए भक्त व साधक इनकी प्राप्ति का प्रयत्न करते हैं। हालांकि मैं खद निर्गुण हूं, निरपेक्ष हूं, अर्थात् न तो किसी गुण से बंधा हुआ हूं, न किसीके आश्रय या अवलम्बन की मुझे जरूरत है, तो भी मैं इन

सब गुणों और उपाधियों को अपने उदर में लिये रहता हूं। मैं इनको अवश्य अपने में रखता हूं, इन्हें संचालित भी करता हूं, परन्तु ये मुझपर अपनी सत्ता नहीं चला सकते। जैसे घोड़ा मालिक के आश्रय में रहता है, मालिक उसपर सवारी करता है, वह मालिक पर सवारी नहीं कर सकता। या जैसे प्रकाश सूर्य में रहता है, परन्तु प्रकाश में सूर्य नहीं रहता, सूर्य प्रकाश पर अपनी सत्ता चलाता है, प्रकाश सूर्य पर नहीं चला सकता।

"इस प्रकार मेरे वचन से सन्देह दूर हो जाने पर सनकादि मुनियों ने अति-भक्तिपूर्वक मेरी पूजा कर स्तोत्रों द्वारा मेरी स्तुति की।" ॥४१॥

"इसके उपरान्त मैं उन श्रेष्ठ ऋषियों द्वारा भली प्रकार पूजित और स्तुत होकर ब्रह्मादि के देखते-देखते (अदृश्य होकर) अपने परम धाम को चला आया।" ॥४२॥

इस प्रकार जब उनकी शंका का समाधान हो गया तो उनसे सत्कृत होकर मैं स्वधाम को चला आया। ऊधो, तुम्हारे इस प्रश्न का उत्तर मैंने दे दिया। अब आगे क्या पूछना चाहते हो?

: १४ :

भक्ति व ध्यान-योग

[इसमें अनेक मत-मतान्तर क्यों हुए, यह समझाया गया है। इसका कारण स्वभाव, रुचि, संस्कार आदि का वैचित्र्य बताया गया है। फिर कहा है कि भक्ति के द्वारा चित्त-शुद्धि या कामना-नाश होने से भगवान् सरलता से मिल जाते हैं। इसी तरह भक्ति व कर्म का मेल भी बिठाया गया है। भक्ति का ही दूसरा नाम निष्काम कर्म है। निष्कामकर्मी कामनाओं को छोड़कर भगवान् की तरफ जायगा—यही भक्ति है। पाप-पुण्य की व्याख्या की गई है। असत्य व हिंसा पाप है, सत्य व अहिंसात्मक कार्य पुण्य है—यह बताया गया है। पाप का मूल मन में है, कर्म में तो वह सिर्फ प्रकट होता है। साम्यभाव व श्रद्धा का भी विवेचन किया गया है। अन्त में ध्यान-योग की सरल विधि बताई गई है।]

"उद्धवजी बोले—हे श्रीकृष्णचन्द्र, ब्रह्मवादी महात्मागण श्रेयःसिद्धि के अनेक मार्ग बतलाते हैं, वे विकल्प से (अपनी-अपनी दृष्टि के अनुसार) सभी श्रेष्ठ हैं या उन सबमें कोई एक ही प्रधान है?" ॥१॥

"भगवन्, आपने तो निरपेक्ष (अहैतुक) भक्तियोग को ही प्रधान बतलाया है, जिसके अनुसार सब ओर से आसक्ति छोड़कर आप ही में मन लगाना चाहिए।" ॥२॥

यह रहस्य तो मेरी समझ में आ गया, लेकिन अब श्रेयःसिद्धि के मार्ग के बारे में पूछना चाहता हूं। ब्रह्मवादी महात्मा इसके लिए विविध मार्ग बताते हैं। अब यह समझ में नहीं आता कि उनमें सभी श्रेष्ठ हैं या कोई एक मुख्य है? इधर आपने तो बार-बार भक्ति-योग पर ही जोर दिया है। निरिच्छ व हेतु-रहित होकर, विषय-भोगों से सब आसक्ति हटाकर एक मात्र भगवान् में ही मन लगाना चाहिए—ऐसा आपका उपदेश है। तो अब इनमें किसे अंगीकार करना चाहिए?

"श्रीभगवान् बोले—काल-क्रम से मेरी यह वेद नामक वाणी प्रलयकाल में

नष्ट हो गई थी, जिसे इस सर्ग के आरम्भ में मैंने ब्रह्मा को सुनाया था तथा जिसमें मेरे भागवत-धर्म का ही निरूपण है।" ॥३॥

"उस (ब्रह्मा) ने अपने ज्येष्ठ पुत्र स्वायम्भुव मनु को उसका उपदेश दिया और मनु से भृगु आदि सात ब्रह्मर्षियों ने उसे ग्रहण किया।" ॥४॥

"तदनन्तर अपने पितृगण उन महर्षियों से उनकी सन्तान देव, दानव, गुह्यक, मनुष्य, सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर, चारण, किंदेव, किन्नर, नाग, राक्षस और किंपुरुष आदि ने उस वेदविद्या को प्राप्त किया। उनके सत्त्व, रज और तमोगुणजनित स्वभाव अनेक प्रकार के हैं, जिनके कारण उन प्राणियों में तथा उनकी बुद्धियों में भी बहुत भेद हैं। अतः अपने-अपने स्वभाव के अनुसार उन सबके भिन्न-भिन्न प्रकार के वचन निकलते हैं।" ॥५-६-७॥

श्री भगवान् ने कहा, इस मत-विभिन्नता का कारण है। मेरी जो वेदवाणी है, वह तो एक ही है। सर्ग के आरम्भ में मैंने उसे ब्रह्माजी को सुनाया था। उसमें मैंने भागवत-धर्म का निरूपण किया था। उसे ब्रह्मा ने अपने बड़े बेटे स्वायंभुव मनु को सुनाया, और मनु से भृगु आदि सात महर्षियों (ब्रह्मा के मानसपुत्र कहे जानेवालों) ने ग्रहण किया, व उनसे उनकी सन्तान देव, दानव आदि ने उस वेद-विद्या को प्राप्त किया। उसके ग्रहण करनेवाले भिन्न-भिन्न स्वभाव के लोग थे। कोई सतोगुणी थे, तो कोई रजोगुणी, व कोई तमोगुणी। इन गुणों के प्रभाव से मनुष्यों के स्वभाव व बुद्धि के अनुसार उन लोगों ने उसी एक विद्या को तरह-तरह से बताया व फैलाया। अनेक मतान्तरों का यही कारण है।

"इस प्रकृति-भेद के कारण ही परम्परा से किन्हीं-किन्हीं मनुष्यों के विचारों में भेद पड़ जाता है और कोई-कोई तो उनमें वेद-विरुद्ध पाखण्ड-मतावलम्बी भी हो जाते हैं।" ॥८॥

"हे पुरुषश्रेष्ठ, मेरी माया से मोहित बुद्धिवाले लोग अपने-अपने कर्म और रुचि के अनुसार कल्याण-मार्ग का भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रतिपादन करते हैं॥" ॥९॥

इनमें कोई तो परम्परा से विभिन्न मतों का पोषण करते हैं और कोई पाखंडी होते हैं जो नाना कारणों से मतभेद पैदा कर देते हैं और बढ़ा देते हैं। कहीं मान-सम्मान नहीं हुआ, बात नहीं मानी गई, स्वार्थ-सिद्धि नहीं हुई, तो झट से अलग होकर एक नया दल, नया मत, नया सम्प्रदाय, नई संस्था, खड़ी कर दी। और

पुराने का व उनके माननेवालों का खंडन ही नहीं, बुराई भी करने लग गये। सच्चा मत-भेद भी हो सकता है। जैसे ईश्वर, परमात्मा या ब्रह्म के स्वरूप के सम्बन्ध में, उसका जगत के साथ व जीव के साथ कैसा सम्बन्ध है, इसके विषय में, या पुनर्जन्म अथवा मुक्ति के स्वरूप के सम्बन्ध में, अथवा वर्ण-धर्म, समाज-व्यवस्था देश-धर्म आदि के विषय में। परन्तु सच्चा मत-भेद रखनेवालों व पाखण्डियों में यह फर्क होता है कि पहली श्रेणी के लोग अपने मत का समर्थन युक्तियों व अनुभव के बल पर करते हैं व दूसरे मतों का खण्डन भी इसी आधार पर करते हैं। विरोधी मत, मत-प्रवर्तक या मतानुयायियों के प्रति किसी प्रकार का अनादर नहीं प्रदर्शित करते। उन्हें तुच्छ समझकर व्यवहार नहीं करते, उनकी निन्दा जगह-जगह नहीं करते फिरते। खंडन एक बात है, निन्दा दूसरी। खण्डन का आधार सत्य (अर्थात् माने हुए ही) पर होता है। निन्दा की उत्पत्ति द्वेष से होती है। एक ही वस्तु भिन्न-भिन्न लोगों की दृष्टि व अनुभव में भिन्न-भिन्न प्रकार से आती है। एक इमारत के कई जगह से कई चित्र (फोटो) लिये जा सकते हैं। एक ही दृश्य का वर्णन भिन्न-भिन्न लोग भिन्न-भिन्न तरह से करते हैं। इसका कारण उनकी दृष्टि, स्वभाव या बुद्धि का भेद ही है। यह स्वाभाविक है और एक हद तक अनिवार्य भी है। परन्तु सच्चे मत-भेद में परस्पर सहिष्णुता और पाखण्ड में परस्पर निन्दा की प्रवृत्ति देख पड़ेगी।

ऊधो, सच पूछो तो ये सब लोग मेरी माया से विमोहित हो गये हैं। तभी तो उनकी बुद्धि एक वस्तु को अनेक रूप में देखती है। जिनकी जैसी रुचि व कर्म होते हैं, उसी तरह से वे कल्याण-मार्ग का प्रतिपादन भिन्न-भिन्न तरह से करते हैं।

"कोई धर्म को, कोई यश को, कोई काम को, कोई सत्य और शम-दमादि को, कोई ऐश्वर्य को तथा कोई दान और भोग को ही स्वार्थ (परमार्थ) बतलाते हैं।" ॥१०॥

"कोई यज्ञ, तप दान, व्रत तथा यम-नियमादि को ही पुरुषार्थ बतलाते हैं। किन्तु इन कर्मों से जो लोक मिलते हैं, वे आदि-अन्तवाले, परिणाम में दुःख देनेवाले, अन्ततोगत्वा मोहजनक, तुच्छ आनन्दवाले तथा शोक से व्याप्त हैं।" ॥११॥

यही कारण है कि कोई तो धर्म को, व कोई यज्ञ को, कोई काम को, व कोई सत्य और शमदमादि को, कोई ऐश्वर्य को व कोई दान और भोग को ही स्वार्थ—

परमस्वार्थ अर्थात् परमार्थ बतलाते हैं। कोई यज्ञ, दान, तप, व्रत तथा यम-नियमादि को ही पुरुषार्थ बतलाते हैं। 'पिण्डे-पिण्डे मतिर्भिन्ना' वाला हाल हो गया है। परन्तु ऊधो, मेरी राय यह है कि इन कर्मों से जो लोक मिलते हैं, जो उच्च स्थिति प्राप्त होती है, वह थोड़े ही दिन के लिए होती है। एक समय से शुरू होकर दूसरे समय में खतम हो जाती है। इसीलिए उन्हें 'आदि-अन्तवाला' कहा जाता है। फिर इतना ही नहीं, परिणाम में वे दुःखद भी होती हैं; क्योंकि वे सब भोग-प्रधान हैं। वासना के अधीन होकर या कामना से जो भी शुभ कर्म करोगे, उसका वही फल पाओगे, जिसकी कामना या वासना मन में रही है। काशी के लिए यहां से चलोगे तो अन्त-पन्त काशी ही पहुंचोगे। स्वर्लोक, महर्लोक आदि जो ऊपर के लोक हैं, वे एक से एक उच्च स्थितियों या पड़ाओं के नाम हैं। इसी तरह अतल, वितल, सुतल आदि नीचे की स्थितियों के। शुभ कर्म से उच्च व अशुभ से नीच स्थिति प्राप्त होती है। इसीको स्वर्ग व नरक की भाषा में याज्ञिक और पौराणिक लोग बताते हैं। पुण्य का फल स्वर्ग व पाप का नरक कहा जाता है, उसका मर्म यही है। पुण्य से ऊंची स्थितियां मिलती हैं। इन स्थितियों या लोकों में प्राणी तभी तक रह पाता है जबतक कि उनके पुण्य या पाप का फल वे भोग नहीं लेते। पीछे इन स्थितियों या लोकों में उन्होंने जैसा आचरण रखा है, जैसे कर्मादि जिस भावना से किये हैं, उनके अनुसार उन्हें अगली स्थिति मिलती है। इन लोकों में आने के पहले के जो कर्म फल बाकी हैं, वे तो हैं ही, उनमें इन लोकों के कर्म-फल और जुड़ते हैं। इस तरह कामना-वासना-युक्त कर्मों का यह तांता खतम ही नहीं होता।

इसीलिए निष्काम कर्म का मार्ग बताया गया है। जो कर्म बिना किसी उद्देश के केवल परमात्मा के लिए किये जाते हैं, उनसे भोग या ऐश्वर्यवाली ये गतियां नहीं प्राप्त होतीं। बल्कि मनुष्य के चित्त पर उनका प्रभाव पड़ता है। वे चित्त के मलों को, कामना-वासना, राग-द्वेष, अभिमान-क्रोध, लोभ-मत्सर आदि विकारों को धोने का काम करते हैं। कोई भी कर्म करो, उससे एक शक्ति अवश्य उत्पन्न होती है। भले ही वह कर्म शारीरिक हो, वाचिक हो या मानसिक हो। उसका जो असर खुद पर, दूसरों पर या वातावरण में होता है, वह उसकी शक्ति ही है। तुमने किसीको गाली दी या किसीकी स्तुति की, इसके भिन्न-भिन्न असर तुमपर, जिसको तुमने गाली दी या जिसकी तारीफ की उसपर तथा आस-पास से लोगों या वायुमण्डल पर भिन्न-भिन्न तरह से हुआ। गाली देने से तुम्हारे मन को तत्काल

एक प्रकार का संतोष हुआ। सामनेवाले को लज्जित करने, दूसरों की दृष्टि में गिराने या उसके किसी कार्य का बदला निकालने की तुम्हारी इच्छा परिपूर्ण हुई। उससे तुम्हें थोड़ी देर के लिए कुछ सुख मिला। यदि जान-बूझकर तुमने गाली दी है तब तो शुरू में कुछ सुख मिलेगा, परन्तु यदि गुस्से में हठात् मुंह से निकल गई है तो उसी समय दुःख या अनुताप होने लगेगा। जान-बूझकर देने की अवस्था में भी कुछ समय के बाद मन पर उसकी दूसरी प्रतिक्रिया होगी। जब दूसरे लोग आकर उलहना देंगे या खुद वही और ज़ोर का विरोध या प्रतिकार करेगा तब पश्चात्ताप की क्रिया मन में उत्पन्न होगी या और भी विरोध की भावना प्रबल हो सकती है। जैसे तुम्हारे मन की बनावट होगी, उसके अनुसार असर तुम्हारे मन पर होगा। सामनेवाले व आस-पासवालों पर भी उनकी मनोरचना के अनुसार असर पड़ेगा। यही हाल 'स्तुति' की हालत में भी होगा। यदि इस कर्म में तुम्हारी फलासक्ति है, अर्थात् कामना या वासना है तब तो तुम उस फल या अपने हेतु की पूर्ति के लिए, उसी दृष्टि से बराबर प्रयत्न या कर्म करते रहोगे। तुम्हारे कर्म या प्रतिकर्म सब उसी दिशा में एक-दूसरे पर अपनी प्रतिक्रिया करते चले जायंगे व अन्त में तुम या तो उसमें सफल होगे या विफल। यदि सफलता के लिए आवश्यक, गुण, शक्ति, साधन, परिस्थिति तुम्हारे अनुकूल होगी तो सफलता, नहीं तो विफलता मिलेगी। सफलता से तुम्हारा मद, अभिमानलोलुपता बढ़ेगी। विफलता से ईर्ष्या, प्रतिहिंसा, या निराशा, उत्साह-हीनता, अकर्मण्यता आवेगी, व इनके प्रभावों से युक्त होकर तुम फिर किसी कुकर्म या सुकर्म में प्रवृत्त होगे। इसके विपरीत यदि कर्म केवल ईश्वर-प्रीत्यर्थ किये जायं, निष्काम भाव से, स्वार्थ-रहित होकर किये जायं तो उनका प्रभाव ले-देकर हमारे मन पर ही पड़ता रहेगा। बाहरी जगत् से तो उसका ताल्लुक रहा ही नहीं अर्थात् तुम इस बात से उदासीन हो कि दूसरों पर उसका भला-बुरा असर होता है, तुम्हारी दृष्टि केवल अपने कर्तव्य-पालन पर है, अपने रास्ते चलते रहने से है। इसका फल यह होगा कि मन सर्वार्थी होने के बजाय एकाग्र, बहुमुखी होने के बजाय एकमुखी, उखाड़-पछाड़, उतार-चढ़ाव की बजाय शान्ति व समता में प्रवृत्त होगा। इसी क्रिया या परिणाम का नाम चित्त-शुद्धि है। इससे सन्तोष, समाधान, स्थायी आनन्द प्राप्त होता है, जो मुक्ति की मंजिल ही है।

इसके विपरीत, जैसा कि ऊपर कह चुका हूं, पूर्वोक्त कर्म दुःखप्रद हैं, उल्टा

मोह में गिराते हैं, यदि आनन्द या सुख मिला भी तो वह हल्के दरजे का होगा, बल्कि शोक ही, कुल मिलाकर, अधिक रहेगा। और एक जंजाल से दूसरे जंजाल में गिरता जायगा।

"हे सभ्य ! सब ओर से निरपेक्ष होकर मुझमें चित्त लगानेवाले, मुझ ही में लीन रहनेवाले पुरुष को जो सुख प्राप्त होता है, वह विषयलोलुप व्यक्तियों को कैसे मिल सकता है ?" ॥१२॥

इसका सार यह निकला कि जो सुख उस पुरुष को प्राप्त होता है, जो सब बातों से मन को हटाकर, किसीसे किसी प्रकार की आशा, अपेक्षा, इच्छा न रखते हुए, मुझमें भी अपना मन लगाता है—अपने निश्चित सात्त्विक ध्येय में तन्मय हो जाता है—व उसीमें लीन रहता है, उसी निमित्त जीवन के अन्य व्यापार करता है, वह उन व्यक्तियों को कदापि नहीं मिल सकता, जो भोग-विलास व विषय-भोग के इच्छुक होते हैं, या उनमें डूबे रहते हैं। विष खाकर कोई अमृत होना चाहे तो कैसे हो सकता है ? 'बोये बीज बबूर के आम कहां ते होय ?'

"जो अकिंचन, जितेन्द्रिय, शान्त, समबुद्धि और मेरी प्राप्ति से ही सन्तुष्ट है उसके लिए सब दिशाएं सुखमयी ही हैं।" ॥१३॥

जो अकिंचन है, मेरे सिवा अपने उच्च लक्ष्य या इष्ट के सिवा अपने पास कुछ नहीं रक्खा है, जो जितेन्द्रिय है, अपनी सब इन्द्रियां जिसके वश में रहती हैं, जैसे घोड़ा घुड़सवार के वश में; जिसका मन शांत हो गया है, कोई उथल-पुथल, उतार-चढ़ाव, क्षोभ मन में नहीं आता—उठता; जो समबुद्धि है, सममें एक ही जीव या आत्मा के अस्तित्व का अनुभव करता है, और जिसे मेरे सिवा, अपने निर्दोष इष्ट के सिवा कुछ नहीं चाहिए, उसके लिए समस्त दिशाएं सुखमयी हैं। उसके चारों ओर मंगल-ही-मंगल है। अमंगल भी उसके चरणों में आकर मंगल हो जाता है। असफलता खुद जाकर सफलता को बुला लाती है। शत्रुदल ढीले पड़कर पछताने लगते हैं, व उसकी त्रुटियों में वे गुण व खूबी देखने लग जाते हैं।

"जिसने अपने चित्त को मुझमें ही लगा दिया है, वह मुझको छोड़कर न ब्रह्मपद, न इन्द्रपद, न सार्वभौम राज्य, न समस्त भूमण्डल का आधिपत्य, न योग की सिद्धियां और न मोक्ष की ही कामना करता है।" ॥१४॥

ऊधो ! तुमको शायद ताज्जुब हो, पर इसमें कोई शक नहीं कि जिसने अपना चित्त मुझमें लगा रक्खा है, मेरा भक्त जिस भावना से मुझे भजता है, उसी भावना

से यदि कोई अपनेको किसी ऊंचे ध्येय में लगा देता है तो उसे फिर अपने इष्ट के सिवा किसी वस्तु की चाह नहीं होती। यही उसकी सचाई की परीक्षा है। मैं ऐसी परीक्षा सबकी लेता हूं, चाहे वे मुझे ईश्वर-रूप में मानते हों, या शक्ति-रूप में, या न मानते हों, परन्तु सच्चे त्यागी, लगनवाले सदाचारी हों, उन्हें ब्रह्मपद, इन्द्र-पद, सार्वभौम राज्य, सारे भूमण्डल का आधिपत्य, योग की सब प्रकार की सिद्धियां, देने का लालच देता हूं; पर वे उसकी तरफ फूटी आंख से भी नहीं देखते। ध्रुव को मैंने कम नहीं ललचाया। प्रह्लाद की मैंने कम परीक्षा नहीं की, किन्तु उन्होंने सदा मेरे सिवा किसी वस्तु की चाह नहीं की। वरदान भी मांगा तो दूसरों के लिए, अपने लिए, अहैतुकी भक्ति की विरासत मांगी। यहांतक कि वह मोक्ष को भी ठुकरा देते हैं, जिसकी साधना के लिए योगीजन अनेक कठोर साधन करते हैं, व ज्ञानीजन महा-महा त्याग करते हैं।

"(इसलिए) हे उद्धव ! **आप (भक्तलोग) मुझे जैसे प्रिय हैं वैसे तो न ब्रह्मा हैं, न शंकर हैं, न बलभद्र हैं, न लक्ष्मी है और न अपना आत्मा ही है।" ॥१५॥**

यही कारण है कि ऊधो, तुम अर्थात् भक्त लोग मुझे जितने प्रिय हो, उतने न ब्रह्मदेव हैं, न शंकर हैं, न बलदाऊ हैं, न लक्ष्मी। शायद तुम्हें भरोसा न हो, पर मैं खुद भी अपनेको उतना प्रिय नहीं हूं, जितने भक्त। एकनिष्ठ व सर्वस्वत्यागी, मुझे प्यारे होते हैं। संसार में मेरे प्यार की एकमात्र वे ही वस्तु हैं।

"जो निरपेक्ष, शान्त, निर्वैर, और समदर्शी मुनि है, उसके पीछे-पीछे तो मैं, इस दृष्टि से कि इसकी चरण-रजसे पवित्र हो जाऊंगा, सदा फिरा करता हूं।" ॥१६॥

जिसने सब अपेक्षाएं छोड़ दी हैं, जिसका मन शान्त रहता है, जो किसीसे वैरभाव नहीं रखता, जो सबको समदृष्टि से देखता है, मैं सर्वदा उसके पीछे-पीछे चलता हूं, इसलिए कि उसकी चरण-रज को माथे पर लगाकर खुद पवित्र हो जाऊं। ऐसा बड़ा दर्जा मेरे भक्तों का है। उसकी प्रत्येक क्रिया, प्रत्येक चाह मुझे हो जाना पड़ता है। वह चलता है तो उसके पांव के नीचे ही मृदुल रेती मैं बन जाता हूं, कि कहीं मेरे भक्त को कंकर या कांटा न चुभ जाय। उसके मुंह से कोई बात निकल जाती है तो मैं खुद उसकी पूर्ति या सिद्धि-रूप बन जाता हूं। किसी विधवा को भी वे आशीष दे देते हैं कि 'पुत्रवती हो' तो उसका पुत्र मुझे होना पड़ता

है। वैसे लक्ष्मी खुद मेरी सेवा करती है, व भक्तों की सेवा के लिए बहुत लालायित रहती है, लेकिन भक्तों की रुचि को देखकर मैं उन्हें रोक देता हूं व खुद उनकी सेवा के लिए सर्वदा उनके आस-पास रहता हूं। मैं यदि कहीं कृतार्थ होता हूं तो ऐसे साधकों-भक्तों की सेवा करके ही।

"मुझमें अनुरक्त, अकिंचन, शान्त, सर्वभूत-हितकारी और कामनाओं से रहित चित्त महात्मागण जिस आनन्द का अनुभव करते हैं, केवल निरपेक्षता से ही प्राप्त होनेवाले मेरे उस परमानन्द को और लोग नहीं जानते।" ॥१७॥

जो मुझमें अनुरक्त हैं, अकिंचन हैं, शान्त और प्राणिमात्र के हित में सदा लगे रहते हैं, अपने स्वार्थ, सुख, भोग की कोई कामना जिन्होंने नहीं रखी है, वे महात्मा लोग अवर्णनीय आनन्द का अनुभव करते हैं। वे स्वयं ही अपने इस आनन्द व सन्तोष या तृप्ति का वर्णन करते नहीं अघाते। दूसरे लोग चकित होते हैं व मन में पूछते होंगे कि आखिर ऐसा परमानन्द उन्हें क्यों कर मिलता है? तो मेरा एक ही उत्तर है—केवल उनकी निरपेक्षता से। "निस्पृहस्य तृणं जगत्।"

"भवसागर सब सूख गया है फिकर नहीं मुझे तरनन की।"

इस भावना या कल्पना में जो आनन्द या मस्ती है, वह इस भवसागर पर बड़े-बड़े जहाज़ बनाकर तैरने या उसे पार करनेवाले मनुष्यों को नहीं नसीब होती। तुम कहोगे—यह तो अकर्मण्यता हुई। जहाज़ बनाने व खेनेवाले पुरुषार्थी हैं। तो ऊधो, यह ऊपरी दृष्टि से ही सही है। कामनाओं की पूर्ति के लिए जितना पुरुषार्थ करना पड़ता है, उससे अधिक पुरुषार्थ उनको निर्मूल करने में लगाना पड़ता है। ज़रा इसका प्रयत्न कर देखो तो फौरन इसकी सचाई तुम्हें जंच जायगी। दूसरों के साथ लड़ना आसान है, अपने साथ लड़ना महा कठिन है। समुद्र पर एक जहाज़ तैरा देना आसान है, पर सारे समुद्र को सुखा देने की कल्पना तो ज़रा मन में कर देखो। कितना धैर्य, कितनी एकाग्रता, कितना परिश्रम, कितना समय, कितना उद्योग लगेगा?

"(यह तो मेरे उत्तम भक्तों की बात हुई) मेरा अजितेन्द्रिय भक्त भी विषयों से बाधित होने पर प्रायः अपनी प्रौढ़ा भक्ति के प्रभाव से उन विषयों के वशीभूत नहीं होता।" ॥१८॥

यह तो मैंने अपने उत्तम भक्तों का हाल तुम्हें सुनाया। लेकिन ऐसे भक्त भी होते हैं जो विषय-वासना से छूट नहीं पाये हैं। उनमें फंसे रहने पर भी यदि वे मेरी

भक्ति दृढ़ता के साथ करते रहते हैं, अपने अंगीकृत सेवा-कार्य में लगन से जुटे ही रहते हैं, तो धीरे-धीरे वे उनसे छुटकारा पा जाते हैं। क्योंकि मन का यह धर्म ही है कि वह जब सचाई के साथ किसी एक बात में लग जाता है तो और बातों की तरफ से ध्यान अपने-आप हट जाता है। जैसे जब बच्चा बीमार हो तो मां दुनिया भर के काम करेगी, पर मन बच्चे के पास ही सदैव रहता है, रात में सोते हुए भी बच्चे का ख्याल नहीं भूलती।

ऊधो, यह भक्ति-मार्ग सब लोगों के लिए है, इसका मूल तत्त्व है सचाई के साथ किसी भी एक अच्छे काम में लग जाना, व लगे ही रहना। यहांतक कि उसी के पीछे दीवाने हो जाना, सर्वस्व छोड़ देना। मैं सब अच्छे कामों का प्रतिनिधि हूं, या यों कहो कि सब शुभ कर्मों का उदय मुझसे ही होता है, अतः मैं यह कहा करता हूं कि सबकुछ मुझे ही अर्पण कर दो, मुझमें मन लगा दो, मेरी शरण आकर निर्भय हो जाओ, मैं तुम्हारा बेड़ा पार कर दूंगा, आदि। परन्तु जिनकी बुद्धि मेरे इस स्वरूप या व्यक्तित्व को ग्रहण नहीं करती या नहीं कर सकती, उन्हें मेरी यह भाषा चक्कर में डाल देती है। भाषा तो मुझे सामनेवाले के अधिकार को देखकर अलग-अलग ही बोलनी पड़ेगी; पर बुद्धिमान् मनुष्य को उसमें से मेरा आशय ग्रहण कर लेना चाहिए। भक्ति-मार्ग संसार के दुःखों से छूटने का सरल उपाय है। जो दुःख का अनुभव नहीं करता उसके लिए यह बेकार है। जो दुःखी है, उससे मैं कहना चाहता हूं कि दुःख का मूल आसक्ति है, मोह है। मनुष्य जब संसार में पैदा हुआ है, व रहने ही वाला है तब वह उससे बाहर तो कहीं नहीं जा सकता, उसके सब कामों में थोड़ा-बहुत उसे पड़ना ही पड़ेगा, उसकी सब इन्द्रियां व मन अपना काम करेंगे ही। इस आवश्यकता को स्वीकार करके ही मैंने उन्हें उसके दुःखों से छूटने का उपाय बताया है। कर्म छोड़ देने का उपदेश बहुत थोड़े लोगों को ही हज़म हो सकता है। पहले ऐसा ही समझा जाता था कि कर्मों से सुख-दुःख पैदा होते हैं। अतः कर्मों को ही छोड़ देना चाहिए। किन्तु सूक्ष्म अवलोकन व विचार करके तथा अनुभव करके देख लिया है कि सभी कर्म दुःख नहीं उपजाते। जो कर्म वासना-मूलक होते हैं या जिनके फलों में हम आसक्ति रखते हैं, वही, उन्हींका फल मुख्यतः दुःखदायी हो जाता है। वासना व आसक्ति से किस प्रकार राग-द्वेष बढ़ते हैं व मनुष्य उत्तरोत्तर विकार-ग्रस्त होता हुआ कैसे महान् दुःख, परिताप, अशान्ति के व अन्त को नाश के गर्त्त में गिर पड़ता है यह मैं पहले बता चुका हूं। गीता में भी

मैंने बताया है कि कैसे एक काम ही मनुष्य के विनाश का कारण बन जाता है। अतः मैं तो कामना, वासना, आसक्ति के त्याग पर ही जोर देता हूं। कर्म तुम बेखटके करो, परन्तु केवल कर्तव्य समझकर करो, धर्म समझकर करो, निष्काम भाव से करो, या इन्द्रिय-सुख व तृप्ति के उद्देश्य से कुछ मत करो। यही संसार के दुःखों से छूटने का रामबाण उपाय है। इसीको संक्षेप में मैंने भक्ति कहा है। निष्काम कर्म व भक्ति एक ही बात है। जो एक ईश्वर के व्यक्तित्व या अस्तित्व में विश्वास नहीं करते उन्हें निष्काम कर्म शब्द अच्छा लगता है। जो भावुक हैं, आस्तिक हैं, उन्हें भक्ति की भावना प्यारी लगती है। 'निष्काम कर्म' में रूखापन है; भक्ति में भक्ति की भावना की आर्द्रता, गीलापन, तरी है। उसमें दृष्टि कर्म पर अधिक रह सकती है, इसमें भावना के पोषण पर। चाहे ज्ञान-मार्ग को लो, चाहे कर्म या भक्ति-मार्ग को लो—ये एक-दूसरे से सर्वथा पृथक् किसी हालत में नहीं किये जा सकते। केवल दृष्टि की प्रधानता से अलग-अलग नाम हो गये हैं। न ज्ञानी कर्म से छूट सकता है, न कर्मी ज्ञान से हीन हो सकता है, न भक्ति ज्ञान या कर्म से अलग रहती है। प्रकृति के तीनों गुणों की तरह ये परस्पर संलग्न या सम्मिश्र रहते हैं। इन तीनों के समुच्चय को ही 'जीवन' कहना चाहिए। जैसा कि सत्त्व, रज, तम के समुच्चय को प्रकृति या सत्, चित्, आनन्द के समुच्चय को परमात्मा। अतः यह मार्ग आस्तिक, नास्तिक, वैदिक-अवैदिक, भारतीय-अभारतीय, आर्य-अनार्य, म्लेच्छ सबके लिए खुला है। ये भेद भिन्न-भिन्न कारणों से लोगों ने बना लिये हैं। मेरे सामने तो मानव-मात्र के दुःखों का प्रश्न था और मैंने उसे इस सरल तरीके से हल कर दिया है। मुझमें विश्वास करके संसार में रहना सब तरह से कल्याणकारी व मंगलदायी है। परन्तु जिनका विश्वास मुझमें न हो, उन्हें भी मैं दुःख में डूबते कैसे छोड़ सकता हूं? बेटा भले ही बाप को न माने, पर बाप उसे कैसे भुला सकता है? उसे दुःखी देखकर कैसे चुप बैठ सकता है? और माता भी तो मैं ही हूं। पूत कपूत हो सकता है, बाप भी एक बार मुंह फेर सकता है, पर माता कु-माता नहीं हो सकती। अतः मैंने अपने उन बच्चों के लिए भी दुःख से तरने का रास्ता खोल रखा है, उन्हें समाज की व्यवस्था, शान्ति व उन्नति तो चाहिए ही। सबके समान अधिकार की नींव पर ही वे इस उद्देश्य को साध सकते हैं, सामर्थ्य व योग्यता का प्रश्न जुदा है। परन्तु मानवीय आवश्यकताएं तो सबकी समान ही माननी पड़ेंगी। और इसीलिए उनकी पूर्ति में सबको समान अधि-

कार भी देना पड़ेगा, यह समता का सिद्धान्त मुझे भी मंजूर है,बल्कि प्रियतम है और मैंने ही इसे संसार में चलाया है। यह समता की भावना तभी टिक सकती है, जब एक-दूसरे के सुख-दुःख का या अधिकारों का ख्याल रखेंगे। यह एहसास उनके आचार-विचार अर्थात् कर्म पर पहली बन्दिश लगाता है, या उनकी एक सीमा निर्धारित करता है। ऐसा न करें तो उनमें कलह बढ़ जाय, जिससे सभी दुःखी होंगे। इसी तरह यदि उन्हें स्वस्थ, पुष्ट, बलिष्ठ, प्रसन्न, कार्यक्षम, सतेज, उत्साही, अदम्य, साहसी, निश्चयी, निर्भय, पुरुषार्थी रहना है तो वे थोड़े ही अनुभव से देख लेंगे कि विषय-भोग या इन्द्रिय-सुख की भी एक सीमा बांधनी पड़ेगी, केवल व्यक्तिगत दृष्टि से ही नहीं, सामाजिक दृष्टि से भी। इन दो सीमाओं के बाद, अब और आगे चलो। जिस सुख या भोग में व्यक्ति की अधिक लालसा रहती है, उसकी सीमा से बाहर वह चला जाता है। परिणाम में दुःख, ग्लानि, अनुताप-भागी होता है। यह भी थोड़े अनुभव से आज़माया जा सकता है। इस अधिक लालसा की प्रवृत्ति का मूल यह कल्पना है कि अधिक भोग से हानि नहीं है। यह गलत है। किसी चीज़ को सीमा से बाहर जाने देना ही मनुष्य की भूल है। खाना जहां अधिक खाया कि बदहज़मी हुई। परिश्रम अधिक किया कि थकान आई, आमदनी से अधिक खर्च किया कि कर्ज़ की नौबत आई, अधिक स्त्री-संग किया कि निर्बलता, सुस्ती, निरुत्साह, निराशा आई। इस अधिकता का मूल आसक्ति है। इससे बचने के लिए मन को अनासक्त रखने का अभ्यास करना चाहिए, अर्थात् वस्तुओं का उपभोग, रस, आनन्द, मज़ा के लिए नहीं, बल्कि उपयोगिता या आवश्यकता के लिए करो। थोड़े में, इस आनन्द-भावना की जगह, रस-लोलुपता की जगह, कर्तव्य-भावना या आवश्यकता की कसौटी से काम लेना चाहिए। जो कुछ कर्म करो वह आवश्यक, उपयोगी, हितकर, कर्तव्य-रूप होने से करो, न कि इसलिए कि उसके करने से मजा आवेगा, ऐश्वर्य, धन-सम्पत्ति, राज-पाट, पद-प्रतिष्ठा आदि मिलेगी। कर्तव्य समझकर करोगे तो भी ये मिलने ही वाले हैं, परन्तु तुम्हारी आसक्ति, निगाह, उनपर न रहनी चाहिए। यही निष्काम कर्म या अनासक्ति का मूल मन्त्र, परम रहस्य है। जो इसे बुद्धि से समझना नहीं चाहते या जिनकी बुद्धि इतनी परिपक्व नहीं हुई है, या जो अधिक भावना-प्रधान है, या भावना की पुष्टि से जल्दी अनासक्ति की तरफ बढ़ सकते हैं उनके लिए इसीका नाम भक्ति है।

"जिस प्रकार बढ़ा हुआ अग्नि ईंधन को जलाकर भस्म कर डालता है, हे

उद्धव, उसी प्रकार मेरी भक्ति भी सम्पूर्ण पापराशि को पूर्णतया ध्वस्त कर देती है।" ॥१९॥

इस भक्ति का प्रभाव कम मत समझो। इससे भक्त के सम्पूर्ण पाप भस्म हो जाते हैं। जैसे तेज़ आग ईंधन को जलाकर भस्म कर देती है वैसे ही।

ऊधो, पाप का स्वरूप भी अच्छी तरह समझ लो। साधारणतः बुरे कर्म पाप कहलाते हैं। विशेषतः अनैतिक कर्मों को पाप कहते हैं। जो कर्म अनजान में या पाप की भावना मन में न रहते हुए भूल, भ्रम या सहज-प्रेरणा से हो जाते हैं व जिनका असर सामनेवाले या समाज पर ऊपर-ही-ऊपर होकर रह जाता है उसे एकाएक पाप नहीं कह सकते। वह कौटुम्बिक, सामाजिक या राजनैतिक अपराध हो सकता है, जैसे चार बजे कार्यालय में पहुंचने का नियम है, और पहुंचे पांच बजे तो महज़ इसीलिए यह भंग 'पाप' नहीं माना जा सकता। पाप के लिए दो शर्तें ज़रूरी हैं। (१) नीति-सदाचार का उल्लंघन होता हो, (२) इस भावना से ही किया गया हो। नीति-नियम व्यक्ति की उन्नति तथा श्रेय व समाज की व्यवस्था तथा प्रगति की दृष्टि से बनाये गए हैं। वे इतने आम हो गये हैं कि ईश्वरी नियम के तौर पर सब जगह माने जाते हैं। अनीश्वरवादी या अनात्मवादी या नास्तिक समझे जानेवाले लोग भी वैयक्तिक या सामाजिक दृष्टि से उन्हें अनिवार्य मानते हैं। वे मुख्यतः ये हैं—(१) सत्य व्यवहार करना, (२) बिना कारण किसीको पीड़ा न पहुंचाना, (३) चोरी व बलात्कार न करना, (४) किसीकी बहू-बेटी को बुरी निगाह से न देखना। इन चारों में सब प्रकार के पापों का समावेश हो जाता है। बल्कि इन्हें और भी संक्षेप में कहना चाहें तो असत्य व हिंसा ये दो पाप सचमुच पाप हैं। क्योंकि इनका आश्रय लिये बिना कोई पाप नहीं किया जा सकता। चोरी, बलात्कार, व्यभिचार सबमें झूठ व हिंसा की सहायता लेनी पड़ती है। व्यभिचार चोरी है, बलात्कार डाका है। पाप से बचने के लिए मनुष्य दो ही व्रत ले-ले—झूठ का सहारा नहीं लूंगा और दूसरों पर ज्यादती नहीं करूंगा। झूठ का सहारा लेना दूसरों को धोखा देना है, ज्यादती व बलात्कार करना उनकी स्वतन्त्रता में बाधा पहुंचाना या दखल देना है। इस धोखे या ज्यादती की प्रवृत्ति का खुद हमारे मन पर भी बुरा परिणाम होता है। हमारा भी शांति-सुख मिट जाता है।

इस पाप को धोने का गुण मेरी भक्ति में है। जब तुम सबकुछ मेरे ही लिए

करोगे, सबकुछ मुझीको अर्पण करोगे, मेरे सिवा तुम्हारे लिए संसार में कोई व कुछ है ही नहीं, तब तुम्हें झूठ, छल, ज्यादती, बलात्कार की ज़रूरत ही क्या रह जायगी ? इस तरह वर्तमान वा अगले पापों से बचाव हो गया। वर्तमान वृत्ति का असर पिछले पापों पर भी पड़ता है। उनका तीखापन निकल जाता है। वे आग निकली हुई राख की तरह हो जाते हैं। उनका ऊपरी रूप तो बना रहता है पर भीतरी प्राण या बल नष्ट हो जाता है। उनका फल तुम तक आवेगा; परन्तु पहले तुम उसके खयाल मात्र से कांप उठते थे अब तुम ख़ुशी से उनका स्वागत करने के लिए तैयार हो जाओगे। पहले तुम निराधार असहाय थे, अब तुम्हें ईश्वररूपी डांड पकड़ने को मिल गया है। इसने अगले पापों का भय मिटाकर तुम्हें अधिक निर्भय कर दिया है। इससे पहले जो तीर की तरह आकर लगता अब फूल की तरह लग-कर गिर जायगा। जिन भक्तों ने ज़हर का प्याला ख़ुशी-ख़ुशी पी लिया, सूली-फांसी पर चढ़ गये, गरम तेल की कड़ाह में कूद पड़े, आग में डाल दिये गए उन्हें जो इन सब यातनाओं को सहने का बल मिला वैसे ही इन सब पापों के फल को सहने का बल मिल जाता है। इसीको कहते हैं पापों का भस्म हो जाना। जो सांप था वह फूल की माला बन गया।

ऊधो, पाप के भी दो स्वरूप होते हैं। एक कर्ता, करनेवाले का भावना, व दूसरा उसपर और समाज पर होनेवाला परिणाम। मनुष्य के मन में जब कुछ करने की भावना होती है तभी वह करता है। यह सच है कि सृष्टि के पदार्थ को देखकर ही उसे उनको पाने में या भोगने की अभिलाषा होती है, और इसीसे वह उनको पाने या भोगने के कर्म में प्रवृत्त होता है। इन पदार्थों का होना या रहना तभी असम्भव हो सकता है जब सृष्टि न रहे, न फिर वह पैदा ही होने पावे। ऐसा एक तो हो नहीं सकता; क्योंकि परमात्मा का स्वभाव ही सृष्टि को बनाना व अपने में लय कर लेना है। दूसरे सृष्टि ही न रही तो फिर जीव, मनुष्य व उसकी समस्या ही कहां रहेगी ? अतः हमें सृष्टि के पदार्थों के अस्तित्व को अनिवार्य या अमिट मानकर ही चलना होगा और उनके उपस्थित रहते हुए भी उनके कारण जो पाप-प्रवृत्ति होती है, उसका इलाज ढूंढ़ना होगा, अतः सृष्टि व उसके पदार्थों को छोड़कर हमें ख़ुद मनुष्य में ही उसका इलाज ढूंढ़ना है। मनुष्य जब उनसे प्रेरित होता है, उनके पाने की इच्छा व भोगने की भावना करता है तभी न किसी कर्म या पाप की प्रवृत्ति होगी ? सृष्टि व उसके पदार्थ भले ही बने रहें, यदि उनकी

तरफ से हम उदासीन हैं तो फिर पाप-प्रवृत्ति कैसे होगी ? यदि हमने सब स्त्रियों को मां-बहन-बेटी मान रक्खा है तो उनके मौजूद रहते हुए भी कैसे कुभावना मन में आवेगी ? यदि हमने यह समझ लिया है कि दूसरे के धन को हाथ लगाना बुरा है तो फिर क्यों चोरी की प्रेरणा मन में जगेगी ? अतः व्यभिचार, चोरी, धोखा-धड़ी, बलात्कार, मार-काट, झूठ आदि की प्रेरणा पहले मन में उठती है फिर वैसी क्रिया होती है।

इस छानबीन से हम इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि पाप का मूल मन में है। कर्म में तो वह सिर्फ प्रकट होता है। समाज कर्म का ही हिसाब अधिक लगाता है, क्योंकि भावना को तो वह जान नहीं पाता है। कर्म के द्वारा ही वह उसतक पहुंच सकता है। कर्म या आचरण के सम्बन्ध में तो समाज व राज्य आदि ने बहुतेरे विधि-निषेध बना रखे हैं, अतः उसके ब्योरे में तुम्हें डालना अप्रासंगिक है। परन्तु भावना या मानसिक विकार के सम्बन्ध में मैं तुम्हें अवश्य कुछ अधिक कहना चाहता हूं, क्योंकि जड़ को ही संभालना अच्छा है, जिससे पेड़ ही न बनने पावे। फिर भावना का साक्षी कर्त्ता स्वयं ही ज़्यादा हो सकता है। समाज तो अनेक कर्मों के तांते को देखकर भावना या नियत के बारे में सही या गलत अनुमान लगा सकता है, अतः व्यक्ति का खुद अपनी नियत इरादे के बारे में सतर्क सावधान या जाग्रत रहना बहुत ज़रूरी है। क्योंकि घर में छिपे चोर या आस्तीन के सांप की तरह यह पहले खुद अपनेको, पीछे समाज को भी, परेशान व त्रस्त करके छोड़ता है।

पाप की कल्पना मनुष्य को उसकी संस्कृति के अनुसार होती है। सभ्यता या संस्कृति की जिस तह के ऊपर वह होगा वैसा ही उसके पाप का चित्र होगा। कई जंगली जातियां ऐसी हैं, जो प्रत्यक्ष मैथुन को ही व्यभिचार मानती हैं। और कई तो ऐसे हैं कि मर्यादित व्यभिचार को भी दोष नहीं मानते। ये संस्कृति की नीची सतह के लोग हुए। इनसे ऊपर की सतह के वे लोग हैं जो मैथुन से पहले की शरीर-स्पर्श आदि क्रियाओं को व्यभिचार मानते हैं। उनसे भी ऊंची सतह पर वे हुए जो दोषी दृष्टि को भी अच्छा नहीं समझते। उनसे भी ऊंचे दर्जे के लोग वे हैं, जो मन में व्यभिचार की कल्पना आना भी पतन समझते हैं। सही दर्जा व स्थिति इन पिछले लोगों की ही है। यही आगे की स्पष्ट व्यभिचार-क्रियाओं से बच सकते हैं। वैसी ही बात दूसरे पापों के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिए। नीचे की तहवालों को चाहिए कि वे क्रमशः ऊपर की तहवालों में आने का प्रयत्न करें। ज्यों-ज्यों

ऐसा होगा त्यों-त्यों समाज में अधिक शान्ति, व्यवस्था व उन्नति दीख पड़ेगी। मनुष्य व समाज के सारे प्रयत्न इसी दिशा में, इसी उद्देश की पूर्ति में होने चाहिए।

कर्म का नियन्त्रण जो समाज व राज्य ने किया है, वह इसलिए आवश्यक है कि भावना के दूषित होते हुए भी यदि लोक-लाज या दण्ड-भय से मनुष्य कर्म से बच गया तो कम-से-कम समाज की हानि तो न होने पावेगी। मन से विकार-वश हो जाने से व्यक्ति की हानि होकर रह गई। पर उस अशुभ कर्म के लिए विचार करने में जोड़-तोड़ भिड़ाने में व फिर कर्म न हो सकने की हालत में निराशा पल्ले पड़ने के रूप में उसकी काफी मानसिक व साम्पत्तिक हानि होती है, जिसका हिसाब मनुष्य सहसा नहीं लगा पाता।

कोरे कर्म या कर्म के स्वरूप पर ही दृष्टि रखनी व उसीपर सदैव भावना का हिसाब लगाने से अन्याय भी हो जाता है। अन्याय भी एक पाप ही है व पीड़ा पहुंचाने की अर्थात् हिंसा की कोटि में आता है। किसीने किसीसे दूषित भाव से बात की, देखा या स्पर्श किया अथवा सद्भाव या सहज-भाव से, इसका सहसा अन्दाज लगाना कठिन होता है। अतः इसमें दोनों प्रकार की भूलें हो सकती हैं। कभी वास्तव में दूषित भाव हो तो उदारतावश सद्भाव मान लिया जाता है, कभी सद्भाव होने पर भी अनुदारतावश दूषित भाव ग्रहण कर लिया जा सकता है। ऐसे अवसरों पर मनुष्य का पूर्व-चरित्र, स्वभाव, वृत्ति आदि को देखकर नतीजा निकालना चाहिए। इसकी कोई अचूक कसौटी या निशानी नहीं बताई या बनाई जा सकती, क्योंकि मनुष्य का मन व मस्तिष्क एक ऐसी अद्भुत रचना है कि परमात्मा के सिवाय बहुत बार खुद कर्त्ता भी उसकी प्रवृत्तियों का सहसा अन्दाज नहीं कर सकता।

"हे उद्धव, मेरी सुदृढ़ भक्ति मुझे जिस प्रकार प्राप्त कर सकती है उस प्रकार तो न योग, न सांख्य, न धर्म, न स्वाध्याय, न तप और दान ही करा सकता है।" ॥२०॥

पहले सत्संगति के विषय में जो कह चुका हूं वही भक्ति की महिमा पर भी लागू होता है। वास्तव में सत्संगति व भक्ति दो चीज नहीं हैं। सत्संगति भक्ति का एक अंग है।

"साधुजनों का प्रिय आत्मरूप मैं एकमात्र श्रीसम्पन्न भक्ति से ही सुलभ हूं। मेरी भक्ति चाण्डालादि को भी उनके जातीय दोष से छुड़ाकर पवित्र कर देती

है।" ॥२१॥

उधो, जैसे सत्संग के बिना भक्ति कठिन है वैसे ही श्रद्धा के बिना भक्ति सुलभ नहीं है। श्रद्धा दो तरह की होती है—एक सिद्धान्त व आदर्श पर, दूसरी व्यक्ति पर। इसी तरह विकास की दृष्टि से भी वह दो तरह की होती है, एक वयस्क होने के, ज्ञान-प्राप्ति के पहले की, दूसरी ज्ञान के बाद की। सिद्धान्त या आदर्श तो अमूर्त होते हैं, उनका कोई शरीर या आकार-प्रकार तो है नहीं कि हमसे उनकी कोई बात-चीत हो, सलाह-मशवरा हो सके। बुद्धि ने किसी सिद्धान्त को मान भी लिया तो भी जबतक उसका कोई उदाहरण सामने न हो तबतक यह सहसा नहीं जंचता कि वह व्यवहार में लाया जा सकता है। समझो, हमारी बुद्धि ने मान लिया कि सत्यनिष्ठा या अनासक्ति या साम्यभाव जीवन का श्रेष्ठ आदर्श है, परन्तु कोई ऐसा व्यक्ति सामने आ जाय, जिसने इन आदर्शों को अपने जीवन में उतारा हो तो फौरन हमें उनकी उपयोगिता व व्यावहारिकता जंच जाती है। यदि विदेह राजा, वशिष्ठ, नारद, प्रह्लाद, ध्रुव (और आधुनिक काल में बुद्ध, महावीर, ईसा मसीह, मोहम्मद पैगम्बर, परमहंसदेव, अरविन्द, गांधीजी आदि) के उदाहरण न हों तो ये कोरे आदर्श या सिद्धान्त बहुत हद तक हमारा साथ नहीं दे सकते। बल्कि ऐसे महान् साधकों, योगियों, विभूतियों, महापुरुषों, पुरुषार्थियों, ज्ञानियों व अनुभवियों के प्रयोगों व अनुभवों का ही फल ये सिद्धान्त व आदर्श हैं। परमात्मा इन्हींको निमित्त बनाकर अच्छे आदर्श, सिद्धान्त, व्यवस्था, नियम, पद्धति, प्रक्रिया, संसार में फैलाता है। अतः आदर्श व साधन एक-दूसरे पर इतने अवलम्बित हैं कि न तो अलग ही किये जा सकते हैं, न एक-दूसरे के बिना रह सकते हैं। जैसे बीज के बिना फल नहीं, व फल के बिना बीज नहीं, ऐसा सम्बन्ध दोनों में हो गया है। फिर भी अब आदर्श या सिद्धान्त पर श्रद्धा अर्थात् विश्वास रखना सुगम व निरापद हो गया है; व्यक्ति पर श्रद्धा रखना उतना नहीं। व्यक्ति सजीव होने के कारण परिवर्तनशील, व अच्छाई-बुराई का मिश्रण है। अच्छे-बुरे प्रभाव उसपर पड़ते रहते हैं व उनके अनुसार वह अधिक अच्छा या बुरा बन सकता है। अतः उसपर श्रद्धा रखने में बहुत चौकन्ना रहन की जरूरत है। सिद्धान्त के सम्बन्ध में कठिनाई उसके मानने से पहले तक जरूर है। कौन-सा सिद्धान्त या आदर्श मानूं यह प्रश्न जरूर व्यक्ति के सामने आता है। कभी परम्परागत संस्कारों व रूढ़ियों के बल पर, कभी स्वबुद्धि से, व कभी गुरुजनों, आप्त लोगों पर विश्वास रखकर सिद्धान्त

या आदर्श मान लिया जाता। बालिग होने से पहले तक, अर्थात् बुद्धि में स्वतन्त्र-रूप से विचार करने की शक्ति का विकास होने तक प्रायः परम्परा से ही मनुष्य किसी मत, सिद्धान्त, या पन्थ को ग्रहण करता है। यह स्वाभाविक भी है, और इसमें एक हद तक उसका हित भी है। यदि इस वय में मनुष्य अपने कुटुम्बियों व आप्त-इष्टों के प्रभाव में न रहे तो उसके गुमराह हो जाने का बहुत अन्देशा रहता है। दूसरे स्वार्थ-साधु, दुष्ट-बुद्धि, गुण्डे उसे बहकाकर उसका जीवन-नाश कर सकते हैं। लेकिन जब बुद्धि का विकास होने लगे तब उसे चाहिए कि वह स्वतन्त्र-रूप से भी उन मतों, व आदर्शों पर विचार करने लगे—लेकिन उन्हें छोड़े तबतक नहीं जबतक खूब अच्छी तरह विचार कर लेने के बाद उसे यह न पट जाय कि फूल के भरोसे कांटा पकड़ बैठे, माला के भरोसे सांप पकड़ लिया, कम्बल के भरोसे रीछ से उलझ गये, भगवान् के भरोसे माया में फंस गये, देव के भय से दानव से पाला पड़ गया। जिनकी बुद्धि मन्द है, उन्हें व्यक्ति पर श्रद्धा रक्खे बिना चारा नहीं है। उस व्यक्ति, या गुरु, या शिक्षक का चुनाव करने में कैसे सावधानी रखनी चाहिए, इसका जिक्र पहले आ चुका है।

स्वतन्त्र बुद्धि से ज्ञान प्राप्त करने के पहले जो कुटुम्बियों या आप्त-इष्टों की मान्यताओं को मानकर चला जाता है, वह भी श्रद्धा ही है। फिर ज्ञान-प्राप्ति के बाद प्राप्त अनुभवों पर व ऐसे दूसरे बड़े उच्च अनुभवियों पर जो श्रद्धा रक्खी जाती है वह भी श्रद्धा ही है। इन श्रद्धाओं के बिना मनुष्य की कहीं गुजर नहीं है। इसीलिए "श्रद्धामयोऽयं पुरुषः यो यच्छ्रद्धः स एव सः" कहा है। श्रद्धा मानव-जीवन में केवल अनिवार्य ही नहीं है, बल्कि उसमें यह भी जबरदस्त गुण है कि मनुष्य को अपने जैसा बना लेती है। आप जैसे सिद्धान्त, आदर्श, व्यक्ति पर श्रद्धा रक्खेंगे वैसे ही बनते चले जायंगे। इसलिए श्रद्धा रखने या करने से पहले यह भी जान लेना जरूरी है कि हम बनना क्या चाहते हैं। नहीं तो गणपति बनाने गये व बन्दर बना बैठे—"विनायकन्तु कुर्वाणः रचयामास वानरम्," वाला हाल हो जायगा। जो इतने सब विचारों की झंझट पर से बचना चाहते हैं या जिनमें ऐसी शक्ति ही नहीं है, उनके लिए सीधा मार्ग है—भरोसा रखके सब काम मेरे लिए करता रहे। जो कुछ करे, धरे, लिखे, सब मुझे अर्पण कर दिया करे। व मेरा प्रसाद समझकर जितना बहुत आवश्यक हो, अपने लिए ले लिया करे व शेष को अच्छे कामों में लगा दिया करे। यही भक्ति है। लेकिन यह भक्ति भी तबतक प्राप्त नहीं

हो सकती जबतक वह मेरे इन वचनों या उपदेशों पर श्रद्धा न करेगा।

फिर जो मनुष्य यह समझते हैं कि मेरा पाना बहुत कठिन है, सो भी भूल है। मैं तो भक्तों व साधु-सन्तों का आत्मा ही हूं। कोई कह सकता है कि बिना प्राणों के शरीर जीवित रह सकता है; या बिना सूर्य के संसार में प्रकाश हो सकता है, बिना पानी नदी में बाढ़ आ सकती है ? इसी तरह जहां भक्त व साधु-सन्त हैं वहां उनके हृदय में ही, उनके एक-एक अणु में मैं घुसा बैठा रहता हूं। जब उनकी साधना पूर्ण हो जाती है, तब उनके ज्ञान-नेत्र खुल जाते हैं व उन्हें मेरे कथन की सचाई दीखने लगती है। प्रत्येक भक्त व सन्त ने इसकी गवाही दी है। उनपर अविश्वास करने का कोई कारण नहीं है। संसार में सबसे अधिक विश्वास के योग्य अगर कोई हो सकते हैं तो यही सन्त-भक्त लोग, जिन्होंने किसी सांसारिक वस्तु का लोभ-मोह नहीं रक्खा है; सारे ऐश्वर्य को ठुकरा दिया है, एक-मात्र सत्य का ही आश्रय लेकर जिन्होंने मुझे पा लेने तक का घोर तप या साधना की है। मेरे ज्ञान या सत्य का प्रकाश भी तो इन्हींके द्वारा संसार में फैलता है।

मैं तुमको कई बार कह चुका हूं कि भक्ति-मार्ग उन लोगों के लिए विशेष-रूप से मैंने चलाया है, जो पिछड़े हुए हैं। चाण्डाल इन सबमें पतित गिने जाते हैं। समाज में विचार व धारणा के अनुसार मैं उन्हें 'चाण्डाल' कह रहा हूं। आमतौर पर ऐसा माना जाता है कि चाण्डाल महापतित हैं और उसका उद्धार कठिन है। परन्तु मैं तुमसे कहता हूं कि चाण्डाल भी यदि मेरा पल्ला पकड़ ले, सब तरह से अपनेको मेरे अधीन करके, मुझे सौंप दे तो उसके भी दोष छूटकर वह पवित्र वृत्ति का बन जाता है। मैं पाप-पुण्य, या पापी-पुण्यात्मा का हिसाब या लेखा तभीतक रखता हूं, जबतक वह अपने कर्मों का जिम्मेदार खुद अपनेको मानता हो। जिस दिन उसने यह अहंकार या अज्ञान छोड़ दिया और अपनेको भुलाकर मुझे ही सब कुछ मान लिया उसी दिन मेरे यहां का उसका पाप-पुण्य का खाता बेबाक समझो। फिर उसके मेरे एक हो जाने में ज्यादा देर नहीं लगती।

"मेरी भक्ति से हीन पुरुषों को सत्य और दया से युक्त धर्म अथवा तप से युक्त विद्या भी पूर्णतया पवित्र नहीं कर सकती।" ॥२२॥

मेरी भक्ति का जो यह गुण है वह किसी और साधन में नहीं है। भले ही कोई सत्य का, दया का या दोनों से युक्त धर्म का आश्रय ले। अपने-अपने ढंग से ये सब मनुष्य के लिए उपयोगी हैं। सत्य का आश्रय लेकर चलनेवालों को अनेक प्रकार

के समाज व राज-कोप का भाजन होना पड़ता है। महान् कष्टों से गुजरकर ही वे सिद्धि को पा सकते हैं। 'दया'-पालन के लिए अनेक प्रकार के जीवों की सेवा का व उनके घातकों से मुकाबला करते रहने का महान् पुरुषार्थ करना पड़ता है। धर्म के विधि-विधान व क्रिया-कलाप भी जटिल, व श्रम-कष्ट-साध्य हैं और मन को मार-मारकर, मसोस-मसोसकर अनिच्छापूर्वक उन्हें करना पड़ता है। फिर उसमें समय भी काफी लगता है। पर ये सब मर्यादा-धर्म हैं। सत्य के पास असत्य की गुंजायश नहीं। सत्याचरणी, असत्याचरणी से घृणा करेगा, घृणा नहीं की तो उससे दूर जरूर रहना चाहेगा। उसको सुधारने के लिए भी वह असहयोग से काम लेगा। दया-धर्मी तो पशुघाती चाण्डालादि की सूरत भी देखना न चाहेगा और धार्मिक परिपाटी-वाला शास्त्रों को प्रमाण मानकर उनसे छूने तक में परहेज करेगा। स्पर्शा-स्पर्श में एक हद तक तथ्य होते हुए भी जाति की जातियों को पीढ़ियों तक अछूत बना या मानकर रखना, या पतितों में ही हमेशा के लिये उनकी गिनती करना घोर अन्याय है। अस्पृश्यता, असहयोग या बहिष्कार का एक रूप है। उसकी उपयोगिता वहीं तक है जबतक कि सामनेवाला उस दोष से मुक्त न हो गया हो, व समाज उसके बारे में निःशंक व निर्भय न हो गया हो। इस मर्यादा को यदि ध्यान में न रक्खा जाय तो यही असहयोग महान् अन्याय, अत्याचार व हिंसा का दूसरा रूप ही समझना चाहिए। धर्मशास्त्रों की इस त्रुटि को, या धर्म-व्यवस्थापकों की इस धांधली को दूर करने के लिए ही मैंने भक्ति-मार्ग चलाया है, जिससे इन तमाम कठिनाइयों व मर्यादाओं से बचकर भी मनुष्य उसी पद, वस्तु, या स्थिति को सरलता से पा ले जिसके लिए सत्य-दयायुक्त धर्म का आचरण करनेवाले महान् प्रयास करते हैं।

इसी तरह तुम भी यह सच समझो कि महान् तप, परिश्रम से प्राप्त की गई विद्या भी उतनी सफल नहीं हो सकती, जितनी मेरी भक्ति। 'सरल साधना' की दृष्टि से ही मेरा यह कथन उपयुक्त समझना चाहिए। विद्या ज्ञान के साधन को, जिससे कोई बात जानी जाती है, या भिन्न-भिन्न हुनर व शक्तियों या सिद्धियों को भी कहते हैं। इन सबका सम्बन्ध बुद्धि या मस्तिष्क से है। उसका काम ही है अच्छे-बुरे, उचित-अनुचित, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, पाप-पुण्य, ऊंचा-नीचा, इनका विचार करते रहना। वह भेद, विवेक, विचार का अधिष्ठान है। भक्ति हृदय की वस्तु है। प्रेम, भावुकता, स्निग्धता उसका हृदय है। ऊंचा-नीचा, जात-पांत,

अच्छा-बुरा, इन भावों की गुजर वहां नहीं। शुरू में हो भी तो अन्त इनके मिटाने में होता है। विद्याएं भेद की भूमि पर खड़ी रहती हैं, भक्ति प्रेम की बेल है, जो इष्ट या प्रेमी-रूपी वृक्ष पर लिपट जाती है। विद्या के लिए अधिकार, पात्रता, चाहिए। भक्ति के वे सब अधिकारी हैं जिनके हृदय में भूख है, प्रेम है, चाह है, जो दुखी हैं, व्याकुल हैं, दीन हैं, असहाय हैं, पीड़ित हैं, पतित हैं, तिरस्कृत हैं।

"बिना रोमांच हुए, बिना चित्त के द्रवीभूत हुए, बिना आनन्दाश्रुओं का उद्रेक हुए तथा बिना भक्ति के अन्तःकरण कैसे शुद्ध हो सकता है ?" ॥२३॥

अब ऊधो, भक्त के हृदय की अवस्था सुन लो। प्रारम्भिक अवस्था में भक्त विधि-विधान-प्रिय होता है। कुटुम्ब व समाज की अवस्था विधि-विधानमयी रहती है, धर्म-व्यवस्था में भी विधि-विधान रहता है। जहां कहीं 'व्यवस्था' जैसी कोई चीज होती है वहां बिना विधि-निषेध के नियमों के काम नहीं चल सकता, अतः कुछ तो संस्कारवश व कुछ भक्ति के प्रारम्भिक अवस्थावश भक्त वैधी-भक्ति का आश्रय लेता है। मूर्ति, उसका ध्यान, पूजा-उपचार, भजन-संकीर्तन आदि साधनों से वह भगवान् में लीन होने का, संसार के विषयों को भूलने का, उनसे अलिप्त रहने का प्रयत्न करता है। इससे जब चित्त बाह्य उपचारों को छोड़कर, परमात्मा को ही पकड़कर उसीके सहारे रहने लगता है, तब वैधी-भक्ति का अन्त व प्रेमा-भक्ति का उदय समझना चाहिए। इस अवस्था में पहुंचने पर बाहरी साधनों की तरफ से अपने-आप उदासीनता आ जाती है, अनावश्यक होकर वे अपने-आप पीछे रह जाते हैं व भक्त आगे बढ़ जाता है। भक्त प्रयत्नपूर्वक, जान-बूझकर उनको नहीं छोड़ सकता। ऐसा प्रयत्न कृत्रिम व हानिकर भी है। जब पेट भर जाता है तब खाना अपने-आप मुंह में नहीं जाता। प्रयत्न करके छोड़ना नहीं पड़ता। प्रेमावस्था में तल्लीन रहना ही प्रेमा-भक्ति का लक्षण है। जब भक्त प्रेम में गद्-गद् होने लगता है तो रोमांच हो उठता है। चित्त, द्रवित हो जाता है। आंखों में आनन्द के आंसू भर जाते हैं और हृदय का कोना-कोना प्रेम-भक्ति से सराबोर हो जाता है। ऐसी भक्ति से ही, हृदय के इस तरह भावमय हो जाने से ही चित्त का मल कटता है, अन्तःकरण की शुद्धि होती है। चित्त अपनेको ईश्वर-मय अनुभव करने लगता है। इससे उसकी लघुता, अणुता, अल्पता का भाव मिटने लगता है। जगत्, उसके विषय, आदि से ध्यान हटता है, जिससे चित्त स्थिर, शान्त होने लगता है। यही उसके मलों के कटने की निशानी है, क्योंकि चंचल चित्त ही नाना

प्रकार के ऊंट-पटांग संकल्प करता है व विविध कर्मों में प्रवृत्त होता है।

"जिसकी वाणी गद्गद और चित्त द्रवीभूत हो जाता है, जो कभी बार-बार रोता है, कभी हँसता है, कभी निःसंकोच होकर उच्च स्वर से गाने लगता है, और कभी नाच उठता है ऐसा मेरा परम भक्त त्रिलोकी को पवित्र कर देता है।" ॥२४॥

प्रेमाभक्ति को पा जानेवाले भक्त का चित्त द्रवीभूत हो जाता है व वाणी गद्गद् होने लगती है, तब वह एक तरह से अपने शरीर की सुधि भूल जाता है। परमात्मा के प्रेम में मस्त होकर कभी अपने पापों, बुराइयों, कमजोरियों, त्रुटियों का स्मरण करके कभी दूसरों पर, दुखियों पर कृपालु व दयावान् होकर, कभी परमात्मा की दिव्यता-भव्यता की कल्पना, स्मरण या झलक देखकर कृतार्थता से रोने लगता है, कभी दूसरों की पामरता व अपने इस सद्भाग्य पर हँसने लगता है, कभी ऊंचे स्वर से गाने व नाचने भी लगता है। आनन्दातिरेक के ये सब स्वाभाविक लक्षण हैं। भगवान् में तन्मय होने से, परमात्मा की झलक दीखने से ही ऐसा अनिर्वचनीय आनन्द होता है। जो भक्त ऐसी अवस्था में पहुंच जाता है उसमें कुछ ऐसी शक्ति, आकर्षण, बिजली पैदा हो जाती है कि उसके संसर्ग, सम्पर्क या स्पर्श से दूसरों के मन में भी पवित्र भावनाएं आने लगती हैं, बुराइयों से ग्लानि पैदा होने लगती है। तीनों लोक में ऐसा कोई व्यक्ति नहीं जो उसके सम्पर्क में आकर ऐसी पवित्र वृत्ति को अनुभव न कर सके। जिन्हें ऐसी स्थिति का अनुभव नहीं है, या जो इसे भावावेश की एक विशिष्ट अवस्था समझकर अवांछनीय मानते हैं, वे इसकी आलोचना करते हैं। परन्तु यह तो तन्मयता का विशिष्ट प्रकाशन या अभिव्यक्ति-मात्र है। भक्त के संस्कारों के अनुसार तन्मयता भिन्न-भिन्न रूप में प्रकट होती है। जिनका अपने मन पर पहले ही से अधिक संयम है वे ऐसी अवस्था में केवल पुलकित या रोमांचित या स्वेदित होकर—पसीना आकर—रह जाते हैं; जिनके मनोधर्म प्रबल होते हैं, वे पूर्वोक्त प्रकार नाचने-गाने आदि लगते हैं। यह तन्मयता की दशा किसीकी भी इतनी तीव्र अधिक समय तक नहीं रह सकती। उसका असर मन पर ऐसा अवश्य हो जाता है, जिससे साधारण अवस्था में भी मनुष्य उससे प्रभावित व संचालित रहता है और धीरे-धीरे यह उसका स्वभाव बन जाता है। जब तमाम बाहरी कामों को यथावत् करते हुए भी मन एक केन्द्र में लगा रह सके तभी उसे 'पूर्णता', 'सिद्धता', 'जाग्रत समाधि', 'स्थितप्रज्ञता'

आदि कहते हैं। भक्ति-मार्गी इसीको पराभक्ति या महाभावावस्था कहते हैं। चाहे कर्म के द्वारा हो, चाहे ज्ञान के द्वारा हो, चाहे भक्ति के द्वारा हो, चाहे योग या अन्य साधन के द्वारा हो, सब अपने मन को ही शुद्ध, एकाग्र, तन्मय, करने का उद्देश्य सिद्ध करते हैं।

"जिस प्रकार अग्नि से तपाये जाने पर सुवर्ण मैल को त्याग देता है और अपने स्वच्छ स्वरूप को प्राप्त हो जाता है उसी प्रकार मेरे भक्तियोग के द्वारा आत्मा भी कर्मवासना से मुक्त होकर अपने स्वरूप मुझको प्राप्त हो जाता है।" ॥२५॥

देखो, सोना जब खान से निकलता है तो उसमें मैल मिली हुई रहती है। जब वह आग में तपाया जाता है तब मैल छोड़कर वह शुद्ध रूप धारण कर लेता है। ऐसी शुद्धि की प्रक्रिया भक्त में होती है। साधारण मनुष्य खान से निकले सोने की तरह मल से युक्त होता है। स्वार्थ, लोभ, हिंसा, विषय-वासना से युक्त रहता है। मुझमें मन लगाने की, मन को इष्टवस्तु में एकाग्र करने की क्रिया से दूसरी बातों की ओर से ध्यान हटाने में उसे जो अपनी वृत्तियों, संस्कारों, मन की तरंगों से संघर्ष करना पड़ता है। वही वह आग है जिसमें सुवर्ण की तरह वह तपता या गलता है। जब यह प्रक्रिया पूरी हो जाती है, ये विकाररूपी मैल अलग हो जाते हैं, निर्बल होकर दब जाते हैं, व्यक्ति, साधक या भक्त का जीवात्मा कर्म-वासना से मुक्त हो जाता है व अपने स्वच्छ स्वरूप को पा जाता है—उसीमें स्थित हो जाता है। अब उसकी वृत्तियां पहले की तरह उसे विकारों की ओर नहीं ले जा सकतीं।

"जैसे-जैसे मेरी परम पावन कथाओं के श्रवण और कीर्तन से चित्त परिमार्जित होता जाता है वैसे-वैसे ही वह अंजनयुक्त नेत्रों के समान सूक्ष्म (वस्तु) तत्त्व का दर्शन करता जाता है।" ॥२६॥

ज्यों-ज्यों उपासक या भक्त मेरे जीवन-चरित्रों को, उनकी कथाओं को सुनता है, उनपर मनन करता है, उन्हें दूसरों को सुनाता व कीर्तन करता है, त्यों-त्यों उसका मन मुझमें अधिकाधिक तल्लीन होता जाता है। पतिव्रता स्त्री जैसे-जैसे अपने सुपति की एक-एक बात को याद करती है, तैसे-तैसे वह अपने पति में अधिक तल्लीनता का अनुभव करती है, वैसे ही मेरी पावन कथाओं के श्रवण, स्मरण, कीर्तन का फल होता है। उससे भक्त का चित्त अधिकाधिक परिमार्जित होता जाता है। ज्यों-ज्यों चित्त के मल या आवरण धुलते या हटते हैं त्यों-त्यों उसकी

दृष्टि अधिक स्वच्छ होने लगती है और पहले जिस सूक्ष्म तत्त्व का दर्शन उसे नहीं होता था, अब होने लगता है। उसे वैसा ही लाभ होता है जैसे कि अंजन लगाने से शुद्ध हुई आंखों को होता है। वे वस्तु को अधिक शुद्ध व सूक्ष्म रूप में देखने लगती हैं। यह उसका ज्ञान में प्रवेश है। निर्मल व हार्दिक भक्ति से भक्त अपने-आप ज्ञान-प्रदेश में पांव रखने लगता है।

"जो पुरुष निरन्तर विषय-चिन्तन किया करता है, उसका चित्त विषयों में फंस जाता है। इस प्रकार जो मेरा स्मरण करता है, वह मुझमें लीन हो जाता है।" ॥२७॥

ऊधो, मन का धर्म विलक्षण है। यह किसी-न-किसी बात में सदैव लगा रहता है। यदि अच्छी बात हाथ न लगी तो बुरी में लिप्त हो जाता है। इसे तो लिप्त होने के लिए कोई वस्तु अवश्य चाहिए। इसीलिए बुद्धिमान् पुरुष इसे अच्छी बातों में लगाने का ही सदैव प्रयत्न करते हैं। ऐसे व्यक्ति तो मेरी तरफ़ बढ़ते हैं, मुझी-में लीन होने लगते हैं; क्योंकि किसी भी अच्छाई में मन लगाओगे तो मुझ ही में मन लगेगा। सब अच्छाइयां भिन्न-भिन्न नदी या किरणों के समान हैं, जो एक ही समुद्र या सूर्य तक पहुंचती हैं। मुझ चित्-समुद्र में समस्त अच्छाइयां लीन हो जाती हैं व रहती हैं तथा जैसे भाप समुद्र से बनकर पानी रूप में फिर समुद्र में मिल जाती है, वैसे ही सब अच्छाइयां मुझसे सद्गुणों के रूप में निकलकर सत्कर्म रूप में फिर मुझीमें मिल जाती हैं। परन्तु जो विषयों का चिन्तन करता है, उसका चित्त विषयों में लग जाता है। अतः इस मन के बारे में बहुत सावधान व जाग्रत रहना चाहिए।

"इसलिए अन्य साधन स्वप्न के मनोरथों के समान असच्चिन्तनमात्र हैं, अतः उन्हें छोड़कर मेरे चिन्तन से शुद्ध हुए चित्त को मुझ ही में लगा दो।" ॥२८॥

देखो, विषय का चिन्तन, स्वप्न के मनोरथों के समान है। स्वप्न में जैसे विषय-भोग से क्षणिक सुख होता है व जगने पर वह निर्मूल हो जाता है, उल्टा उसकी स्मृति एक विषाद की छाप हृदय पर छोड़ जाती है, उसी तरह संसार के विषय-भोग भी क्षणिक हैं। खुजली की बीमारी की तरह खुजाते समय मीठे लगते हैं, परंतु पीछे बड़ी जलन पैदा करते हैं। जब खुजली चलती है, तब कितना ही मन को रोको, समझाओ, वह नहीं मानता व खुजाने में प्रवृत्त हो ही जाता है। ऐसा ही विलक्षण आकर्षण इस विषय-भोग में है। परंतु चूंकि निःसंशय रूप से ये दुःखदायी

ही हैं—विषय-भोग से सुखी होने का अनुभव किसी एक भी व्यक्ति का संसार में नहीं देखा गया, न सुना गया, अतः इससे बचने का प्रयत्न भी उतना ही तीव्र करने की जरूरत है। सामनेवाले में जितना बल है, उससे ज्यादा जबतक नहीं लगाओगे तबतक उसे नहीं पछाड़ सकोगे। अतः समझदार मनुष्य को चाहिए कि वह विषय-चिन्तन जैसी असत् वस्तु को छोड़कर मेरे चिन्तन में ही डूब जाय। ऐसी निमग्नता से उसका चित्त जैसे-जैसे शुद्ध होने लगे तैसे-तैसे फिर-फिरकर उसे मुझमें ही लीन करता रहे। एक बार मन लग जाने से इस भरोसे न रहे कि अब वह भटक नहीं जायगा, मुझमें लगा ही रहेगा। जिस मन को विषयों का चस्का लग गया है, वह तो उसकी तलाश में ही बैठा रहता है। जहां हम गाफिल हुए कि उसे भाग निकलने का मौका मिला। अतः एक क्षण की गफलत से महीनों व सालों की मिहनत बरबाद हो सकती है।

"पुरुष को चाहिए कि वह धीरतापूर्वक स्त्री और स्त्रीसंगियों का संग दूर से ही त्यागकर निर्भय और निर्जन एकान्त स्थान में बैठकर आलस्यरहित होकर मेरा चिन्तन करे।" ॥२६॥

प्रिय उद्धव, इनमें सबसे ज्यादा सावधान मनुष्य को रहना है दो इन्द्रियों से—जिह्वा व जननेन्द्रिय से। जीभ को वश में रखना आमतौर पर ही मुश्किल है। परन्तु शरीर में जब काम का संचार होता है तब जननेन्द्रिय पर काबू रखना वैसा ही है जैसे मस्त हाथी का। स्वाद या रस की तृष्णा में इतना प्रबल वेग नहीं होता जितना काम-वासना में होता है। वह तो आंधी, तूफान, या प्रचण्ड बाढ़ की तरह आता है और मनुष्य मानों उस समय एक भूत जैसा हो जाता है। पुरुषों में यह वेग एकाएक आता है और इतने जोर से आता है कि वह होश-हवाश नहीं सम्भाल पाता। इसलिए इसमें उसीको सावधान रहने की ज्यादा ज़रूरत है। स्त्रियां तो यों भी संकोचशील होती हैं; फिर किसी-न-किसी रूप में पुरुष का प्रभाव उनपर रहता ही है। अतः यद्यपि संयम का यह उपदेश मेरा दोनों के लिए है, फिर भी पुरुष पर जिम्मेवारी ज्यादा है। अतः वह स्त्री के सम्बन्ध में अपनेको बहुत सम्भालकर रक्खे, जिससे स्त्रियों को भी एकाएक उन्हें ढीला करने या पिघला लेने का हौंसला न हो। इसका सरल उपाय तो यही है कि वह स्त्री व स्त्री-संगियों के संपर्क से बचे। कर्तव्य-वश या कार्यवश ही उनसे मिले-जुले। न तो उनके लिए मन में घृणा, तुच्छता या निरादर का भाव रक्खे और न ही उनसे दिन-रात का, बेमतलब

का, सम्बन्ध ही रक्खे और सदा-सर्वदा के लिए वह यह नियम या वृत्ति अपनी बना ले और उसे धीरज के साथ पुष्ट करता रहे। इसमें फिसलने के बहुत मौके आ सकते हैं—उसी समय खासतौर पर सावधान रहने की ज़रूरत है। पहले तो चतुर्मुखी संयम का सिद्धान्त स्वीकार करे, फिर उसके पालन का सचाई के साथ प्रयत्न करे। ऐसा करने से मन स्वभावतः या हर घड़ी स्त्रियों की तरफ चलायमान न होगा। कभी-कभी प्रसंग से व विवशता से होगा। उस समय के लिए दो नियमों का पालन करे। जहांतक बने एकान्त में स्त्री के साथ को टाले। भरसक किसी तीसरे की उपस्थिति रखी जाय। यदि कर्तव्यवश एकान्त ही अभीष्ट हो तो बीमारी के अलावा दूसरे निमित्तों से स्त्री-स्पर्श से अपनेको बचावे। बीमारी में भी कोई दूसरी स्त्री न हो, या जो वैद्यरूप से उसको छू सके—ऐसे उसके माता-पिता, पति, बहन, पुत्र, भाई आदि कुटुम्बी या स्वजन न हों तो ही स्पर्श करके उनकी सेवा-शुश्रूषा करे। उस दशा में भी उसे स्त्री नहीं, भगवान् नारायण का या माता लक्ष्मी का रूप माने। सेवा-शुश्रूषा या सहायता के लिए हमने जिसका स्पर्श किया है, उसके मन में हमारे स्पर्श से विकार न उत्पन्न होना चाहिए। यदि हमारा स्पर्श विकारी होगा तो या तो सामनेवाले के मन में प्रतिकार, विरोध, तिरस्कार, नापसन्दगी का भाव पैदा होगा, या तदनुकूल विकार पैदा हो जायगा।

यदि वह सती साध्वी है तब तो पहली, गिरी हुई या कमज़ोर है तो दूसरी स्थिति पैदा होगी। दोनों दशाएं दोनों के लिए अवांछनीय हैं। हमारे स्पर्श का अनुभव उसे ऐसा ही होना चाहिए जैसे पिता, माता, या भाई, का हो। साधकावस्था में स्वपत्नी से भी मर्यादित सम्बन्ध ही उचित है, ब्रह्मचर्य तो अनिवार्य ही है। परन्तु यों भी सम्पर्क में मर्यादा रखनी चाहिए। उस समय उसे भी सीता, लक्ष्मी के रूप में देखना चाहिए।

ऊधो, मन में जब विकार उत्पन्न हो जाता है तो वह पहले आंखों के द्वारा दूसरे से सम्बन्ध स्थापित करता है। सन्देश, बातचीत का दूसरा, व स्पर्श का तीसरा नम्बर आता है। अतः यों तो मन को ही सबसे पहले काबू करने का यत्न करना चाहिए। परन्तु शुरू में ही यह तो हवा को बांधने जैसा होगा। शरीर को काबू में रखने के यत्न से ही मन धीरे-धीरे काबू में आवेगा। फिर ज्यों-ज्यों मन शांत, स्थिर, सम, निर्विकार होता जायगा त्यों-त्यों शारीरिक साधना अपने-आप निरर्थक होती चली जायगी। इसलिए पहले उसी शत्रु पर हमला करना चाहिए

जो मन के बाद सर्वप्रथम स्त्रियों से सम्बन्ध स्थापित करता है। कामदेव का जो प्रथम दूत है, वह आंख है। दूसरे को एकाएक पता लगे या न लगे, खुद हम भी चाहे आंख को काबू में न रख सकें, पर यह तो मन में अवश्य ही जान जाते और समझ लेते हैं कि हमारी आंखों में नशा छा रहा है। यह सरल स्वाभाविक निर्दोष दृष्टि नहीं है। इसमें अमृत-संजीवनी नहीं विषय-मद्य का रंग है। उसी समय हमको चौकन्ना होने की ज़रूरत है। यदि इस समय बच गये तो आगे की बड़ी घाटियों का मुकाबला ही न करना पड़ेगा, क्योंकि एक-एक मोर्चे पर हारते जाओगे तो अगला मोर्चा एक-से-एक मुश्किल आनेवाला है। आंखों ने तुम्हें हरा दिया तो सन्देश या बातचीत की जब प्रेरणा होने लगे तो मन को मज़बूत करके दूसरे कामों में लग जाओ। या मेरे भजन-पूजन-धुन में मन को लगा दो। ठंडे पानी से स्नान कर डालो। शुद्ध हृदय से, अपनी असहाय अवस्था का स्मरण करते हुए दीनता-पूर्वक बेतहाशा मुझे पुकारो, तुमको मेरा सहारा उस समय ज़रूर मिलेगा। अच्छी बातों का विचार करना, अच्छे कामों में सदैव लगे रहना, सत्पुरुषों की संगति करना, सत्कार्य या हरिचर्चा में लीन रहना—ये ही मन को, या इन्द्रियों को या पतन की इन घाटियों से अपनेको बचाने का उपाय है।

मनुष्य स्वप्रेरणा से उतना नहीं बिगड़ता जितना संगति से बिगड़ता है। अतः ऐसे लोगों के सहवास, वार्त्तालाप, सहकार्य से भी बचना चाहिए जो खुद कामी हों, स्त्रियों की ही चर्चा दिन-रात करते रहते हों, खुद स्त्रैण स्वभाव के हों, उनके-से हाव-भाव व चेष्टादि करते हों; इन्हें सदा दूर ही से प्रणाम कर लिया करो और जबतक इन्द्रियों पर काबू नहीं पाया हो तबतक किसी निर्भय, निर्जन या एकांत स्थान में बैठकर आलसरहित होकर मेरा चिंतन करते रहो तो इसमें जल्दी सफलता मिल जायगी। स्त्री व स्त्रैण पुरुषों की संगति इतनी लुभावनी होती है कि मनुष्य को कई बार एका-एक पता भी नहीं चलता कि उसका पांव कीचड़ में फंस गया है। आरम्भ में निर्दोष दीखने या रहनेवाले सम्बन्ध व सम्पर्क भी कई बार आगे चलकर अनजान में ही सदोषरूप धारण कर लेते हैं। इसकी पहचान यह है कि जब स्त्रियों या स्त्रैण पुरुषों से बिना ज़रूरत, बिना काम या ज़रूरत से ज्यादा बातचीत करने, मिलने-जुलने, पत्र-व्यवहार करने—केवल कौतूहल या निर्दोष आनन्द, रस की भावना से क्यों न हो—की प्रेरणा हो व बार-बार होती रहे तो समझो कि मन में चोर धीरे-धीरे बे-मालूम घुस रहा है और सावधान होकर अपने तीर-तरकस संभाल-

कर खड़े हो जाओ।

फिर मनुष्य स्वयं अपनी ओर से एक बार कोई प्रेरणा करे, पहल न करे, ऐसी कोई दूषित प्रवृत्ति उसके मन में न हो, तो भी कई बार स्त्रियां उन्हें कभी अपनी सहज सुकुमारता, सुन्दरता, रूप-लावण्य, वाक्-पटुता, गान-वादन-निपुणता आदि से व कभी अपने दूषित हाव-भाव, कटाक्ष, शृंगार व विषयी चेष्टाओं से आकर्षित कर लेती हैं। इसका भी पता पुरुष को एकाएक नहीं लगता। अतः इनसे काम-पुरता सम्बन्ध रखने में यह भी लाभ है कि इनकी हद्द के बाहर, या अनावश्यक चेष्टाओं की पहचान हमें हो सकती है और हम उसी समय उनको रोक सकते हैं और अपनेको भी बचा सकते हैं। लेकिन ऊधो, तुम इसका यह अर्थ मत समझ लेना कि स्त्री-पुरुष, स्त्री-स्त्री या पुरुष-पुरुष में प्राणि मात्र में जो परस्पर प्रेम, सद्भाव, मृदुलता, मधुरता का निर्दोष सम्बन्ध रहना चाहिए, उसका मैं विरोध करता हूं। देखो न खुद गोपियों से मेरा कैसा निर्दोष प्रेम-भाव रहा। कुब्जा को ही ले लो। इनके मन में कभी विकार आया भी तो मेरे शुद्ध भाव के आगे वह धुल गया। ऐसे कई साध्वी देवियों के नमूने पेश किये जा सकते हैं, जिनके तपोबल से या चरित्र-बल से कामुक पुरुषों के मन में पवित्र भावनाओं का संचार हो गया है। लेकिन जबतक स्त्री या पुरुष किसीमें इतने ऊंचे दरजे का आत्मबल, तपोबल या चरित्रबल न हो तबतक ऐसे सरल निर्दोष प्रेम-सम्बन्ध भी एक सीमा में ही होने व रहने चाहिए।

"किसी अन्य के संग से इस (मुमुक्षु) पुरुष को ऐसा क्लेश और बन्धन नहीं होता जैसा कि स्त्री अथवा उसके संगियों के संग से होता है।" ॥३०॥

स्त्री-संग व स्त्री-संगियों की संगति न करने पर मैं इसलिए ज़ोर देता हूं कि इनके कारण श्रेयार्थी पुरुष जितने बन्धन में पड़ता है उतने और किसी बात से नहीं। यह अनुभव-सिद्ध है। यों तो सभी स्त्री-पुरुषों को, जो अपना हित, उन्नति, व श्रेय चाहते हैं परस्पर भोग-विलास व उनके साधनों व सहायकों से बचना चाहिए; परन्तु इनमें भी जिनकी वृत्ति दूषित हो, जल्दी विकार-ग्रस्त हो जाते हों या पहले से जिनका आचरण बिगड़ा हुआ हो उनसे तो खास तौर पर बचना व सावधान रहना चाहिए। पुरुष के लिए घर, कुटुम्ब, समाज, जाति—सब स्त्री की बदौलत है। स्त्री उसके जीवन की केन्द्र है। अतः उसका धन, ऐश्वर्य, पद, प्रतिष्ठा, कीर्ति आदि सब उसीके आस-पास एकत्र होती है। बाल-बच्चे, इष्ट-मित्र, परिवार के

लोग उसीके पीछे अपना अस्तित्व सार्थक करते हैं। ऐसी दशा में वह यदि संयमी व सुलक्षणा है तो बेड़ा पार है नहीं तो 'ऐसा डूबे थाह न पावे।' स्त्री-पुरुष एक ही शरीर के दो भाग हैं। 'अर्धनारी नटेश्वर' की जो कल्पना की गई है—जिसमें शिवजी का आधा पुरुष-शरीर व आधा स्त्री-शरीर चित्रित किया गया है—बिल्कुल सच है। आत्म-तत्त्व की दृष्टि से दोनों में कोई अन्तर ही नहीं। जैसे एक परमात्म तत्त्व के दो पहलू—पुरुष व प्रकृति हैं—वैसे ही पुरुष व स्त्री है। पुरुष व प्रकृति का इन्हें प्रतिनिधि ही समझ लो। परन्तु जैसे दम्पती के संयोग से सन्तति उत्पन्न होती है, उसी तरह पुरुष-प्रकृति का भी संयोग होकर सृष्टि उत्पन्न होती है, ऐसा ख्याल लोग बना लेते हैं। परन्तु यह गलत है। प्रकृति तो पुरुष से प्रेरणा मात्र लेती है और यहां 'संयोग' शब्द सांनिध्य या संलग्नता-सूचक है। अब चूंकि पुरुष-स्त्री का ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसलिए दोनों पर उसे सुन्दर, सुखमय, श्रेयमय बनाने की जिम्मेवारी है। वे यदि इसे न समझें व परस्पर नियमपूर्वक धर्मयुक्त संयममय जीवन न बितावें तो उनके पारंस्परिक संग से बढ़कर क्लेश-बन्धन दूसरा नहीं हो सकता।

"उद्धवजी बोले—हे कमलनयन, मुमुक्षु पुरुष को जिस प्रकार, जिस रूप में और जिस भाव से आपका ध्यान करना चाहिए वह ध्यान मुझे बतलाइये।" ॥३१॥

"श्री भगवान् बोले—हे उद्धव, सुखपूर्वक सम आसन से शरीर को सीधा रखकर बैठे, हाथों को गोद में रक्खे और दृष्टि को नासिका के अग्रभाग में स्थिर करे" ॥३२॥

भक्तों की रीति-नीति, आचार सुन लेने के बाद उद्धव के मन में एक और प्रश्न उठा। श्रीकृष्ण बार-बार 'मुझमें मन लगाने', 'मेरा ध्यान करने' आदि पर जोर देते रहे हैं। अतः उद्धव ने सोचा कि इस ध्यान की कोई खास विधि श्रीकृष्ण के पास हो तो वह क्यों न जान लें ? इस सम्बन्ध में प्रश्न करने पर श्रीकृष्ण ने कहा—मुझमें मन लगाने या ध्यान करने के कई तरीके हैं, जो अनुभवियों से ही जानने योग्य हैं। फिर भी जो विधि मुझे सबसे अधिक सरल व उपयोगी प्रतीत हुई है वह इस प्रकार है—इसमें सबसे पहले व जरूरी क्रिया है आसन साधने की। आसन एक खास किस्म की बैठक को कहते हैं। योगियों ने चौरासी प्रकार की बैठकें या आसन निकाले हैं। लेकिन नौसिखियों के लिए वही आसन ठीक है, जिससे सुखपूर्वक वह ज्यादा समय तक बैठ सके। पलथी मारकर बैठना सबसे सरल आसन

है। शरीर तना हुआ हो—पीछे कूबड़ निकली न हो, गर्दन-पीठ एक रेखा में हो। हाथों को गोद में रख लो और निगाह नाक के सिरे पर जमाओ।

"फिर क्रम से पूरक, कुम्भक और रेचक द्वारा अथवा इससे उलटे क्रम से (रेचक, कुम्भक और पूरक करके) नाड़ी की शुद्धि करे और जितेन्द्रिय होकर शनैः-शनैः प्राणायाम का अभ्यास करे।" ॥३३॥

फिर क्रम से पूरक, कुम्भक, व रेचक को साधे। सांस ऊपर खींचने को पूरक, रोक रखने को कुम्भक, व छोड़ने को रेचक कहते हैं। तीनों क्रिया मिलकर प्राणायाम कहलाता है। यह सांस साधने की क्रिया है। इससे नाड़ी शुद्ध होती है। फेफड़ों में शुद्ध हवा जाने से व सांस नियमित होने से शरीर नीरोग व मन प्रसन्न रहने लगता है। पूरक, कुम्भक, रेचक में बराबर समय भी लगाया जा सकता है व कम-ज्यादा भी। किसी जानकार से इसकी विधि पूछ लेनी चाहिए। न तो पुस्तक या लेख पढ़कर यह पूरी तरह समझ में ही आती है, न कोरे व्याख्यान से ही इसे समझाया जा सकता है। फिर एक के लिए जो विधि अनुकूल पड़ती है, वही दूसरे के लिए प्रतिकूल भी पड़ सकती है। अतः अनुभवी व्यक्ति की सहायता लेना ही उचित है।

जब पूरक, कुम्भक, रेचक का क्रम सध जाय तब इससे उल्टा अभ्यास करो यानी रेचक कुम्भक, पूरक इस क्रम मे सांस को साधो। इससे इन्द्रियों को जीतने में, इनको संयम में रखने में भी सहायता मिलेगी। यह प्राणायाम का अभ्यास कहलाता है।

"(प्राणायाम दो प्रकार का है—सगर्भ और अगर्भ। उनमें से पहले सगर्भ का वर्णन किया जाता है—) हृदय में निहित कमलनाल-तुल्य ओंकार को प्राण के द्वारा ऊपर की ओर ले जाकर उसमें घण्टानाद सदृश स्वर स्थिर करे।" ॥३४॥

प्राणायाम भी दो प्रकार का है—सगर्भ और अगर्भ। पहले सगर्भ का विवरण सुनो—नाभि से ऊपर सीधी रेखा में जहां पसलियां जुड़ती हैं, उस स्थान को योगी लोग हृदय कहते व मानते हैं। इसमें ओंकार का निवास है, ऐसी कल्पना करो। वह कमल-नाल के तन्तुओं जैसा सूक्ष्म है। बिजली की लकीर के माफिक उसकी मन में कल्पना करो। मन में उसका चित्र देखो। फिर जैसे घंटा का निनाद होता है वैसे स्वर को उसमें से निकलता हुआ सुनो। कुछ समय तक हृदय में ओंकार का ध्यान करने से ऐसा स्वर सुनाई देने लगता है। यदि आरम्भ में ऐसा अनुभव न हो तो ऐसे स्वर की कल्पना करने से भी कुछ समय के बाद वह स्वर प्रत्यक्ष

सुनाई पड़ता है।

"इस प्रकार नित्य प्रति तीन समय दश-दश बार ओंकारसहित ही प्राणायाम का अभ्यास करे। ऐसा करने से एक मास से पहले ही साधक प्राण-वायु को जीत लेता है।" ॥३५॥

यह साधना दिन में तीन बार—सुबह, दोपहर व शाम को करे। एक समय में प्रणव-सहित दस-दस प्राणायाम करे। प्रणव ओंकार को कहते हैं। विधि या नियमपूर्वक नित्य ऐसा अभ्यास करे तो एक महीने के अन्दर ही प्राण-वायु वश में हो जाता है।

"फिर अन्तःकरण में स्थित ऊपर की ओर नाल और नीचे को मुखवाले हृदय-कमल को ऊपर की ओर मुखवाला, खिला हुआ तथा आठ पंखड़ियों और बीच की कली के सहित चिन्तन कर उसकी कली में क्रमशः सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि की भावना करे तथा अग्नि के मध्य में जिसका ध्यान अत्यन्त मंगलमय है ऐसे मेरे इस रूप का ध्यान करे।" ॥३६-३७॥

फिर यह भावना करे कि अन्तःकरण में स्थित जो हृदय-कमल है, जिसकी नाल ऊपर की ओर व मुख नीचे की ओर है, उसका मुख तो ऊपर की ओर खिला हुआ है, उसमें आठ पंखड़ियां हैं, जिनके बीच में एक कली है, उसमें क्रमशः सूर्य, चन्द्र और अग्नि की भावना करे। उस अग्नि के बीच में मेरे इस अत्यन्त मंगल-मय रूप का ध्यान करे।

"जो अनुरूप अंगों से सुशोभित अति शान्त, सुन्दर है, अति मनोहर मुसकान है, जिसके समान श्रवण-पुट (कान) में मकराकार कुण्डल चमचमा रहे हैं, जो मेघ के समान श्यामवर्ण, पीताम्बरधारी और श्रीवत्स तथा लक्ष्मीजी का निवास-स्थान है, जो शंख, चक्र, गदा, पद्म और वनमाला से विभूषित है, जिसके चरण-कमल नूपुरों से सुशोभित हैं, जो कौस्तुभमणि की आभा से सम्पन्न है, तथा जो सब ओर से कान्तिमय किरीट, कटक, करधनी, और अंगद (भुजबन्द) आदि आभूषणों से युक्त है, सर्वाङ्गसुन्दर और हृदयहारी है एवं जिसके मुख और नेत्र प्रसन्नता प्रकट कर रहे हैं, उस मेरे सुकुमार शरीर का, उसके सब अंगों में चित्त लगाते हुए, ध्यान करे।" ॥३८-४१॥

पूर्वोक्त रूप का ध्यान एकाग्र मन से करे। ऊधो, जो वर्णन मैंने हृदय-कमल का व अपने रूप का किया है, उसका ध्यान पूर्ण एकाग्र हुए बिना हो भी नहीं

सकता। कोई छोटे-से-छोटा अंग या आभूषण भी ध्यान से बाहर न रहे। इससे जहां एक ओर मेरी सारी छवि ध्यान में समा जाती है, साधक या भक्त मुझमें तल्लीन हो जाता है, वहां मानसिक व बौद्धिक लाभ भी बहुत होता है। सब अंग-प्रत्यंग का ध्यान करने से स्मरण-शक्ति व धारणा-शक्ति बढ़ती है। सबका अलग-अलग व मेरे शरीर में एक साथ दोनों तरह से चिन्तन करना पड़ता है, जिससे बुद्धि की विश्लेषण-शक्ति या सूक्ष्मावलोकन-शक्ति बढ़ती है। एक पदार्थ, वस्तु या रूप पर ध्यान केन्द्रित करने से शरीर की सारी नसें, श्वास, प्रश्वास खिच-कर एक ही स्थान पर मिलती हैं, जिससे नसों को अच्छा व्यायाम हो जाता है, और आराम से लेटने में जो सुख मालूम होता है, वही थोड़े अभ्यास के उपरान्त मालूम होने लगता है। पहले तो आसन, प्राणायाम व ध्यान के प्रारम्भ में कुछ कष्ट अवश्य होता है, अटपटा-सा लगता रहता है, परन्तु धीरे-धीरे क्रम-क्रम से, वह श्रम या कष्ट नहीं मालूम होने पाता। जैसे शुरू दिन कसरत करने से दूसरे दिन बदन अकड़ा हुआ मालूम होता है, वैसे ही इस मानसिक या भीतरी अवयवों के व्यायाम से थोड़े दिन कष्ट मालूम होता है; फिर तो ज्यों-ज्यों ध्यान जमने लगता है नसें अपने-आप झट से केन्द्रित हो जाती हैं व ध्यान-मूर्ति स्पष्ट अव-लोकन में आने लगती है। जब मूर्ति पर ध्यान जम जाय तब आगे की प्रक्रियाओं का वर्णन सुनो—

"बुद्धिमान् पुरुष को चाहिए कि मन के द्वारा इन्द्रियों को उनके विषयों से खींचकर, उस मन को बुद्धिरूपी सारथि की सहायता से सर्वाङ्गयुक्त मुझमें ही लगा दे।" ॥४२॥

मैंने यह सब कह तो बड़ी आसानी से दिया, लेकिन इसका प्रयोग व अभ्यास इतना आसान नहीं है। परन्तु यह सबके अनुभव की बात है कि कैसी भी मुश्किल बात क्यों न हो, 'करत करत अभ्यास के जड़ मति होत सुजान, रसरी आवत जात ते सिल पर परत निसान' के अनुसार करते रहने से यह सहज हो जाती है। जब ध्यान का अभ्यास करने लगते हैं तो पहले तो मन एक केन्द्र पर आता ही नहीं। अनेक विषयों में भटकता रहता है। जो विषय प्रिय हैं, उनकी ओर बार-बार जाता है। अप्रिय विषय या भोग के संस्कार उमड़-उमड़कर, झपट-झपटकर, उझक-उझककर उसे कहते हैं, हमें क्यों छोड़ रहे हो ? व बार-बार अपना प्रभाव न हटने देने का यत्न करते हैं। जब साधक के निश्चय, आग्रह से उनका जोर नहीं जमने

पाता, तब भय, शंका व चिन्ता के विचार व चित्र सामने आते हैं। ये पाप या दोष के संस्कार होते हैं, जो अपना पूरा भीषण चित्र हमारे सामने रख देते हैं। कभी साधक इनसे डर जाता है, कभी ग्लानि का अनुभव करता है व कभी इस ख्याल से हलकापन भी अनुभव करता है कि चलो इनका अधिक-से-अधिक भीषण रूप मालूम हो गया। पहले प्रलोभन के और दूसरे भय के चित्र होते हैं। साधक दृढ़ रहे तो ये अपने-आप बिलीन हो जाते हैं व इष्ट रूप में ध्यान जम जाता है। जब-जब ऐसे दूसरे विचार मन में आवें तब-तब साधक मन को समझाकर या आग्रहपूर्वक उनकी ओर से हटाकर मुझीमें लगाने का प्रयत्न करे। इसमें बुद्धि उसकी सहायक होगी। वह सारथि का काम देती है। उचित-अनुचित, ग्राह्य व त्याज्य की जागृति वह कायम रखती है, जिससे मन को भिन्न विचारों के साथ लड़ने व इष्ट रूप में ही लगे रहने की प्रेरणा व बल मिलता है। एक उपाय यह भी है कि जो भी भले-बुरे विचार व भाव आते हों वे आने दिये जायं; साधक सिर्फ उन्हें याद रखता चला जाय। उनमें लिप्त होने से अपनेको बचावे। साक्षी रहकर उन्हें देखता या याद रखता चला जाय। या तो अच्छे विचार ज्यादा आवेंगे या बुरे। अगर अच्छे विचार ज्यादा आयें तो वह इस बात से खुश हो कि मेरे संस्कार अच्छे ज्यादा हैं, अतः मुझे शीघ्र सिद्धि मिल जायगी। यदि बुरे विचार ज्यादा आते हैं, तो उसे अपने पतन की गहराई मालूम हो जायगी और वह उससे ऊपर उठने में अधिक ध्यान लगावेगा। उसे अपने-आप पर ग्लानि होने लगेगी, पश्चात्ताप होने लगेगा, जिसका फल यह होगा कि वे विचार, भाव या चित्र धीरे-धीरे अपने-आप आने बन्द हो जायंगे। केवल अच्छे विचार या भाव आते रहेंगे। अब उनमें से किसी एक विचार ही का चिन्तन करते रहो।

"सब ओर फैले हुए चित्त को खींचकर एक स्थान में स्थिर करे और फिर अन्य अंगों का चिन्तन न करता हुआ केवल मेरे मुसकान-युक्त मुख का ही ध्यान करे।" ॥४३॥

जब सर्वांग में चित्त लगने लगे तब और अंगों को छोड़कर सिर्फ एक ही अंग में उसे स्थिर करे। सबसे अच्छा अंग मेरा मुसकान-युक्त मुख है। दूसरे किसी अंग का या भाव का विचार मन में न आने दे। केवल मुख पर ही एकटक दृष्टि लगी रहे। वैसी ही जैसी कि तेल के कढ़ाव में मछली की आंख की केवल पुतली ही अर्जुन को दीखती थी।

"मुखारविन्द में चित्त को स्थिर करे, तदनन्तर उसको भी त्यागकर मेरे शुद्ध स्वरूप में आरूढ़ हो और कुछ भी चिन्तन न करे।" ॥४४॥

जब मुख में ध्यान स्थिर हो जाय तब मुख को हटाकर केवल आकाश में जमावे। अर्थात् मुख का चित्र सामने से हटाकर अखण्ड व व्यापक नीलिमा की ही कल्पना ध्यान में लावे। जब आकाश के सिवा कुछ न दीखने लगे, ऐसा प्रतीत होने लगे कि मैं खुद उस अखण्ड विस्तृत नील-सागर में डूब रहा हूं, तन्मय हो रहा हूं तब मेरे शुद्ध-स्वरूप में आरूढ़ होकर किसी दूसरी बात का विचार या चिन्तन न करे। जब वह नीलिमा भी न दीखने लगे, व ऐसा मालूम हो मानो नीलिमा का दृश्य, तुम्हारी आंखें अर्थात् देखने की शक्ति, व तुम अर्थात् देखनेवाले तीनों एक-रूप हो रहे हो तब जो अनुभव होता है वही मेरे शुद्ध रूप का अनुभव समझो। इस स्थिति में जितनी अधिक देर तक रहोगे उतना ही मेरे दर्शन का लाभ मिलेगा। यही समाधि-दशा है। ध्यानयोग के द्वारा इस विधि से मुझमें पहुंचा जा सकता है। बाज-बाज भक्त भजन, धुन, संकीर्त्तन, जप आदि साधनों से भी इसी अवस्था को पहुंच जाते हैं।

"इस प्रकार चित्त के वशीभूत हो जाने पर, जिस प्रकार एक ज्योति में दूसरी ज्योति मिलकर एक हो जाती है उसी प्रकार अपने में मुझको और मुझ सर्वात्मा में अपने-आपको देखता है।" ॥४५॥

इस प्रकार जब चित्त एकाग्र हो जाता है तब साधक अपने में मुझको और मुझ सर्वात्मा को अपने में देखता है, अर्थात् दोनों में अभिन्नता, एक-रूपता, तन्मयता का अनुभव करता है। जैसे एक ज्योति दूसरी ज्योति में मिलकर एक हो जाती है उसी तरह।

"इस प्रकार तीव्र ध्यान-योग के द्वारा चित्त का संयम करनेवाले योगी के चित्त का द्रव्य, ज्ञान और कर्मसम्बन्धी भ्रम शीघ्र ही निवृत्त हो जाता है।" ॥४६॥

इस तरह तीव्र ध्यान-योग से जब चित्त का संयम हो जाता है तब द्रव्य अर्थात् पदार्थ-सम्बन्धी, ज्ञान-सम्बन्धी व क्रिया-सम्बन्धी उसका भ्रम निवृत्त हो जाता है। अबतक उसके चित्त को जो यह भ्रम हो रहा था कि ये सृष्टि के पदार्थ या जगत् मुझसे भिन्न हैं, इनका ज्ञान प्राप्त या ग्रहण करनेवाला 'मैं' हूं, समस्त कर्मों या क्रियाओं का भी कर्त्ता मैं हूं, या ये पदार्थ इनका ज्ञान व इनमें होनेवाली इनकी विविध क्रियाएं एक-दूसरे से भिन्न हैं, यह ख्याल बदलकर सब जगह व सब बात

में एकता-पूर्ण, अखण्ड एकता का अनुभव होने लगता है। वैसी ही वृत्ति जब जागृति-काल में, जीवन के प्रत्येक व्यापार में चौबीसों घंटे हो जाय तो वही मनुष्य मुक्त कहलाता है।[1]

---

[1] जीव चार प्रकार के होते हैं—बद्ध, मुमुक्षु, साधक, सिद्ध या मुक्त

बद्ध के लक्षण—अंधा होकर अंधकार में चलनेवाले को जैसे दसों दिशाएं शून्य मालूम होती हैं वैसा बद्ध होता है। भक्त, ज्ञाता, तापसी, योगी, विरक्त, संन्यासी उसे नहीं दिखाई देते। कर्म-अकर्म, धर्म-अधर्म नहीं दीखते। सत् शास्त्र, सत्संग, सत्पात्र, सन्मार्ग नहीं दीखते। सारासार-विचार नहीं, स्वधर्माचार नहीं। दान, पुण्य, परोपकार नहीं, भूत-दया, शुचिता नहीं। जनों को सुख देनेवाला मृदुवचन भी नहीं, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, ध्यान, योग, के साधन नहीं। निश्चयात्मक देव-संतों का विवेक, परमार्थ का लक्षण मालूम नहीं। अध्यात्म-निरूपण सुना नहीं। अपनेको आप जानता नहीं। जीवों का जन्म-फल जाना नहीं। बन्ध-मोक्ष का विचार किया नहीं। आत्मवस्तु का पता नहीं। अपने संकल्प से बंधे हुए, दया, क्षमा, करुणा, मैत्री, नहीं। दम्भ, दर्प, अभिमान, काम, क्रोध, लोभ, मत्सर, कृतघ्नता, कपट, कुतर्क इत्यादि, भ्रष्ट, अनाचारी, स्वार्थी, कुटिल, विवादी, मूर्ख, वाचाल, पाखण्डी, कठोर, कृपण।

मुमुक्षु—अनुतापी—आगे की चिन्ता करनेवाला।

साधक—संसार-उपाधि से छूटनेवाले का नाम साधक। अविद्या व प्रपंच से छूटे वह साधक। यह भेद, अहंकार, संकल्प, विकल्प, गर्व, स्वार्थ, अनर्थ, द्वेष, कोप आदि परमार्थ के शत्रुओं को हरा देता है।

सांसारिक साधक—निस्पृह में अंतस्त्याग, व बहिर्त्याग दोनों होते हैं। सांसारिक में अंतस्त्याग होता है, बहिर्त्याग धीरे-धीरे सधता है। अभाव, संशय, अज्ञान का त्याग मुख्य है। आत्मा भाव-रूप; माया अथवा देहादि सम्बन्ध अभाव-रूप; अतः माया का त्याग होता है।

साधक की संदेह-वृत्ति निवृत्त हो जाती है। उसके होते ही वह सिद्ध हो जाता है। संदेह-रहित ज्ञान, निश्चल वस्तु-रूपता, सिद्ध का मुख्य लक्षण है। कर्म-मार्ग संशयपूर्ण है; साधन-मार्ग में विघ्न है। परन्तु सिद्ध निःसंदेह व निश्चयी होता है। निःसंदेहता व समाधान सिद्ध का मुख्य लक्षण है।

: १५ :

सिद्धियां

[इसमें भिन्न-भिन्न शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक सिद्धियों के नाम व उपाय बताये हैं। वर्तमान आविष्कार उनमें से कई सिद्धियों को प्रत्यक्ष कर रहे हैं। किन्तु भगवान् ने साधकों को चेतावनी दी है कि वे सिद्धियों के चक्कर में न पड़कर मुझे ही पाने का यत्न करें।]

"श्री भगवान् बोले—हे उद्धव ! जितेन्द्रिय, स्थिरचित्त, श्वास को जीतनेवाले और मुझमें ही चित्त स्थिर रखनेवाले योगी को सिद्धियों की प्राप्ति होती है।" ॥१॥

मैंने जो ध्यान-योग बताया है, उसके सिलसिले में जब साधक की इन्द्रियां उसके वश में हो जाती हैं, चित्त स्थिर हो जाता है, श्वास पर उसका नियंत्रण हो जाता है, और चित्त एकमात्र मुझीमें स्थिर रहने लगता है, तब उसे अनेक प्रकार की सिद्धियां प्राप्त होती हैं। लेकिन जिसे मेरी चाह है,उसे इन सिद्धियों के फेर में न पड़ना चाहिए। इससे साधना घटती है, तप क्षीण होता है। इन्हें एक प्रकार का महाव्यामोह या भंवर-जाल ही समझो, कभी प्रसंग से लोकोपकार के लिए इनका उपयोग किया जाय तो भले ही; परन्तु कोरा चमत्कार दिखाने या उसके द्वारा अपनी व योग की महिमा बढ़ाने का उद्योग करना अनुचित है।

"उद्धवजी बोले—हे अच्युत, योगियों को सिद्धि देनेवाले आप ही हैं, अतः कृपया बतलाइये कि किस धारणा से, किस प्रकार, कौन-सी सिद्धि प्राप्त होती है और सम्पूर्ण सिद्धियां कितनी हैं ?" ॥२॥

जब आपने सिद्धियों का जिक्र किया ही है तो मुझे भी यह बता दीजियेगा कि कुल सिद्धियां कितनी हैं और किस धारणा से कौन-सी सिद्धि मिलती है ? योगियों के सिद्धिदाता तो आप ही हैं। अतः, आप ही मुझे इनका परिचय देने की कृपा

कीजिये।

"श्रीभगवान् बोले—हे उद्धव, धारणायोग के पारदर्शियों ने सब सिद्धियां अठारह बतलाई हैं, उनमें से आठ में मेरी प्रधानता है, और दश गौणी अर्थात् सत्त्वगुण के उत्कर्ष से होनेवाली हैं।" ॥३॥

ऊधो सिद्धियों का सम्बन्ध धारणा-योग से है, उसके पारदर्शियों ने कुल अठारह सिद्धियां बताई हैं, जिनमें से आठ में मेरी प्रधानता है अर्थात् वे या तो मुझीमें पाई जाती हैं या योगी के मद्रूप हो जाने पर प्राप्त होती हैं। शेष दस गौणी कहलाती हैं, जो सत्त्वगुण के उत्कर्ष से सिद्ध होती हैं।

"अणिमा, महिमा और लघिमा शरीर की सिद्धियां हैं, प्राप्ति नाम की सिद्धि का सम्बन्ध इन्द्रियों से है, सुने (पारलौकिक) और देखे हुए (लौकिक) पदार्थों का इच्छानुसार अनुभव कर लेना प्राकाश्य नाम की सिद्धि है तथा माया और उसके कार्यों को इच्छानुसार प्रेरित कर सकना ईशता है।" ॥४॥

"विषयों में (उनके समीपस्थ रहते हुए भी) आसक्त न होना 'वशिता' है तथा इच्छित पदार्थों की जो चरम सीमा को प्राप्त कर लेता है (वह 'प्राकाम्य' नाम की सिद्धि आठवीं है) हे सौम्य, ये आठ सिद्धियां मुझे स्वभाव से ही प्राप्त हैं।" ॥५॥

पहले मेरी आठ सिद्धियां सुन लो। वे हैं—'अणिमा', 'महिमा', 'लघिमा', 'प्राप्ति', 'प्राकाश्य', 'ईशता', 'वशिता', 'प्रकामता'। इनमें प्रथम तीन—अर्थात् 'अणिमा', 'महिमा' व 'लघिमा' शरीर की सिद्धियां हैं। इनका सम्बन्ध शरीर को स्वेच्छानुसार छोटा या बड़ा कर लेने से है। 'प्राप्ति' का सम्बन्ध—इन्द्रिय-जय से है; सुने (पारलौकिक) और देखे हुए (लौकिक) पदार्थों का इच्छानुसार अनुभव कर लेना 'प्राकाश्य'—सिद्धि कहलाती है। माया तथा उसके कार्यों को इच्छानुसार प्रेरित कर सकना 'ईशिता' है, विषयों के समीप रहते हुए भी उनमें आसक्त न होना 'वशिता' है, तथा इच्छित पदार्थों की चरमसीमा को प्राप्त कर लेना 'प्राकाम्य' सिद्धि कहलाती है। ये आठ सिद्धियां मुझे स्वभाव से ही प्राप्त हैं।

"इस शरीर में क्षुधा-पिपासा आदि छः ऊर्मियों (शारीरिक वेगों) का न होना दूर-श्रवण तथा दूर-दर्शन, मन के समान शीघ्र-गति हो जाना, इच्छानुकूल रूप धारण कर लेना, अन्य शरीर में प्रवेश कर जाना, स्वेच्छा-मृत्यु, देवांगनाओं के साथ होनेवाली देवताओं की क्रीड़ाओं का दर्शन, जैसे संकल्प हो उसीका सिद्ध

हो जाना, (जिसका कोई उल्लंघन न कर सके, ऐसी) आज्ञा और (लोकान्तरों में) बिना रोक-टोक गति—(ये दश सिद्धियां सत्त्वगुण के उत्कर्ष से होती हैं)।" ॥६-७॥

"(इनके अतिरिक्त) त्रिकालज्ञता, निर्द्वन्द्वता (शीत-उष्ण, सुख-दुःख, राग-द्वेष आदि द्वन्द्वों से अभिभूत न होना, दूसरे के चित्त आदि की बात जान लेना, अग्नि, सूर्य, जल, विष आदि की शक्ति को बांध देना और किसीसे भी पराजित न होना (ये पांच सिद्धियां और भी हैं)। ये योग-धारणा की सिद्धियां नाम-निर्देशपूर्वक बताई गईं। अब इनमें से जो सिद्धि जिस धारणा से और जिस प्रकार से होती है—यह भी मुझसे जान लो।" ॥८-९॥

"जो पुरुष तन्मात्रारूप मन को मुझ भूतसूक्ष्मोपाधिक (तन्मात्रारूप) परमात्मा में स्थिर करता है, वह मेरा तन्मात्रोपासक 'अणिमा' नाम की सिद्धि प्राप्त करता है।" ॥१०॥

अणिमा सिद्धि को पाने के लिए साधक को तन्मात्रा-रूप अपना मन—अर्थात् मन का सूक्ष्म बीज-रूप मेरे तन्मात्रा-रूप में स्थिर करे। ये जो स्थूल-भूत दिखाई पड़ते हैं इनके सूक्ष्म, अदृश्य अंश या रूप को तन्मात्रा कहते हैं, यह पहले बता चुका हूं। मेरे उस सूक्ष्म रूप का ध्यान अपने मन के सूक्ष्म रूप से करना चाहिए—अर्थात् दोनों के सूक्ष्म जगत् का तादात्म्य होना चाहिए। जब ऐसा होने लगे तो योगी में अणिमा रूप धारण करने का सामर्थ्य आ जाता है।

"मुझ महत्तत्त्वरूप परमात्मा में मन की महत्तत्त्वरूप से ही धारणा करनेवाला पुरुष 'महिमा' नाम की सिद्धि प्राप्त करता है, और इसी प्रकार (पंचभूतोपाधिक मुझमें मन को लगाने से) पृथक्-पृथक् भूतों की 'महिमा' प्राप्त कर लेता है।" ॥११॥

'महिमा' को प्राप्त करने के लिए मेरे महत् तत्त्व रूप में मन की महत् तत्त्व रूप से ही धारणा करनी चाहिए। दोनों की महत्ता या व्यापकता का जब मेल हो जायगा तो शरीर को चाहे जितना बड़ा बनाने की शक्ति प्राप्त हो जायगी। 'अणिमा' में जहां सूक्ष्म रूप की सूक्ष्म रूप से धारणा है, तहां 'महिमा' में महान् रूप की महान् रूप से धारणा है।

इसी प्रकार मेरे पंचभूतात्मक रूपों में—अर्थात् आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी में मन की धारणा करने से साधक इनकी पृथक्-पृथक् महिमा को प्राप्त कर लेता है। इन भूतों के जैसे गुण व शक्ति प्रदर्शित करने की क्षमता उसमें आ जाती

है।

"(वायु आदि चार भूतों के) परमाणुरूप उपाधिवाले मेरे स्वरूप में चित्त को लगा देने से योगी काल की सूक्ष्मता रूप 'लघिमा' सिद्धि को प्राप्त करता है।" ॥१२॥

अब वायु, तेज, जल व पृथ्वी इन चार भूतों के परमाणु-रूप मेरे स्वरूप में अपने चित्त को लगाने से योगी काल की सूक्ष्मता-रूप लघिमा-सिद्धि को पा जाता है। इस सिद्धि को प्राप्त योगी आकाश की तरह अन्यत्र सूक्ष्म देश में रह सकता है।

"सात्त्विक अहंकाररूप मुझ परमात्मा में चित्त की धारणा करने से मेरा ध्यान करनेवाला समस्त इन्द्रियों का अधिष्ठातृस्वरूप 'प्राप्ति' नामक सिद्धि पाता है।" ॥१३॥

"जो पुरुष मुझ महत्तत्त्वाभिमानी सूत्रात्मा में अपने चित्त को स्थिर करता है, वह मुझ अव्यक्तजन्मा की 'प्राकाश्य' नामक सर्वश्रेष्ठ सिद्धि प्राप्त करता है।" ॥१४॥

वैसे मेरा जन्म अव्यक्त है, फिर भी वह मुझे व्यक्त की तरह देख सकता है।

"जो त्रिगुणमयी माया के स्वामी मुझ काल-स्वरूप विष्णु भगवान् में चित्त की धारणा करता है, वह क्षेत्रज्ञ (जीव) को अपनी इच्छानुसार प्रेरित करने की शक्तिवाली 'ईशित्व' सिद्धि पाता है (अर्थात् सृष्टि और संहारादि कर सकता है)।" ॥१५॥

अब 'ईशिता' कैसे मिलती है सो सुनो। त्रिगुणमयी माया का मैं स्वामी हूं, यह पहले बता चुका हूं। विष्णु भी मेरा ही रूप है, यह भी बता चुका हूं। काल भी मेरा ही स्वरूप है। अतः काल-रूप विष्णु भगवान् में जो चित्त की धारणा करता है, वह 'ईशित्व' को पा जाता है, जिससे क्षेत्र अर्थात् शरीरादि व क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीव को अपनी इच्छानुसार प्रेरित कर सकता है। इस सिद्धि के द्वारा वह सृष्टि व संहार आदि कर सकता है।

"जो योगी भगवत्—शब्द से कहे गए मुझ तुरीय संज्ञक नारायण में मन लगा देता है, वह मेरे स्वभाव से युक्त हुआ योगी 'वशिता' नाम की सिद्धि प्राप्त कर लेता है।" ॥१६॥

"मुझ निर्गुण ब्रह्म में ही अपने निर्मल चित्त को स्थिर करके योगी परमानन्द-स्वरूपिणी 'प्राकाम्य' नाम की सिद्धि प्राप्त करता है, जिसके मिलने पर सम्पूर्ण

कामनाओं का अन्त हो जाता है।" ॥१७॥

यहांतक अष्ट महासिद्धियों के साधन का वर्णन हुआ। अब दस साधारण सिद्धियों के साधन सुनो।

"हे उद्धव, मुझ धर्ममय शुद्ध-स्वरूप श्वेत द्वीपाधिपति में चित्त की धारणा करने से योगी (जन्म, मरण, क्षुधा, तृष्णा, शोक और मोह-रूप) छः ऊर्मियों से मुक्त होकर शुद्ध स्वरूपता को प्राप्त हो जाता है।" ॥१८॥

"समष्टि प्राणरूप मुझ आकाशात्मा-परमात्मा में मन के द्वारा नाद का चिंतन करता हुआ जीव (दूर-श्रवण नामक सिद्धि से) आकाश में उपलब्ध होनेवाली विविध प्राणियों की बोलियों को सुन सकता है।" ॥१९॥

"नेत्रों को सूर्य में और सूर्य को नेत्रों में संयुक्त करके उन दोनों के संयोग में मन-ही-मन मेरा ध्यान करने से सूक्ष्मदर्शी योगी (दूर-दर्शन नामक सिद्धि से) सारे संसार को देख सकता है।" ॥२०॥

"मन और देह को उनके अनुगामी प्राण-वायुसहित मुझमें भली प्रकार जोड़कर मेरी धारणा करने से ('मनो-जव' नामक सिद्धि मिलती है, जिसके प्रभाव से) जहां चित्त जाता है वहीं शरीर भी पहुंच जाता है।" ॥२१॥

"मन को उपादान कारण बनाकर योगी जिस समय जैसे रूपवाला होना चाहता है वैसे ही मनोनुकूल रूपवाला हो जाता है। मुझमें की हुई योग-धारणा का बल ही उसके ऐसा होने में कारण है।" ॥२२॥

"जो योगी पर-शरीर में प्रवेश करना चाहे, वह उसमें अपने आत्मा की भावना करे, ऐसा करने से बाह्य वायु रूप हुआ प्राण (प्राण-प्रधान लिंग शरीरोपाधिक आत्मा) एक फूल से दूसरे फूल में जानेवाले भ्रमर की भांति उसके शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में प्रवेश कर जायगा।" ॥२३॥

"(योगी को यदि शरीर छोड़ना हो तो) एड़ी के द्वारा गुदा-द्वार को दबाकर प्राण-वायु को क्रम से हृदय, वक्षःस्थल, कंठ और मूर्धा में ले जाकर फिर ब्रह्म-रन्ध्र के द्वारा उसे ब्रह्म को प्राप्त कराके शरीर त्याग दे।" ॥२४॥

"देवताओं के विहार स्थलों में क्रीड़ा करने की इच्छा हो तो मुझमें स्थित शुद्ध सत्त्व की भावना करे। इससे सत्त्व-वृत्ति-रूपिणी सुर-सुन्दरियां विमानादि के सहित उपस्थित हो जाती हैं।" ॥२५॥

"मुझ सत्य स्वरूप में चित्त को स्थिर करके मेरा ध्यान करनेवाला पुरुष बुद्धि

के द्वारा जिस समय जैसा संकल्प करता है उसे तत्काल वही प्राप्त हो जाता है।" ॥२६॥

"जो पुरुष मुझ सर्व-नियंता और नित्य स्वाधीन परमात्मा के स्वभाव को प्राप्त हो जाता है, उसकी आज्ञा का भी मेरी आज्ञा के समान कहीं उल्लंघन नहीं हो सकता।" ॥२७॥

"(अब लघु सिद्धियों के साधनों को सुनो)। मेरी भक्ति के द्वारा जिस धारणा-परायण योगी का चित्त शुद्ध हो गया है, उसकी बुद्धि जन्म-मृत्यु आदि अदृष्ट विषयों के ज्ञान से मुक्त एवं त्रिकालदर्शिनी हो जाती है।" ॥२८॥

"जैसे जल जल-जन्तुओं का नाश नहीं करता उसी प्रकार जिसका चित्त मुझमें लगे रहने से शिथिल हो गया है, उसके योगमय शरीर का अग्नि आदि किसीसे नाश नहीं होता।" ॥२९॥

"जो कोई श्रीवत्स व शंख, चक्र, गदा, पद्म आदि आयुधों से विभूषित, तथा ध्वज, छत्र, व्यजन आदि से अलंकृत मेरे अवतारों का ध्यान करता है, वह अजेय हो जाता है।" ॥३०॥

"इस प्रकार योग-धारणा के द्वारा मेरी उपासना करनेवाले मुनि को पूर्वोक्त समस्त सिद्धियां पूर्णतया प्राप्त हो जाती हैं।" ॥३१॥

"जो जितेन्द्रिय, संयमी व प्राण को जीतनेवाला है, निरन्तर मेरी ही धारणा करनेवाले उस मुनि को ऐसी कौन-सी सिद्धि है जो दुर्लभ हो।" ॥३२॥

"(किन्तु) उत्तम योगाभ्यास के करते-करते जिसका चित्त मुझमें लग गया है उस योगी के लिए ये सिद्धियां व्यर्थ कालक्षेप की कारण होने से विघ्नरूप ही कही गई हैं।" ॥३३॥

किन्तु ऊधो, सच पूछो तो जो उत्तम योगाभ्यासी है और मुझमें ही जिसका मन रम गया है, उसके लिए ये सिद्धियां व्यर्थ हैं। केवल उसका समय ही इनसे बरबाद हो सकता है, क्योंकि मेरी प्राप्ति के सामने ये बिल्कुल तुच्छ हैं। समुद्र पार जानेवाले का जैसे पसीने के पीछे पड़ना, या रत्न को छोड़कर जैसे कांच के टुकड़ों में मोहित होना मूर्खता है वैसे ही मेरी सिद्धि को छोड़कर अन्य सिद्धियों के फेर में पड़ना है। इनसे उलटा उनकी प्रगति में बाधा पड़ती है।

"इस लोक में जन्म, ओषधि, तप और मंत्र आदि से प्राप्त होनेवाली जितनी सिद्धियां हैं उन सभीको पुरुष योग द्वारा प्राप्त कर सकता है, किन्तु योगी की गति

(सालोक्य, सारूप्यादि, मुक्ति) (मुझमें चित्त लगाने के सिवा) किसी अन्य साधना से नहीं मिल सकती।" ॥३४॥

सिद्धयां मनुष्य कई साधनों से प्राप्त कर सकता है। किसीको जन्म से ही कोई सिद्धि प्राप्त होती है। ऐसी कई जातियां हैं, जिन्हें जन्म से ही सांप पकड़ने आदि जैसी सिद्धि मिली हुई है। वनस्पति के प्रयोग से भी कई सिद्धियां मिलती हैं, जैसे कीमिया, व इन्द्रजाल के खेल। मन्त्र से सांप का जहर उतार देना, कई रोगों को अच्छा कर देना, आदि सिद्ध हो जाते हैं। तप से वाचा-सिद्धि, संकल्प-सिद्धि हो जाती है। ये सब सिद्धियां योग से मिल सकती हैं। परन्तु योग का जो अन्तिम फल या गति है—सालोक्य, सारूप्य आदि मुक्ति—सो मुझमें चित्त लगाने के सिवा अन्य साधन से नहीं मिल सकती।

"समस्त सिद्धियों का तथा ब्रह्म-वेत्ताओं के (बतलाये हुए) योग, सांख्य और धर्म आदि साधनों का एकमात्र मैं ही हेतु, स्वामी और प्रभु हूं।" ॥३५॥

फिर एक बात तुम अच्छी तरह समझ रक्खो कि समस्त सिद्धियों के जितने साधन हैं, या ब्रह्मवेत्ता लोग योग, सांख्य, धर्म आदि जो विविध उपाय बताते हैं उन सबका एकमात्र हेतु, स्वामी व प्रभु मैं ही हूं। अतः जिसने मुझे पा या साध लिया है उसे इन अलग-अलग साधनों के फेर में पड़ने की जरूरत नहीं रहती। शहद का छत्ता पा जाने पर यदि कोई फूलों का रस पाने के लिए अलग-अलग फूलों पर भटके तो उसे जैसे मूर्ख कहेंगे वैसे ही वे लोग हैं, जो मेरी प्राप्ति को छोड़कर सिद्धियों के पीछे भटकते हैं। ये सब सिद्धियां किसी-न-किसी रूप में 'संकल्प सिद्धि' में समा जाती हैं। धारणा से मन एकाग्र हो जाता है। उस अवस्था में जो भी संकल्प मन में उठते हैं वे जैसे खुद योगी को प्रत्यक्ष दीखते हैं वैसे ही दूसरों को भी दीख जाते हैं। सामनेवालों के मन पर योगी के उस संकल्प का ऐसा परिणाम हो जाता है कि उसे वही वस्तु प्रत्यक्ष दीखने लगती है जो योगी के मन में होती है। लेकिन मेरी प्राप्ति के मुकाबले में ये सब थोथी बातें हैं।

"जिस प्रकार गो-घटादि भूतों में पांचों भूत बाहर-भीतर सब ओर स्वयं अवस्थित हैं उसी प्रकार सम्पूर्ण आवरणों से रहित स्वयं मैं ही समस्त प्राणियों का ब्रह्म (व्यापक) और अन्तर (अन्तर्यामी) आत्मा हूं (अर्थात् द्रष्टा, क्षेत्रज्ञ और दृश्य क्षेत्र दोनों में मेरे ही स्वरूप हैं।" ॥३६॥

जितने भी पदार्थ या भूत हैं जैसे गाय, घड़ा, पेड़ आदि इनमें पांचों भूत

भीतर-बाहर सब ओर अवस्थित हैं। उसी प्रकार मैं सम्पूर्ण आवरणों से रहित अपनी अवस्था में, समस्त प्राणियों का बाह्य अर्थात् व्यापक और अंतर अर्थात् अन्तर्यामी आत्मा हूं।

या यों कहो कि द्रष्टा व क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीवात्मा रूप से, व दृश्य अथवा क्षेत्र अर्थात् जगत् रूप से मैं ही संसार में व्याप्त हूं, ये दोनों मेरे ही स्वरूप हैं। इसीलिए एक के मन के संकल्प दूसरे के सामने प्रत्यक्ष हो जाते हैं।

: १६ :

विभूतियां

"उद्धवजी बोले—हे प्रभो, आप साक्षात् अनादि, अनन्त और आवरणशून्य परब्रह्म हैं तथा आप ही समस्त पदार्थों की रक्षा, नाश और उत्पत्ति के आदि कारण हैं।" ॥१॥

"आप समस्त ऊंच-नीच प्राणियों में स्थित हैं तथापि अशुद्धबुद्धि पुरुषों के लिए आप सर्वथा दुर्विज्ञेय हैं, आपकी यथोचित उपासना तो ब्राह्मण ही करते हैं।" ॥२॥

जब श्रीकृष्ण ने अपनी उपासना व अपना ध्यान करने, अपने में ही मन लगाने पर जोर दिया तो उद्धव ने पूछा कि आपकी उपासना करें कैसे? आपका न तो आदि है, न अंत, न कोई आवरण या उपाधि ही है, जिससे किसी लघु या बुद्धि-मनोगम्य रूप में आपकी उपासना करें। आप शुद्ध परब्रह्म हैं। संसार में जो कुछ भी बनता, रहता, या बिगड़ता है उसके आदि कारण रूप में आप उपलब्ध होते हैं। फिर आपको पावें कहां? आप कहां नहीं हैं? ऊंचे-से-ऊंचे व नीचे-से-नीचे प्राणियों में आप स्थित हैं। ऐसी दशा में जो लोग अज्ञानी, अपढ़ या अशुद्ध बुद्धि के हैं, उनकी पहुंच आपके इस रूप तक तो हो नहीं सकती। जो परम विद्वान् या ज्ञानी अर्थात् ब्राह्मण हैं वे ही आपकी ऐसी उपासना कर सकते हैं। मुझे तो आप कोई सरल उपाय व ऐसा रूप बताइये, जिससे सब लोग आप तक पहुंच सकें, आपकी भली-भांति उपासना कर सकें।

"हे नाथ, जिन-जिन भावों द्वारा आपकी भक्तिपूर्वक उपासना करके श्रेष्ठ महर्षिगण सिद्धि प्राप्त करते हैं, वे सब आप मुझसे कहिये।" ॥४॥

"हे भूतभावन, आप प्राणियों के अन्तरात्मा हैं, समस्त प्राणियों में आप गुप्त-रूप से लीला करते हैं। आप उन सबको देखते हैं, तथापि आपकी माया से मोहित

हुए वे आपको नहीं देख पाते।"

"हे महाविभूते, पृथिवी, स्वर्ग, पाताल तथा दिशान्तरों में आपके प्रभाव से युक्त आपकी जो-जो विभूतियां हैं, वे सब आप मुझसे कहिये, मैं सम्पूर्ण तीर्थों के आश्रयभूत आपके चरण-कमलों की वन्दना करता हूं।" ॥५॥

अतः आप वे सब रूप या विभूतियां मुझे बताइये जिन-जिनका आश्रय लेकर साधारण भक्त जन आपकी उपासना कर सकें। इसकी ज़रूरत इसलिए भी है कि साधारण लोग आपके रूप को देख नहीं पाते; आप तो अन्तर्यामी रूप से घट-घट में रहते हैं, अतः सबको देख लेते हैं; किन्तु वे आपकी माया से विमोहित होने के कारण अन्तर्दृष्टि न होने से, उस रूप को नहीं देख पाते। अतः आप पृथ्वी, स्वर्ग, पाताल आदि में जो-जो अपनी विभूतियां हैं वे सब बता दें तो उन्हें बड़ी सहूलियत हो जाय, ये उनमें से आपके किसी भी प्रत्यक्ष रूप का आश्रय लेकर उपासना करने लगेंगे।

"श्री भगवान् बोले—हे प्रश्नकर्त्ताओं में श्रेष्ठ उद्धव, कुरुक्षेत्र में शत्रुओं से युद्ध करने के लिए तत्पर हुए अर्जुन ने भी मुझसे यही प्रश्न किया था।" ॥६॥

"मैं मारनेवाला हूं, ये मरनेवाले हैं ऐसी प्राकृत बुद्धि से युक्त हो राज्य के लिए जाति-बन्धुओं के वध को निन्दनीय पाप समझकर वह युद्ध से उपरत हो गया था।" ॥७॥

"उस समय जब उस युद्धक्षेत्र में मैंने उस पुरुषसिंह को युक्तिपूर्वक समझाया तो उसने भी तुम्हारे समान ही यह प्रश्न मुझसे किया था।" ॥८॥

ऊधो, भारती युद्ध के समय अर्जुन ने भी मोह-ग्रस्त होकर ऐसा ही प्रश्न मुझसे पूछा था। उसके मन में यह अज्ञान भर गया था कि 'मैं मारनेवाला हूं' ये सब मरेंगे और मरनेवाले हैं, तब मैंने उसे बहुतेरी युक्तियों से समझाया था (उन्हें पाठक गीता में देख लेने की कृपा करें)। मैंने कहा था कि मारनेवाला तो ईश्वर या इनके कर्म हैं। तू क्यों यह बोझ अपने सिर पर लिये फिरता है? गाड़ी के नीचे चलनेवाला कुत्ता जैसे समझता है कि मेरे ही बल गाड़ी चल रही है। तू तो निमित्त मात्र है। फिर मरता तो केवल देह है, आत्मा नहीं। और देह तो एक दिन छूटने ही वाला है। ये तो अपने कर्मों से पहले ही मर चुके हैं, तेरा तो अब नाममात्र का सहारा इनकी मृत्यु में होनेवाला है। तो उस अवसर पर उसने भी ऐसी ही जिज्ञासा की थी। उस समय तो मैं संक्षेप में थोड़ी-सी ही विभूतियां उसे बता पाया था,

तुम्हें जरा विस्तार से सुना देता हूं।

"हे उद्धव, मैं इन प्राणियों का आत्मा, सुहृद् और स्वामी हूं, ये सब भूत भी मैं ही हूं और इनकी उत्पत्ति, स्थिति एवं लय का कारण भी मैं ही हूं।" ॥६॥

वैसे तो ऊधो! तुम इस एक बात को खूब याद रख लो कि इन समस्त प्राणियों का आत्मा, सुहृद्, स्वामी सबकुछ मैं ही हूं। इनकी उत्पत्ति, स्थिति व लय का कारण भी मैं ही हूं। अतः सारे संसार में मैं ही फैला हुआ हूं। किसी भी पदार्थ व जीव को तुम लोगे तो वह मेरा ही रूप होगा। फिर भी जिसमें जो विशेषता दीखती है, विशिष्ट गुण, शक्ति, क्रिया, तेज, बल, औदार्य, पुरुषार्थ, दया, क्षमा, तितिक्षा दिखाई दे, वही मेरा तत्त्व उसमें समझो। उसी रूप में मैं उसमें निवास करता हूं। उस विशेषता या चमक को देखकर ही मेरी विभूति की पहिचान कर सकते हो।

"गतिशीलों में गति, कलना (अपने अधीन) करनेवालों में काल, गुणों म समता तथा गुणियों में उनका स्वाभाविक गुण मैं हूं।" ॥१०॥

"गुणयुक्त वस्तुओं में मैं सूत्रात्मा हूं, महानों में महत्तत्त्व हूं तथा सूक्ष्मों में जीव और दुर्जयों में मन हूं।" ॥११॥

"मैं वेदों का (अध्यापक) हिरण्यगर्भ हूं, मन्त्रों में त्रिवृत् ओंकार हूं, अक्षरों में अकार हूं तथा छन्दों में गायत्री हूं।" ॥१२॥

"सम्पूर्ण देवताओं में मैं इन्द्र हूं, अष्ट वसुओं में मैं अग्नि हूं, द्वादश आदित्यों में विष्णु हूं तथा ग्यारह रुद्रों में नीललोहित नामक रुद्र हूं।" ॥१३॥

"मैं ब्रह्मऋषियों में भृगु हूं, राजऋषियों में मनु हूं, देवऋषियों मे नारद हूं, और धेनुओं (गायों) में कामधेनु हूं।" ॥१४॥

"सिद्धेश्वरों में मैं कपिल हूं, पक्षियों में गरुड़ हूं, प्रजापतियों में दक्ष हूं और पितृगण में अर्यमा हूं।" ॥१५॥

"हे उद्धव, मुझे दैत्यों में दैत्यराज प्रह्लाद, नक्षत्रों और ओषधियों में सोम (अर्थात् नक्षत्रों में चन्द्रमा और औषधियों में सोमरस) तथा यक्ष-राक्षसों में कुबेर जानो।" ॥१६॥

"मुझे गजराजों में ऐरावत, जलनिवासियों में उनका प्रभु वरुण, ताप देनेवाले और दीप्तिशालियों में सूर्य तथा मनुष्यों में राजा जानो।" ॥१७॥

"मैं घोड़ों में उच्चैःश्रवा, धातुओं में सुवर्ण, दण्डधारियों में यम और सर्पों में

वासुकि हूं।" ॥१८॥

"हे निष्पाप उद्धव, मैं नागराजाओं में शेषनाग, सींग और डाढ़वाले पशुओं में सिंह, आश्रमों में चतुर्थाश्रम (संन्यास) तथा वर्णों में आदिवर्ण (ब्राह्मण) हूं।" ॥१९॥

"मैं तीर्थ और नदियों में गंगा, जलाशयों में समुद्र, शस्त्रास्त्रों में धनुष तथा धनुर्धरों में त्रिपुरनाशक महादेवजी हूं।" ॥२०॥

"मैं निवास-स्थानों में सुमेरु, दुर्गम स्थानों में हिमालय, वनस्पतियों में अश्वत्थ (पीपल) और ओषधियों में यव हूं।" ॥२१॥

"मैं पुरोहितों में वसिष्ठ, ब्रह्मिष्ठों (वेदवेत्ताओं) में बृहस्पति, समस्त सेनापतियों में स्वामि कार्तिकेय और अग्रणियों (नेताओं) में भगवान् ब्रह्माजी हूं।" ॥२२॥

"मैं यज्ञों में ब्रह्मयज्ञ, व्रतों में अहिंसा तथा शोधक पदार्थों में नित्य शुद्ध वायु, अग्नि, सूर्य, जल, वाणी और आत्मा हूं।" ॥२३॥

"मैं योगों में मनोनिरोध, विजयसाधनों में मन्त्र, कौशलों में आन्वीक्षिकी (आत्मानात्मविवेक) विद्या और ख्यातिवादियों में विकल्प हूं।" ॥२४॥

"मैं स्त्रियों में शतरूपा, पुरुषों में स्वायम्भुव मनु, मुनीश्वरों में नारायण और ब्रह्मचारियों में सनत्कुमार हूं।" ॥२५॥

"मैं धर्मों में संन्यास, अभयसाधनों में अन्तर्निष्ठा, गुह्यों में मधुर वचन एवं मौन और मिथुनों में (स्त्री-पुरुष उभयरूप) प्रजापति हूं।" ॥२६॥

"मैं सावधान रहनेवालों में संवत्सर, ऋतुओं में चैत्र-वैशाख (वसन्त), मासों में मार्गशीर्ष (अगहन) और नक्षत्रों में अभिजित् हूं।" ॥२७॥

"मैं युगों में सत्ययुग, धीरों (विवेकियों) में देवल और असित मुनि, व्यासों में द्वैपायन तथा कवियों में शुक्राचार्य हूं।" ॥२८॥

"मैं भगवानों में वासुदेव, भागवतों में तुम (उद्धव), किंपुरुषों में हनुमान् और विद्याधरों में सुदर्शन नामक विद्याधर हूं।" ॥२९॥

"मैं रत्नों में पद्मराग, सुन्दर वस्तुओं में कमल-कोश, तृणों में कुशा और हवियों में गो-घृत हूं।" ॥३०॥

"मैं व्यवसायियों में लक्ष्मी (धन-सम्पत्ति), छलियों में छल, तितिक्षुओं में तितिक्षा और सत्त्वगुणियों में सत्त्वगुण हूं।" ॥३१॥

"मैं बलवानों का उत्साह और पराक्रम, सात्त्वतों (भगवद्भक्तों) में भक्ति-युक्त निष्काम कर्म तथा वैष्णव भक्तों की पूज्य नवमूर्तियों में पहली वासुदेव नामक उत्तम मूर्ति हूं।" ॥३२॥

"मैं गन्धर्वों में विश्वावसु और अप्सराओं में पूर्वचिति हूं तथा पर्वतों में स्थिरता और पृथ्वी में गन्ध हूं।" ॥३३॥

"मैं जल में रस, तेजस्वियों में महातेजस्वी अग्नि और सूर्य, चन्द्र, तारों में प्रभा तथा आकाश में उसका परम गुण शब्द हूं।" ॥३४॥

"मैं ही ब्राह्मणभक्तों में बलि, वीरों में अर्जुन तथा प्राणियों की उत्पत्ति, स्थिति और नाश हूं।" ॥३५॥

"मैं ही गति, उक्ति, त्याग, ग्रहण, आनन्द और स्पर्श रूप हूं तथा मैं ही आस्वाद, श्रवण और घ्राण हूं, अतः मैं समस्त इन्द्रियों का इन्द्रिय हूं।" ॥३६॥

"पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, तेज, अहंकार, महत्तत्त्व, पंच महाभूत, जीव, प्रकृति, सत्त्व, रज, तम और ब्रह्म ये सब भी मैं ही हूं।" ॥३७॥

"यह तत्त्वों की गणना, लक्षणों द्वारा उनका ज्ञान तथा उनका निश्चय भी मैं ही हूं। ईश्वर-जीव, गुण-गुणी एवं सर्वात्मा सर्व-रूप मेरे अतिरिक्त और कोई भी पदार्थ कहीं नहीं है।" ॥३८॥

"कालान्तर में परमाणुओं को तो मैं गिन सकता हूं, किन्तु करोड़ों ब्रह्माण्डों को रचनेवाला मैं अपनी विभूतियों को नहीं गिन सकता।" ॥३९॥

"जिस-जिसमें तेज, श्री, कीर्ति, ऐश्वर्य, लज्जा, त्याग, सौन्दर्य, सौभाग्य, पुरुषार्थ, तितिक्षा और विज्ञान आदि श्रेष्ठ गुण हों, वह मेरा ही अंश है।" ॥४०॥

"ये सब विभूतियां मैंने तुमसे संक्षेप में कह दी हैं, तथापि ये मनोविकार ही हैं; क्योंकि वाणी से कही जाती हैं (अर्थात् ये परमार्थ वस्तु नहीं हैं), क्योंकि वह तो मन-वाणी का विषय है, इनमें तो उसका केवल आभासमात्र हैं।" ॥४१॥

इस प्रकार मैंने संक्षेप में ये विभूतियां बताई हैं। तथापि इन्हें तुम मेरा असली रूप मत समझना। ये तो मेरे मन के विकार-मात्र हैं, और इसीलिए मुख-वाणी से इनका वर्णन किया जा सकता है। ये परमार्थ-विषय नहीं है, वह तो मन-वाणी की पहुंच के परे है। इसमें तो उसका आभास-मात्र है।

"वाणी, मन, प्राण और इन्द्रियों को जीतो, बुद्धि को अपने आत्मा के द्वारा जीतो, ऐसा करने से फिर इस आवागमन के चक्र में नहीं पड़ोगे।" ॥४२॥

"जो विचारवान् बुद्धि के द्वारा श्रौर मन का पूर्णतया संयम नहीं करता उसका व्रत, तप श्रौर ज्ञान कच्चे घड़े में भरे हुए जल के समान क्षीण होता जाता है।" ॥४३॥

"श्रतः मेरा भक्त मेरी भक्तियुक्त बुद्धि से वाणी, मन श्रौर प्राण का संयम करे। ऐसा कर लेने पर फिर उसे कुछ श्रौर करना नहीं रहता, वह कृतकृत्य हो जाता है।" ॥४४॥

: १७ :

वर्णाश्रम-धर्म

[इस अध्याय में वर्ण और आश्रम की उत्पत्ति बतलाई है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण और ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास ये चार आश्रम हैं। यह चारों वर्ण और आश्रम विश्व के एकतारूपी विराट् पुरुष के अलग-अलग अंगों से निकले हुए हैं। वर्णाश्रम के बारे में कहते हुए बताया है कि ब्राह्मण ज्ञान-प्रधान, क्षत्रिय बल-प्रधान, वैश्य धन-प्रधान और शूद्र सेवाकर्म-प्रधान हैं। यह व्यवस्था मनुष्य-स्वभाव के अनुसार मानव-भेदों का समाहार करने अर्थात आत्मविकास के उद्देश्य से बनाई गई है। ब्रह्मचर्य हृदयस्थानीय है, गृहस्थाश्रम का मुख्य आधार विवाह है और विवाह के माने हैं आजीवन मैत्री। इनके सामान्य धर्मों का भी विवेचन कर दिया है, जिनमें यह बताया गया है कि सर्वात्मभाव मनुष्य का लक्ष्य तथा सर्वभूतहित उनका साधन है। सत्य, अहिंसा आदि का भी विस्तृत विवेचन किया गया है। व्यक्ति किस प्रकार कुटुम्ब में अपना विकास साधता है, सामाजिक जीवन की साधना करता है, यह भी समझाया गया है।]

"उद्धवजी बोले—हे कमलनयन, आपकी भक्ति ही जिसका स्वरूप है, ऐसा जो धर्म आपने वर्णाश्रम-धर्म का आचरण करनेवाले तथा और भी (वर्णाश्रमाचार से रहित) सब लोगों के लिए कहा है, उसके जिस प्रकार अनुष्ठान करने से आपमें मनुष्यों की भक्ति हो सकती है, सो आप मुझसे कहिये।" ॥१-२॥

"हे प्रभो, हे माधव, आपने पूर्वकाल में हंस-रूप से ब्रह्माजी को जिस उत्तम धर्म का उपदेश किया था, हे शत्रुदमन, अधिक काल हो जाने के कारण आपका वह अनुशासनरूप धर्म अब मर्त्यलोक में प्रायः प्रचलित नहीं रहा।" ॥३-४॥

"हे अच्युत, इस पृथिवीतल पर और श्रीब्रह्माजी की सभा में भी, जहां सम्पूर्ण वेद साक्षात् मूर्तिमान् होकर रहते हैं, आपके इस धर्म का वक्ता, निर्माता और

रक्षक दूसरा कोई नहीं है।" ॥५॥

"हे मधुसूदन, इस धर्म के वक्ता, कर्ता और रक्षक आप जब इस पृथिवी-तल को छोड़कर चले जायंगे तब इस नष्टप्राय धर्म का और कौन उपदेश करेगा ?" ॥६॥

"अतः, हे सर्वधर्मज्ञ प्रभो, आपके भक्तिरूप उस परम धर्म का जिसके लिए जैसा विधान है, सो आप मेरे प्रति कहिये।" ॥७॥

जब उद्धव ने भिन्न-भिन्न विभूतियां जान लीं तो अब यह जिज्ञासा हुई कि इस भक्ति-प्रधान धर्म का पालन कैसे किया जाय ? कौन, किस प्रकार से इसका पालन करे तो वह परमात्मा को पा सकता है ? उन्होंने श्रीकृष्ण से कहा कि पहले हंस-रूप में आपने जो धर्मोपदेश दिया था, काल-गति से अब उसका प्रचार नहीं रहा। सो फिरसे मुझे सुनाइये।

"श्री शुकदेवजी बोले—हे राजन्, अपने मुख्य सेवक उद्धवजी के द्वारा इस प्रकार पूछे जाने पर, भगवान् श्रीहरि प्रसन्न होकर लोगों के कल्याण के लिए उन सनातन-धर्मों का वर्णन करने लगे।" ॥८॥

"श्री भगवान् बोले—हे उद्धव, तुम्हारा यह प्रश्न अति धर्ममय है—वर्णाश्रमाचारयुक्त लोगों के लिए आत्यन्तिक श्रेयःस्वरूप मोक्ष की प्राप्ति करानेवाला है, अतः तुम मुझसे उसका श्रवण करो।" ॥९॥

"कल्प के आदि में जो प्रथम कृतयुग हुआ, उसमें मनुष्यों का हंस नामक केवल एक ही वर्ण था, क्योंकि उस समय लोग जन्म से ही कृतकृत्य होते थे, इसीलिए उसे कृतयुग कहते हैं।" ॥१०॥

तब श्रीकृष्ण बोले—तुमने यह बड़ा अच्छा प्रश्न किया है। यह धर्ममय है और मोक्ष-साधक भी है। देखो, चार युगों की कल्पना तो तुम्हें मालूम ही है। पहले युग को 'कृतयुग' कहते हैं। उसमें मनुष्यों का एक ही वर्ण था और उसे हंस कहते थे। न समाज था, न समाज की जटिलताएं, न राग-द्वेष या कलह की गुंजायश थी, जिनमें पड़कर मनुष्य नाना प्रकार के पाप व कुकर्म करता है। इनके अभाव में मनुष्य जन्मते ही कृतकृत्य हो जाता था। उसे अपनी स्थिति व जीवन से पूर्ण संतोष मालूम होता था। इसीसे उसका नाम कृतयुग हुआ।

"उस समय प्रणव ही वेद था और (तप, शौच, दया एवं सत्यरूप चार चरणोंवाला) वृषभरूप में ही धर्म था तथा उस समय के निष्पाप और तपोनिष्ठ

लोग मुक्त हंस (शुद्ध) स्वरूप परमेश्वर की उपासना करते थे।" ॥११॥

उस समय 'प्रणव'—ॐ ही वेद था। जिस रूप में आगे जाकर वेदों का विकास या विस्तार हुआ, वह उस समय न होने पाया था। वेदों का सारा ज्ञान उस समय एक 'ॐ' में ही समाविष्ट था। यह ॐ सारे वेदों का—वैदिक ज्ञान का बीज-रूप है। ब्रह्म या परमात्मा का अक्षर रूप में संकेत है। इसकी ध्वनि आदि-ध्वनि है। इसका आकार विश्व-रूप व आशय ब्रह्म-रूप है। इसीके द्वारा उस समय लोग मेरे 'हंस' अर्थात् शुद्ध-रूप की उपासना करते थे। उस समय मैं वृषभ-रूप से धर्म था। अर्थात् तप, शौच, दया एवं सत्य इन चार चरणों से युक्त धर्म का प्रचार था। इन्हींके पालन में सारी धर्म-व्यवस्था पूर्ण हो जाती थी। प्राकृतिक जीवन में तप अर्थात् कष्ट-सहन अपने-आप ही हो जाता है। केवल स्वच्छता काफी हो जाती थी। क्योंकि कन्द, मूल, फल के साथ पशु-पक्षी प्राकृतिक जीवन में मनुष्य का आहार रहता है। अतः दया-धर्म की आवश्यकता अपने-आप उत्पन्न हो जाती है। यह दया-भावना ही उनकी शिकारी मनोवृत्ति पर नियंत्रण रखती थी। जीवन स्वभावतः ही सरल था। अतः सत्य ही उनका आचार व्यवहार हो रहा था। लोग भोले-भाले, सरल, निष्कपट और निष्पाप थे। अतः मेरी उपासना का ढंग भी बहुत सरल सीधा-सादा था।

"फिर हे महाभाग, त्रेतायुग के आगमन पर मेरे ही हृदय से मेरे श्वास-प्रश्वास के द्वारा (ऋक्, साम और यजुःरूप) वेदत्रयी का आविर्भाव हुआ। उस त्रयीविद्या से (होता, अध्वर्यु और उद्गाता के कर्म) त्रिवृत् यज्ञरूप से मैं प्रकट हुआ।" ॥१२॥

इसके बहुत अर्से बाद त्रेता युग आया। अब ॐ से विस्तृत होकर ऋक्, साम और यजु इन तीन वेदों का आविर्भाव हो चुका था। जैसे ॐ मेरी ही प्राण-ध्वनि है, वैसे ही ये तीन वेद मेरे श्वास-प्रश्वास समझो। इससे मेरी उपासना यज्ञ-रूप से होने लगी। होता, अध्वर्यु व उद्गाता के कर्म-भेद से तीन प्रकार का यज्ञ होता था। यह यज्ञ-धर्म भी मेरा ही रूप है, सो पहले अच्छी तरह समझाया जा चुका है।

"तथा विराट् पुरुष के मुख, भुजा, ऊरु और चरणों से क्रम से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णों की उत्पत्ति हुई, जिनकी पहचान अपने-अपने आचरण से ही होती है।" ॥१३॥

फिर वर्ण-व्यवस्था बनी। इस व्यवस्था के मूल में सारे विश्व की एकता की

कल्पना है। यह विश्व विराट्-पुरुष का शरीर है। चारों वर्ण इसके भिन्न-भिन्न अंग कल्पित किये गए हैं, और सर्वसाधारण को इस तरह समझाया जाता है, मानो विराट् पुरुष के मुख से ब्राह्मण की, भुजा से क्षत्रिय की, जंघा से वैश्य की व चरणों से शूद्र की उत्पत्ति हुई है। वास्तव में यह एक रूपक है, जो शरीर के भिन्न अंगों के समान उन-उन वर्णों का महत्त्व व साथ ही एकता बतलाता है। इनके आचरणों से इनकी पहचान होती है।

"इसी प्रकार मुझ विराट् पुरुष की जंघा से गृहस्थ, हृदय से ब्रह्मचर्य, वक्षः-स्थल से वानप्रस्थ और मस्तक से संन्यास ये चार आश्रम प्रकट हुए।" ॥१४॥

इसी प्रकार चार अंगों से चार आश्रम के होने की कल्पना समझाई जाती है—विराट् पुरुष की जंघा से गृहस्थ, हृदय से ब्रह्मचर्य, वक्षःस्थल से वानप्रस्थ और मस्तक से संन्यास।

इनकी कल्पना भी इनके महत्त्व के अनुसार ही की गई है। जैसे जंघा पर शरीर का आधार है वैसे ही गृहस्थाश्रम पर शेष तीनों आश्रम निर्भर करते हैं। यदि गृहस्थ न हो तो न सन्तति हो, न ब्रह्मचर्याश्रम की आवश्यकता ही रहे। वान-प्रस्थ तो मुख्यतः गृहस्थ ही हो सकता है। तीनों आश्रमों के खर्च आदि का भार गृहस्थों पर ही रहता है। अतः गृहस्थाश्रम को यदि विराट् पुरुष का जंघा-स्थानीय माना तो यह उचित ही है। जीवन में ब्रह्मचर्य हृदय-स्थानीय है। हृदय जैसे सब शरीर में प्राण का संचार करता है वैसे ही अच्छी तरह ब्रह्मचर्य सधने पर ही शेष तीनों आश्रम सफल हो सकते हैं। स्वास्थ्य, बल, विद्या, ज्ञान, उत्साह, उमंग, पुरुषार्थ इनके सम्मेलन का नाम ब्रह्मचर्य है। इनके बिना न गृहस्थाश्रम भली-भांति चल सकता है न वानप्रस्थ और न संन्यास ही। छाती से जैसे स्वच्छ वायु शरीर को मिलती है, कष्ट व कठिनाई सहने का बल मनुष्य को छाती से ही मिलता है, जब मनुष्य कोई दृढ़ संकल्प करता है, किसी पुरुषार्थ या साहस के काम में जुटता है तो छाती फूलने लगती है व ऐसा अनुभव होने लगता है मानों छाती में हजार हाथियों का बल आ गया हो। गृहस्थाश्रम के सुखी जीवन के बाद वानप्रस्थ कष्ट, संयम व एक भिन्न प्रकार के साहस का जीवन है। यह छातीवाले के लिए ही सुगम व सुकर हो सकता है। अतः वक्षःस्थल से उसकी उपमा देना योग्य ही है। संन्यास ज्ञान, ब्रह्मज्ञान, त्याग-प्रधान है, अतः मस्तिष्क से उसकी तुलना उचित है।

"इन वर्ण और आश्रमों के लोगों के स्वभाव भी इनके जन्म-स्थानों के अनु-

सार नीचों से नीच और उत्तमों से उत्तम बने हुए हैं।" ॥१५॥

ऊधो, मनुष्यों के स्वभावों को देखकर ही यह वर्णाश्रम-व्यवस्था रची गई है। जिसका जैसा स्वभाव है उसको उसी वर्ण में रखा गया है और उसके अनुसार उनका स्थान विराट् शरीर में माना गया है। अब विराट् शरीर से चूंकि तुलना की गई है व शरीर में चूंकि मुख या सिर ऊंचा है, दूसरे अंग उससे नीचे हैं, अतः इन वर्णों और आश्रमों को भी ऊंचा व नीचा कहने का रिवाज पड़ गया है। इससे हानि भी हुई है। चारों वर्णों में जो एक के प्रति उच्चता व दूसरे के प्रति तुच्छता का भाव पाया जाता है, उसका कारण यही तुलना है। इस काव्यात्मक या अलंकारात्मक भाषा से लोग गुमराह हो जाते हैं। इसीलिए मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि यह व्यवस्था केवल मनुष्यों के स्वभाव, उनके विकास की स्थिति, उनकी गुण-योग्यता को देखकर समाज की आवश्यकता के अनुसार बनाई गई है। इस भ्रम को टालने के लिए मैंने 'धर्म' शब्द की जगह अब प्रकृति या स्वभाव का प्रयोग किया है।

"शम, दम, तप, शौच, सन्तोष, क्षमा, कोमलता, मेरी भक्ति, दया और सत्य —ये ब्राह्मण वर्ण के स्वभाव हैं।" ॥१६॥

सुनो, शम, दम, तप, शौच, सन्तोष, क्षमा, कोमलता, मेरी भक्ति, दया व सत्य ये ब्राह्मण वर्ण के स्वभाव हैं, अर्थात् ब्राह्मण के मन में सदा-सर्वदा शान्ति रहती है। उद्वेग, चिन्ता, भय, शोक, उत्साह, किसी भी अवसर पर वह मन को अशान्त नहीं होने देता। कोई उत्तेजित करने का प्रयत्न करे तो भी वह भड़क नहीं उठता। जो कुछ करता है, वह शान्त चित्त से, न कि आवेश, आवेग, क्रोध या उत्तेजना से। शान्त चित्त से जो निर्णय या कार्य किया जाता है, उसका फल भी व्यक्ति व समाज को शान्त ही मिलता है; क्योंकि हमारी जैसी वृत्ति होती है वैसी ही तरंगें वह समाज में व हमारे अन्दर भी उपजाती हैं।

उसकी इन्द्रियां उसके वश में होती हैं। वह चाहता कुछ और व इन्द्रियां कर डालतीं कुछ और, ऐसा नहीं होता। किसी सुन्दरी स्त्री को देखेगा तो उसकी आंखें उसमें माता, लक्ष्मी, सरस्वती, सीता, जगदम्बा के ही दर्शन करेंगी, या अपनी बहन, पुत्री का रूप ही उसे दिखाई देगा। पैर उसके उठेंगे, हाथ चलेंगे तो किसीकी भलाई के लिए ही। किसीका बुरा करते समय वे निर्बल, बेकार हो जायंगे। बोलेगा तो ज्ञान की, कर्त्तव्य की या हित की ही मीठी बात; कटु, तीखी या अप-वाणी उसके

मुंह से नहीं निकलेगी। ऐसा ही और इन्द्रियों के विषयों में भी समझो। उसने जो अपना कर्त्तव्य या धर्म मान लिया है, उसीकी सफलता में, पूर्ति में उसकी इन्द्रियां लगेंगी। इधर-उधर नहीं भटकेंगी। अपने धर्मानुरूप जिस काम को वह अंगीकार करेगा उसे कष्ट उठाकर भी पूरा करेगा। न धमकियों से, न प्रलोभनों से उसे अध-बीच ही में छोड़ देगा। प्रसन्नता से तमाम कष्टों का स्वागत करेगा। अपनी साधना में डंटा रहेगा, उसके लिए भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, प्रिय-वियोग, अप्रिय-योग, सबको शान्ति के साथ सहेगा।

शरीर व मन को सदा स्वच्छ रखता है। नित्य जहांतक हो सके ठण्डे पानी में नदी, तालाब या कुएं पर खुली हवा में बदन को अच्छी तरह रगड़कर नहाता है। साफ धुले कपड़े पहनता है। घर, किताबें, लिखने-पढ़ने का समान, बिस्तर, बैठक सब झाड़-बुहारकर साफ रखता है। कुविचार व कुवासनाएं मन का मैल हैं। दूसरों को कष्ट या धोखा देने, दूसरों की वस्तुओं का अनुचित व अनधिकार उपयोग करने की भावना को कुविचार, और धर्म व नीति का मार्ग छोड़कर भी अपनी सुख-सिद्धि या भोग-पूर्ति की प्रवृत्ति का नाम कुवासना है। इनसे वह अपने मन को दूर और सर्वदा शुद्ध रखता है।

अपने निर्वाह के लिए धर्म व नीति-पथ पर चलते हुए जो कुछ मिल जाय, उसी-में वह सन्तुष्ट रहता है। दूसरे के अधिक धन, ऐश्वर्य, पद-प्रतिष्ठा, मान-बड़ाई को देखकर न दुखी होता है, न जलता है।

दूसरे उसे कष्ट पहुंचाते हैं, छेड़ते हैं, तरह-तरह से उसका अपराध करते हैं, तब भी वह सदा उन्हें क्षमा कर देता है। उसका यह विश्वास रहता है कि अपनी करनी का फल यह आप पा जायगा। बल्कि अपने उपदेश से यदि वह उन्हें सुधार नहीं सकता तो उनके लिए नित्य ईश्वर से प्रार्थना करता है और इसलिए उसे विश्वास होता है कि वे धीरे-धीरे सुधर जायंगे। यदि वह उन्हें दण्ड देता है, या दिलाता है तो इससे वे अधिक दुर्वृत्त व दुराग्रही होते देखे जाते हैं। अतः क्षमा को ही वह अपनी शान्ति व उसके सुधार का अमोघ उपाय समझता है।

दूसरों के कष्टों, दुःखों, अभावों के प्रति उनका हृदय सुकोमल रहता है। अपने स्वार्थ-सम्बन्धी जरूरी काम उसे दूसरों का दुःख दूर करने के प्रयत्न से नहीं रोक सकते। अपने जीवन-निर्वाह या अंगीकृत कार्य को भी वह ऐसी विधि से करता है कि जहांतक बने एक चींटी को भी कष्ट न होने पावे।

मेरी भक्ति में तत्पर रहता है। मेरी व्यक्तिगत पूजा-अर्चा भी करता है, व मेरे जगत् की सेवा में भी लगा रहता है।

दुःखियों पर दया उसमें स्वाभाविक होती है। मन से ही कोरी दया करके वह नहीं रह जाता। अपनी सहानुभूति को तदनुरूप अपने कार्यों द्वारा भी पुष्ट व सार्थक करता है।

सत्य तो उसका आधार-स्तम्भ ही समझो। सत्य के दो रूप हैं—केन्द्रीय और व्यापक। केन्द्रीय या एकस्थलीय सत्य पहले पकड़ में आता है, फिर उसके सहारे व्यापक सत्य तक पहुंचा जाता है। जो विषय समाने आवे उसमें जो सत्य प्रतीत हो वही तात्कालिक केन्द्रीय सत्य है। उसपर अमल करते रहने से और प्रत्येक विषय में ऐसे सत्य-शोधन व सत्य-ग्रहण की वृत्ति रखने से विश्व-व्यापक सत्य तक हमारी पहुंच हो जाती है। जब वृत्ति ही सत्यमयी हो गई तो यही व्यापक सत्य के साक्षात्कार की अन्तिम सीढ़ी है। फिर जो सत्य मालूम हुआ उसीको मन में रखना, उसीको कहना व उसीको करना, सत्य की साधना कहलाती है। जब मन, वचन व कर्म में एकता होती है तब वह पूरा व सच्चा आचार या जीवन कहलाता है। कम-से-कम इतने मुख्य लक्षण जिनमें हों, उन्हें तुम ब्राह्मण समझो। ब्राह्मणों के घर में जन्म लेने से तो वह नाममात्र को ब्राह्मण कहला सकता है, ब्राह्मणों के कुछ संस्कार होने की आशा उसमें रखी जा सकती है। परन्तु सच्चा ब्राह्मण तो उसके लक्षण, स्वभाव या पेशे से ही कहला सकता है।

ऊधो, वर्ण-व्यवस्था में जो मुख्य तत्त्व है वह यही कि समाज में जीविका, कर्तव्य व पुरस्कार का ऐसा बंटवारा कर दिया जाय कि जिससे परस्पर ईर्ष्या, द्वेष, मत्सर, अनुचित होड़, प्रतिस्पर्धा न बढ़े व सब लोग परस्पर सहयोग, मेल व सहानुभूति के साथ रहकर समाज की सेवा व उन्नति करें। समाज-व्यवस्थापकों के सामने जो मुख्य प्रश्न रहता है वह परस्पर विरोधी स्वार्थों, प्रवृत्तियों, शक्तियों और स्थितियों का मेल बैठाना, उन्हें एक-दूसरे का विघात न करने देकर अपनी-अपनी रक्षा करते हुए भी सम्मिलित रूप से समाज के उपयोग व क्षेम-श्रेय में लगाना। यह तभी हो सकता है जब व्यक्तियों की अनुचित इच्छाओं पर रोक लगाई जाय, उन्हें प्रोत्साहन नहीं दिया जाय व उन्हें परस्पर सहयोग के लिए बढ़ावा दिया जाय। समाज के सभी व्यक्ति एक-सी विकसित दशा में नहीं पाये जाते। कुटुम्ब के सभी लोग, एक ही माता-पिता की सभी सन्तान, एक ही जाति, वर्ग,

समाज, देश या धर्म के लोग एक से गुण, बल, स्वभाव नहीं रखते। कितने ही समान अवस्था में उन्हें रखा जाय, पैतृक व पूर्वजन्म के संस्कार उनके विकास में अपना प्रभाव जमाते ही हैं व तरह-तरह की भिन्नताएं उत्पन्न कर देते हैं। इनमें सामंजस्य करना ही समाज-व्यवस्था है। जब-जब यह सामंजस्य बिगड़ जाता है, समाज में कलह, अशान्ति व अव्यवस्था फैलती है, अनाचार, अत्याचार का जोर जमता है। इसी अवस्था को धार्मिक भाषा में 'धर्म की ग्लानि', 'धर्म की हानि' आदि कहते हैं। इसी बिगड़ी हुई अवस्था को सुधारने व फिर से सामंजस्य स्थापित करनेवाले महापुरुष समय-समय पर सब जगह पैदा होते रहते हैं। इन्हींको मैं अपना अवतार कहता हूं। उस समाज की व समय की प्राकृतिक आवश्यकता सुधारकों, समाजनेताओं, महापुरुषों या अवतारों को बुलाती है।

समाज-व्यवस्थापकों के सामने या तो व्यक्ति होता है या कुटुम्ब या वर्ग या समाज या राष्ट्र। उसे अपनी व्यवस्था की प्राकृतिक भित्ति ढूंढनी पड़ती है। जब भेदों का सामंजस्य ही समाज-व्यवस्था का मूल या हेतु है तो उसे देखना पड़ता है कि कौन-से भेद मनुष्यकृत हैं व कौन-से प्राकृतिक। मनुष्यकृत भेदों को तो मिटा देना उसके लिए मामूली बात है; क्योंकि उनके लिए स्मृति या विधान, नियमों या प्रणालियों में परिवर्तन काफी होता है। परन्तु जो भेद प्राकृतिक हैं; उन्हींके सामंजस्य का प्रश्न वास्तविक व जटिल होता है। समाज में ऊंच-नीच, अमीर-गरीब, सबल-निर्बल इतने भेद आमतौर पर दीखते हैं। इनमें पहले दो मनुष्यकृत व तीसरा प्राकृतिक है। प्रकृति ने किसीको न ऊंचा बनाया न नीचा, न अमीर बनाया न गरीब। ये भेद मनुष्यकृत, मनुष्य-रचित व्यवस्थाओं, रीतियों, विधि-विधानों के परिणाम हैं। यदि मनुष्य-समाज यह फैसला अपने लिए कर ले कि समाज में कोई ऊंच-नीच नहीं समझा जायगा व ऐसी व्यवस्था बना ले कि जिसमें किसीके पास एक सीमा से अधिक धन-सम्पत्ति न रहने पावे तो यह उसके बस की बात है। इस फैसले में प्रकृति कोई दखल नहीं देगी। परन्तु सबल या निर्बल, सक्षम या अक्षम बनाना सर्वथा मनुष्य के बस की बात नहीं। अतः सबल व निर्बल तत्त्वों की ऐसी व्यवस्था कर देना कि वे एक-दूसरे को दबाने न पावें व दोनों मिलकर सुखी रहें, यह समाज-व्यवस्थापकों का काम है। वर्ण-व्यवस्था में सबल व निर्बल, सक्षम व अक्षम के भेद की ही समुचित व्यवस्था की गई है; सबलों के आक्रमण व अत्याचारों से निर्बलों को बचाना क्षत्रियों का धर्म करार दिया

गया। जिनमें शरीरबल या बाहुबल अधिक है उन्हींपर इस बात की जिम्मेदारी डाल दी गई है। सबलों के दो वर्ग होते हैं—एक रक्षक, दूसरा अत्याचारी। एक में दूसरों की रक्षा, सहायता करने का भाव प्रबल होता है, तो दूसरों में औरों को लूटने, मारने, जबरदस्ती करने का। अतः पहले वर्ग को क्षत्रिय कहकर दूसरे वर्ग को नियन्त्रण में रखने का काम उसे सौंप दिया गया। निर्बलों के दो वर्ग हुए—ब्राह्मण व वैश्य। अतः इनकी रक्षा का भार भी क्षत्रियों पर रखा गया। क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रों के लक्षण आगे बताऊंगा, जिनसे पता चल जायगा कि बुद्धि, ज्ञान, पठन-पाठनशील लोगों का मैंने एक वर्ग बनाया। शरीरबल व रक्षणशील लोगों का दूसरा। द्रव्येच्छु व उपकारशील लोगों का तीसरा वर्ग बनाया। इनमें से एक भी वृत्ति जिनमें नहीं पाई जाती, जो विकास की बहुत निचली सतह पर हैं, उन सबका एक शूद्र वर्ग बना दिया। शूद्र वर्ग या जन-साधारण शारीरिक श्रम-प्रधान होने से सबलों की भी श्रेणी में आ जाता है। साधन तथा ज्ञान-बुद्धिहीन होने से वह निर्बलों की भी श्रेणी में आ जाता है। जो हो, यह निश्चित है कि इन तीनों वर्गों में जो भी निर्बल हैं उनकी रक्षा का भार सबलों अर्थात् क्षत्रियों पर रखकर सबको वर्ण-व्यवस्था द्वारा अभय का आश्वासन दे दिया गया है।

सबल या निर्बल का यदि व्यापक अर्थ समर्थ व असमर्थ करें तो ऐसे व्यक्ति इन चार वर्णों में बिखरे हुए मिल जायंगे। समर्थ असमर्थों पर इतने रूप में अत्याचार, ज्यादती या शोषण करते हैं जिनसे असमर्थों को बचाने की जरूरत है—सत्ता, धन-सम्पत्ति व पद-प्रतिष्ठा, और उनके साधन तथा अपनी स्थितियों व शक्तियों का दुरुपयोग करके समर्थ असमर्थों को इन तीन बातों से वंचित रखते या रख सकते हैं। यह निश्चित है कि प्रत्येक व्यक्ति सत्ता, सम्पत्ति व प्रतिष्ठा चाहता है; परन्तु सभीमें उनके पाने व रखने की योग्यता नहीं होती। कइयों में तो प्रयत्न करने व सुविधा देने पर भी यह क्षमता नहीं आती। और समाज-शास्त्री इस तथ्य की उपेक्षा नहीं कर सकता। इसीलिए वर्ण-व्यवस्था में योग्यतानुसार काम बांट दिया गया। इसमें पहले तो संस्कारवान्, विशेष योग्यता, क्षमता या प्रवृत्ति रखनेवाले व संस्कारहीन कोई विशेष प्रतिभा, शक्ति, योग्यता व प्रवृत्ति न रखनेवाले ऐसे दो वर्ग कर लिये जाते हैं। पहले को द्विज, दूसरे को शूद्र नाम दे दिया गया है। इनमें घृणा या तुच्छता का कोई भाव नहीं है। ये केवल भेद-दर्शक हैं। फिर द्विजों में विशेष प्रवृत्तियों का, योग्यताओं का सूक्ष्म निरीक्षण करके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य,

विभाग बना दिये गए। अपनी-अपनी चित्तवृत्ति व योग्यता के अनुसार मनुष्य इनमें से किसी एक विभाग या वर्ण में आ जाता है। सत्ता, पद-प्रतिष्ठा और धन-सम्पत्ति, ये तीनों चीजें तीन वर्णों में—क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य में—बांट दी गईं। इच्छा होते हुए भी यदि पात्रता नहीं है तो उस लाभ से मनुष्य को वंचित ही रहना पड़ेगा। यह व्यवस्था मनुष्य की सर्वसामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति जैसे आहार, घर, शिक्षा आदि से सीधा सम्बन्ध नहीं रखती है। केवल विशेष इच्छाओं या योग्यताओं का ही हिसाब लगाती है। सारे समाज के भरण-पोषण, शिक्षण, रक्षण, की जिम्मेवारी राज-संस्था पर, जिसके अध्यक्ष क्षत्रिय बनाये गए हैं, छोड़ दी गई है। इन सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति में सबका समान अधिकार स्वीकृत किया गया है। समाज में झगड़ा कभी सामान्य आवश्यकताओं के लिए नहीं उठा। सब उसकी आवश्यकता मानते हैं। परन्तु जब कोई विशेष व्यक्ति, वर्ग या संस्था अपने विशेषाधिकार, विशेष सुविधा, विशेष सुख, विशेष स्वार्थ का दावा करते हैं, या उन्हें सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं, तब झगड़ा खड़ा होता है। उनके इन दावों, मांगों या प्रयत्नों से जिनके उचित अधिकार, सुख, स्वार्थ, हित, सुविधा को आघात पहुंचता है, वे इसका विरोध करते हैं, व यह उचित ही है। इसी 'विशेषता'-सम्बन्धी समस्या को वर्णव्यवस्था ने बड़ी खूबी से हल कर दिया है। जो पद-प्रतिष्ठा के विशेष इच्छुक हैं, उनसे उसने कह दिया कि आपको पठन-पाठन, अध्ययन-अध्यापन, बुद्धि-ज्ञान-सम्बन्धी काम करना होगा; त्याग-तपमय जीवन व्यतीत करना होगा। यह कीमत चुकाने से आपको समाज में सबसे ऊंचा पद व सबसे अधिक प्रतिष्ठा मिलेगी। ये ब्राह्मण हैं। इसमें एक बात अपने-आप ही सीधी पड़ गई। वह यह कि बुद्धि व ज्ञान-प्रधान लोगों को चाह भी जितनी आदर व कद्रदानी की होती है, उतनी सत्ता, धन-सम्पत्ति की नहीं। इसी तरह जिन्हें सत्ता प्रिय है, उनसे कहा गया कि अच्छा, तो तुम्हें मुख्यतः समाज के रक्षण की जिम्मेवारी लेनी होगी; यदि समाज में एक भी आदमी पर अत्याचार हुआ, एक भी भूखा रहा या अशिक्षित रहा तो तुम दोषी समझे जाओगे। लेकिन मान-आदर तुम्हें ब्राह्मणों के बराबर नहीं मिलेगा, न धन-सम्पत्ति वैश्यों के बराबर; पर सत्ता तुम्हारी सबपर चलेगी। जो धन-सम्पत्ति का संग्रह रखना चाहते थे, उनसे कहा कि खेती, व्यापार, व्यवसाय करके तुम धन कमाओ, परन्तु गोरक्षा व समाज के लिए आवश्यक धन-धान्य की पूर्ति तुम्हें करनी होगी। अब रहे वे जिनमें किसी विशेष गुण, वृत्ति या

योग्यता का प्रादुर्भाव नहीं हुआ। उनसे कहा कि तुम अपनी रुचि के अनुसार काम-धंधा करो, इसकी एवज़ में समाज में तुम्हें सब तरह के आनंद-प्रमोद, खेल-तमाशे, नाच-रंग, गान की छुट्टी रहेगी।

सब वर्गों की विशेष इच्छाओं की पूर्ति कर देने से प्रत्येक की दूसरी सुख-सुविधाएं कुछ कम ज़रूर हुईं, परन्तु इससे प्रतिस्पर्धा, ईर्ष्या-द्वेष का मार्ग बंद हो गया। साथ ही सत्ता, धन, प्रतिष्ठा, आमोद-प्रमोद सबके एक ही जगह इकट्ठा हो रहने से, चारों के संगठन के द्वारा समाज में जो अन्याय, अत्याचार और अनर्थ हो सकता है, उससे भी समाज को बचा लिया गया। इस तरह इस व्यवस्था में चित्त-वृत्ति के अनुसार काम, व पुरस्कार पाने के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त, अनुचित होड़ से बचने के आर्थिक सिद्धान्त, कार्य-विभाग के राजनैतिक व्यवस्था-सिद्धान्त, सबका पालन अपने-आप हो जाता है।

एक बार चालू हो जाने के बाद फिर प्रारंभ में जन्मना वर्ण मान लेने से वंश-परम्परा के संस्कारों या विरासत के सिद्धान्तों का भी पालन हो जाता है। इससे धंधे, जीविका यह व्यवसाय चुनने में मनुष्य को सहूलियत होती है। परन्तु जो भिन्न कार्य से जीविका प्राप्त करना चाहते हों, वंश-परंपरागत धंधे की योग्यता या रुचि न रखते हों व दूसरे कर्त्तव्य या काम-धंधे के अधिक योग्य हों, उन्हें उसकी छूट रखने के लिए आगे चलकर 'कर्मणा' वर्ण मानना उचित होगा। इस तरह जो व्यक्ति अपने बाप-दादों का ही धंधा करेगा, उसका शुरू से आख़ीर तक एक ही वर्ण रहेगा, जो बदल देगा उसका वर्ण कर्म के अनुसार बदल जायगा। सब वर्ण धर्म के अनुसार चलते, अर्थात् ऐहिक या पारलौकिक सुख या उन्नति के मार्ग पर चलते हुए व्यक्ति व समाज के सुख-साधन के लिए आवश्यक काम करने को बंधे हुए हैं। अर्थात् सबका उद्देश्य व्यक्तिगत सुख व उन्नति की साधना करते हुए समाज की सेवा, कल्याण करना है, इस शर्त को कोई भी नहीं तोड़ सकता, क्योंकि सारी व्यवस्था का उद्देश्य ही व्यक्ति व समाज की सुख-शान्ति है। इसमें योग्यता के अनुसार थोड़ा-बहुत ऊंच-नीच का भेद रह सकता है, जो कि मानवस्वभाव के लिए स्वाभाविक है। परन्तु जन्म या धंधे के कारण किसीको ऊंच-नीच मानने का कोई कारण या प्रयोजन नहीं है। कोई भी धंधा व कोई भी योनि ऐसी नीच नहीं कही जा सकती, जिससे समाज का हित होता हो, धर्म की सिद्धि होती हो।

"तेज, बल, धैर्य, वीरता, सहनशीलता, उदारता, उद्योग, स्थिरता, ब्रह्मण्यता

(ब्राह्मण-भक्ति) और ऐश्वर्य—ये क्षत्रियवर्ण के स्वभाव हैं"॥१७॥

अब तुम क्षत्रिय वर्ण के स्वभाव सुनो।

सबसे पहला तेज है, वह किसी भी अन्याय, अत्याचार, ज्यादती, अनर्थ बदमाशी और गुंडापन को नहीं सह सकता, चाहे अपने साथ की जाय, चाहे दूसरों के साथ। ऐसे अवसरों पर जो इनके विरोध करने का भाव मन में जाग्रत होता है उसे ही तेज कहते हैं।

फिर अत्याचारियों व बदमाशों के व आवश्यकतानुसार उनके दोषों को दमन करने का, अपने समाज की रक्षा करने का बल भी उनमें होता है। ऐसे बल को बढ़ाने व संघटित करने की शक्ति भी उनमें होती है। अपने अकेले के बस से काम न चले, तो अपने पड़ौसियों, साथियों, सहानुभूति व अनुकूलता रखनेवालों के बल को वह एकत्र कर सकता है, व सफलतापूर्वक विरोध में लगा सकता है।

कैसा भी संकट क्यों न हो, कैसे भी बली व अदम्य शत्रु या प्रतिपक्षी का मुकाबला क्यों न हो, वह धीरज व हिम्मत नहीं छोड़ता। निराशा व असफलता के अवसर पर भी धीरज से उसके कारणों की खोज करके फिर-फिर मुकाबला करता है, जबतक कि अत्याचारियों को दबा न दे या उन्हें मित्र बनने पर मजबूर न कर दे।

स्त्रियों, बच्चों, बूढ़ों, साधु-सन्तों, अनाथों, निर्बलों, पीड़ितों, शोषितों की रक्षा व सहायता के लिए वह सदा तैयार रहता है। फिर अपने स्वभाव की उच्चता को छोड़कर नीच वृत्ति से कपट या छल से, वार नहीं करता। उसमें कमीनापन नहीं होता। उसके बल व तेज में एक किस्म की शालीनता, उच्चता, भद्रता, सौजन्यता, भलमनसी की अमिट छाप रहेगी, इसीको शौर्य कहते हैं।

सब मौसमों में व सब तरह के शारीरिक कष्टों को सहन करने की आदत उसे रहती है।

उसका हृदय विशाल होता है। हाथी के पांव में जैसे सबका पांव समाता है, वैसे ही उसके विशाल हृदय में सबके लिए स्थान होता है। सुखी-दुखी, भले-बुरे, धनी-गरीब सबका वह ध्यान रखता है, व सब उससे आश्रय, राहत पाते हैं।

वह आलसी, प्रमादी, अकर्मण्य नहीं होता। सदैव किसी-न-किसी उद्यम में लगा रहता है। बेकार रहना, ठलुवा बैठे रहना उसके स्वभाव के विरुद्ध है।

फिर जो निश्चय कर लेता है, उसपर दृढ़ रहता है। बार-बार व जल्दो-

जल्दी अपने निर्णय व निश्चय नहीं बदला करता। उसके विचार भी स्थिर होते हैं, कदम भी स्थिर होता है व व्यवस्था भी स्थिर होती है। एक बार जो निश्चय कर लिया वह तभी बदलेगा जब उसमें उसे बड़ी भूल मालूम देगी—इतनी बड़ी कि मानो धर्म के भरोसे अधर्म कर बैठे।

फिर वह ब्राह्मणों, ज्ञानवानों, बुद्धिमानों, विद्वानों का सदैव मान, आदर करेगा उनसे मंत्रणा करेगा। वह जहांतक बने उनके परामर्श से ही राज्य-व्यवस्था करेगा।

एक किस्म का ऐश्वर्य, पराक्रम, प्रताप, पौरुष, प्रभाव, दुर्दमनीयता, भव्यता, महानता, प्रकाश, चमक उसमें दिखाई देगी, जिससे दूसरा मनुष्य उसके पास जाते ही अपनेको छोटा, अल्प, अनुभव करने लगेगा। इन लक्षणों से क्षत्रिय जाना जाता है।

"आस्तिकता, दानशीलता, दम्भहीनता, ब्राह्मणों की सेवा करना और धन-संचय से सन्तुष्ट न होना—ये वैश्य वर्ण के स्वभाव हैं।" ॥१८॥

वैश्य का पहला लक्षण है—आस्तिकता, वह ईश्वर में विश्वास रखता है। धर्म-कर्म में रुचि होती है। दान देने में अपने धन का उपयोग समाज, देश, धर्म, दीन-दुखी जनों के लिए करने में उसे उत्साह होता है। उसका जीवन सरल व पाखण्ड-रहित होता है, कूट-कपट व छल से वह बरी होता है। ब्राह्मणों की अर्थात् ज्ञान-वान, विद्वान् व तपोधन लोगों की सेवा में उसे अनुराग होता है। एक खास परीक्षा उसकी यह है कि धन-संचय में उसे प्रीति रहती है। उससे वह अघाता ही नहीं।

"ब्राह्मण, गौ और देवताओं की निष्कपट भाव से सेवा करना और उसीसे जो कुछ मिल जाय उसमें सन्तुष्ट रहना—ये शूद्र वर्ण के स्वभाव हैं।"॥१९॥

ब्राह्मण, गाय अर्थात् पशु-धन व देवों की अर्थात् समाज व परमेश्वर की कपट-रहित होकर सेवा करना शूद्र वर्ण का स्वभाव है। उससे जो कुछ मिले, उसमें वह सन्तुष्ट व मस्त रहता है।

यहां स्वभाव बतलाया गया है, न कि धर्म-कर्म। हिन्दू धर्म-शास्त्रों या नीति-कारों ने सदैव इस बात का ध्यान रक्खा है कि वर्गों व समूहों में परस्पर कलह न होने पावे। इसका अच्छा उपाय यह है कि अधिकारों पर जोर न देकर कर्त्तव्यों पर व उसमें भी एक के प्रति दूसरों के कर्त्तव्यों पर अधिक जोर दिया जाय। या जैसे शूद्रों का कर्म उसकी वृत्ति के अनुसार यदि सेवा-शरीर-शक्ति-प्रधान बनाया गया

है तो द्विजों, बल्कि ब्राह्मणों तक के लिए यह विधान है कि पहले घर के नौकर-चाकरों को खिलाकर फिर खावे। नहीं तो पाप के भागी होते हैं।

"अपवित्रता, मिथ्याभाषण, चोरी करना, नास्तिकता, व्यर्थ कलह करना, काम, क्रोध और तृष्णा—ये अन्त्यजों के स्वभाव हैं।" ॥२०॥

और उद्धव, अन्त्यज कहलानेवालों के भी लक्षण सुन लो। एक तो वे गन्दे रहते हैं, नहाते-धोते नहीं, झूठ बोलते हैं, चोरी भी कर लेते हैं, ईश्वर को नहीं मानते है। स्त्री-पुरुष-सम्बन्धी नैतिकता उनमें बहुत कम होती है, गुस्सैल भी खूब होते हैं, व उनकी नीयत कभी भरती ही नहीं, चाहे जितना दो-लो या खिलाओ-पिलाओ।

चतुर्वर्णों में अन्त्यजों का कहीं नाम नहीं है। शूद्रों में ही इनका समावेश है। अतः यह स्पष्ट है कि अन्त्यज को अलग वर्ण 'पंचम' मानने की प्रथा बाद में चली है। जब भागवत बनाई गई है, या उसका अन्तिम संस्करण हुआ है, तब 'अन्त्यज' अलग वर्ण बन गये थे, ऐसा इस लक्षण से प्रकट होता है।

"अहिंसा, सत्य, अस्तेय, काम-क्रोध-लोभ से रहित होना और प्राणियों की प्रिय और हितकारिणी चेष्टा में तत्पर रहना—ये सब वर्णों के सामान्य धर्म हैं।" ॥२१॥

ये तो मैंने भिन्न-भिन्न वर्णों के लक्षण या स्वभाव या पहचान तुमको बताई। अब सब वर्णों के अर्थात् मनुष्य-मात्र के सामान्य धर्म या कर्त्तव्य समझ लो। ये सब-के लिए माननीय व पालनीय हैं। इन्हींके पालन पर मनुष्य-समाज व वर्ण-व्यवस्था कायम रह सकती है। वर्ण-व्यवस्था इन सामान्य मानव-धर्मों का पालन कराने के लिए बनाई गई व्यवस्था समझो। वे ये हैं—

सबसे पहला धर्म अहिंसा है। यदि समाज के लोग परस्पर अहिंसा का पालन न करें तो समाज-व्यवस्था एक दिन नहीं चल सकती। सिर्फ क्षत्रियों को ही समाज की रक्षा के लिए दुष्टों को दण्ड देने की इजाजत दी गई है। या युद्ध में मार-काट को अधर्म नहीं माना गया है।

यज्ञ-यागादि में भी पशुहिंसा की अनुज्ञा दी गई है; परन्तु ये अपवाद-मात्र हैं। मुख्य धर्म तो अहिंसा ही है। मनुष्य की कमजोरियों के साथ इतनी रियायत कर देनी पड़ी है। परन्तु मनुष्य का कर्त्तव्य तो यही है कि वह अधिकाधिक अहिंसा की ओर अग्रसर हो। निजी जीवन के लिए ही नहीं, मैं समाज-जीवन की बात कर

रहा हूं। उसे ऐसी पद्धतियां व प्रणालियां निकालनी चाहिए, जिनमें कम-से-कम हिंसा सम्भव हो।

दूसरा धर्म सत्य है। सत्य वैसे सर्वोपरि धर्म है, संसार में जो-कुछ है वह सत्य ही है। फिर भी अहिंसा को पकड़ रखने की जरूरत ज्यादा है, क्योंकि अहिंसा को छोड़ देने से सत्य हाथ नहीं आता। अहिंसा की पूर्ण कल्पना एक दफा हो सकती है, वह मनुष्य की पहुंच व पकड़ के बाहर इतनी नहीं है; क्योंकि समाज में उसका लाभ व आवश्यकता बहुत प्रत्यक्ष है। परन्तु सत्य का पूर्ण रूप बुद्धि की पहुंच के परे, केवल अनुभव-गम्य है। उसका जो भी रूप मनुष्य के हाथ लगेगा वह एक अंश ही होगा। जैसे-जैसे उसका अनुभव बढ़ेगा, विकास होता जायगा तैसे-तैसे यह अंश छूटकर बड़ा अंश उसके हाथ लगेगा। इस तरह अन्त में उसे पूर्ण सत्य के दर्शन होंगे। फिर सत्य को पालने के बाद अहिंसा अपने-आप लुप्त हो जाती है। जब मनुष्य की वृत्ति में प्राणि-मात्र, भूत-मात्र की एकता समा गई या रम गई तो फिर वह हिंसा या अहिंसा का व्यवहार किसके प्रति करेगा। जबतक मन में भेद-बुद्धि है, द्वेष है, अपने समाज, सृष्टि, या भूतों के भिन्न-भिन्न होने का भान है तभीतक उनके प्रति दया, सहानुभूति, अहिंसा का भाव पैदा हो सकता है व रह सकता है। जब सब जगह मैं-ही-मैं हो गया तो केवल सत्य बच रहा, उसतक पहुंचाने-वाली सीढ़ी अहिंसा खतम हो गई, उसका विकास पूर्ण हो गया। इसका अर्थ यह नहीं कि अब उसे हिंसा करने का पट्टा मिल गया, बल्कि यह कि अब उसके विचार व्यवहार में हिंसा-अहिंसा की परिभाषा नहीं रही। केवल सत्य की भाषा व वृत्ति रही। उससे प्रेरित होकर वह सब व्यवहार करेगा। हिंसा-अहिंसा की भाषा व व वृत्ति साधक के लिए है।

चूंकि जन-साधारण इसी अवस्था में पाये जाते हैं, मैंने सत्य से अहिंसा का नम्बर पहले बताया है, अहिंसा को छोड़कर कोई सत्य को पाना चाहेगा तो अहिंसा तो गई ही, सत्य भी हाथ नहीं लगने का। इसके विपरीत सत्य को एक बार भूल जाय, पर अहिंसा को सच्चाई से पकड़े रहे तो सत्य उसके रास्ते में अपने-आप मिल जायगा, मिले बिना नहीं रहेगा। इसका यह भी अर्थ नहीं कि मनुष्य सत्य को भुला दे, इसलिए मैंने अहिंसा के बाद ही सत्य का वर्णन किया है।

तीसरा धर्म अस्तेय है। इसका अर्थ है चोरी न करना, जब किसीकी आंख बचाकर कोई काम किया जाता हो तो वह अधिकांश चोरी है, गन्दे काम ही अधि-

कांश एकान्त में किये जाते हैं। यही चोरी है। योग-साधना जैसे कुछ कर्म ऐसे हो सकते हैं, जो एकान्त चाहते हैं। मन से भी दूसरे की वस्तु का भोग करना चोरी है। उसको चुराने का विचार आना और ऐसी तजवीज करना चोरी ही है। अस्तेय सत्य-व्यवहार का ही अंग है। सत्य-व्यवहार का अर्थ यही है कि हम दूसरे को इस बात का आश्वासन देते हैं कि जिसे तुम अपना या अपनी चीज समझते हो उसे स्वप्न में भी तुम्हें धोखा देकर लेने की चाह न रखूंगा। सत्य के इसी रूप पर समाज में परस्पर विश्वास का व्यवहार चलता है।

अकाम का अर्थ है अपनी आवश्यकता से अधिक वस्तुओं के लेने या उपयोग करने की इच्छा न रखना। संकुचित अर्थ में स्वपत्नी से भी वहुत मर्यादित शरीर-सम्बन्ध रखना व दूसरे की बहू-बेटियों को कभी बुरी निगाह से न देखना। संक्षेप में अपनी इच्छाओं, अभिलाषाओं, वासनाओं, महत्त्वाकांक्षाओं, स्वार्थों, तृष्णाओं का सर्वमुखी संयम। इसके बिना समाज में अन्याय, अत्याचार, शोषण, पीड़न, संत्रास नहीं रुक सकता। दण्ड के भय से समाज में अन्याय व शोषण नहीं रुक सकता। मनुष्य की इच्छाओं को खुला छोड़कर केवल आचार पर बंधन लगाने से एक हद तक ही सफलता मिल सकती है। वास्तव में मनुष्य को अपनी आवश्यकताएं सीमित करना ही सीखना चाहिए। भोग-तृष्णा को बढ़ावा देकर आप समाज में कैसे ही कड़े विधि-विधान बनाते रहिये, वे टूट जायंगे या जाहिरा वा छिपे-छिपे उनका भंग होता रहेगा। जाहिरा भंग बगावत व गुप्त भंग चोरी की सड़न पैदा करता है। अतः जहां विधि-विधानों से रोक-थाम का प्रयत्न किया जाय वहां इससे भी अधिक मनुष्य को सादा जीवन व उच्च विचार की ओर प्रेरित व शिक्षित किया जाना चाहिए।

अक्रोध अहिंसा का एक व्यवहार है। क्रोध से किसीका भी भला नहीं होता। कर्ता स्वयं पछताता है व उसका शिकार आवश्यकता से अधिक दंड या हानि पा जाता है और यह सब अनिच्छित रूप से हो जाता है। बड़े-बड़े लड़ाई-झगड़ों का मूल या आरम्भिक रूप क्रोध ही होता है। क्रोध का अर्थ है मन का तोल बिगड़ जाना व इन्द्रियों का अस्त-व्यस्त हो जाना। हमारे आयोजनों को शत्रु उतना नहीं बिगाड़ता जितना स्वतः हमारा क्रोध। शत्रु के वारों और दांवपेचों से तो हम प्रायः सावधान रहते हैं; परन्तु यह घर में छिपा शत्रु ऐसा एकाएक हमला करता है कि हम मूर्च्छित ही हो जाते हैं। उस मूर्च्छित या उन्मत्त अवस्था में

समाज का जो नुकसान हमारे हाथों हो जाता है, उसका अनुमान करना कठिन है। अतः अपने अन्दर क्रोध के छिपे हुए रूप को जरूर पहचान रखना चाहिए। क्रोध का जब आवेग आ जाय तो चुप रह जाय व उस स्थान से चले जाकर ठंडे पानी से हाथ-मुंह धो लेना अच्छा उपाय है।

अलोभ अकाम का आगे बढ़ा हुआ रूप है। काम जब अपनी सीमा छोड़ने लगता है व अधीर हो जाता है तब वह लोभ हो जाता है। दूसरों की वस्तुओं पर भी उसकी निगाह जाती व रहती है। यहीं से बुराई व पाप की बुनियाद पड़ती है। प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से दूसरों की बुद्धि, कला, विद्या, धन, परिश्रम, योग्यता का उपभोग या दुरुपयोग करके खुद लाभ उठा लेना लोभ की ही प्रवृत्ति है। समाज में अक्सर वे लोग बड़े होशियार गिने जाते हैं, जो इस तरह दूसरों का शोषण करते हैं। परन्तु वास्तव में वे पापभागी ही होते हैं। जिसका उसको देना, लेने देना व रहने देना, सत्य का व्यावहारिक रूप है। यही समाज में न्याय का रूप है। लोभ ही अक्सर इसे तोड़ने का पाप कमाता है। अतः मैंने स्वतंत्र रूप से अलोभता को मनुष्यमात्र का धर्म बताया है।

अब सबसे अन्तिम परन्तु बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात है—मनुष्य किस भावना से यहां प्रेरित होकर जीवन-यापन करे। उसके लिए मेरी स्पष्ट सम्मति है कि वह भूतमात्र के प्रिय करने व हित साधनेवाली होनी चाहिए। अहिंसा की भावना रखने से मनुष्य अपने-आप प्राणिमात्र के प्रिय कार्यों में लगा रहेगा व सत्य का अवलंबन करने से उनके लिए हितकर कर्म ही उससे सदैव होंगे। परन्तु यह बात उसे सदैव याद रखनी है कि उसे जीवन में वे ही काम करने हैं जो मनुष्यमात्र को प्यारे हों व उनका कल्याण करनेवाले हों। इसीको सर्वभूतहित, विश्वहित, (आजकल की भाषा में अंतरराष्ट्रीयता, विश्वबंधुत्व कहिये) कहते हैं। मानव-जाति या मनुष्य-समाज के लिए मेरा यही संदेश है। सर्वात्मभाव उसके जीवन का लक्ष्य, व सर्वभूतहित उसकी साधना होनी चाहिए। इसमें व्यक्तिगत व सामाजिक, दोनों हेतुओं की पूर्ति बड़ी खूबी से हो जाती है। व्यक्तिगत व सामाजिक स्वार्थों का इससे अच्छा समन्वय क्या हो सकता है? सर्वभूतहित या संकुचित रूप में समाज-सेवा, राष्ट्र-सेवा किसलिए? व्यक्तिगत साधना के लिए। इस वृत्ति से समाज के प्रति उपकार-भावना व इसलिए अपने प्रति अहंकार-भावना नहीं पैदा होने पाती। व व्यक्तिगत उन्नति किसमें? समाज-सेवा में। इस वृत्ति में व्यक्ति-

गत स्वार्थों को समाज में विलीन कर देने की—समर्पण की उच्च भावना है। इससे व्यक्ति अपनेको समाज से पृथक् व बड़ा नहीं मान सकता। व सच पूछो तो यही उसके बड़े बनने का सरल उपाय है। ऊधो, इससे अच्छा समन्वय या सामंजस्य, न कभी जगत् में हुआ है, न भविष्य में ही होने की आशा है; जो भी योजनाएं व्यक्ति व समाज के समन्वय की बनेंगी, उन्हें इसी मुख्य तत्व को केन्द्र में रखना पड़ेगा।

वर्णाश्रम-व्यवस्था में गृहस्थाश्रम—कुटुम्ब—को मुख्य माना गया है, व्यक्ति को नहीं। व्यक्ति को समाज की एकाई मानना समाज की प्रारंभावस्था का सूचक है। व्यक्ति-स्वातंत्र्य का मतलब है विकास का प्रारंभ, संगठन का अभाव। व्यक्ति का प्राथमिक विकास कुटुम्ब में हुआ। कुटुम्ब व्यक्तियों का एक छोटा समूह है। रक्त-सम्बन्ध, स्वार्थ-सम्बन्ध, स्नेह-सम्बन्ध, इसका आधार है। व्यक्ति-स्वातंत्र्य में व्यक्ति अपने सुख-सुविधा से ऊपर उठा हुआ प्राय: नहीं होता। कुटुम्ब-संस्था में उसे कौटुम्बिक सुख-सुविधा का भी ध्यान रखना पड़ता है व उनके लिए त्याग भी करना पड़ता है। उनकी संगति, सहयोग, स्नेह आदि का जहां वह यथेच्छ भोग करता है वहां वह उनके लिए स्वेच्छा से व प्रसन्नता से त्याग भी करता है। कौटुम्बिक जीवन में व्यक्ति पहली बार संयम की आवश्यकता महसूस करता व उसको पालता भी है। समाज कुटुम्ब के आगे का ही कदम है। कुटुम्ब एक छोटा समाज ही है, जिसमें सामाजिक जीवन के प्राय: सब अनुभव मनुष्य को हो जाते हैं। सभी समस्याएं उसमें उपस्थित होती हैं व उन्हें उसे हल करना पड़ता है। कुटुम्ब-जीवन व्यक्ति का अपना आत्म-विकास ही है। व्यक्ति-स्वातंत्र्य में जहां वह अपने एक ही रूप को जानता था अब वह अपने माता, पिता, पत्नी, बच्चे आदि अनेक रूपों को पहचानने लगता है। ये सब उसके आत्मीय हैं—उसी के भिन्न-भिन्न नाम रूप हैं, ऐसा वह महसूस करता है। इसी भावना या अनुभव पर कुटुम्ब का सुख, स्वास्थ्य, उन्नति व व्यक्ति का संतोष, समाधान अवलंबित है।

जो भावना, ममत्व, आत्मीयता, आत्मभाव, व्यक्ति का कुटुम्ब के प्रति है वही जाति या समाज के प्रति होना उसके आगे का विकास-क्रम है। कुटुम्ब में व्यक्ति विलीन हो गया था। जाति या समाज में कुटुम्ब विलीन हो जाते हैं। एक वंश के या एक पेशे के लोगों की एक जाति बन जाती है। एक संस्कृति या धर्म के

लोगों का एक समाज बन जाता है। एक सामाजिक आदर्श, सामाजिक एकता रखनेवालों का राष्ट्र बन जाता है। सब राष्ट्रों को एक मानव-समाज समझो। ये व्यक्ति के आत्मिक विकास की उत्तरोत्तर ऊंची अवस्थाएं हैं। वर्ण-व्यवस्था में इसके विकास की पूर्ण गुंजायश है, बल्कि इसी विकास को साधने के लिए वर्ण-व्यवस्था का जन्म हुआ है। समाज की सेवा जो इसमें प्रत्येक व्यक्ति और संस्था का धर्म बताया गया है, वह तो केवल प्रारंभिक बात है। वर्ण-व्यवस्था यद्यपि मनुष्य-समाज की व्यवस्था करती है तो भी उसका वास्तविक उद्देश है—उस व्यवस्था के द्वारा मनुष्य से व्यक्तिशः व सामाजिक सदस्य दोनों हैसियतों से भूत-मात्र—जीवमात्र का प्रिय व हित-साधन। इसका सरल अर्थ यह हुआ कि व्यक्ति कुटुम्ब का प्रिय व हित करे, कुटुम्ब जाति का, जाति समाज का, समाज राष्ट्र का, राष्ट्र मानव-समाज का, मानव-समाज प्राणिमात्र का—भूतमात्र का तभी ये सार्थक व कृतार्थ हो सकेंगे। नीचे का एक अपने से ऊपर के हित में समर्पित कर दे। जब व्यक्ति इस तरह अपने से आगे की बड़ी इकाइयों के लिए अपनेको समर्पित करने लगेगा तो उसकी चरमावस्था आ जायगी जबकि भूतमात्र में उसका समर्पण-भाव हो जायगा। यही आत्मानुभव या ब्रह्मानुभव या परमात्म-प्राप्ति है। जो स्थूलबुद्धि हैं, वे इस मर्म को नहीं समझ पाते और इसलिए नाना प्रकार के वाद खड़े करके परस्पर वाद-विवाद करते व झगड़े मचाते हैं। मैंने जो लक्ष्य स्थिर किया है, वह परिपूर्ण है। इससे आगे जाने की गुंजायश नहीं है। जो व्यवस्था बनाई हैं वह भी सिद्धान्त रूप में तो अमिट है, बाहिरी रूप या तफसीली नियमों में समाज की स्थिति के अनुसार परिवर्तन होता रहेगा।

"(अब चारों आश्रमों में पहले ब्रह्मचारी के धर्म बतलाते हैं—) जाति, कर्म आदि संस्कारों के क्रम से उपनयन संस्काररूप दूसरा जन्म पाकर द्विज-कुमार (ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य वर्ण का बालक) इन्द्रियदमनपूर्वक गुरु के घर में रहता हुआ, गुरु द्वारा बुलाये जाने पर वेद का अध्ययन करे।" ॥२२॥

प्रारम्भिक आश्रम ब्रह्मचर्य है। इसके पहले यों तो जातकर्म, आदि संस्कार हो चुकते हैं, परन्तु इसमें मुख्य संस्कार है उपनयन—जनेऊ लेना। इस संस्कार से उसका दूसरा जन्म माना जाता है। अतः इसके बाद वह द्विज हो जाता है। ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य, इन श्रेणियों के लोग ही इस संस्कार से लाभ उठा सकते हैं, क्योंकि आगे चलकर जो विद्याध्ययन व ज्ञान-प्राप्ति करनी पड़ती है, उसके योग्य चित्त-

वृत्ति व परिस्थिति इन्हींकी होती है। यह संस्कार हो जाने पर उसके लिए सबसे पहला काम है अपनी इन्द्रियों का दमन करना। यहां से उसका गुरुकुल-वास शुरू होता है। गुरु जब बुलावें तब जाकर उनसे वेद का अर्थात् ज्ञान-विज्ञान का अध्ययन करे।

"(ऐसे ब्रह्मचारी को चाहिए कि) मेखला, मृगचर्म, दण्ड, रुद्राक्ष की माला, यज्ञोपवीत, कमण्डलु और स्वतः बढ़ी हुई जटाएं धारण करे, (शौकीनी के लिए) दांत और वस्त्रों को न धोवे, रंगीन आसन पर न बैठे तथा कुशा धारण करे।" ॥२३॥

"स्नान, भोजन, होम, जप, और मूत्र-पुरीषोत्सर्ग के समय मौन रहे तथा नख एवं कक्ष (बगल) और उपस्थ के बाल को भी न कटावे।" ॥२४॥

"पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए स्वयं कभी वीर्यपात न करे और यदि कभी (असावधानतावश स्वप्नादि में) हो जाय तो जल में स्नान करके प्राणायाम-पूर्वक गायत्री का जप करे।" ॥२५॥

मेखला, यज्ञोपवीत आदि धारण करे, संयमपूर्ण व कठोर जीवन बितावे। शौकीनी व व्यसनों से परहेज करे। गुरु के बनाये नियमों का, ब्रह्मचर्य का भली-भांति पालन करे।

यदि कभी हठात् अनिच्छा से (स्वप्नादि में) वीर्यपात हो जाय तो स्नान करके, प्राणायाम करे व गायत्री का जप करे। स्नान से थकान दूर होकर ताजगी आ जायगी, प्राणायाम से बल-संचय होगा व गायत्री-जप से मन को स्वस्थता व दृढ़ता प्राप्त होगी।

"प्रातःकाल और सायंकाल दोनों समय मौन होकर गायत्री का जप करे तथा पवित्र और एकाग्र होकर अग्नि, सूर्य, आचार्य, गौ, ब्राह्मण, गुरु, वृद्धजन और देवताओं की उपासना एवं सन्ध्योपासन करे।" ॥२६॥

ब्रह्मचारी में नियमितता, नम्रता व मन में पवित्रता आने के लिए ये विधियां बतलाई गई हैं।

"आचार्य को साक्षात् मेरा ही स्वरूप समझे, उसका कभी निरादर न करे और न कभी साधारण मनुष्य समझ कर उसकी किसी बात की उपेक्षा या अव-हेलना ही करे, क्योंकि गुरु सर्वदेवमय होता है।" ॥२७॥

गुरु को मनुष्य या मरणशील जानकर उसकी उपेक्षा ब्रह्मचारी को न करनी

चाहिए। गुरु को मेरा ही रूप माने व मेरे जैसा ही उसका आदर करे। वह सर्व-देवमय है।

"सायंकाल और प्रातःकाल दोनों समय जो कुछ भिक्षा मिले अथवा और भी जो कुछ प्राप्त हो, गुरु के आगे रख दे और फिर उनकी आज्ञानुसार उसमें से लेकर संयमपूर्वक भोजन करे।" ॥२८॥

गुरु से ब्रह्मचारी का आहार-विहार छिपा न रहना चाहिए व बड़े होने का अभिमान किसीको न होने पावे, इस उद्देश्य से यह योजना की गई है।

"आचार्य यदि जाते हों तो उनके पीछे-पीछे जाय, शयन करते हों तो पास बैठकर चरण दबावे और बैठे हों तो उनके आदेश की प्रतीक्षा में हाथ जोड़े पास ही खड़ा रहे। इस प्रकार अत्यन्त नीच की भांति सेवा-शुश्रूषा करता हुआ आचार्य की आराधना करे।" ॥२९॥

"इस प्रकार जबतक विद्या समाप्त न हो जाय तबतक सब प्रकार के भोगों से दूर रहकर अखण्डित ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करता हुआ गुरुकुल में रहे।" ॥३०॥

ब्रह्मचारी को विनय, सदाचार व शिष्टाचार की दीक्षा देने के लिए ये आदेश दिये गए हैं।

"यदि ब्रह्मलोक को जाने की इच्छा से इसे, जहां मूर्तिमान् वेद रहते हैं उस महर्लोक में जाने की इच्छा हो तो नैष्ठिक ब्रह्मचर्य लेकर यावज्जीवन करने के लिए गुरु को अपना शरीर समर्पित कर दे।" ॥३१॥

जो ब्रह्मचारी केवल विद्याभ्यास का नहीं, बल्कि ब्रह्मलोक पाने का ध्येय रखते हैं, उनके लिए तो सर्वोत्तम उपाय यही है कि वे अपना सबकुछ गुरुपर छोड़ दें और दृढ़ता से स्वाध्याय में लगे रहें।

ब्रह्मलोक से अभिप्राय यहां मूर्तिमान ज्ञान से है, वह भूमिका जहां ज्ञानस्वरूप परमेश्वर का निवास है। महर्लोक उससे नीचे की भूमिका है।

"उस ब्रह्मतेज से सम्पन्न तथा निष्पाप नैष्ठिक ब्रह्मचारी को चाहिए कि अग्नि, गुरु, आत्मा और समस्त प्राणियों में मेरी अभिन्न भाव से उपासना करे।" ॥३२॥

इस प्रकार जो दृढ़ ब्रह्मचर्य धारण करके रहता है, वह नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहलाता है। उसमें एक प्रकार का तेज उत्पन्न हो जाता है, जिसे ब्रह्मतेज कहते

हैं। यह ज्ञान का व तप का तेज होता है। ऐसे तेज से सम्पन्न ब्रह्मचारी को चाहिए कि वह अग्नि, गुरु, आत्मा और समस्त प्राणियों में मेरी अभिन्न भाव से उपासना करे।

ब्रह्मचारी का सम्वन्ध अग्नि, गुरु, अपनी आत्मा और आसपास के प्राणियों से आता है। अतः इन्हींकी उपासना के द्वारा वह मेरी उपासना करे अर्थात् इनमें मुझको देखे व मुझको इनमें देखे। इन सबमें वह मेरी धारणा करे। यही समझे कि ये सव परमेश्वर के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं।

"जो गृहस्थ नहीं हैं उन (ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ वा संन्यासियों) को चाहिए कि स्त्रियों को देखना, स्पर्श करना तथा उनसे बातचीत या हँसी-मसखरी आदि करना दूर से ही त्याग दें, मैथुन करते हुए प्राणियों की ओर तो दृष्टिपात तक न करें।" ॥३३॥

लेकिन यहां एक बात तो मैं ऐसी कहना चाहता हूं जिसका पालन सभी गृहस्थों को, केवल ब्रह्मचारियों को ही नहीं, बल्कि वानप्रस्थ व संन्यासियों को भी करना उचित है। वह है स्त्रियों के सम्बन्ध में मर्यादायुक्त व्यवहार। इसीपर उनकी प्रगति बहुत-कुछ अवलम्बित रहती है। स्त्रियों को चाव से देखना, छूना, उनसे बात-चीत, हँसी-दिल्लगी करना आदि को वे दूर से ही छोड़ दें। मैथुन करते हुए प्राणियों की ओर आंख उठाकर भी न देखें। यही प्रारम्भिक दोष है, जिनकी उपेक्षा करने से आगे बड़े-बड़े अनर्थ हो जाते हैं व पीछे सबको पछताना, दुःखी होना व नुकसान उठाना पड़ता है।

"हे यदुकुलनन्दन, शौच, आचमन, स्नान, सन्ध्योपासन, सरलता, तीर्थ-सेवन, जप, अस्पृश्य, अभक्ष्य एवं अवाच्य का त्याग, समस्त प्राणियों में मुझे ही देखना तथा मन, वाणी और शरीर का संयम—ये धर्म सभी आश्रमों के हैं।" ॥३४-३५॥

अब तुम सभी आश्रमवालों के सामान्य धर्म सुन लो। वे हैं शुचिता, आचमन, स्नान, सन्ध्योपासन, सरल जीवन, तीर्थ-सेवन, जप, अस्पृश्य, अभक्ष्य, अवाच्य का त्याग, सब प्राणियों में मुझीको देखना तथा मन, वाणी व शरीर का संयम।

(यहां अस्पृश्य-त्याग से मतलब तात्कालिक अस्पृश्यता से है जैसे मल-मूत्र, घूर, नाली, गटर, साफ करते समय या गन्दे कपड़े धोते समय या और गन्दी हालतों में होनेवाली अस्पृश्यता।)

"इस प्रकार नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाला ब्राह्मण अग्नि के समान तेजस्वी होता है, तीव्र तप के द्वारा उसकी कर्मवासना दग्ध हो जाने के कारण चित्त निर्मल हो जाने से वह मेरा भक्त हो जाता है (और अन्त में परम पद को प्राप्त होता है) ।" ॥३६॥

इस प्रकार जो नैष्ठिक ब्रह्मचारी है वह अग्नि की तरह तेजस्वी हो जाता है। आग में हाथ डालने की जैसे किसीको हिम्मत नहीं होती वैसे ही उसका विरोध करने की सहसा किसीकी जुर्रत नहीं होती। आग में डालने से जैसे कई चीजें शुद्ध व पवित्र हो जाती हैं वैसे ही उसके सम्पर्क से लोगों की मलिनता जल जाती है और तीव्र तपों के द्वारा खुद उसकी भी वासनाएं जल-भुन जाती हैं, जिससे चित्त निर्मल हो जाता है। चित्त-शुद्धि के बाद वह मेरी भक्ति का व फिर वास्तविक परमपद का अधिकारी हो जाता है।

"इसके अतिरिक्त यदि अपने इच्छित शास्त्रों का अध्ययन समाप्त कर चुकने पर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने की इच्छा हो तो गुरु को दक्षिणा देकर उनकी अनुमति से स्नान आदि करे (अर्थात् समावर्तन-संस्कार करके ब्रह्मचर्याश्रम को छोड़ दे) ।" ॥३७॥

अब जब गुरुकुल में अध्ययन समाप्त हो जाय, तो ब्रह्मचारी के लिए दो मार्ग खुलते हैं—पहला व स्वाभाविक मार्ग है गृहस्थाश्रम। इच्छित शास्त्राध्ययन के बाद उसकी रुचि हो तो गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे, इससे पहले गुरु से विदा ले, उन्हें दक्षिणा दे, उनकी अनुमति से स्नानादि करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे। इसे समावर्तन संस्कार कहते हैं। अब वह जीवन के दूसरे विभाग में प्रवेश करता है।

"श्रेष्ठ ब्रह्मचारी को चाहिए कि ब्रह्मचर्य-आश्रम के उपरान्त गृहस्थ अथवा वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करे अथवा (यदि विरक्त हो तो) संन्यास ले ले। इस प्रकार एक आश्रम को छोड़कर अन्य आश्रम अवश्य ग्रहण करे। मेरा भक्त अन्यथा आचरण कभी न करे (अर्थात् निराश्रमी रहकर स्वेच्छाचारों में प्रवृत्त न हो) ।" ॥३८॥

श्रेष्ठ ब्रह्मचारी वह है, जो ब्रह्मचर्याश्रम के बाद किसी-न-किसी आश्रम को ग्रहण करे। यदि गृहस्थ न बनना चाहता हो तो वानप्रस्थी बने, यदि गृहस्थ जीवन से तीव्र विरक्ति हो तो भले संन्यास ले ले पर आश्रम-विहीन होकर अर्थात् उच्छृंखल व स्वेच्छाचारी बनकर न रहे। किसी-न-किसी आश्रम में रहे, जिससे उसका

जीवन नियम व संयम में रहते हुए वृद्धि, पोषण व विकास पाता रहे।

"जो गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहता हो वह अपने अनुरूप निष्कलंक कुल की तथा अवस्था में अपने से छोटी क्रमशः सवर्ण की कन्या से विवाह करे।" ॥३६॥

ऊधो, गृहस्थ जीवन का आधार पत्नी पर है, अतः उसके चुनाव में काफी सावधानी रखनी चाहिए। सारे जीवन भर जिसका साथ रहना है, जिससे पुत्र, सन्तति तथा अन्य सुख की अभिलाषा है उसके चुनाव में जितनी सावधानी रखी जाय उतना ही अच्छा है। यों तो विशेष अवस्था में पति-पत्नी सम्बन्ध-विच्छेद कर सकते हैं; परन्तु, शोभा, सार्थकता तो इसीमें है कि आजन्म एक ही पति-पत्नी का सम्बन्ध मधुर व सुखमय रहे। मैंने स्वयं बहुपत्नियां की हैं, मेरी शक्ति व सामर्थ्य की तुलना दूसरों से करना उचित न होगा, परन्तु मैं अपने अनुभव से कहता हूं कि एक ही पति-पत्नी का दाम्पत्य जीवन जितना सुख-श्रेय-दाता है उतना अधिक का नहीं। अतः जो गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहे वह पहले तो लड़की के संस्कार अर्थात् कुल को देखे। जहां अच्छे संस्कार रक्षित हों उसे सत्कुल समझना चाहिए। अपने अनुरूप संस्कार ही देखना चाहिए, फिर वह अवस्था में कुछ छोटी हो और अपने वर्ण की हो।

विवाह एक प्रकार की आजीवन मैत्री है। मित्रता समान गुण-शील में ही सम्भव व स्थायी हो सकती है। यही नियम दाम्पत्य-सम्बन्ध पर भी लागू है। एक वर्ण में ही प्रायः समान-गुण-शील मिलते हैं। इसलिए मेरी सिफारिश सवर्ण विवाह करने की है, आजकल जो बहुतेरे वंश, जातियां बन रही हैं, इनके संकुचित दायरे में ही विवाह करने की आवश्यकता नहीं है। जात-पांत कोई 'ब्रह्मवाक्य' नहीं है। समान गुण-शीलत्व ही मुख्य कसौटी है। यदि स्ववर्ण में समान गुण-शील कन्या न मिले तो दूसरे वर्णों में कर लेना चाहिए। इससे वर्ण-व्यवस्था में कोई बाधा नहीं पड़ती। केवल गृहस्थ-जीवन के सुख-सुविधा का सवाल है। स्ववर्ण में उसकी अधिक सम्भावना देखकर ही उसपर जोर दिया गया है।

इस आश्रम का आधार दाम्पत्य-सुख पर है। इसलिए दाम्पत्य-जीवन के मुख्य सिद्धान्त भी यहां समझ लो। वर्ण-व्यवस्था या भागवत-धर्म दोनों के अनुसार दाम्पत्य-जीवन धर्म-पालन अर्थात् व्यक्ति व समाज की उन्नति के लिए है। इसमें व्यक्तिगत सुख या भोग-विलास के लिए कतई गुंजाइश नहीं है। स्त्री-संग भी केवल

सन्तान-प्राप्ति के लिए ही करना चाहिए। काम-शान्ति इसमें गौण है। वैसे तो कामेच्छा मनुष्य में स्वाभाविक है। परन्तु वर्ण-व्यवस्था के द्वारा व्यक्ति व समाज के भावी व स्थायी सुख की दृष्टि से, उसे संयम में रखकर, सन्तान को पहला व काम-शान्ति को दूसरा स्थान दिया गया है। अतः मनुष्य को सदैव काम-प्रवृत्ति को गौण मानने का प्रयत्न करते रहना चाहिए। अनुभव से वे देख लेंगे कि संयम में ही कुल मिलाकर अधिक वास्तविक व स्थायी सुख है, काम-तृप्ति या कामातिरेक से नहीं।

संतानोत्पत्ति का सम्बन्ध रति-क्रिया से है। इस उद्देश्य से जब रति-क्रिया का प्रसंग आवे तो इस बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि जिससे दम्पती की काम-शान्ति हो जाय। इसपर दम्पती की मानसिक सुस्थिति बहुत-कुछ अवलंबित रहती है। शारीरिक सम्बन्धों में रति-तुष्टि व मानसिक सहयोग अर्थात् रति, व प्रीति ये दो दाम्पत्य-जीवन के स्तम्भ हैं। सारे गृह-कार्यों में सेवा व धर्म-कृत्यों में दम्पती का पूर्ण मानसिक सहयोग होना चाहिए। यह तभी संभव है कि जब दोनों के विचार व भाव-धारा एक हो तथा परस्पर अमिट स्नेह व सौहार्द हो। यह स्नेह परस्पर विश्वास व आत्मीयता का रूप धारण करे। रस्सी की दो लटें जैसे परस्पर दृढ़ता से एक दूसरे को पकड़े रहती हैं उसी तरह पति-पत्नी का जीवन परस्पर निगड़ित रहना चाहिए। स्त्री पति को परमेश्वर व पति पत्नी को देवी, भगवती के सदृश समझे। दोनों सदा एक दूसरे को व समाज को प्रसन्न, सुखी, उन्नत बनाने का हार्दिक प्रत्यत्न करें। इस विषय में राम-सीता हमारे आदर्श हो सकते हैं। सीता ने यदि राम के साथ वन-जीवन को प्रासाद-जीवन से भी अधिक सलोना माना तो राम के लिए सीता का वियोग असह्य हो गया था; जबतक उसे वापस प्राप्त नहीं किया जबतक उन्होंने चैन नहीं लिया। केवल रूप-प्रधान या काम-तृप्ति-प्रधान दाम्पत्य-सम्बन्ध या जीवन कभी हितकर व सुखकर नहीं हो सकते।

दाम्पत्य सम्बन्ध में यद्यपि वर वधू को ही अपना चुनाव करने का अधिकार है व रहना चाहिए तो भी माता-पिता, आप्त-इष्ट व गुरुजन की सलाह व सम्मति का इसमें सदैव आदर करना चाहिए। युवावस्था भावना-प्रधान होती है। बुद्धि की तीव्रता व विद्या का संग्रह हो गया हो, तो भी अनुभव व व्यवहार-जगत् की देख-भाल का मूल्य इनसे कम नहीं है।

"यज्ञ करना, पढ़ना और दान देना—ये धर्म तो सभी द्विजों (ब्राह्मण, क्षत्रिय,

वैश्य तीनों) के लिए विहित हैं किन्तु दान लेना, पढ़ाना और यज्ञ कराना—ये केवल ब्राह्मण ही करे।" ॥४०॥

अब मैं चारों वर्णों के गृहस्थों के धर्म तुमको बताये देता हूं। यज्ञ करना, पढ़ना, व दान देना ये धर्म तो सभी द्विजों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) के लिए उचित हैं; परन्तु दान लेना, पढ़ाना व यज्ञ कराना—ये केवल ब्राह्मण ही करे। 'यज्ञ करना' से अभिप्राय उन समस्त कर्मों से है जो परोपकार के लिए, जिसमें अपने स्वार्थ-सिद्धि की भावना न हो, किये जाते हैं। इनमें समस्त सेवा-कार्यों का समावेश हो जाता है। जाति-सेवा, समाज-सेवा, धर्म-सेवा, राष्ट्र-सेवा, मानव-सेवा, जीव-दया, आदि के आयोजन इसीके अन्तर्गत है। यों 'यज्ञ' एक विशिष्ट प्रकार की विधि है, जिसमें 'बलि' दान का विधान है। परन्तु वह विशिष्ट समय के लिए ही उपयोगी हो सकता है, व था। वास्तव में यज्ञ का व्यापक अर्थ ही ग्रहण करना चाहिए। 'गीता' में भी मैंने 'यज्ञ' के अर्थ का विकास किया है। 'क्रिया' समयानुसार परिवर्तनीय है, 'भावना' सार्वकालिक है।

पढ़ने से अभिप्राय सब सत्शास्त्रों व विद्याओं के ज्ञान वा प्रयोग से है।

दान देने से मतलब सब सत्कार्यों में उत्साह से बिना बदला पाने की अभिलाषा से, कीर्ति, प्रतिष्ठा, मान आदि के प्रलोभन से रहित होकर, सहायता करने से है। इतने काम अर्थात्, परोपकार या सेवा-कार्य, शिक्षा-प्राप्ति व प्रयोग तथा सार्वजनिक कार्यों में साम्पत्तिक आदि सहयोग ये तो द्विजातिमात्र के लिए अनिवार्य हैं। अर्थात् यदि ये न करें तो दण्डनीय हैं। शूद्रों पर इनकी पाबन्दी नहीं है। उसके लिए ये लाजमी नहीं हैं। याद रखना चाहिए कि शूद्र उसीको कहा है कि जिसमें द्विजाति-योग्य विशिष्ट विकास का अभाव है। जिसमें इनमें से किसी प्रकार की प्रवृत्ति का विकास पाया जायगा वह अपने-आप ही उस वर्ग या वर्ण में आ जायगा। यह वर्ण-विभाग लोहे की दीवार की तरह किसी मर्यादा से परस्पर पृथक् नहीं किया गया है। बल्कि नालियों से परस्पर मिलाये गए उन भिन्न-भिन्न तालाबों की तरह है, जिनमें एक दूसरे का पानी आता-जाता रहता है। अस्तु—

लेकिन इनमें तीन काम केवल ब्राह्मण वर्ण के ही करने योग्य हैं—दान लेना, पढ़ाना, यज्ञ कराना। यहां दान लेने का अर्थ है—अपने निर्वाह के लिए दूसरों से आर्थिक सहायता लेना। पढ़ाने का अर्थ है अध्यापक का, उपदेशक का, ज्ञान-दाता का, परामर्श का, धर्म-व्यवस्था का, कर्तव्य-निर्णय का आदि कार्य करना। ये सब

बुद्धि व विद्या-ज्ञान-प्रधान कर्म हैं। इन कर्मों के द्वारा ब्राह्मण अपनी जीविका के लिए कोई ठहराव न करे। इसलिए शेष वर्णों से उसे दान लेने का अधिकार दिया गया है और इसलिए दूसरे वर्णों को जीविकार्थ दान लेने से मना किया गया है।

'यज्ञ कराना' से अभिप्राय समस्त परोपकारी कार्यों की प्रेरणा करना, उनका आरम्भ करना, उनकी व्यवस्था व संचालन में सहयोग देना, उनकी योजना और विधि-विधान बना देना।

"इनमें भी प्रतिग्रह (दान लेने) को तप, तेज और यश का विघातक समझ-कर अन्य दो वृत्ति (अध्यापन और यज्ञ कराने) से ही जीविका-निर्वाह करे अथवा यदि इनमें भी (परावलम्बन और दीनता आदि) दोष दिखलाई दें तो केवल शिलोञ्छवृत्ति से ही रहे।" ॥४१॥

यद्यपि मैंने ब्राह्मण की जीविका के तीन उपाय बताये हैं तो भी प्रतिग्रह या दान लेने से ब्राह्मण का तप, तेज व यश घटता है। बिना उसकी विशेष सेवा लिये —उपकार किये किसीसे गुजर-बसर के लिए धन लेने से वह दूसरों की दृष्टि में छोटा हो जाता है। आवश्यकता पड़ने पर उसका विरोध, प्रतिकार या आलोचना करने की हिम्मत या तबीयत नहीं होती। मन में दुविधा पैदा हो जाती है। विरोध करते हैं—मना करते हैं तो जिसका खाया उसी से लड़ने के दोष की कल्पना मन में पैदा होती है। नहीं करते हैं तो कर्त्तव्य-पालन में त्रुटि होने की शिकायत अपना मन करता है। ऐसे समय अपने कर्त्तव्य पर दृढ़ रहने का साहस बहुत कम लोगों में होता है। इसीका फल तप और तेज का क्षीण होना है। उसके मुलाहिजे से दबकर कभी-कभी अच्छे कामों से परावृत्त होना पड़ता है व अवाञ्छनीय कामों को अंगीकार कर लेना पड़ता है। यद्यपि ये सब कच्चे ब्राह्मणों के लक्षण हैं, फिर भी जो ऐसा महसूस करें कि उनमें ऐसी कच्चाई या कमी है तो उन्हें किसी भी दशा में दान नहीं लेना चाहिए। बल्कि यज्ञ कराके या पढ़ाके उसके पुरस्कार या दक्षिणा रूप में धन ग्रहण करना चाहिए। परन्तु यह भी हो सकता है कि इसमें भी परा-लम्बन या दीनता का अनुभव किसी को हो। विद्यादान के बदले में धन लेना, या पुरोहिती या अन्य शुभ कर्म के विधान के एवज में दक्षिणा लेना किसीको अच्छा न लगे तो उसे चाहिए कि वह शिलोञ्छवृत्ति से जीविका-निर्वाह करे। खेत में राह में पड़े हुए अनाज को, जो एक प्रकार से उसके स्वामी द्वारा त्यक्त किया गया है, बीनकर उसपर निर्वाह करना शिलोञ्छवृत्ति कहलाता है। ब्राह्मण के लिए

ऐसा ही कड़ा नियम रखना आवश्यक है। तभी उसका तप, तेज, यश सुरक्षित रह सकता है।

"यह अति दुर्लभ ब्राह्म-शरीर क्षुद्र विषय-भोगों के लिए नहीं है, यह तो जीवन-पर्यन्त कठिन तपस्या और अन्त में अनन्त आनन्दरूप मोक्ष का सम्पादन करने के लिए ही है।" ॥४२॥

क्योंकि यह ब्राह्मण शरीर ऊधो, क्षुद्र विषय-भोगों के लिए नहीं है। इसका तो बहुत ऊंचा उद्देश्य है। आजीवन कठोर तपोमय जीवन ही ब्राह्मण का भूषण है। इससे तप के द्वारा अन्त में उसे ठेठ मोक्ष, ब्रह्म-स्थिति तक पहुंचना है, जहां जाकर मनुष्य अनन्त सुख का भागी होता है।

"इस प्रकार जो ब्राह्मण सन्तोषपूर्वक शिलोञ्छवृत्ति से रहकर अपने अति निर्मल महान् धर्म का निष्कामता से आचरण करता है वह सर्वतोभाव से मुझे आत्मसमर्पण करके अनासक्तिपूर्वक अपने घर में ही रहता हुआ अन्त में परम शान्तिरूप मोक्षपद प्राप्त कर लेता है।" ॥४३॥

जो ब्राह्मण इस प्रकार शिलोञ्छवृत्ति से पेट पालते हुए सदा सन्तुष्ट रहता है, व सदैव निष्काम-भाव से अपने धर्माचरण में लगा रहता है वह भले ही अपने घर में क्यों न रहे गृहस्थी के सब काम-काज क्यों न करता रहे, वह अवश्य परम शान्ति रूपी मोक्ष-पद को पा जाता है; क्योंकि इन सब कामों में लगे रहते हुए भी उसकी आत्मा मुझे ही समर्पित रहती है। इससे वह संसार के सब पदार्थों व बातों में अनासक्त-भाव से रहता है। घर और वन, एकान्त व बहुजन-समाज ये तो केवल साधन या निमित्त-मात्र हैं। यदि भीतर से मन शुद्ध, दृढ़ व एकाग्र है तो ये बाहरी स्थितियां गौण हैं, इनको अधिक महत्व नहीं देना चाहिए। यदि भीतर का प्रकाश स्वच्छ व सतत है तो ऊपर का लट्टू छोटा हो या बड़ा; हवा को रोकने के लिए काफी हो जाता है।

"जो कोई ऐसे आपत्तिग्रस्त भक्त ब्राह्मण को कष्ट से निकालते हैं, उन्हें मैं भी समस्त विपत्तियों से बचा लेता हूं जैसे कि समुद्र में डूबते हुए पुरुष को नौका बचा लेती है।" ॥४४॥

ऊधो, ऐसे विप्रों की मुझे बड़ी चिन्ता रहती है। इनको कष्ट में देखकर जो पुरुष इनकी सहायता करते हैं व उन्हें कष्ट से छुड़ा लेते हैं, उन्हें मैं कभी नहीं भूलता। उसका मैं अच्छा बदला उन्हें देता हूं। मैं भी उन्हें समस्त विपत्तियों से

बचा लेता हूं। ठीक उसी तरह जिस तरह नाव समुद्र से पार कर देती है। मेरे इस आश्वासन के बाद न तो विप्र को संकट से घबराना चाहिए, न उनकी सहायता करनेवालों को कोई खटका रहना चाहिए।

"विचारवान् राजा को चाहिए कि पिता के समान सम्पूर्ण प्रजा की और स्वयं अपनी भी इसी प्रकार आपत्ति से रक्षा करे जिस प्रकार कि यूथपति गजराज अपने-आपको भी (अपनी ही बुद्धि और बलविक्रम से) विपत्तियों से बचा लेता है।" ॥४५॥

अब तुम क्षत्रियों के धर्म सुनो। प्रजा के रक्षण का भार उनपर होने से राज्य की जिम्मेवारी उन्हींकी है। अतः मैं उन्हें राजा व राजवर्ग ही सम्बोधित करूंगा। जो विचारशील राजा हो उसे उचित है कि वह पिता की तरह अपनी प्रजा की व खुद अपनी भी रक्षा में सदैव तत्पर रहे। सब प्रकार की दैहिक, दैविक व भौतिक आपत्तियों से प्रजा को बचावे। पिता अपनेको संकट में डालकर भी, प्राण देकर भी, संतति का रक्षण व पालन-पोषण करता है, इसी तरह राजा प्रजा का भरण-पोषण करावे। देखो यूथपति गजराज अवसर पड़ने पर दूसरे गजों की भी रक्षा अपने बुद्धिबल व विक्रम से कर लेता है और खुद भी अपनेको बचा लेता है, वैसे ही अपनी प्रजा के प्रति राजा का भी कर्तव्य है।

"ऐसा (धर्मपरायण) राजा इस लोक में सम्पूर्ण दोषों से मुक्त होकर अन्त समय सूर्य सदृश प्रकाशमान विमान पर बैठकर स्वर्गलोक को जाता है और वहां इन्द्र के साथ सुख भोगता है।" ॥४६॥

ऐसा राजा केवल संसार में ही प्रजा का प्यारा नहीं होता; बल्कि मरते समय सूर्य के जैसे प्रकाशमय विमान पर चढ़कर स्वर्गलोक को जाता है। वहां इन्द्र के साथ रहकर वह तरह-तरह के सुख भोगता है। उसकी इस महान् सेवा से इस लोक के उसके ऐसे-वैसे दोष धुल जाते हैं। प्रजागण उन्हें भूल जाते हैं और मैं भी उनका दंश हल्का कर देता हूं। जहां बिच्छू के काटने की जरूरत थी वहां चींटी ही काटकर रह जाती है, ऐसा समझो।

"जिस ब्राह्मण को अर्थ-कष्ट हो वह वैश्यवृत्ति द्वारा व्यापार आदि से उसको पार करे और यदि फिर भी आपत्तिग्रस्त रहे तो खड्ग धारण कर क्षत्रियवृत्ति का अवलम्बन करे किन्तु किसी भी दशा में नीच सेवारूप श्वानवृत्ति का आश्रय न ले।" ॥४७॥

वैसे तो दूसरे लोगों का कर्तव्य है कि ब्राह्मण को कष्ट में न पड़ने दें, परन्तु यदि कोई सहायता स्वेच्छापूर्वक न करे तो उसे चाहिए कि वह व्यापार, वाणिज्य करके या भले ही क्षत्रिय-कर्म द्वारा जीविका प्राप्त कर ले। परन्तु किसी भी दशा में वह नीच नौकरी या सेवा-रूपी श्वान-वृत्ति का आश्रय न ले। यह आपद्धर्म है ऐसा समझा जाय।

"क्षत्रिय को यदि दारिद्रय से कष्ट हो तो वह वैश्यवृत्ति से, मृगया (शिकार) से अथवा ब्राह्मणवृत्ति (पढ़ाने) से निर्वाह करे, किन्तु नीच सेवा-वृत्ति का आश्रय न ले।" ॥४८॥

"इसी प्रकार आपत्तिग्रस्त वैश्य शूद्र-वृत्तिरूप सेवा का और शूद्र (उच्चवर्ण की स्त्री में नीच वर्ण के पुरुष से उत्पन्न) 'कारू' नामक प्रतिलोम जाति की चटाई बुनाई आदि वृत्तियों का आश्रय ले। (ये सब विधान आपत्काल के लिए ही हैं।) आपत्ति से मुक्त होने पर अपने लिए निन्द्य निम्न वर्णोचित कर्म से जीविका प्राप्त करने का लोभ न करे।" ॥४९॥

इन तीनों वर्णों के लिए ये आपद्धर्म बताये हैं। श्वान-वृत्ति सबके लिए निन्दनीय है। ब्राह्मण भले ही क्षत्रिय या वैश्य की वृत्ति से, क्षत्रिय वैश्य-वृत्ति से, वैश्य चटाई आदि बनाकर शूद्र-वृत्ति से पेट भरले, परन्तु नीच नौकरी का आश्रय कभी न ले, क्योंकि जो उदर-पालन के लिए किसीकी नौकरी करेगा उसकी स्वतंत्रता, स्वावलम्बन, तेजस्विता, सब नष्ट हो जायगा।

"गृहस्थ पुरुष को चाहिए कि वेदाध्ययन (ब्रह्मयज्ञ), स्वधाकार (पितृ-यज्ञ), स्वाहाकार (देव-यज्ञ), बलिवैश्वदेव (भूतयज्ञ), तथा अन्नदान (अतिथियज्ञ) आदि के द्वारा मेरे ही रूप ऋषि, देव, पितर, (मनुष्य) एवं अन्य समस्त प्राणियों की यथाशक्ति नित्य पूजा करता रहे।" ॥५०॥

गृहस्थों का एक परमधर्म है। वह पांच प्रकार के लोगों का सदैव ऋणी होता है। १. ब्राह्मण अर्थात् गुरु वर्ग का, २. पितरों का, ३. देवताओं का, ४. भूतप्राणियों का व ५. उन व्यक्तियों का जिनसे उसे समय-असमय सहायता मिली है। इन पांचों के उपकार से उसे उऋण होना है। इसका उपाय बताता हूं। वेदाध्ययन अर्थात् स्वाध्याय करके व स्वाध्याय के लिए दूसरों को प्रोत्साहन देकर वह ब्रह्मयज्ञ करे। गुरु-गृह में जो उसने विद्योपार्जन किया है उसका बदला समाज को इस प्रकार दे। 'स्वधा' के द्वारा अर्थात् गरीबों व अनाथों को भोजन-वस्त्र आदि

देकर पितृ ऋण से उऋण हो। माता-पिताओं आदि बड़ों के उपकार का बदला इस प्रकार चुकावे। उनकी स्मृति में पाठशाला, अन्नसत्र, कुएं, बावली, तालाब, धर्मशाला, पुस्तकालय, वाचनालय आदि खुलवावे। 'स्वाहा' के द्वारा अर्थात् पानी, सिंचाई, नहर, नाव, पुष्प-वाटिका, आदि के द्वारा 'देवयज्ञ' करे। बलि वैश्वदेव के द्वारा अर्थात् पशु-पक्षियों, चींटियों की रक्षा, व पदार्थ-मात्र का सदुपयोग समाज की सेवा में करने के आयोजनों द्वारा भूतयज्ञ करे। फिर अन्नदान अर्थात् अतिथि-सत्कार या भूखों के लिए सदावर्त या अन्य अच्छे आयोजन करके (जैसे कताई आदि के द्वारा) अतिथि-यज्ञ करे। यह समझे कि ये जो देव, ऋषि, पितृ, मनुष्य, पशु-पक्षी आदि हैं वे सब मेरे ही रूप हैं। इनके द्वारा वह मेरी ही पूजा करता है। इस भावना से, गृहस्थ नित्य इन समस्त प्राणियों की पूजा द्वारा मेरी पूजा किया करे।

"स्वयं बिना उद्यम के प्राप्त अथवा शुद्ध वृत्ति के द्वारा उपार्जित धन से, अपने द्वारा जिनका भरण-पोषण होता हो उन लोगों को कष्ट न पहुंचाकर, न्यायपूर्वक यज्ञादि शुभ कर्म करता रहे।" ॥५१॥

इसके सिवा इस बात का गृहस्थ सदैव ध्यान रखे कि वह बिना उद्यम के प्राप्त किसी वस्तु को ग्रहण न करे। वही धन ग्रहण करे जो शुद्ध-वृत्ति से उपार्जन किया गया हो। फिर जिनका भरण-पोषण अपने द्वारा होता हो उनको कष्ट पहुंचाकर वह प्राप्त न किया हो। सर्वदा न्याय-पूर्वक समाज व संसार में रहे तथा सदैव यज्ञ, शुभ कर्म करता रहे।

"अपने कुटुम्ब में ही आसक्त न हो जाय; बड़ा कुटुम्बी होने पर भी भगवद्-भजन में प्रमाद न करे। बुद्धिमान् विवेकी को उचित है कि दृश्यमान प्रपंच के समान अदृश्य स्वर्गादि को भी नाशवान् जाने।" ॥५२॥

उसके लिए इतना ही काफी नहीं है, बल्कि खुद अपने कुटुम्ब में ही आसक्त न हो। केवल कर्त्तव्य व जिम्मेदारी समझकर सब कुटुम्बियों के प्रति अपना व्यवहार रखे। उनके माया-मोह में न फंसे, जिससे समाज व धर्म-सम्बन्धी कर्त्तव्यों में बाधा न पड़े। कुटुम्ब बड़ा हो तो भी कभी भगवद्भजन में, भगवान् के कार्यों में, समाज व जगत् की सेवा में शिथिलता या सुस्ती न करे। स्वर्ग की लालसा न रखे। यह समझे कि जैसे यह दृश्यमान प्रबन्ध अर्थात् संसार नश्वर है वैसे ही स्वर्ग अर्थात् स्वर्ग के सुख या भोग भी नश्वर हैं। वह तो परमात्मा के दर्शन या मुक्ति

की ही अभिलाषा रखे।

"यह पुत्र, स्त्री और कुटुम्बादि का संयोग (प्याऊ पर इकट्ठे हुए) पथिकों के संयोग के समान (आगमापायी) है। ये सब सम्बन्धी अपने शरीर के साथ ही छूट जाते हैं, जैसे स्वप्न केवल निद्रा की समाप्ति तक ही रहता है।" ॥५३॥

कुटुम्बियों के मोह में न फंसने का एक उपाय यह है कि उनका अर्थात् स्त्री, पुत्र आदि का संयोग उन मनुष्यों या राहगीरों की भीड़-सा समझे जो प्याऊ पर पानी पीने के लिए आ जुटते हैं। प्याऊ चालू रहती है, पर पथिक आते-जाते रहते हैं। ऐसा ही कुटुम्ब है। इसमें हमारे साथी समझे जानेवाले मुसाफिर ही हैं जो आते-जाते रहते हैं। जबतक हमारा शरीर है तबतक उनसे थोड़ी देर का नाता है; फिर आप मरे व जग डूबा, सबका नाता टूटा। स्वप्न की तरह ही इनका हाल है। नींद की समाप्ति तक जैसे स्वप्न रहता है वैसे ही शरीर की समाप्ति तक यह कुटुम्ब रहता है। फिर इसका माया-मोह मनुष्य क्यों रखे ? इस ज्ञान या धारणा से गृहस्थ को कुटुम्ब में अनासक्ति रखने व बढ़ाने में अच्छी सहायता मिलेगी।

"ऐसा विचार कर मुमुक्षु पुरुषों को चाहिए कि घरों में अतिथि के समान ममता और अहंकार से रहित होकर रहें, आसक्तिवश उनमें लिप्त न हो जायं।" ॥५४॥

ऐसा सोचकर मुमुक्षु गृहस्थी को चाहिए कि वह घर में अपनेको अतिथि ही मानकर रहे। कुटुम्बियों के प्रति सारी ममता, अपने बड़े होने का, या कुटुम्बियों को अपने से भिन्न समझने का अहंकार त्याग दे। शरीर-सम्बन्धी अहंकार भी छोड़ दे। वह सदा इस बात में सावधान रहे कि कहीं उनकी मोह-माया के वश में न हो जाय। अतिथि की निगाह जैसे आगे जाने पर लगी रहती है वैसे ही गृहस्थ कुटुम्ब व गृह को चन्द दिन का बसेरा समझे व सदैव आगे के कार्यक्रम का ही ध्यान रखे।

"गृहस्थोचित कर्मों के द्वारा मेरा ही पूजन करता हुआ मेरी भक्ति से युक्त होकर चाहे घर में रहे, चाहे वानप्रस्थ होकर वन में बसे अथवा यदि पुत्रवान् हो तो (स्त्री के पालन-पोषण का भार पुत्र को सौंपकर) संन्यास ले ले।" ॥५५॥

वह यह समझे कि जितने भी गृहोचित कर्म हैं, उनके द्वारा वह मेरा ही पूजन कर रहा है। इस पूजा-भाव से ही वह गृहस्थ-जीवन बितावे, मेरी भक्ति से कभी विरत या विलग न हो। गृहस्थ-जीवन की मर्यादा पूरी होने के बाद चाहे तो वह

वन में जाकर बस जाय, वानप्रस्थाश्रम स्वीकार करले, अथवा पुत्र हो तो संन्यास ले ले। घर-गृहस्थी का भार पुत्र पर सौंप दे। मतलब यह है कि एक अवस्था या अवधि के बाद गृहस्थ को गृहस्थ-जीवन छोड़ देना चाहिए व संयम से रहकर जीवन आत्म-साधना या लोक-सेवा में लगाना चाहिए।

"किन्तु जो गृह में आसक्त, पुत्रैषणा और वित्तैषणा से व्याकुल है, स्त्रीलम्पट और मन्दमति है, वह मूढ़ 'मैं हूं—मेरा है,' इस मोहबन्धन में बंध जाता है।" ॥५६॥

किन्तु इसके विपरीत, जो घर-गिरस्ती के माया-मोह में, नोन, तेल, लकड़ी या निन्यानवे के फेर में पड़ गया है, धन-पुत्र आदि की तृष्णाओं से व्याकुल रहता है, स्त्रीलम्पट है और इन कारणों से जो अपनी मन्द बुद्धि का परिचय देता है, उसे मूर्ख ही समझो। वह 'मैं हूं, मेरा है' इसी चक्कर में पड़ा रहता है व दुःख भोगता है।

"वह सोचता है—अहो, मेरे माता-पिता बूढ़े हैं, स्त्री छोटी अवस्था के बाल-बच्चोंवाली है, ये बच्चे मेरे बिना अति दीन, अनाथ और दुःखी होकर कैसे जीवेंगे।" ॥५७॥

उससे यदि कहा जाय कि भाई अब जवानी उतर गई, घर-गृहस्थी का मोह छोड़कर कुछ परलोक की भी सुध लो, दूसरों के भले का भी कुछ उपाय करो, तो कहता है 'अजी अभी तो बूढ़े मां-बाप घर में हैं, इनकी सेवा कौन करेगा? बच्चा छोटा है, घर-बार कौन संभालेगा? मेरे बिना इन बच्चों का लालन-पालन कौन करेगा? ये दीन-हीन व दुःखी और अनाथ होकर कैसे रहेंगे?'

"इस प्रकार गृहासक्ति से विक्षिप्त चित्त हुआ यह मूढ़ बुद्धि विषय-भोगों से कभी तृप्त न होकर उन्हींका चिन्तन करता हुआ अन्त में एक दिन मरकर घोर अन्धकार में पड़ता है।" ॥५८॥

ऐसी गृहासक्ति से जिसकी अकल मारी जाती है, वह मूढ़बुद्धि, विषय-भोग से कभी तृप्त नहीं हो सकता। दिन-रात उन्हींका चिन्तन करता रहता है और अन्त में मौत आजाती है तब जाकर अन्धकार में पड़ जाता है।

उद्धव, यह जो कुछ भी मैंने तुम्हें समझाया, उसका मर्म यह है कि भक्तिमार्ग कोई मेरी वैयक्तिक पूजा-अर्चा में ही समाप्त नहीं हो जाता है। समाज-धर्म की उसमें उपेक्षा नहीं है। इतना ही नहीं, बल्कि समाज-धर्म की रक्षा के ही लिए

वर्णव्यवस्था बनाई गई है।[1] व मेरे प्रत्येक कथन को उसके पालन करने का ग्रादेश दिया गया है। न भक्ति-मार्ग संकुचित या एकांगी है न वर्णव्यवस्था जात-पांत की जकड़-बंदी है। मेरे इतने विवेचन के बाद किसीके भी मन में इस विषय में सन्देह नहीं रह सकता कि ये दोनों उपाय सार्वभौम-सार्वदेशिक हैं।

[1]यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं पुंसो वर्णाभिव्यञ्जकम्।
तदन्यत्रापि दृश्येत तत्तेनैव विनिर्दिशेत्॥

—भागवत ७।१२।३५

—जिस पुरुष के वर्ण को प्रकट करनेवाला जो लक्षण बताया गया है, वह यदि ग्रन्य वर्णवालों में भी मिले तो उसे भी उसी वर्ण का समझना चाहिए।

: १८ :

वानप्रस्थ और संन्यास

[इसमें ज्ञान, कर्म और भक्ति की एकता बतलाई गई है। ज्ञानियों, अनुभवियों और जीवनमुक्तों ने यह बताया है और वेद-शास्त्रों ने इसे पुष्ट किया है कि ईश्वर सत्य है, जगत् मिथ्या है व जीव तथा ईश्वर दोनों एक हैं—जगत् भी ईश्वर का ही प्रत्यक्ष रूप, संकल्प, स्पन्द, कम्पन, तरंग, प्रतिबिम्ब, आदि है। इस ऐक्य—ज्ञान या भाव से ईश्वर की प्राप्ति होती है, जिससे मनुष्य के यावत् दुःख मिट जाते हैं और वह अखण्ड सुख-शान्ति व मुक्ति का अधिकारी हो जाता है। इस मूल ज्ञान या आशय के अनुकूल जो-कुछ हो वह सत्य, ग्राह्य तथा इसके प्रतिकूल जो-कुछ हो वह त्याज्य या अग्राह्य समझना चाहिए। ऐक्य-ज्ञान, ऐक्य-मार्ग, ऐक्य-भाव—भक्ति-मार्ग है। इस उद्देश्य से कर्म करना कर्म-मार्ग है, योग-साधना योगमार्ग है और अपने-आपको भगवान् पर छोड़ देना भक्ति-मार्ग है।]

"श्री भगवान् बोले—हे उद्धव, जो वन में (वानप्रस्थ आश्रम में) प्रविष्ट होना चाहे, वह अपनी स्त्री को पुत्रों के पास छोड़कर अथवा अपने ही साथ रखकर शांतचित्त से अपनी आयु के तीसरे भाग को वन में रहकर ही बितावे।"॥१॥

अब तुम वानप्रस्थियों का आचार-धर्म सुनो—गृहस्थाश्रम में मनुष्य की वृत्तियां भोग में व मोह में फंसी ही रहती हैं। उनसे छुड़ाने का उपाय वानप्रस्थ है। जबतक घर से दूर जाकर एकांत में न रहे तबतक सहसा इन आसक्तियों से छूटना कठिन है, परन्तु जिन्होंने गृहस्थ-जीवन में भी संयम पर ध्यान दिया है उनके लिए बिल्कुल असंभव हो सो भी नहीं है। ऐसे व्यक्ति अपने घर के ही किसी हिस्से में एकांत-सेवन व संयम साधना कर सकते हैं। मैं कई बार कह चुका हूं कि बाह्य आचार व विधि-विधान, आंतरिक साधना, मन को साधने के लिए है। यदि घर में रहकर मन विषयों से दूर रह सके तो वन में जाने व रहने की कोई ज़रूरत

नहीं है। परन्तु जिन्हें वन में जाने की ज़रूरत या इच्छा है, वे चाहें तो अपनी पत्नी को साथ ले जायं। यदि पत्नी की तैयारी न हो व पति को भी असुविधा हो तो उसे पुत्र के पास ही घर पर रहने दें। जबतक मन शांत, स्थिर, शुद्ध, सम न हो जाय तबतक वह वन में ही रहकर साधना करता रहे।

"वह वन के शुद्ध कन्द, मूल और फलों से ही शरीर-निर्वाह करे, वल्कलवस्त्र धारण करे, अथवा तृण पत्ते और मृगचर्मादि से काम निकाल ले।" ॥२॥

"केश, रोम, नख और श्मश्रु (मूंछ-दाढ़ी) रूप शारीरिक मल को धारण किये रहे (क्षौर न करावे), दन्तधावन न करे, जल में घुसकर नित्य त्रिकाल स्नान करे और पृथिवी पर सोवे।" ॥३॥

"ग्रीष्म में पंचाग्नि तपे, वर्षाऋतु में बरसती हुई धारा का आघात सहते हुए अभ्रावकाश नामक व्रत का पालन करे, तथा शरद् ऋतु में कण्ठपर्यन्त जल में डूबा रहे—इस प्रकार घोर तपस्या करे।" ॥४॥

"अग्नि से पके हुए (अन्न आदि) को ओखली में अथवा पत्थर से कूटकर या दांतों से पीसकर खा ले।" ॥५॥

"अपने उदर-पोषण के साधनभूत कन्दमूलादि स्वयं ही संग्रह करके लावे। देश, काल और बल को भली-भांति जाननेवाला मुनि अन्य समय लाये हुए पदार्थ का ग्रहण न करे।" ॥६॥

"वन्य कन्द-मूलादि से बनाये हुए चरु-पुरोडाशादि से ही समयोचित आग्रयणादि कर्म करे। वानप्रस्थ हो जाने पर वेद-विहित पशुओं द्वारा मेरा यजन न करे।" ॥७॥

"हां, वेदवेत्ताओं ने अग्निहोत्र, दर्श, पौर्णमास और चातुर्मास्यादि का तो मुनि के लिए पहले ही के समान निरूपण किया है।" ॥८॥

अपने संयम व तप को बढ़ाने के लिए पूर्वोक्त नियमों व व्रतों का पालन करता रहे।

"इस प्रकार घोर तपस्या के कारण (मांस सूख जाने से) जिसकी शिराएं (नसें) दीखने लगी हों वह मुनि मुझ तपोमय की आराधना करके ऋषिलोक आदि में जाकर फिर वहां से कालान्तर में मुझको प्राप्त कर लेता है।" ॥९॥

इस प्रकार घोर तप से उसके शरीर का मांस सूख जाता है व बदन की नसें दीखने लगती हैं, यह मेरे तपोमय रूप की आराधना है। इसके फलस्वरूप वह

पहले ऋषि लोकादि में जाता है, वहां से फिर समय पाकर वह मुझको प्राप्त कर लेता है।

ऋषि मेरे मुख्य प्राण का एक रूप है। पहले इसकी चर्चा हो चुकी है, उसे तुम भूले न होगे।

"जो कोई इस अति कष्टसाध्य मोक्ष फलदायक तप को क्षुद्र फलों (स्वर्ग-लोक, ब्रह्मलोक आदि) की कामना से करता है उससे बढ़कर मूर्ख और कौन होगा ?" ॥१०॥

परन्तु यदि कोई ऐसा घोर तप, कष्टदायक साधना किसी क्षुद्र फल, जैसे स्वर्गलोक आदि, की कामना से करता है तो उससे बढ़कर मूर्ख कौन हो सकता है? यह तो हीरा-मोती के बदले में गाजर, मूली मांगने जैसा ही हुआ।

"वानप्रस्थी जिस समय अपने आश्रम के नियमों का पालन करने में असमर्थ हो जाय और इसका शरीर वृद्धावस्था के कारण कांपने लगे तो अग्नि को (भावना द्वारा) अपने अन्तःकरण में आरोपित कर मेरा स्मरण करता हुआ उसमें प्रवेश कर जाय। (यह विधान अविरक्त के लिए है)।" ॥११॥

यदि बुढ़ापे आदि के कारण घोर तप न हो सके, या अपने आश्रमादि के नियमों का पालन न हो सके तो वानप्रस्थी को चाहिए कि वह अपने हृदय में मान-सिक अग्नि चेताकर उसीसे तप-साधना करे, अर्थात् मन में अग्नि की भावना करे, उसीमें तपे। फिर मेरा स्मरण करते हुए ऐसी कल्पना करे जैसे वह उस आग में प्रवेश कर रहा है। लेकिन यह विधान उस व्यक्ति के लिए है, जो अविरक्त हो।

"और यदि अपने कामों के फलस्वरूप इन नरकतुल्य लोकों में उसको पूर्ण वैराग्य हो जाय तो आहवनीय आदि अग्नियों को त्यागकर संन्यासी हो जाय।" ॥१२॥

परन्तु यदि अपने कर्म-फल-रूप में उसे इन नरक-तुल्य लोकों से विरक्ति हो जाय, इनकी चाह उसके मन से निकल जाय तो फिर उसे इन आहवनीय आदि अग्नि की ज़रूरत नहीं है। वह इन सबको त्यागकर संन्यासी हो जाय। अर्थात् वैराग्य होने के बाद फिर अग्नि द्वारा तप साधन की ज़रूरत नहीं है। तप वैराग्य का साधन है। वैराग्य होने पर वह संन्यास का अधिकारी हो जाता है, क्योंकि यदि इस लोक में या परलोक में कुछ भी भोग की अभिलाषा बाकी है तो फिर संन्यास एक विडम्बना-मात्र होगा।

"ऐसे विरक्त वानप्रस्थ को चाहिए कि वेद-विधि के अनुसार (अष्टकाश्राद्ध-पूर्वक प्राजापत्य यज्ञ से) मेरा यजन करके अपना सर्वस्व ऋत्विक् को दे दे और अग्नियों को अपने प्राण में लीन करके निरपेक्ष होकर स्वच्छन्द विचरे।" ॥१३॥

जब वानप्रस्थी को इतना विराग पैदा हो जाय तो वह वेद-विधि के अनुसार अर्थात् अष्टकाश्राद्धपूर्वक प्रजापत्य यज्ञ से मेरा यजन करके अपना सर्वस्व, अपने पास जो कुछ हो सब ऋत्विक् को दे दे और अग्नियों को अपने प्राण में लीन करके अर्थात् प्राणमय अग्नि को जाग्रत करके किसी बात की चाह व चिन्ता मन में न रखते हुए स्वच्छन्द विचरण करे। अब यह संन्यासी हो गया।

"इस विचार से कि यह हमारे लोक को लांघकर परमधाम को जायगा, देवगण स्त्री आदि का रूप धारणकर ब्राह्मण के संन्यास लेते समय विघ्न किया करते हैं (अतः उस समय सावधान रहना चाहिए)।" ॥१४॥

जहां किसीको देखा कि वह स्वर्ग-लोक आदि की परवाह नहीं करता तो देवता फौरन चौंकते हैं कि यह हमारे लोकों को लांघकर परम पद को प्राप्त करेगा, तो वे उसके मार्ग में कठिनाइयां व बाधा उपस्थित करते हैं। स्त्री आदि का रूप धारण करके वे उसे ललचाते व डिगाने का यत्न करते हैं। संन्यास लेते समय मनुष्य के मन में अपने रहे-सहे भोग-संस्कारों की जागृति होती है। जब घर छोड़कर कहीं बाहर जाते हैं तो जैसे बाल-बच्चों की याद आती है व उनका ध्यान खो देने में कष्ट अनुभव होता है वैसे ही संन्यासाश्रम के समय मन की दशा होती है। आज से संसार का सब नाता, सब मोह-बन्धन टूटे। एक नई जीवन-यात्रा आरम्भ हुई। ऐसे अवसर पर घर, संस्था या समाज के लोगों की मुखाकृतियां मन के सामने आ-आकर अपना प्रभाव डालें तो आश्चर्य नहीं है। ऐसे समय में सावधान रहकर मन को अच्छी तरह वश में रखे रहना चाहिए।

"यति को यदि वस्त्र धारण करने की आवश्यकता हो तो एक कौपीन और जिससे कौपीन ढंक जाय ऐसा एक और वस्त्र रक्खे और आपत्काल को छोड़कर दण्ड तथा कमण्डलु के अतिरिक्त और कोई वस्तु पास न रक्खे।" ॥१५॥

ऊधो, यह संन्यास अन्तिम आश्रम है। यह त्याग की चरम सीमा है। तप इसमें साधना नहीं रह जाता, बल्कि स्वाभाविक जीवन ही बन जाता है। इसके नियम व वृत्तियों पर ध्यान दोगे तो यह बात झट समझ में आ जायगी। देखो, यति को यदि वसन की आवश्यकता हो तो वह एक लंगोटी ही रखे। अधिक-से-

अधिक एक ऐसा वस्त्र और रखले जिससे कौपीन भी ढक जाय। और वस्तुओं की जगह वह दण्ड व कमण्डलु ही रखे, इससे अधिक कुछ नहीं। बीमारी आदि आपत् काल में इस नियम को कुछ ढीला किया जा सकता है।

सच पूछो तो प्रकृति ने मनुष्य को ऐसा सर्वांगपूर्ण बनाया है कि उसे किसी बाहरी साधन की ज़रूरत अपनी रक्षा व आवश्यकता-पूर्ति के लिए नहीं है। जिन अंगों की रक्षा अधिक सावधानी से करनी है, उनपर प्रकृति ने खूब रोम उपजाये हैं। यों सारा शरीर ही रोमाच्छादित है। यह प्रकृति ने अपनी तरफ से शरीर को कपड़े ही पहनाये हैं। नख, दांत आदि काटने, खाने, पीसने, चबाने के हथियार दे रखे हैं। हाथ का चुल्लू बनाकर पानी पी सकते हैं। हाथ का सिरहाना लेकर सोया जा सकता है। जंगल के कन्द-मूल-फल खाकर व बहते झरनों का हाथ से पानी पी-पीकर खुली हवा से प्राण-शुद्ध वायु ग्रहण करके मनुष्य बड़े मज़े में अपना भरण-पोषण कर सकता है। फिर आकाश में चंदोबे के नीचे, जिसमें प्रकृति ने बड़ी कारीगरी से चांद-सूरज व नक्षत्रों के चलते-फिरते दिव्य फूल टांके हैं, व प्रकृति की हरी-भरी दूब व घास की मखमल-जैसी मुलायम फर्श-रूपी गोद में बड़े मज़े से आराम ले व सो सकता है। परन्तु मनुष्य की कुछ सामाजिक आवश्यकताओं ने व अधिकांश में संस्कृति या सभ्यता के मोह ने उसे प्रकृति के स्नेह व लालन-पालन से बहुत बिछुड़ा दिया है। संन्यास-जीवन बाह्यतः फिर से प्रकृति में लीन हो जाने का, व अन्ततः परब्रह्म में लीन हो जाने का जीवन है।

"पृथिवी को देखकर पैर रखे, वस्त्र से छानकर जल पिये, सत्य भाषण करे और मन में भली-भांति विचारकर कोई काम करे।" ॥१६॥

संन्यासी का सारा जीवन ही स्वभाव-सिद्ध होना चाहिए। आंख का काम भला-बुरा देखकर चलना है, अतः संन्यासी को उचित है कि वह अच्छी तरह देख-भालकर आगे कदम रखे। चारों ओर व खासकर जिधर कदम उठाना हो उधर देख ले कि नीचे कोई कीड़ी, कांटा या गन्दी जगह तो नहीं है। इसी तरह पानी हमेशा छानकर पिये, जिससे न तो गन्दा पानी पेट में जाय न कीड़े-मकोड़े आदि जन्तु ही पेट में चले जायं, जो बोले, मुंह से जो-कुछ निकले वह सत्य से पवित्र किया हुआ शब्द होना चाहिए। जो वाणी सत्य होती है वही पवित्र समझी जाती है। जो वस्तु पवित्र होती है उससे सबका कल्याण होता है। असत्य बोलने की अपेक्षा जहां बोलना अनिवार्य न हो वहां मौन रह जाना अच्छा है। सत्य बोलने का अर्थ

उद्दण्डता व घमण्ड-भरी बात कहना नहीं है। दूसरों पर वज्रपात हो, ऐसी भी भाषा न हो। आशय सत्य होना चाहिए। एक ही सत्य आशय की भाषा जुदा-जुदा हो सकती है। अतः अपने सत्य आशय को प्रकट करने के लिए सदा मृदु व मधुर भाषा का प्रयोग करना चाहिए। भाषा बाहरी वस्तु है, अतः बाहरी समाज की अवस्था देखकर इसका प्रयोग करना उचित है। एक ही आशय बच्चे को एक भाषा में कहा जाता है, बड़ों को दूसरी भाषा में, माता को तीसरी भाषा में व पत्नी को चौथी भाषा में। सत्य, पवित्रता का सम्बन्ध आशय, हेतु से है; भाषा उसे अन्यथा न प्रकट करे; परन्तु वह ऐसी अवश्य होनी चाहिए जो दूसरों को रुचिकर हो, स्वागत-योग्य हो, वे उसे प्रीति से सुनने व समझने का प्रयत्न करें।

इसी तरह मन को जो शुभ व पवित्र मालूम हो वैसा आचरण करे। संन्यासी हो जाने पर अब उसे दूसरों के वचनों पर चलने की आवश्यकता नहीं रही। अब उसका मन इतना शुद्ध, स्थिर व बुद्धि इतनी परिपक्व हो चुकी होती है कि वह उन पर आधार रखकर व्यवहार कर सकता है। अन्तःकरण जिस बात की गवाही दे, मनोदेवता जिस बात की प्रेरणा करे, अन्त में जैसी आज्ञा व आदेश दे उसके अनुसार ही वह चले। जब मन शुद्ध हो जाता है तो उसमें जो प्रेरणाएं उठती हैं, वे व्यक्ति या समाज के लिए हितकर ही होती हैं, यह श्रद्धा रखकर संन्यासी चले। हां, इतना अवश्य देखता रहे कि मन उसे धोखा तो नहीं दे रहा है। इसकी कसौटी यह है कि वह भोग, सुख-सुविधा की तरफ तो नहीं ढुलक रहा है। जहां ऐसा सन्देह हो वहां फौरन ही उसकी रास खींच ले।

"मौनरूप वाणी का दण्ड, निष्क्रियतारूप शरीर का दण्ड और प्राणायामरूप मन का दण्ड—ये तीनों दण्ड जिसके पास नहीं हैं, वह केवल बांस का दण्ड लेने से (त्रिदण्डी) संन्यासी नहीं हो सकता।" ॥१७॥

संन्यासी बांस या पलाश आदि का दण्ड तो रखता है, परन्तु वह उसका वास्तविक दण्ड नहीं है। कोरे बांस आदि का दण्ड रखने से ही कोई संन्यासी नहीं कहला सकता। यह तो बाहरी चिह्न है। कुछ भीतरी गुणों का प्रतीक मात्र है। उसका सच्चा दण्ड तो इस प्रकार है—वाणी का दण्ड है मौन, शरीर का है निरिच्छा व निस्पृहता, प्राणायाम मन का दण्ड है।

"(जाति च्युत अथवा गोघातक आदि) पतित लोगों को छोड़कर चारों वर्णों की भिक्षा करे। अनिश्चित सात घरों में मांगे। उनसे जो कुछ मिल जाय उससे ही

सन्तुष्ट रहे।" ॥१८॥

वह भिक्षा पर अपना निर्वाह करे। चारों वर्णों के यहां भिक्षा मांग सकता है। पतितों के घरों से भिक्षा न ले। पतितों से मतलब यहां समाज से बहिष्कृत, देश-द्रोही या घातक जैसे व्यक्तियों से है। सात घर भी पहले से निश्चित किये हुए न हों। मुद्दा यह है कि अकस्मात् किसीके घर जाकर जो-कुछ अपने-आप पकी चीज़ें मिल जायं, वे ही ग्रहण करे। ऐसा नियम रखने से किसीको संन्यासी के लिए विशेष आयोजन या व्यवस्था न करनी होगी व संन्यासी भी मिष्ठान्न आदि इच्छित वस्तु खाने के लोभ से बच जायगा।

"बस्ती के बाहर जलाशय पर जाकर जल छिड़ककर स्थलशुद्धि करे और (समय पर यदि कोई और भी आ जाय तो उसको भी) बांटकर बचे हुए सम्पूर्ण अन्न को चुपचाप खा ले। (बचाकर न रखे और न अधिक मांगकर ही लावे)।" ॥१९॥

फिर बस्ती के बाहर किसी जलाशय के किनारे जाय व स्थान को अच्छी तरह झाड़-बुहार व बन सके तो धोकर या पानी छिड़ककर खाने के लिए बैठे। उस समय यदि और कोई भूखा-प्यासा आ जाय तो पहले उसे खिलावे व जो-कुछ बच जाय उस सारे को आप खा ले। खाते समय मौन रहे। न तो कुछ बचाकर ही रखे, न अधिक मांगकर ही लावे।

"अनासक्त, जितेन्द्रिय, आत्माराम, आत्मप्रेमी, धीर और समदर्शी होकर अकेला ही पृथ्वी पर विचरे।" ॥२०॥

अबतक जहां उसने घर-द्वारा में अनासक्ति रखी थी तहां अब वस्तु-मात्र व व्यक्ति-मात्र से आसक्ति छोड़ दे। अपनी सारी इन्द्रियों को वश में रखे। आत्म-चिन्तन में ही सदा मग्न रहे। बल्कि आत्ममय हो रहे। अपने अन्दर व बाहर सभी जगह अपनी आत्मा का ही दर्शन करे। इससे उसकी दृष्टि में सबके प्रति समता आ जायगी। उन्हें अपने जैसा ही समझने लगेगा। फिर वह अकेला रहते हुए भी अपने को अकेला नहीं समझेगा। जो मनुष्य स्वार्थी है वह बहुजन-समाज में रहते हुए भी अकेला है; क्योंकि वह सबको अकेला रखकर केवल अपने ही सुखस्वार्थ को देखता है। परन्तु जो परमार्थी है वह अकेला रहते हुए भी समाज में है; क्योंकि वह सदैव प्राणि-मात्र के सुख व हित में तल्लीन रहता है। पृथ्वी पर कहीं भी वह अकेला रहे तो उसे कोई भय, चिन्ता, दुःख न होगा, न रहेगा।

"मुनि को चाहिए कि निर्जन और निर्भय देश में रहे तथा मेरी भक्ति से निर्मलचित्त होकर अपने आत्मा का मेरे साथ अभेदपूर्वक चिन्तन करे।" ॥२१॥

मुनि को उचित है कि वह ऐसे स्थान का आश्रय करे जो निर्जन हो और जहां किसी प्रकार के विघ्न-बाधा की सम्भावना न हो। वहां रहते हुए मेरे भाव में लीन रहे, जिससे उसका चित्त सदा निर्मल, प्रफुल्ल बना रहे। और जब कभी अपनी आत्मा का ख्याल करे तो उसे मुझसे जुदा न माने, न समझे। सदैव आत्मा के अभेद-भाव का चिन्तन करता रहे।

"ज्ञाननिष्ठा के द्वारा अपने आत्मा के बन्धन और मोक्ष का इस प्रकार विचार करे कि इन्द्रियों की चंचलता ही बन्धन है तथा उनका संयम ही मोक्ष है।" ॥२२॥

सदैव ज्ञाननिष्ठ रहे। ज्ञान के ही विचार व चर्चा में रत रहे। जब कभी सोचे तो आत्मा के ही बन्ध व मोक्ष के विषय में, क्योंकि बन्धन ही दुःख का मूल है। अतः मनुष्यमात्र को चाहिए कि बन्धन से छुटकारा पाने का सदैव प्रयत्न करे। संन्यासी के लिए तो दूसरा कोई कर्तव्य ही शेष नहीं रहता। अतः वह सदैव यही सोचे कि इन्द्रियों की चंचलता ही बन्धन का कारण है और उसका संयम ही मोक्ष का। वह इन्द्रियों के बारे में कभी निश्चिन्त या ग़ाफ़िल न रहे। गर्मियों में घास-पात सूखे दिखने लगते हैं। किन्तु अनुकूल परिस्थिति होते ही उन अदृश्य बीजों व जड़ों ने अपना ज़ोर जमा ही लिया। उसी तरह मनुष्य की वासना या संस्कार ऊपर-ऊपर से कई बार दब गये मालूम होते हैं जिससे साधक या यति समझ लेता है कि अब इनका प्रभाव नहीं पड़ सकता; परन्तु कई बार अनुकूल परिस्थिति पाते ही वे अपना ज़ोर जमाकर उसे पछाड़ देते हैं। अतः इन्द्रियों के वश में हो जाने पर भी उन्हें सदैव उन सब परिस्थितियों से बचते रहना चाहिए, जिनसे संयम का बांध टूटने का अन्देशा हो। जब इन्द्रियां जीवित ही मृतवत् हो जायं, मन ही नहीं, इन्द्रियों की तरफ से ही, शरीर के द्वारा ही, भोग व भोग्य पदार्थों का विरोध होने लगे तब अधिक निश्चिन्तता रखी जा सकती है। सुन्दरी रमणी को देखकर, रुपयों का ढेर सामने होते हुए, प्रशंसा, कीर्ति सुनते हुए कोई भी इन्द्रिय चंचल न हो, उसमें किसी प्रकार की हलचल, संवेदन, विकार न पैदा हो, बल्कि मृतवत् ऐंठने लगे तो समझे कि अब खतरे से बाहर हुए।

"इसलिए मुनि को चाहिए कि छहों इन्द्रियों (मन एवं पंच ज्ञानेन्द्रियां) को जीतकर और समस्त क्षुद्र कामनाओं को छोड़कर अन्तःकरण में परमानन्द का

अनुभव कर निरन्तर मेरी ही भावना करता हुआ स्वच्छन्द विचरे।" ॥२३॥

इसलिए मुनि को चाहिए कि वह छहों इन्द्रियों को—पांच ज्ञानेन्द्रियां व एक मन का, जीत ले। इसका प्रारम्भ समस्त क्षुद्र कामनाओं को जीतने से होता है। जब कामनाएं छोड़ दी जाती हैं तब हृदय परमानन्द का अनुभव करने लगता है, क्योंकि कामनाओं के छूटते ही हृदय का संघर्ष-द्वन्द्व छूट जाता है, जिससे दुःख का अनुभव उसे नहीं होता। फिर केवल आनन्द ही शेष रह जाता है। जिस आनन्द में उतार-चढ़ाव हो वह साधारण व जो स्थिर हो वह परमानन्द कहलाता है। ज्यों-ज्यों कामना छूटने लगे त्यों-त्यों मुनि मेरी अधिकाधिक भावना करे क्योंकि कामनाओं से छूटे मन को कहीं तो लगाना ही होगा। और जगह लगाने से फिर कामनाओं के चक्कर में पड़ जाने का अन्देशा है, अतः मुझमें ही मन लगाया जाय। ज्यों-ज्यों मुझमें मन अधिक लगेगा त्यों-त्यों उसमें ऐसा आनन्द व सुख अनुभव होगा कि बड़ी-बड़ी कामनाएं भी तुच्छ व त्याज्य मालूम पड़ने लगेंगी। उधर मन जाने ही न पायगा। सभी भक्तों व सन्तों का अनुभव यहां मेल रखता है। जिसका मन मुझमें लग गया है, मेरी झलक जिन्हें दिखाई दे गई है वे फिर उसपर इतने लट्टू हो गये हैं कि दूसरी बातों से मन बिल्कुल विरक्त व उदासीन हो गया है। अतः यह परस्पर सहायक चक्कर है। ऐसी वृत्ति से मुनि स्वच्छन्द विचरण करे।

"केवल भिक्षा के लिए ही पुर, ग्राम, गोष्ठ और यात्रियों के समुदाय में जाता हुआ पुण्य देश (तीर्थस्थान आदि) नदी, पर्वत, वन और आश्रमादियुक्त भूखण्ड में विचरता रहे।" ॥२४॥

वह निरीह होकर सारे संसार में घूमे। तब संसार के भेद व लेप से बचा रहेगा। संसार से उसका स्वार्थ यदि हो रहा है तो वह केवल भिक्षा तक ही। इसी निमित्त वह भले ही पुर, ग्राम, गोष्ठ और यात्रि-समुदाय से अपना सम्बन्ध या सम्पर्क रखे। उनकी सेवा या कष्ट-दुःख में न हाथ बंटाने के लिए तो वह सर्वदा प्रस्तुत रहे; परन्तु अपनी सुख-सुविधा की दृष्टि से वह सदैव उनसे दूर रहे। ऐसी वृत्ति बनाकर वह पुण्य देश, नदी, पर्वत, वन, आश्रम, संस्था आदि सभी भूखण्ड में विचरण करे।

"भिक्षा भी अधिकतर वानप्रस्थियों के स्थानों से ही ले, क्योंकि शिलोञ्छ-वृत्ति से प्राप्त हुए अन्न के खाने से बहुत शीघ्र ही शुद्धचित्त और निर्मोह हो जाने से सिद्धि प्राप्त हो जाती है।" ॥२५॥

जहांतक हो सके भिक्षा भी वानप्रस्थियों के स्थानों से ही ले; क्योंकि अन्न-जल का बहुत असर मन की शुद्धि व पवित्रता पर पड़ता है। यह अनुभव से देखा गया है कि जो शिलोञ्छवृत्ति से प्राप्त अन्न पर रहते हैं उनका चित्त बहुत शुद्ध हो जाता है, वे मोह-माया से जल्दी छूट जाते हैं। क्योंकि भिक्षा में ही क्यों न हो, यदि हम किसीसे कुछ लेते हैं, तो उसका लिहाज, मोह, दबाव, असर पड़ता ही है। फिर भिक्षा में सदैव शुद्ध साधन से कमाया, व स्वच्छ, शुद्ध मन से प्रेम-पूर्वक दिया अन्न तो मिलता नहीं है। छली, लम्पटी, कामी, चोर, कपटी, दुर्व्यसनी आदि लोगों का अन्न खाने से मन में इन कुविचारों का उदय हुए बिना नहीं रह सकता। अतः मनुष्य को व खासकर मुनि व यति को ऐसे अशुद्ध अन्न से बचने का प्रयत्न करना ही चाहिए। इस प्रकार चित्त जब शुद्ध व निर्मोह हो जाता है तब परम सिद्धि पाने में देर नहीं लगती।

"इस दृश्य प्रपंच को कभी वास्तविक न समझे, क्योंकि यह नष्ट हो जाता है; इसमें अनासक्त रहकर लौकिक और पारलौकिक समस्त कामनाओं (काम्य कर्मों) से विरक्त हो जाय।" ॥२६॥

फिर इस बात को हृदय में सदा के लिए अंकित करके रख लें कि यह जो दृश्य-प्रपंच—संसार है, यह वास्तविक नहीं है। क्योंकि यह नाशवान् है। इन्द्रिय-जय कर लेने के बाद यह मन एकाग्र होने लगता है व एकाग्रता से तथा मेरे ध्यान से उसकी उत्तरोत्तर शुद्धि होती है। इन दो प्रक्रियाओं के बाद मन वास्तविक सत्य को ग्रहण करने-योग्य स्थिति में आता है। अतः पहले इस दृश्य-जगत् की अवास्तविकता को समझ ले व फिर उसमें आसक्ति न रखे। यदि उसकी बुद्धि को यह बात जंच जायगी तो अपने-आप ही उधर से ध्यान व आसक्ति हटने लगेगी। इस अनासक्ति का फल यह होगा कि लौकिक ही नहीं, अलौकिक विषयों की कामनाओं व काम्य कर्मों से भी वह विरक्त होने लगेगा।

"मन, वाणी और प्राण का संघातरूप यह जो जगत् है वह सब माया ही है—इस प्रकार आत्मा में विचार द्वारा उसका बोध करके अपने स्वरूप में स्थित हो जाय और फिर उसका स्मरण भी न करे।" ॥२७॥

जैसे यह बाहर जगत् है वैसा ही हमारे शरीर के भीतर भी एक जगत् है। जैसे बाहरी जगत् ईश्वर के शरीर में है वैसे ही यह जगत् मनुष्य के शरीर में है। इस जगत् को भी तुम समझ लो। वह है मन, प्राण, वाणी का संघात। लेकिन यह

भी बाहरी जगत् की तरह माया ही है। यह सोचकर वह अपने स्वरूप में अर्थात् आत्मा में स्थित हो जाय और फिर उस जगत् का स्मरण भी न होने दे। अर्थात् चौबीसों घण्टे यह स्मरण रखे कि आत्मा ही सत्य है; यह जगत् भीतरी व बाहरी सब माया है, नश्वर है, और इसी जागृति से संसार में अपना कर्तव्य पालन करे।

"जो ज्ञाननिष्ठ हो, विरक्त हो अथवा किसी भी वस्तु की अपेक्षा न करनेवाला मेरा भक्त हो वह आश्रमादि को उनके लिंगों (चिह्नों) के सहित छोड़कर वेद-शास्त्र के विधि-निषेधरूप बन्धन से मुक्त होकर भी स्वच्छन्द विचरे।" ॥२८॥

जब वह ज्ञाननिष्ठ व विरक्त हो जाय; अर्थात् पूर्वोक्त ज्ञान में ही जब वह चौबीस घण्टे स्थित रहने लगे व संसार की नश्वरता देखकर इसके भोग-पदार्थों से विरक्त हो जाय व जब उसके मन में किसी प्रकार की कोई अभिलाषा न रहे, किसी वस्तु की अपेक्षा न रह जाय, तब वह और सब बाह्य वस्तुओं को, जैसे आश्रम व उनके चिह्नादि को छोड़ दे व एकमात्र मेरी भक्ति में ही, मेरे भाव में ही, तल्लीन रहे। ऐसी अवस्था प्राप्त हो जाने पर फिर वेद-शास्त्र-वर्णित विधि-निषेधात्मक नियमों व क्रियाओं के आचार उसके लिए आवश्यक नहीं रह जाते। वह अपनेको इन बन्धनों से मुक्त समझे। अब वह सब तरह स्वतन्त्र, मुक्त हो गया। अब विधि-विधान उसके आचार के प्रेरक व विधायक नहीं रहे, उसकी ज्ञान-निष्ठा या ईश्वर-निष्ठा रही।

"वह बुद्धिमान् होकर भी बालकों के समान क्रीड़ा करे, निपुण होकर भी जड़वत् रहे, विद्वान् होकर भी उन्मत्त (पागल) के समान बातचीत करे और सब प्रकार शास्त्र-विधि को जानकर भी पशुवृत्ति से रहे।" ॥२९॥

अब उसका आचार बिल्कुल और तरह का हो जायगा। पहले उसके मन में अपनी विद्या, ज्ञान, पुरुषार्थ-सिद्धि आदि का कुछ अभिमान रहा करता था। इन प्राप्तियों के थोड़े-बहुत प्रदर्शन में उसकी रुचि रहती थी। अपनी प्रशंसा करवाता यदि न हो तो उसे कम-से-कम सुनता चाव से था। अपनी निन्दा को सुन तो लेता था, फिर भी मन में कुछ बुरा लगता था व निन्दक की, मन में ही सही, टीका कर लिया करता था। निन्दक व प्रशंसक की जुदा-जुदा श्रेणी उसके पास थी। अब यह सारा अभिमान व आसक्ति चली जाने से उसमें एक बालक की-सी सरलता दीख पड़ेगी। बुद्धिमान् होते हुए भी ऐसा मालूम पड़ेगा मानो यह बालक-सा सरल,

निर्दोष, भोला है; कहीं भी बनावट, छल, कपट, टेढ़ा-तिरछापन का नाम-निशान नहीं है। व्यवहार-निपुण होकर भी उस निपुणता को दिखाने का प्रयत्न नहीं होता, जिससे वह दूसरों को जड़ जैसा ही मालूम हो सकता है। विद्वत्ता की धाक दूसरों पर नहीं जमाना चाहता, विद्वत्ता के बल पर दूसरों को आकर्षित नहीं करना चाहता, इससे दूसरों को ऐसा आभास होगा मानो यह कोई उजड्ड, अनपढ़ है। शास्त्रज्ञ होते हुए भी ऐसा जान पड़ेगा मानो कोई निरा गंवार है। अपनेको प्रदर्शित करने की अपेक्षा अपनेको छिपाने की ही वृत्ति उसकी हो जायगी। जैसे-जैसे वह अधिकाधिक ईश्वर-निष्ठ होता जायगा वैसे-वैसे ये लक्षण उसमें अपने-आप प्रकट होते जायंगे। जान-बूझकर या प्रयत्नपूर्वक इन लक्षणों को लाने की ज़रूरत नहीं है, या बनावट से ऐसा व्यवहार करना भी अनुचित है। वह तो सत्य के प्रतिकूल होने से ज्ञान, भक्ति, या कर्म सब अवस्थाओं के क ख ग घ के भी प्रतिकूल है। उनसे ऐसी ही वृत्ति से रहा जायगा, वे प्रयत्न करके बनावट करना चाहें तब भी नहीं हो सकेगी—यही उनकी ज्ञाननिष्ठता या ईश्वर-निष्ठता की कसौटी है।

"उसे चाहिए कि कर्मकाण्ड के व्याख्यानादिरूप वेदवाद में प्रेम न रक्खे, पाखण्डी और केवल तर्कपरायण भी न हो तथा जहां कोरा वाद-विवाद हो वहां कोई पक्ष न ले।" ॥३०॥

फिर यति को चाहिए कि वह वेदवाद में न पड़े, अर्थात् वेदों के अक्षरार्थ करके नये-नये वाद न तो निकाले न उनमें दिलचस्पी ही ले। न पाखण्डी बने, न पाखंडियों को आश्रय दे, न कोरा तर्कटी ही बने, न शुष्क वाद-विवाद में भाग ले। ऐसे वाद-विवाद के समय उसे किसी एक पक्ष के समर्थन के चक्कर में न पड़ना चाहिए। वह सर्वदा आशय, फल, हेतु की तरफ ध्यान दे। अक्षरों की खींचातानी, शब्दार्थों को महत्व देने से, मूल आशय का, अर्थात् सत्य का घात होता है। शब्द आशय को व्यक्त करने के लिए ही बोले जाते हैं। वे आशय के बाह्य चिह्न या संकेत-मात्र हैं। आशय का पूर्ण या तद्वत् रूप या चित्र उनसे आंखों के सामने खड़ा नहीं होता—झलकमात्र दिखाई देती है। अतः अक्षरों व शब्दों में ही यदि उलझ रहे, उन्हींको महत्व देंगे तो मूल आशय तक पहुंचने न पावेगा। यदि पहुंच भी गये तो वह खो जायगा। अतः बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि शब्दों के संकेत से मूल आशय को ही सर्वदा समझने का यत्न करें। जब ऐसा करेंगे तो ऊपरी मतभेदों व विचारों के लिए बहुत कम स्थान रह जायगा। जहां शब्दों व अक्षरों की खींचातानी हो, इन्हीं-

को अधिक महत्व दिया जाता हो, वहां निश्चित रूप से सत्य की शोध, शोधक-वृत्ति का अभाव समझ लेना चाहिए और उससे दूर रहना चाहिए।

ऐसे अवसरों पर स्वानुभव या दूसरे अनुभवियों के अनुभवों पर अधिक आधार रखा जा सकता है। केवल बुद्धि के तर्क भी कई बार, अक्षरार्थ की तरह, वास्तविकता या मूल उद्देश से भटकाकर ले जाते हैं। सब शास्त्रों और विधि-विधानों या वेदों का मूल उद्देश्य है—मनुष्य प्राणी को सत्ज्ञान प्राप्त कराना व उसके द्वारा उसके आत्यंतिक सुख का मार्ग सुलभ व निश्चित बनाना। ज्ञानियों, अनुभवियों व जीवन्मुक्तों ने यह बताया है और वेद-शास्त्रों ने इसे पुष्ट किया है कि ईश्वर सत्य है, जगत् मिथ्या है व जीव तथा ईश्वर दोनों एक हैं—जगत् भी ईश्वर का ही प्रत्यक्ष रूप, संकल्प, स्पन्द, कम्पन, तरंग, प्रतिबिम्ब आदि है। इस ऐक्य-ज्ञान या भाव से ईश्वर की प्राप्ति होती है, जिससे मनुष्य के यावद् दुःख मिट जाते हैं व वह अखण्ड सुख शांति-मुक्ति का अधिकारी हो जाता है। इस मूल ज्ञान या आशय के अनुकूल जो कुछ हो वह सत्य, ग्राह्य तथा इसके प्रतिकूल जो कुछ हो वह त्याज्य या अग्राह्य समझना चाहिए। ऐक्य-ज्ञान, ऐक्य-मार्ग, ऐक्य-भाव, भक्ति-मार्ग है। इस उद्देश से कर्म करना कर्म-मार्ग है, योग-साधना योग-मार्ग है। मतलब यह कि असली व वास्तविक तथ्य अर्थात् सत्य पर सदैव दृष्टि रखे। ऊपरी शब्दार्थों व निरर्थक शुष्क वादविवादों में, पंडिताई में, वह न उलझे, न पड़े। जहां सत्य की छानबीन होती हो, विवाद नहीं, विचार-विनिमय होता हो, एक ओर सच्ची जिज्ञासा व दूसरी ओर समाधान करने की वृत्ति हो, ऐसी मण्डली में वह ज़रूर योग दे व अपना प्रामाणिक मत, अनुभव आदि प्रकट करे। सब लोग उसे स्वीकार कर ही लें, ऐसा आग्रह वह न रक्खे। दूसरे को मनवाने का जहां ऐसा आग्रह हो वहां सत्य का अभाव ही समझो। सत्य का आग्रह स्वयं अपने लिए होता है। अपने लिए उसका आग्रह न हो तो वहां भी सत्य की उपलब्धि या तो हुई नहीं या होती नहीं; उसी तरह दूसरों पर अपना आग्रह लादना भी सत्य-गति, सत्य-प्राप्ति, या सत्यवृत्ति के विपरीत है। दूसरों को हम अपने अनुभव युक्ति व उपदेश से समझाने का यत्नभर ही कर सकते हैं। इसमें आग्रह या तो अहंकार का, अहम्मन्यता का लक्षण है, या अज्ञान व मूढ़ता का।

"वह धीर पुरुष अन्य लोगों से उद्विग्न न हो और न औरों को ही अपने से उद्विग्न होने दे, निन्दा आदि को सहन करे, किसीका अपमान न करे और इस

शरीर के लिए पशुओं के समान किसीसे वैर न करे।" ॥३१॥

ऊपर तो उसकी मानसिक वृत्ति बताई, अब उसका आचार सुनो। वह औरों के साथ इस तरह व्यवहार करे जिससे न तो दूसरों के मानसिक दुःखों व क्लेशों का कारण बने, न उनके दिये दुःखों व क्लेशों से दुःखी व प्रभावित ही होवे। संसार में यों ही दुःख क्या कम है कि मनुष्य और दुःख बढ़ाने का उद्योग करे। अतः प्रत्येक मनुष्य का यही कर्त्तव्य है कि वह अपना व दूसरों का दुःख सदैव कम करने का प्रयत्न करे। दुःख देने का प्रसंग आ ही जाय तो दो सूरतों में उसे अनिवार्य समझा जा सकता है; एक तो स्वयं सामनेवाले के के हित लिए, दूसरे अपनी अशक्ति, निर्बलता, मर्यादिताओं के कारण। पहली दशा में भी मजबूरी की हालत में ही दुःख होने दिया जा सकता है। अर्थात् किसी भी दशा में, कहीं भी, दुःख देने की नियत ही नहीं हो सकती। मजबूरी से असहाय होकर दुःख पाते हुए सहा ही जा सकता है। परन्तु यदि अपनेको कोई दुःख दे, कष्ट में डाले जाय तो ऐसा धर्म-युक्त या नीति-युक्त उपाय तो ज़रूर करना ही चाहिए जिससे वह दुःख या संकट टल जाय। पर वह आ ही पड़े तो उसे धैर्य से सह ले, व देनेवाले के प्रति मन में क्रोध या वैर का भाव न आवे। अपने ही अदृष्ट का फल उसे समझ ले। सामनेवाले को कहे भी भले ही, समझावे भी भले ही, पर वह सब मित्र-भाव से, स्नेह से, न कि वैरभाव या शत्रुता से। इसी तरह कोई निन्दा करे तो उसे भी शांति से सुन ले व सह ले। यह तो ज़रूर सोचे कि निन्दा में कुछ तथ्य है या नहीं, तथ्य हो तो उसपर विचार भी करे व अपने में कुछ सुधारने या त्यागने-योग्य हो तो उसे सुधारे व त्यागे भी; परन्तु निन्दा करनेवाले पर क्रुद्ध न हो, न उसकी बुराई ही चाहे। उसका नतीजा उसीके अपने कर्मों पर या ईश्वर पर छोड़ दे। बल्कि उसे सुबुद्धि देने के लिए ईश्वर से प्रार्थना करे व करता रहे।

इतना होते हुए भी खुद किसीका भी अपमान न करे। यदि हमारी दृष्टि में सभी नारायण हैं तो हम कैसे किसीका अपमान करेंगे? यों भी किसीका अपमान करना अपना ही छोटापन है। यदि तुम साधक हो, भक्त हो तो तुमको नम्र ही रहना चाहिए; किसीका अपमान करना नम्रता-विनय के विपरीत है। यदि तुम ज्ञानी सिद्ध हो तो सामनेवाला परमात्मा ही है। तुम्हारा ही दूसरा रूप है, उसका अपमान क्यों? उसकी त्रुटि तुम्हारी त्रुटि है; उसका अपमान तुम्हारा अपना ही अपमान है। तुम कहोगे कि जब मेरा सबके प्रति आत्मभाव है तो फिर मैं दूसरे को

दु:ख देने, अपमान करने, हानि पहुंचाने से क्यों हिचकूं ? तो मैं कहूंगा कि तुमने यह उलटा आशय निकाला। अभेद दृष्टि या अद्वैत भावना तो तुम्हारी हुई है न कि सामनेवाले की। अत: उसके तुम्हारे प्रति किये गए व्यवहार को तुम अपने ही द्वारा किया गया व्यवहार समझ सकते हो। परन्तु वह तो भेद-बुद्धिवाला है, अत: तुम्हारे व्यवहार को भेद-दृष्टि से ही देखेगा। तुम्हारे अपमान को वह अपमान ही समझेगा। वह तुमसे बदला लेगा। इससे तुम अकारण झंझट में पड़ जाओगे। उसकी यह स्थिति भुलाकर तुम उसके प्रति व्यवहार करोगे तो सत्य की अवहेलना करोगे। तुम्हारे जिस व्यवहार का असर सामनेवाले पर पड़नेवाला हो वह तुम्हारी दृष्टि में कितना ही उचित व योग्य भी हो तो यदि सामनेवाले की मन:स्थिति का विचार न करोगे तो उल्टा तुम्हीं मुसीबत में पड़ोगे। वह तुम्हारे आशय को गलत समझेगा व उसके लिए जो कुछ कार्रवाई करेगा उसकी बुरी प्रतिक्रिया तुमपर होगी। अत: मैं ब्रह्मज्ञानी या ब्रह्मनिष्ठ हूं, इसका अर्थ इतना ही है कि दूसरे के मेरे प्रति किये गए व्यवहारों का अर्थ सदैव ऐक्य-भावना से करूं ; किन्तु मेरे उनके प्रति किये जानेवाले व्यवहारों में सदैव उसकी भेद-बुद्धि का हिसाब ज़रूर लगा लूं। ब्रह्मज्ञानी के व्यवहार का यही राजमार्ग है। नहीं तो वह अपने व दूसरों के लिए सदैव अनर्थ, विवाद, झगड़े-बखेड़े व परिणाम में अशांति का कारण बनेगा। फिर किसी उच्च उद्देश्य से, समाज, देश या धर्म-कार्य के लिए किसीसे लड़ना-झगड़ना पड़े, किसीको दु:ख पहुंचाना अनिवार्य ही हो जाय तो यह एक बात है। किन्तु अपने शरीर के सुख-दु:खों के लिए किसीको सताना पड़े या किसीसे वैर-भाव रखना पड़े यह दूसरी बात है। पहली बात तो समझ में आ सकती है। मनुष्य-शक्ति की मर्यादा का नाप उससे निकलता है पर दूसरी तो सामान्य पुरुष के लिए भी उचित नहीं है। फिर यति-संन्यासी के लिए तो और भी गैर-वाजिब ही है। उसका ऐसा व्यवहार तो पशु-तुल्य ही समझना चाहिए।

"जैसे कि एक ही चन्द्रमा के भिन्न-भिन्न जलपात्रों में अनेक प्रतिबिम्ब पड़ते हैं उसी प्रकार समस्त प्राणियों में और अपने में भी एक ही परमात्मा विराजमान है तथा (अपने कारण पृथ्वी आदि रूप से) समस्त देह भी एक ही है।" ॥३२॥

वह ऐसा ही समझे कि समस्त प्राणियों में व मुझमें एक ही परमात्मा विराजमान है तथा यह जो भिन्न-भिन्न देह हैं वे भी सब एक ही हैं। क्योंकि जिन पांच तत्वों से उसका देह बना है, उन्हींसे दूसरे सब देह बने हैं। केवल उन तत्वों की

मात्रा व मिलावट का भेद है। चन्द्रमा तो एक ही है, परन्तु जितने घड़ों में, तालाबों में, कुओं में देखोगे वह अलग-अलग दिखाई पड़ता है। इसी तरह परमात्मा अलग-अलग देहों में जुदा दीख पड़ता है। यह हमारा केवल अज्ञान या भ्रम ही है। वास्तव में जीवमात्र में उसी एक की चेतन सत्ता विद्यमान है।

"धीर पुरुष कभी-कभी समय पर भिक्षा न मिले तो दुःख न माने और मिल जाय तो प्रसन्न न हो, क्योंकि दोनों ही अवस्थाएं दैवाधीन हैं।" ॥३३॥

फिर जो यति धीर है, उसे चाहिए कि यदि समय पर भिक्षा या अन्य वस्तु न मिले तो उससे दुःखी न हो और मिल जाय तो उसमें सुख अनुभव न करे। दोनों अवस्थाओं में अपने मन की स्थिति को एक-सा रखे। क्योंकि भिक्षा या अन्य वस्तु का उसके लिए मिलना या न मिलना, समय पर मिलना या न मिलना आदि दैव-तन्त्र पर अवलंबित है। यति ने समाज पर अपना यह भार छोड़ दिया है और हो सकता है कि भूल से, असावधानी से, अन्य आवश्यक कार्य आ पड़ने से या कोई अचानक कठिनाई पैदा हो जाने से, संन्यासी को समय पर वस्तु न मिले। अतः यदि ऐसी बात पर वह बिगड़ने या दुःख करने लगेगा तो समाज के प्रति उसके समभाव में बाधा पहुंचेगी व अनजान में ही समाज के प्रति उसके हाथों अन्याय हो सकता है। फिर ईश्वर-प्राप्ति के आगे ये शारीरिक सुविधा की वस्तुएं उसके लिए बहुत तुच्छ हैं। इन छोटी-छोटी बातों से यदि मन की समता नष्ट होने लगे तो समझना चाहिए कि उसने संन्यासी बनने में जल्दी की है।

"प्राणरक्षा आवश्यक है, इसलिए आहार मात्र के लिए चेष्टा भी करे, क्योंकि प्राण रहेंगे तो तत्त्वचिन्तन होगा और उसके द्वारा आत्मस्वरूप को जान लेने से मोक्ष प्राप्त होगा।" ॥३४॥

जहांतक उसके स्वार्थ या सुख से सम्बन्ध है, केवल प्राण-धारणा में ही उनका समावेश हो जाता है। वह अपने लिए अगर कोई उद्योग करे तो केवल प्राण-धारणार्थ। इसी निमित्त वह आहार आदि की चेष्टा करे। सो भी तबतक जबतक जीवित रहने की इच्छा हो, वह प्रयोजनीय हो। जबतक शरीर में प्राण है तभी तक तत्त्वचिन्तन शक्य है और तत्त्वचिन्तन ही आत्म-स्वरूप को जानने में व मोक्ष प्राप्त कराने में सहायक होता है। केवल इसी आशा व विचार से आहार आदि का उद्योग करे। दूसरी सब इन्द्रिय-क्रियाएं उसकी निस्वार्थ व निरपेक्ष-भाव से होनी चाहिए।

"विरक्त मुनि को उचित है कि दैववशात् जैसा आहार मिल जाय, अच्छा हो या बुरा, उसीको खा ले, इसी प्रकार वस्त्र और बिछौना भी जैसे मिलें, उन्हें ही स्वीकार कर ले।" ॥३५॥

इस तरह जो आहार मिले उसीको शान्ति से पा ले—इस विचार में या झंझट में न पड़े कि यह स्वादु है या अस्वादु, व रूखा-सूखा है या तर-माल। इनकी ओर से वह सदैव उदासीन रहे। वह इस बात पर विश्वास रखे कि यति अधिकांश में तो अपने ज्ञान या भाव बल पर जीवित रहता है। अन्न जिस अंश तक उसमें सहायक है उसी अंश तक उसका महत्त्व है। अतः वह प्राण-धारणा की ही दृष्टि प्रधान रखे। यही बात स्नान, वास, कपड़े, बिस्तर आदि के बारे में। वे सुन्दर हैं या असुन्दर, फटे-पुराने हैं या नये, कलायुक्त हैं या कलाहीन, बढ़िया हैं या घटिया, इन बातों का विचार न करे। शरीर-रक्षा-मात्र ही उनकी उपयोगिता देख ले, जैसे वे गन्दे न होने चाहिए आदि।

"ज्ञाननिष्ठ परमहंस शौच, आचमन, स्नान तथा अन्य नियमों को भी शास्त्र-विधि के अधीन होकर न करे, बल्कि मुझ ईश्वर के समान केवल लीलापूर्वक करता रहे।" ॥३६॥

ज्ञानी पुरुष जीवन के जो भी कार्य जैसे स्नान, आचमन आदि, इसलिए न करे कि शास्त्रों में उनका विधान है, बल्कि इसलिए करे कि वे स्वच्छता के लिए आवश्यक हैं। मतलब यह कि अब वह किसी विधि-विधान से बंधा नहीं है। जब-तक मन संयम में नहीं रहता या भोग-सुख की वासना रहती है तबतक विधि-विधानों या शास्त्र-बन्धनों का सहारा लेकर चला! अब उनके सहारे की उसे ज़रूरत न रही। इस सम्बन्ध में वह मेरा अनुकरण करे। मैं जैसे सब काम लीला से अर्थात् सहज स्वभाववश करता हूं, न कि किसीके आदेश, उपदेश या विधि-निषेधात्मक नियमों पर चलकर, उसी तरह वह भी स्वतन्त्र होकर केवल अपने लक्ष्य पर दृष्टि रखकर चले।

"उसके लिए यह विकल्परूप प्रपंच नहीं रहता, वह तो मेरा साक्षात्कार होते ही नष्ट हो जाता है, प्रारब्धवश जबतक देह है तबतक (बाधित रूप में ही) उसकी कभी-कभी प्रतीति होती है, उसका पतन होने पर तो वह मुझमें ही मिल जाता है।" ॥३७॥

ऐसी स्थिति में पहुंच जाने पर उसके लिए यह विश्व-प्रपंच नहीं रहता।

क्योंकि यह विकल्परूप है। वस्तुतः तो है नहीं, कल्पित आरोपण-मात्र है। अतः मेरा साक्षात्कार होते ही वह नष्ट हो जाता है। परन्तु जबतक देह है तबतक कभी-कभी उसकी प्रतीति बाधित रूप में ही होती रहती है। जबतक प्रारब्ध है तबतक देह तो रहेगा ही। देह के पतन के बाद वह यति फिर मुझमें मिल जाता है। अतः जबतक देह है तबतक उसे सारे व्यवहार इसी ऐक्य-भाव या आत्म-भाव से करने चाहिए। वह सबको ब्रह्ममय मानता हुआ रहे, न कि दूसरों से भी वह सबके प्रति या अपने प्रति ब्रह्मभाव की अपेक्षा रखे। दुनिया साधारणतः उसे अपनी ही दृष्टि से देखकर उसके प्रति वैसा रुख रखेगी, और यदि वह ब्रह्मवादी है तो उससे यह जरूर अपेक्षा रखेगी कि उसका व्यवहार तदनुरूप ही हो। जब दुनिया को उसके आचार-व्यवहार से यह विश्वास हो जायगा तभी दुनिया की दृष्टि और व्यवहार बदल सकता है। दुनिया के लिए यही स्वाभाविक है। उसके पास मनुष्य की अवस्था की कसौटी उसका आचार ही है। लेकिन यति दुनिया की दृष्टि के फेरे में न पड़े। उसे तो अपने ही हृदय पर हाथ रखकर चलना चाहिए। इससे दुनिया अपने-आप ठीक हो जायगी। आखिर तो जैसे हम होंगे वैसा ही दुनिया को मानना व समझना पड़ेगा। जैसे हम हैं या जैसा हमारा व्यवहार है वैसा ही तो हम भी दुनिया से मनवाना चाहेंगे। यदि हमारा आचार, हमारे विचार, वृत्ति के अनुकूल हैं तो दुनिया हमारे आचार से हमारी सही वृत्ति तक अवश्य पहुंच जायगी। संभव है, इसमें कुछ समय लगे। परन्तु वह अनिवार्य है। खुद हमें भी अपनेको सही-सही समझ लेने में बड़ा समय लगता है तो फिर दुनिया को क्यों न लगे ?

यहांतक सिद्ध, ज्ञानी या संन्यासी के धर्म अथवा लक्षण बताये। आज जिज्ञासु या साधक के कर्त्तव्य बतलाते हैं। इन धर्मों या कर्त्तव्यों के विषय में इतना ही यहां कहे देता हूं कि जितनेभर बाह्य आचार, नियम, साधना, उपासना बतलाई गई है या बतलाई जाती है वह सब देश, काल या पात्र के अनुसार संशोधनीय, सुधारणीय व परिवर्तनीय है। इनमें कोई त्रिकालाबाधित नहीं है, न सभी व्यक्तियों पर लागू ही हो सकती है या की जा सकती है। मनुष्य के स्वभाव में, प्रकृति की रचना में ही जब इतनी विविधिता है, तब सबके लिए एक ही नियम, एक ही साधना, एक ही व्यवस्था नहीं हो सकती। अनुभव-प्रदेश में एकता, ज्ञान-प्रदेश में मत-भेद, साधना-प्रदेश में अनेकता यह अविचल सिद्धान्त है। और यही कारण है जो मेरे

बताये व चलाये सनातन-धर्म में इतनी विविधता पाई जाती है। यह हमारा दूषण नहीं गुण, स्वाभाविकता व श्रेष्ठता है।

"(यहांतक सिद्ध ज्ञानी के धर्म कहे, अब जिज्ञासु के कर्तव्य बतलाता हूं) **जिस धीर पुरुष को इन अत्यन्त दुःखमय फलवाली विषय-वासनाओं से वैराग्य हो गया है और जिसे मेरे भागवत-धर्मों की भी जिज्ञासा नहीं है, वह किन्हीं विरक्त मुनिवर को गुरु मानकर उनकी शरण जाय।"** ॥३८॥

ऊधो, उस मनुष्य को जिज्ञासु समझो जो संसार की विषय-वासनाओं के कड़वे फल भुगत चुका है। जिसने देख लिया है कि इनका फल दुःख के सिवा दूसरा नहीं हो सकता। अतः जिसके मन में इनके प्रति विराग उत्पन्न हो चुका है पर न अभी उससे छुटकारे का मार्ग हाथ लगा है, न मेरी ओर, न बताये धर्मों की ओर प्रवृत्ति हुई है उसे उचित है कि वह किसी विरक्त मुनि या साधु पुरुष की शरण जाय, उसे अपना गुरु या पथदर्शक मानकर उसके बताये मार्ग पर चले।

"उन गुरुदेव को मेरा ही रूप जानकर वह अति आदरपूर्वक भक्ति और श्रद्धा से तबतक उनकी सेवा-शुश्रूषा में लगा रहे जबतक कि उसको ब्रह्मज्ञान न हो जाय, तथा गुरु की कभी किसीसे निन्दा न करे।" ॥३९॥

सोच-विचारकर एक बार गुरु कर लेने के बाद फिर उसपर पूर्ण विश्वास रक्खे व जैसा मुझे मानता है उसी तरह गुरु को भी माने उन्हें मेरा ही रूप समझे। आदरपूर्वक उनकी सेवा-शुश्रूषा करे। उनकी निन्दा कभी न करे। जो बात समझ में न आवे वह उनसे पूछे जरूर; उनके बारे में भी उनसे पूछताछ करे, परन्तु दूसरों के समक्ष उनकी निन्दा न करे। क्योंकि ऐसा करना दुष्टों का काम है। और जबतक ऐसी दुष्टता बनी हुई है तबतक कोई श्रेयसाधन में प्रगति नहीं कर सकता। दूसरों की निन्दा वही करता है, जिसे दूसरों की बुराइयां ही देखने की आदत है और उन्हें फैलाने में रुचि है। निन्दा से सर्वथा बिगाड़ ही होता है। अतः कह सकते हैं कि जिसे संसार में बिगाड़ मंजूर हो वही निन्दा-कर्म में प्रवृत्त हो। फिर जिस गुरु के पास जीवन को उन्नत बनाने के लिए गये हो उनकी निन्दा करना तो दुष्टता से भी अधिक गिरी दशा का सूचक है। शिष्य का काम गुरु के गुण देखना है, व गुरु का काम शिष्य के दोष देखना है। क्योंकि शिष्य को तो अपने गुण, बल, शक्ति बढ़ाना है। अतः वह इन्हीं बातों को देखने व उनकी उपासना करने में सिद्ध हो सकता है। परन्तु गुरु को शिष्य के अवगुण, दोष, त्रुटियां,

निर्बलताएं निकालनी हैं, अतः उसकी दृष्टि इनपर रहना स्वाभाविक, उपयोगी व अनिवार्य है।

इस प्रकार जिज्ञासु तबतक गुरु की सेवा में रहे जबतक कि ब्रह्मज्ञान न हो जाय, जो कि संसार के सब दुःखों से छूटने का एक-मात्र रामबाण उपाय है।

"जिसने काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य—इन छः शत्रुओं को नहीं जीता, जिसके इन्द्रियरूपी घोड़े और बुद्धिरूपी सारथि अति प्रचण्ड हो रहे हैं तथा जो ज्ञान और वैराग्य से शून्य है तथापि संन्यासी के वेष से पेट पालता है; वह यतिधर्म का घातक है और अपने यजनीय देवताओं को, अपनेको और अपने अन्तः-करण में स्थित मुझको ठगता है। जिसकी वासनाएं क्षीण नहीं हुई हैं, ऐसा वह मूढ़ इहलोक और परलोक दोनों ओर से मारा जाता है।" ॥४०-४१॥

ऊधो, मनुष्य की कमज़ोरी समझ में आने जैसी है। परमात्मा ने जब जगत् रूप धारण किया तब यह उसकी कमज़ोरी ही समझना चाहिए। उसका अवतरण तो स्पष्ट ही है। अपनी निजानन्दमयी निर्द्वन्द्व उच्च स्थिति से उतरकर उसने द्वन्द्व व सुख-दुःखमय जगत् का रूप धारण किया। यही संसार में निर्बलता, अशक्ति, कमी, त्रुटि का सूत्रपात हुआ। अतः संसार की कोई वस्तु इससे खाली नहीं मिलेगी। जबतक नाम-रूप है, तबतक कोई-न-कोई त्रुटि लगी ही रहेगी। पूर्ण परमात्मस्वरूप होने पर ही उसका खातमा हो सकता है। अतः त्रुटि, कमी, निर्ब-लता उतनी बुरी नहीं है जितना पाप, पाखण्ड, धोखा, कपट, छल है। ये सब असत्य के रूप हैं। सत्याग्रही अपनी त्रुटि को देखने का यत्न करता है, मालूम होने पर उसे सुधारता है; परन्तु कपटी व पापी तो अवगुण को गुण व गुण को अव-गुण के रूप में, अन्धकार को प्रकाश व प्रकाश को अन्धकार के रूप में डंके की चोट पेश करता है व दुनिया को मूर्ख बनाता है। अतः वह मुझे किसी तरह भी सह्य नहीं है। निर्बल पर जहां मुझे दया आती है, वहां ढोंगी के लोक-परलोक दोनों बिगड़ जाते हैं।

"शान्ति और अहिंसा यति (संन्यासी) के मुख्य धर्म हैं, तप और ईश्वरीय चिन्तन वानप्रस्थ के धर्म हैं, प्राणियों की रक्षा और यज्ञ करना गृहस्थ के मुख्य धर्म हैं तथा गुरु-सेवा ही ब्रह्मचारी का परम-धर्म है।" ॥४२॥

"ऋतुगामी गृहस्थ के लिए भी ब्रह्मचर्य, तप, शौच, सन्तोष तथा भूत-दया ये आवश्यक धर्म हैं। मेरी उपासना करना तो मनुष्य-मात्र का परम धर्म है।" ॥४३॥

अब चारों आश्रमों के मुख्य धर्म संक्षेप में सुन लो। शान्ति व अहिंसा यति के मुख्य धर्म हैं। तप व ईश्वर-चिन्तन वानप्रस्थ के, प्राणियों की रक्षा व यज्ञ अर्थात् परोपकारार्थ कर्म करना गृहस्थों के मुख्य धर्म हैं तथा गुरु-सेवा ब्रह्मचारी का परम धर्म है।

गृहस्थ को उचित है कि केवल ऋतु-काल में ही अपनी भार्या के साथ संयोग करे। सो भी, जैसे कि पहले बता चुका हूं, केवल सन्तति की प्राप्ति के लिए। लेकिन ऐसे ऋतु-गामी गृहस्थ को भी चाहिए कि वह ब्रह्मचर्य, तप, शौच, सन्तोष व भूतदया का पालन करे। ये उसके लिए आवश्यक धर्म हैं। ऋतुकाल में स्त्री-गमन के अलावा और समयों में स्त्री को जगदम्बा का रूप मानकर उसका आदर करे। उसे कामुक दृष्टि से न देखे, न काम-चेष्टा ही करे। केवल सन्तानोत्पादन के लिए दिया हुआ वह ईश्वरीय साधन है, ऐसी भावना रक्खे। तप से अभिप्राय है अपने धर्म-पालन में आनेवाले सब तरह के कष्टों को प्रसन्नता से सहना। बाहरी स्वच्छता को शौच, व धर्म-पूर्वक जो कुछ मिले उसीमें निर्वाह करने की वृत्ति को सन्तोष और दूसरे जीवों के प्रति समभाव रखने को भूत-दया कहते हैं। इनके अलावा मेरी उपासना करना मनुष्य-मात्र का परम धर्म है। मेरी उपासना का दुहेरा अर्थ है—मेरे सब गुणों को प्राप्त करने की चेष्टा व प्राप्त गुणों का उपयोग जगत् की सेवा में करने की तैयारी।

"इस प्रकार स्वधर्म पालन के द्वारा जो सम्पूर्ण प्राणियों में मेरी भावना रखता हुआ अनन्य भाव से मेरा भजन करता है, वह शीघ्र ही मेरी विशुद्ध भक्ति पाता है।" ॥४४॥

"हे उद्धव ! मेरी अनपायिनी (जिसका कभी ह्रास नहीं होता, ऐसी) भक्ति द्वारा वह सम्पूर्ण लोकों के स्वामी और सबके उत्पत्ति तथा लयस्थान एवं सबके कारणभूत मुझ परब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।" ॥४५॥

"इस प्रकार स्वधर्म-पालन से जिसका अन्तःकरण निर्मल हो गया है, और जो मेरे ऐश्वर्य को जान गया है, वह विरक्त पुरुष ज्ञान-विज्ञान-सम्पन्न होकर शीघ्र ही मुझे प्राप्त कर लेता है।" ॥४६॥

"वर्णाश्रमवालों के लिए यह आचार रूप धर्म है। मेरी भक्ति से युक्त होने पर यही उनके परम निःश्रेयस का कारण हो जाता है।" ॥४७॥

"हे साधो ! तुमने जो मुझसे पूछा था सो वह सब तुम्हारे प्रति कह दिया कि

किस प्रकार स्वधर्म का पालन करता हुआ भक्त मुझ परब्रह्म को प्राप्त होता है।" ॥४८॥

अर्थात् जिसका जैसा स्वभाव है, उसके अनुसार अपना वर्ण चुनकर तदनुसार अपना धर्म पालते हुए जो सबमें सर्वदा मेरी ही भावना रखता है और अनन्य भाव से मेरा भजन करता है वह शीघ्र ही मेरी विशुद्ध भक्ति को अर्थात् मेरे शुद्ध भाव को पा जाता है। यह मेरी भक्ति अनपायिनी होती है, इसका कभी ह्रास नहीं होता। शुरू में जो भक्ति होती या की जाती है, वह तालाब की लहरों की तरह या मन के उतार-चढ़ाव की तरह चंचल, अस्थिर, घटती-बढ़ती रहनेवाली होती है। लेकिन स्वधर्म-पालन से फिर वह स्थिर, अनपायिनी हो जाती है। इसके द्वारा मुझ परब्रह्म को पा जाता है। चूंकि मैं ही सब लोकों का स्वामी हूं और सबकी उत्पत्ति तथा लय का स्थान और सबका कारणभूत हूं, अतः भक्तजन साधारणतः मुझे ही पाने की इच्छा रखते हैं और उनकी वह इच्छा पूर्वोक्त विधि से पूर्ण हो जाती है।

स्वधर्म-पालन से मनुष्य का अन्तःकरण निर्मल हो जाता है और ऐसे अन्तः-करण में मेरे ऐश्वर्य का प्रतिबिम्ब ठीक-ठीक पड़ने लगता है, जिसको देखकर फिर से संसार के विषय-भोग में रुचि नहीं रहती। वह विरक्त हो जाता है। यह विरक्ति उसे ज्ञान-विज्ञान की प्राप्ति की ओर प्रेरित करती है और ज्ञान-विज्ञान के द्वारा फिर मनुष्य मुझे सहज ही प्राप्त कर लेता है।

वर्णाश्रमियों का यह आचार-रूप धर्म मैंने तुम्हें बता दिया है। इन धर्मों का पालन यदि मेरे प्रति भक्तियुक्त अन्तःकरण से किया जाय तो यही मनुष्य के परम निःश्रेयस का कारण हो जाता है।

तुम्हारे प्रश्न का सविस्तर उत्तर मैंने दे दिया और वह विधि बतला दी, जिससे मनुष्य मुझ परब्रह्म को पा लेता है। संक्षेप में वह है भक्तिपूर्वक स्वधर्म-पालन।

●

परिशिष्ट

: १ :

भागवत-धर्म

भागवत-धर्म पांचरात्र और सात्वत धर्म के नाम से भी प्रसिद्ध है। भागवत के 'नारायणीयोपाख्यान' में पहले-पहल पांचरात्र-मत का विवरण मिलता है। उसमें जीव और ब्रह्म के ऐक्य का प्रतिपादन है, परन्तु वह विवर्तवाद को न मानकर परिणामवाद को मानता है। इसमें परब्रह्म अद्वितीय, दुःखरहित, निस्सीम, सुखानुभव-रूप, अनादि, अनन्त है। सब प्राणियों में निवास करनेवाला, समस्त जगत में व्याप्त होकर स्थित होनेवाला, निरवद्य तथा निर्विकार है। उसकी समता उस महासागर से की जाती है, जो तरंग-रहित होने से नितान्त प्रशान्त है। षड्गुण-योग से वह भगवान् है। समस्त भूतवासी होने से वही 'वासुदेव' है तथा समस्त आत्माओं में श्रेष्ठ होने से वही 'परमात्मा' है। इसी प्रकार गुणों की विशेषता के कारण वह अव्यक्त, प्रधान, अनन्त, अपरिमित, अचिन्त्य ब्रह्म, हिरण्यगर्भ, शिव आदि नामों से विख्यात है। निर्गुण तथा सगुण दोनों भाव स्वीकृत हैं। अ-प्राकृत गुणों से हीन होने के कारण निर्गुण तथा षड्गुण युक्त होने से सगुण है। जगत-व्यापार के लिए कल्पित इन छः गुणों के नाम ये हैं : ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, बल, वीर्य तथा तेज। अ-जड़ स्वात्म-सम्बन्धी (स्वप्रकाश) नित्य, सर्वावगाही गुण को ज्ञान कहते हैं। ज्ञान ब्रह्म का स्वरूप भी है और गुण भी। शक्ति से अभिप्राय है जगत का उपादान कारण, तथा ऐश्वर्य का अर्थ है स्वातन्त्र्य-परिबृंहित जगत-कर्तृत्व। जगत का निर्माण करने में भगवान् को तनिक भी परिश्रम नहीं होता। इस श्रमाभाव को बल कहते हैं तथा जगत के उपादान होने पर भी विकार-रहितता की शास्त्रीय संज्ञा 'वीर्य' है। जगत-सृष्टि में सहकारी की अनपेक्षा (अनावश्यकता)

को तेज कहते हैं। इस प्रकार ब्रह्म जगत का उभय-विध कारण है। उपादान भी और निमित्त भी।

भगवान् की सामान्य शक्ति का नाम लक्ष्मी है। प्रलयदशा में भगवान् तथा लक्ष्मी का नितान्त ऐक्य नहीं होता। वे मानो एकत्व धारण करते हैं। धर्म तथा धर्मी की भांति शक्ति तथा शक्तिमान में समभाव-सम्बन्ध माना गया है।

भगवान की आत्म-भूता शक्ति आरम्भकाल में किसी अचिन्त्य कारण से कहीं उन्मेष प्राप्त करती है और जगत-रचना-व्यापार में प्रवृत्त होती है। सृष्टि-काल में इसके दो रूप हो जाते हैं—क्रिया-शक्ति तथा भूति-शक्ति। भगवान के जगत उत्पन्न करने के संकल्प को क्रिया-शक्ति और जगत की परिणति की संज्ञा भूत-शक्ति है। लक्ष्मी इच्छा-शक्ति व सुदर्शन क्रिया-शक्ति है। इन दोनों के अभाव में भगवान स्वयं कुछ नहीं कर सकते। लक्ष्मी-शक्ति के प्रथम आविर्भाव को 'शुद्ध सृष्टि'-गुणोन्मेष कहते हैं, जब तरंग-रहित प्रशान्त समुद्र में प्रथम बुद-बुद के समान परब्रह्म में ज्ञानादि षड्गुण प्रथम उदय होते हैं।

भगवान् जगत् के परम मंगल के लिए अपने ही आप चार रूपों की सृष्टि करते हैं। (१) व्यूह (२) विभव (३) अर्चावतार व (४) अन्तर्यामी अवतार (इनका विवरण अध्याय ४ श्लोक १७ में देखिये।)

भक्ति व शरणागति भगवान को पाने का सुलभ साधन है। गीता व श्रीमद्-भागवत भागवत-धर्म के प्रधान ग्रन्थ माने जाते हैं। पिछले एक हजार साल में भारत के सब भागों में साधु-सन्तों व भक्तों ने मुख्यतः इन्हीं दो ग्रन्थों का आश्रय लेकर भक्ति-पंथ का प्रचार किया है। गीता के मुकाबले में भागवत का प्रचार, बड़ा ग्रन्थ होने के कारण, कम है। भागवत स्पष्ट शब्दों में अद्वैत तत्व का ही प्रतिपादन करती है। इसके अनुसार भगवान् निर्गुण, सगुण, जीव तथा जगत—सब वही हैं। अद्वय तत्त्व सत्य है। उसी एक अद्वितीय परमार्थ को ज्ञानी लोग ब्रह्म, योगीजन परमात्मा, और भक्तगण भगवान् के नाम से पुकारते हैं। वही मूलरूप में निर्गुण और उपाधि से सगुण कहलाते हैं। सत्वगुण की उपाधि से अवच्छिन्न होने पर वही निर्गुण ब्रह्म प्रधानतया विष्णु, रुद्र, ब्रह्मा तथा पुरुष—चार प्रकार का सगुण रूप धारण करता है। शुद्ध सत्वावच्छिन्न चैतन्य को विष्णु, रजोमिश्रित को ब्रह्मा और तमो मिश्रित को रुद्र, तथा तुल्य-बल रज-तम से मिश्रित का पुरुष कहते हैं। परब्रह्म ही जगत के स्थित्यादि व्यापार के लिए भिन्न-भिन्न अवतार

धारण करते हैं। पुरुष से भिन्न-भिन्न अवतार उदय होते हैं। भगवत्-प्राप्ति का एकमात्र उपाय 'भक्ति' ही है। यही मुक्ति का प्रधान साधन है। ज्ञान व कर्म भी भक्ति के उदय होने से ही सार्थक होते हैं। वे परस्पर मुक्ति के साधक हैं, स्वतन्त्र या प्रत्यक्ष रूप से नहीं। कर्म-फल भगवान् के अर्पण कर देना उनके विष-दन्त को तोड़ देना है।

भक्ति दो प्रकार की है—साधनरूपा व साध्य-रूपा। साधन-भक्ति नौ प्रकार की है। साध्य-रूपा या फल-रूपा भक्ति प्रेममयी होती है, जिसके सामने भक्त मुक्ति को भी नहीं चाहता। संक्षेप में यही भागवत-धर्म की रूप-रेखा है। वैसे तो सारी भागवत में इसीका निरूपण किया गया है।

सन्त एकनाथ ने भागवत-धर्म का मर्म इन शब्दों में प्रकट किया है—"दारा, सुत, ग्रह, प्राण, सब भगवान को अर्पण कर देना चाहिए। यही पूर्ण भागवत-धर्म है। मुख्यतः इसीका नाम भजन है।"

"साधु-सन्तों से मैत्री करो, सबसे पुराना परिचय (प्रेम) रखो। सबके श्रेष्ठ सखा बनो। सबके साथ समान रहो।"

"भगवान् की आचार-सहित भक्ति सब योगों का योगद्वार, वेदान्त का निज भंडार और सकल सिद्धियों का परम सार है।"

गृहस्थाश्रम में रहकर भी जिसका चित्त मेरे (भगवान के) रंग में रंग गया और इस कारण जिसकी गृहासक्ति छूट गई, उसे गृहस्थाश्रम में भी मेरी प्राप्ति होती है और निज बोध में ही सारी सम्पत्ति मिल जाती है।

: २ :

भारतवर्ष

कुछ लोगों की राय है कि दुष्यन्त-पुत्र भरत के नाम से इसका नाम भारतवर्ष पड़ा। श्री जयचन्द्र विद्यालंकार का भी झुकाव इसी बात की ओर है। ऋषभ-पुत्र भरत को या तो वह कल्पित व्यक्ति मानते हैं या प्रागैतिहासिक।

पुराणों में 'जम्बुद्वीप' शब्द प्रायः आता है। पालि में 'जम्बुद्वीप' सदा 'भारत-वर्ष' के ही अर्थ में आता है।

प्राचीन प्रथा के अनुसार भारतवर्ष के पांच स्थल (विभाग) थे। भारत का

प्राचीनकाल कुछ थोड़े दिनों या बरसों का न था। उस समूचे काल में भारत के भौगोलिक विभाग और प्रदेशों के नाम एक-से न रहे थे। जातिकृत और राजनैतिक परिवर्तनों के अनुसार भौगोलिक संज्ञाएं व परिभाषाएं भी बदलती रही हैं। तो भा बहुत-सी संज्ञाएं व परिभाषाएं अनेक युगों तक चलती रही हैं।

मध्यदेश (सरस्वती व दृषद्वती—वर्तमान सरसुती व घाघर, जो पंजाब में हैं, इनके कांठे से कम-से-कम प्रयागराज तक का प्रदेश) बौद्धधर्म की आचार-पद्धति (विनय) के अनुसार आजकल का बिहार भी मध्यदेश का अंश, बल्कि मुख्य अंश है, और उसकी पूरबी सीमा कजंगल कस्बा (संथाल परगने का कीकजोल) तथा सलिलावती नदी (आधुनिक सलई) है, जो झाड़खण्ड के पहाड़ों से मेदिनीपुर की तरफ बहती है। नैपाली लोग इस मध्यदेश के निवासियों को आज भी मदेसिया या मधेसिया कहते हैं और उनके मदेसियों में बिहार के लोग भी निश्चय से शामिल हैं। मध्यदेश की दक्खिनी सीमा प्रायः पारियात्र या विन्ध्याचल माना जाता था। उस मध्यदेश के पूरब, दक्खिन, पश्चिम और उत्तर के स्थल क्रमशः प्राची, दक्षिणापथ, अपरान्त या पश्चिम देश और उत्तरापथ कहलाते थे।

जब प्रयाग तक मध्यदेश माना जाता था तब काशी मिथिला (उत्तर बिहार) और उसके पूरबी छोर पर का अंगदेश (आधुनिक भागलपुर जिला) तथा उसके साथ बंगाल, आसाम, उड़ीसा के सब प्रदेश पूरब (प्राची) में गिने जाते थे। अब भी पश्चिमी बिहार की भोजपुरी बोली की एक शाखा, जो उसके सबसे पच्छिमी हिस्से में बोली जाती है, 'पूरबी' कहलाती है। पच्छिमवालों के लिए वही ठेठ पूरब है! वे उस इलाके के लोगों को पुरबिया कहते हैं, जबकि और पूरब बंगाल के रहनेवालों को बंगाली। ठेठ नैपाल (काठमाण्डू) की भी कामरूप (आसाम) के साथ-साथ पूरबी देशों में ही गिनती होती। दक्षिण कोशल (छत्तीसगढ़) कभी पूरब में और कभी दक्खिन में (दक्षिणापथ) में गिना जाता।

आडावला और सह्याद्रि को एक रेखा मान लें तो उसके पच्छिम के प्रदेश अर्थात् मारवाड़, सिन्ध, गुजरात और कोंकण अपरान्त या पच्छिमी आंचल में गिने जाते। वैसे मध्यदेश और पच्छिम की ठीक सीमा 'देवसभ' थी, किन्तु वह कौन-सी जगह थी, उसका पता आज हमें नहीं है। बहुत सम्भव है कि वह सरस्वती के 'विनशन' या 'अदर्श' (गुम होने की जगह) की देशान्तर रेखा में कोई जगह रही हो और सरस्वती नदी के तट पर पृथूदक नगर (कर्नाल जिले के पिहोवा) से

उत्तर तरफ के प्रदेश 'उत्तरापथ' में सम्मिलित थे। पिहोवा लगभग ठीक ३०३० अक्षांश रेखा पर है, इसलिए पृथूदक से उत्तर का अर्थ करना चाहिए—३०३० अक्षांश रेखा से उत्तर। इस प्रकार उस रेखा से उत्तर के वे प्रदेश जो देवसभ की देशान्तर रेखा के पच्छिम भी थे, उत्तरापथ में ही गिने जाते। पंजाब, कश्मीर, काबुल, बलख सब उत्तरापथ में शामिल होते। दर्रा बोलोन पिहोवा की अक्षांश-रेखा के तनिक ही दक्खिन है, इसलिए उसके उत्तर अफगानिस्तान उत्तरापथ में था और उसके दक्खिन कलात पच्छिम में।

मध्यदेश, पूरब व पच्छिम की सीमाओं पर एक जंगली प्रदेश की सीमा थी, जो आज भी बहुत-कुछ बची हुई है। वह मगध की दक्खिनी पहाड़ियों से शुरू होकर मध्य गोदावरी के अंचल में बस्तर तक फैली है। पूरबी घाट का धोवन गोदावरी में लानेवाली शबरी व इन्द्रावती नदियों के बीच का दोआब बस्तर का जंगली प्रदेश है। उसके पच्छिम वेणगंगा के कांठे में आधुनिक महाराष्ट्र के चांदा, नागपुर और भण्डारा जिले हैं। प्राचीन काल में वे भी जंगली प्रदेश के अंश थे। छत्तीसगढ़ के द्वारा ये गोदावरी-तट के जंगल प्रदेश झाड़खण्ड या छोटा नागपुर के जंगलों से जा मिलते और उस लम्बी वन-मेखला को बना देते हैं, जो बिहार, उड़ीसा, छत्तीस-गढ़, महाराष्ट्र और आन्ध्र (तेलंगण) की सीमाओं पर अबतक बनी हुई है।

विन्ध्याचल के पच्छिमी छोर पर अर्थात् मध्यदेश, अपरान्त और दक्षिणापथ की अथवा आधुनिक राजस्थान, गुजरात व खानदेश की सीमाओं पर भी एक जंगली प्रदेश था, जिसमें अब भी भील लोग रहते हैं।

स्व० श्री ओझाजी (जयपुर) के मतानुसार ब्रह्मदेव ने पृथिवी को पद्म मान-कर आठ भागों में विभक्त किया, जो पुराणों में पाद्म भुवनकोष नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस विभाग में देव-त्रिलोकी व आसुर-त्रिलोकी नामक दो संस्थाएं बनाई गईं। ९० अंशात्मक भारतवर्ष को देवत्रिलोकी का मनुष्य-लोक माना गया। भारतवर्ष की मध्यरेखा उज्जैन है, पूर्वी सीमा चीन-समुद्र (मलोसी पीत समुद्र) पश्चिम की सीमा महीसागर (मेडीटरेनियन समुद्र), दक्षिण सीमा निरक्षवृत्त—स्थानीय लंका, उत्तर सीमा शर्यणावत (शिवालिक पर्वत) थी। इस महाविशाल भारतवर्ष के सम्राट् वैवस्वत मनु बनाये गए। मनु के सम्बन्ध से ही यह लोक मनुष्यलोक, एवं यहां की प्रजा मानव नाम से प्रसिद्ध हुई। अग्नि देवता यहां के अधिष्ठाता, शवसोनपात् (वाइसराय) बनाये गए। मनुष्यलोक का भरण-पोषण

करने के कारण ही यह अग्नि 'भारत' कहलाये जैसा कि 'अग्ने महा असि ब्राह्मण भारतेति' (यजु० सं०) इत्यादि से सिद्ध है। भारत अग्नि द्वारा शासित होने से ही यह लोक भारतवर्ष कहलाया था, एवं यहां की प्रजा भारतीय कहलाई। मनु के पुत्र इक्ष्वाकु ने अपने दस भाइयों में बांटकर भारतवर्ष के दस भाग कर दिये।

यह सीमा किंवा सीमा-विभाजक शर्यणावत पर्वत निरक्ष देश से लगभग ३७॥ अक्षांश पर है। ईरान (आर्यायण) अर्बस्तान, काबुल (कुभा) कन्धार (गान्धार) बलख (बाल्हीक, जो कि देवयुग में वरुण की राजधानी थी) बुखारा, (पुष्कर—जो कि ब्रह्मा की निवास-भूमि थी) आदि सब प्रान्त भारतवर्ष के अवयव हैं।

"एतत्तु भारतवर्षं चतुः संस्थान संज्ञितलम्।
दक्षिणा परतो ह्यस्य पूर्वेण च महोदधिः॥
हिमवानुत्तरेणास्य कार्म्मुकस्य यथागुणः।" (मार्कण्डेय पु० अ० ५४)

"आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्। तयोरेवान्तरं गिर्योरार्य्यावर्त्तं प्रचक्षते।" (मनु० २-२२)

: ३ :

प्राकृत-सृष्टि

"तब भगवान के द्वारा सृष्टि-रचना में प्रवृत्त किये हुए ब्रह्माजी ने अत्यन्त विशाल ब्रह्माण्ड-कमल के (भूः, भुवः, स्वः रूप से) तीन भाग किये।

"पहले सम्पूर्ण विश्व भगवान की माया से लीन होकर ब्रह्मरूप में स्थित था। उससे ही अव्यक्त मूर्ति काल-स्वरूप ईश्वर ने फिर प्रकट किया। यह जगत जैसा अब है, ऐसा ही आगे रहेगा और इससे पूर्व भी ऐसा ही था। इसकी प्राकृत और वैकृत भेद से नौ प्रकार की सृष्टि है तथा प्राकृत व वैकृत सृष्टि को मिलाकर एक दसवीं सृष्टि और कही जाती है। सबसे पहली सृष्टि महत् तत्त्व की है। भगवान की सत्ता से तत्व, रज, तम इन तीन गुणों में विषमता होना ही महत् तत्त्व है। दूसरी सृष्टि अहंकार की है, जिससे पृथिवी आदि पंचभूत एवं ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति होती है तथा जिसमें स्थूल भूतों के उत्पन्न करने की शक्ति रहती है वह पंचतन्मात्रा-रूप भूत-सूक्ष्म तीसरी सृष्टि है। चौथी सृष्टि इन्द्रियों की है, जो ज्ञान व क्रियाशक्ति से युक्त होती है। पांचवी सृष्टि सात्विक अहंकार से

उत्पन्न हुए इन्द्रियाधिष्ठाता देवताओं की है। मन भी इसी सृष्टि के अन्तर्गत है। छठी सृष्टि तामिस्रादि पांच प्रकार की अविद्या की है, जो जीवों की बुद्धि का आवरण और विक्षेप करती है। यह छः प्रकार की प्राकृत सृष्टि है। अब वैकृत सृष्टि सुनो।

"स्थावरों की जो छः प्रकार की सृष्टि है, वही वैकृत सर्ग में प्रधान सातवीं सृष्टि है। स्थावर छः प्रकार के हैं—वनस्पति, औषधि, लता, त्वक्सार, वीरुध और द्रुम। इनका आहार नीचे से ऊपर जाता है। इनकी ज्ञानशक्ति प्रकट नहीं होती। इन्हें भीतर-ही-भीतर केवल स्पर्श का ज्ञान होता है और इनमें से प्रत्येक में कोई विशेष गुण होता है। आठवीं सृष्टि तिर्यग्योनियों (पशु, पक्षी आदि) की है। इनके अट्ठाईस भेद कहे जाते हैं। इन्हें काल का ज्ञान नहीं होता। तमोगुण की अधिकता होने से केवल खाना-पीना ही जानते हैं। इन्हें केवल सूंघकर ही पदार्थ का ज्ञान होता है और हृदय में किसी प्रकार की विचार-शक्ति नहीं होती। इनमें गौ, बकरी, भैंस, कृष्णमृग, सूकर, नीलगाय, ससा, भेड़ और ऊंट ये नौ पशु द्विशफ (चिरे हुए खुरोंवाले) होते हैं। गधा, घोड़ा, खच्चर, ये एक शफ (एक खुरवाले) पशु कहलाते हैं। कुत्ता, गीदड़, भेड़िया, बाघ, बिलाव, खरगोश, सिंह, वानर हाथी, कछुआ, गोह और मकरादि पांच नखवाले हैं। कंक, गिद्ध, बटेर, बाज, मयूर, हंस, सारस, चकवा, कौआ और उल्लू आदि जीव पक्षी कहलाते हैं। जिसके आहार का प्रवाह नीचे की ओर होता है, वह मनुष्यों की एक ही नवीं सृष्टि है। ये रजःप्रधान कर्म-परायण और दुःख में ही सुख माननेवाले होते हैं। स्थावर, तिर्यक् व मनुष्य व आगे का कहा जानेवाला देवसर्ग वैकृत सृष्टि है। वैकारिक देवसर्ग की गणना पहले प्राकृत सर्ग से कर आये हैं तथा सनत्कुमार आदि ऋषिगण का कौमार सर्ग प्राकृत-वैकृत दोनों प्रकार का है। देव-सर्ग आठ प्रकार का है—देवता, पितर. असुर, गन्धर्व, अप्सरा, यक्ष-राक्षस, सिद्ध-चारण, विद्याधर, भूत-प्रेत-पिशाच, किन्नरादि यह दसवीं सृष्टि हुई। (भा० स्कं० ३।१०)

: ४ :

काल

"जो सत्वादि गुणों के महत्तत्त्वादि रूप परिणामों से परिच्छिन्न-सा प्रतीत होता है, परन्तु वस्तुतः निर्विशेष और प्रतिष्ठा-रहित—(आदि-अन्त-

शून्य) है उसीका नाम काल है। भगवान परमपुरुष इस काल को निमित्त बनाकर लीला से अपने-आपको ही उत्पन्न करते हैं।" (भा० स्कं० ३।१०।११)

"जो कार्य-रूप पृथिवी आदि स्थूल पदार्थों का अन्तिम भाग है (जिसका और विभाग नहीं हो सकता) तथा जो कार्यावस्था को अप्राप्त असंयुक्त एवं नित्य है, उसे परमाणु जानना चाहिए। उनके परस्पर मिलने से ही मनुष्य को भ्रमवश साकार वस्तु की प्रतीति होती है।

"जिसका चरम अंश परमाणु है, उस अपने स्वरूप में स्थित सम्पूर्ण कार्यवर्ग की एकता का नाम ही 'परम महान्' है, जो सर्वदा निर्विशेष-रूप है।

"इसीके समान परमाणु आदि संस्थानों में व्याप्त होने के कारण व्यक्त पदार्थों को भोगनेवाले उत्पत्ति आदि में दक्ष अव्यक्त भगवान काल की भी सूक्ष्मता और स्थूलता का अनुमान किया जाता है।

"जो काल परमाणु में व्याप्त रहता है, वह परमाणु-रूप है; और जो सम्पूर्ण निर्विशेष कार्यवर्ग का भोग करता है, वह अति महान् है।"

(भाग० स्कं० ३।११।१ से ४)

"कोई पुरुष के प्रभाव को ही 'काल' कहते हैं, जिससे माया के कार्य-रूप देह में आत्मत्त्व का अभिमान करके अहंकार से मोहित हुए और अपनेको कर्त्ता माननेवाले जीव को निरन्तर भय रहता है। जिनकी प्रेरणा से गुणों की साम्यावस्थारूप निर्विशेष प्रकृति में गति उत्पन्न होती है, यह 'भगवान काल' है। इस प्रकार भगवान अपनी माया के द्वारा सब प्राणियों के भीतर जीवरूप से और बाहर काल-रूप से व्याप्त हैं।" (भाग० स्कन्ध ३, अ० २६, १६-१७)

: ५ :

प्रलय की कल्पना

वैज्ञानिक अभी इस बात का निश्चय नहीं कर पाये हैं कि यह विश्व सान्त है या अनन्त। पश्चिमी ज्योतिषी अलबत्ता इसे सान्त मानते दिखाई देते हैं। यदि ऐसा न होता तो तारों की संख्या अनन्त होती और यह आकाश एक प्रकाश की तरह दिखाई देता; क्योंकि तारों के बीच में खाली जगह नहीं छूटती। कुछ पदार्थ-विज्ञान-शास्त्री का झुकाव इसे अनन्त मानने की तरफ है, जो कि अनुमान पर आधा-

रित है। वैज्ञानिकों में सापेक्षवाद की कल्पना आइन्स्टीन ने निकाली है, जिसके अनुसार जगत सान्त है। हबल के मतानुसार विश्व का आयतन (Volume) ३८४,०००,०००,००० बिलियन, बिलियन, बिलियन घन मील है। यह वस्तु, आकाश या देश व काल के सिवा और कुछ नहीं है। देश वा काल के अन्तर्गत चक्रों के विविध और अनन्त समूहों का नाम ही वस्तु-सत्ता है। आइन्स्टीन के अनुसार देश या आकाश में वस्तु-सत्ता के आधिक्य से संकोच वा वक्रीकरण और उसकी अल्पता से प्रचार वा विवर्तन होता रहता है। देश की विशेषता समाई है। समाई से ही हम एक देश की कल्पना कर सकते हैं। एक ही देश में, एक काल में दो वस्तु-सत्ता की समाई नहीं हो सकती। देश की समाई दैर्घ्य, वैध व प्रस्थ (लम्बाई, चौड़ाई, ऊंचाई) इन तीन दिशाओं में विभक्त होती है। इन्हें देश के तीन तल भी कह सकते हैं। इसी समाई के अन्दर वस्तु-सत्ता गतिशील है। देश से ही अवकाश मिलता है और अवकाश के बिना गति असम्भव है। जैसे गति शक्ति का एक रूप है, वैसे ही अवकाश और देश भी धारण-सामर्थ्य है। यह भी शक्ति का ही एक रूप है। इसे हम भगवान की पराप्रकृति कह सकते हैं। 'ययेदं धार्यते जगत्'। वस्तु की स्थिति तो है ही, पर स्थिति का बना रहना, चौथी बात, परिमाण वा दिशा है। इसीको काल कहते हैं। कोई वस्तु या घटना चाहे एक पल होती या बनी रहे और चाहे एक युग या कल्प तक होती रहे, यह स्थिरता या सततता एक अलग परिमाण है, जिसे काल कहते हैं। देश जैसे वस्तु-सत्ता की मर्यादा है, काल उसी तरह घटना या कर्म की मर्यादा है। गतिशीलता के ओतप्रोत व्यापक होने के कारण वस्तु-सत्ता-मात्र घटनाओं का समूह है और काल—परिमाण—की मर्यादा में निरन्तर स्थिति के कारण देश में मर्यादित है। देश, काल व वस्तु-सत्ता की यह एक-रूपता, परस्पर सम्मिश्रता ही सापेक्षवाद कहलाता है। इसके मत में विश्व सान्त परन्तु अमर्यादित है। पृथिवी की सतह भी इसी तरह सान्त किन्तु अमर्यादित है। आप नाक की सीध पर घूमते चले जाइये तो सदा के लिए घूमते ही रहेंगे और आपके सामने नवीन स्थान आता ही चला जायगा। आपको पृथिवी की सतह का अन्त तो मिल जायगा पर स्थान का नहीं। विश्व या ब्रह्माण्ड का रूप ऊपर से एक बुद्बुद् की तरह है, जो वस्तु-सत्ता, देश और काल से बना हुआ है और जो सुकड़ता व फूलता रहता है। भीतर से विश्व को देखा जाय तो वह एक खाली सान्त स्थान देश या आकाश जैसा मालूम होगा, जिसमें २० लाख लोक या छोटे ब्रह्माण्ड एक हज़ार

मील फी सेकन्ड के हिसाब से ऊपर-नीचे घूमते नजर आते हैं।[1] इतने तो दूरबीन से देखे गए हैं और संभवतः कई लाख ऐसे होंगे, जो उससे भी नहीं दिखाई देते हैं। पृथ्वी से ये हमें नीहारिका (Nebulae—बादल से बने हुए तारा-पिण्डों को निहारिका कहते हैं।) के रूप में दिखाई देते हैं। आंखों से जो तारे (इनमें कई तारे तो इतने बड़े हैं कि हमारी सैकड़ों हजार पृथ्वी उसके पेट में समा जाय। बाज तो इतने विशाल हैं कि हमारी करोड़ों धरतियां उनमें अंट सकती हैं। इन तारों की संख्या तमाम समुद्रों के बालु-कणों से भी अधिक है।) हमें दिखाई देते हैं, वे हमारे इस छोटे ब्रह्माण्ड से सम्बन्ध रखते हैं। हमारा यह सौर जगत (सूर्य और उसके ग्रह) किसी सर्पिल नीहारिका से उत्पन्न हुआ होना चाहिए। हमारा अपना यह ब्रह्माण्ड आकाश में अन्य छोटे ब्रह्माण्डों की तरह बड़ी तेजी से घूम रहा है। एक नीहारिका उस स्थान पर है जहां आर्द्रा व मृगशीर्ष नक्षत्र हैं। उस व्यूह को ओरायन (Orion) कहते हैं। दूसरी नीहारिका या नभ-स्तूप—एंड्रोमेडा—भाद्रपद नक्षत्र के पास दिखाई देता है। ओरायन हमारे सौर चक्र से कई लाख गुना बड़ा है। ये अपने विस्तार की अपेक्षा हलके व पतले होते हैं। इनके बीच में से तारे देख पड़ते हैं। ये विभिन्न आकार के होते हैं। ये वाष्प-गैस-रूप हैं। इनके कण आकर्षण-नियम से एक दूसरे से बंधे हुए हैं।

वैज्ञानिकों का विश्वास है कि आदि में केवल आकाश था। इसी एक तत्व से अन्य सब द्रव्यों की उत्पत्ति हुई है। बीच के क्रमों का ठीक पता नहीं है; पर होते-होते वह अवस्था आती है जबकि आकाश (ether) का कुछ अंश वाष्प-रूप में परिणत हो जाता है। यह वह अवस्था है, जिसके विषय में वेदों ने कहा है—'तत्तेज असृजत्'। आकाश के बीच में दूर-दूर तक जलते हुए वाष्पों के समूह बन जाते हैं। यही नीहारिक या लोक या छोटे ब्रह्माण्ड हैं। ये जलते हुए वाष्पों के पुंज हैं। वाष्प के घनीभूत होने से छोटे-बड़े पुंज बन जाते हैं। बड़े सूर्य या तारे हैं और छोटे ग्रह कहलाते हैं। एक-एक लोक या नीहारिका में उसके परिमाण के अनुसार कई तारे होते हैं। जब ये ठंडे होने लगते हैं तो अधिक ठोस हो जाते हैं। बहुत ठंडा होने पर

---

[1] यही आशय भागवत् १०-८७-४१ में—"उसी प्रकार कालचक्र के द्वारा पृथ्वी आदि आवरणों के साहित अनन्त ब्रह्माण्ड-समूह आपमें एक ही साथ घूम रहे हैं।" इस प्रकार काम किया गया है।

तारा काला पड़ जाता है। और यदि किसी ज्वलन्त तारे से टकरा गया तो जल उठता है। और सम्भव है फिर वाष्प में परिणत हो जाय या भस्म होकर फिर भाप बन जाय।

ग्रहों की उत्पत्ति भी तारों की तरह नीहारिकाओं से है। इनका भी जीवन-चरित्र तारे की तरह ही है। ये किसीके साथ बंधे होते हैं। हमारा सूर्य एक तारा ही है। पृथ्वी उसका एक ग्रह है। ग्रह का ताप ठंडा होने से बीच का भाग घन और आस-पास का तरल हो गया। यह तरल द्रव्य या पानी नीचे गिरता था; पर तप्त ठोस भाग से उचटकर फिर ऊपर उड़ जाता था। इस प्रकार निरन्तर पानी का बरसना और बादलों का बनना आरम्भ हुआ। इससे सूर्य, चन्द्रमा, तारे आदि अदृश्य थे। तब न दिन था, न रात। ऋतु भी एक-सी थी। क्रमशः पृथ्वी का पृष्ठ ठंडा हुआ। अब जल स्थान-स्थान पर एकत्र होने लगा। जहां एकत्र हुआ वहीं समुद्र बन गया। इससे बादल कम हुए व सूर्य के दर्शन हुए। तब दिन, रात, मास, वर्ष की उत्पत्ति व स्थिति हुई। (ततो रात्र्यजायत, ततः समुद्रो अर्णवः, समुद्रा-दपर्णवादधि संवत्सरो अजायत।) फिर क्रमशः नदियों, पहाड़ों, चट्टानों की रचना हुई और भूतल क्रमशः कीट, जलचर, नभचर, स्थलचर आदि के योग्य होता हुआ मनुष्यों के बसने योग्य हो गया। यह पृथ्वी की प्रौढ़ावस्था है, और हम इसकी इस अवस्था में इसपर निवास कर रहे हैं। कुछ दिनों में यह दशा भी जाती रहेगी। पृथ्वी पर वायु व जल की कमी हो जायगी व वह मंगल की अवस्था को प्राप्त हो जायगी। पृथ्वी को उत्पन्न हुए कई लाख वर्ष हो चुके हैं, और इसे मृत होने में और कई लाख साल लगेंगे। अनुमान होता है कि यह भस्म होकर ही नाश होगी। सूर्य दिन-दिन बूढ़ा हो रहा है। मरने के पहले कभी तो बुझते हुए दीपक की तरह भभक उठेगा और कभी ठंडा-सा हो जायगा। जब भभकेगा तो उससे बड़ी ज्वा-लाएं उठेंगी और उस ताप से भस्म होकर वाष्प हो जायगी। यदि इससे बच भी गई तो जब कभी सूर्य किसी प्रकार के भी जोतिष्पिण्ड से टकरायगा तो यह स्वाहा हो जायगी। प्रलय के समय इसे अनेक सूर्यों की ज्वालाएं सहन करनी पड़ेंगी। यही दशा एक रोज सब ग्रहों की हो जायगी।

सर जेम्स जीन्स 'मिस्टीरियस यूनिवर्स' में लिखते हैं—कोई दो अरब साल पहले अचानक एक तारा आकाश में भटकते हुए सूर्य के निकट पहुंच गया। सूर्य व चन्द्र के द्वारा जैसे पृथ्वी पर लहरें उठती हैं वैसी ही भयंकर लहर उससे सूर्य में

उत्पन्न हुई, जो एक महान् पर्वत की तरह ऊंची उठ गई और अगणित ऊंचाई तक उठती चली गई। फिर यह लहर-पर्वत फूटकर बिखरा, जिससे असंख्य टुकड़े चारों ओर फैल गये व सूर्य के आस-पास घूमने लगे। यही छोटे-बड़े ग्रह हैं, जिनमें हमारी पृथ्वी भी एक है।

शुरू में वैज्ञानिकों का खयाल था कि विश्व एक यन्त्र की तरह है, पर अब वह 'एक कल्पना' (Idea-thought) है, इस तरफ बढ़ रहे हैं। एक यह विचार भी है कि विश्व तरंगमय है। सरजान वुडरफ का मत है कि पाश्चात्य विज्ञान के अनुभव इसी सिद्धान्त को सत्य करने जा रहे हैं कि यह विश्व ब्रह्म-स्पन्दन का एक बुद्बुद् है, जिसका स्वरूप हमारी कल्पना में समाया हुआ है।

: ६ :

सृष्टि-रचना की विभिन्न कल्पनाएं

१. सांख्य-मतानुसार
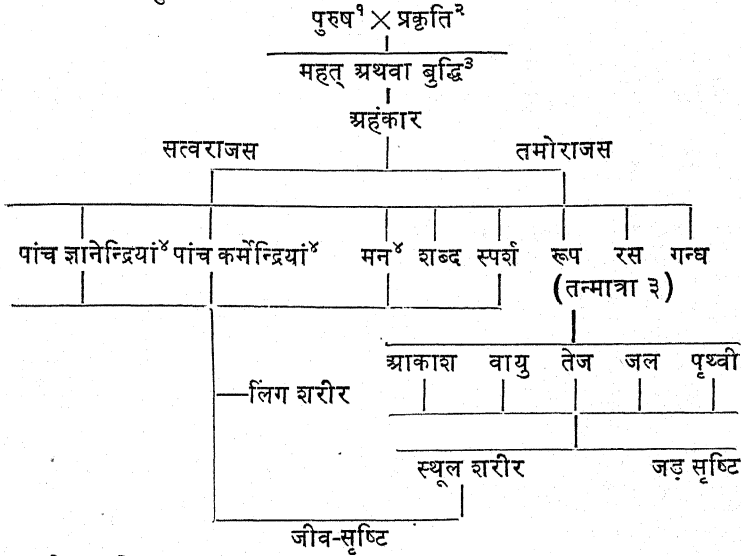
२. वेदान्त के अनुसार
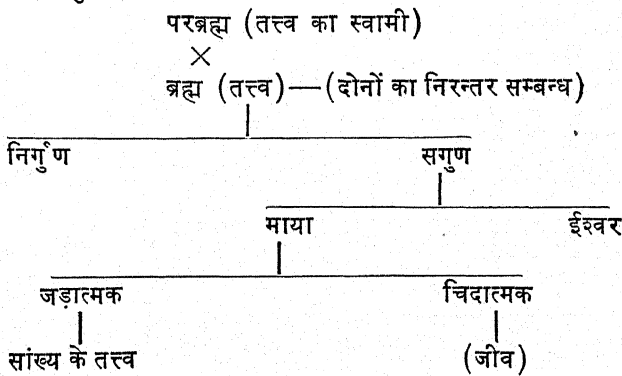
[1]न प्रकृति न विकृति, [2]प्रकृति, [3]प्रकृति-विकृति—तन्मात्रा=सूक्ष्म महाभूत, [4]विकृति।

३. श्री कि० घ० मश्रुवाला के मतानुसार

(पुरुष × प्रकृति)
सच्चित्प्रसादात्मक या त्रिगुणात्मक

अव्यक्त
(अदृश्य, पुरुष या प्रकृति कहलाता है)

व्यक्त
(दृश्य कहलाता है)

अहंकार

महत
(छः धर्म—धारण, आकर्षण, अपकर्षण, सायुज्य, वैयुज्य, संलग्नता)

(दो धर्म—स्वरूप धृति, प्रत्याघात)

तामस मुख्य — चार महाभूत ×
राजस मुख्य — छः मात्राएं—पांच कर्मेन्द्रियां ×
सात्विक मुख्य — चित्त और छः ज्ञानेन्द्रियां (मनसहित)
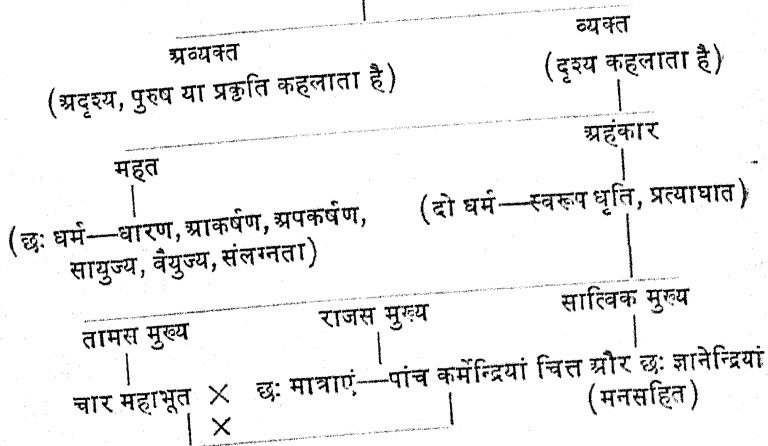
चित्तहीन — सृष्टि
चित्तयुक्त

४. श्री मधुसदनजी ओझा के मतानुसार, लेखक द्वारा निर्मित

अव्यय[1]

(निमित्त कारण) अक्षर[2]
क्षर[3] (उपादान कारण)

सृष्टि (शक्ति-गति-क्रियारूप, सूक्ष्म)

(स्थिति) प्रतिष्ठा
(नामरूप) ज्योति (ब्रह्म)
यज्ञ (अन्न—पदार्थ—वस्तु—स्थूल सृष्टि)

नाम

---
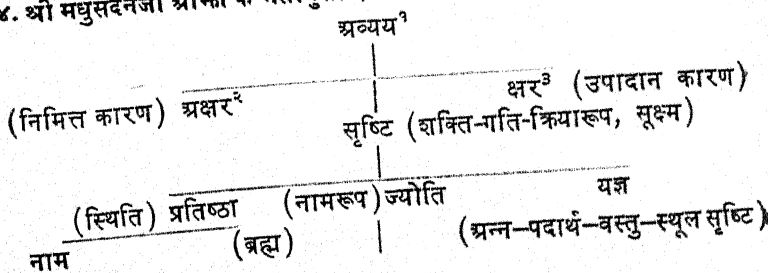
[1] **अव्यय**=१. तीन गुण—सत्, चित्, आनन्द।

तत्त्व ब्रह्मा (सृष्टिकर्ता) इन्द्र (रुद्र और प्राण) विष्णु, अग्नि, सोम ×

ब्रह्मा (सृष्टिकर्ता)	इन्द्र	प्राण	विष्णु, अग्नि	सोम ×
१. प्रथमज	(संहारक)	(सूर्य)	१. (यज्ञरूप, पालक)	यज्ञ
२. मूलाधार			२. अन्नाकर्षक सूत्र	अन्नादान विसर्गात्मक
३. गति-समुच्चय				

१. { इन्द्र + अग्नि + सोम = शिव (ज्योतिर्मय)
अग्नि + सोम = यज्ञ

२. { ब्रह्मा + विष्णु + इन्द्र = अन्तर्यामी व संचालक (सृष्टिरूपी यज्ञ के)
अग्नि + सोम = वस्तु

× सोम = अन्न, अग्नि = आहुति-स्थान, विष्णु = अन्नाकर्षक सूत्र।

---

२. तीन शक्ति—ज्ञान, क्रिया, अर्थ।

३. पांच कला—मन, प्राण, वाक्, (सत्) विज्ञान, (चित्) आनन्द (तीन गुण से पांच कलाएं)

४. शक्तिरूप परन्तु निष्क्रिय है।

५. 'पर' व 'ब्रह्म' भी कहलाता है।

६. अक्षर व क्षर दोनों का अवलम्बन कारण है।

७. ज्ञान का विकास है।

[2]**अक्षर**

१. शक्तिमान्—क्रियावान् है, ईश्वर कहलाता है।

२. क्रिया का विकास है।

३. सृष्टिकर्त्ता है (ज्ञानमय ताप से सृष्टि होती है)

४. निमित्त कारण है।

५. अव्यय के ज्ञान अंश से सर्वज्ञ, क्षररूप अर्थ से सर्ववित् है।

६. क्षर से पर, अव्यय से अवर होने से परावर कहलाता है।

७. अव्यय की पराप्रकृति है।

[3]**क्षर**

१. निष्क्रिय द्रव्य है

२. अर्थ का विकास है।

३. अव्यय की अपरा प्रकृति है।

४. सृष्टि का उपादान कारण है।

५. अवर ब्रह्म कहलाता है।

६. इसीको विश्व कह सकते हैं।

: ७ :

वेद

चारों वेदों की शाखाएं इस प्रकार हैं—ऋग्वेद—२१, यजुर्वेद—१०१, सामवेद—१००० और अथर्ववेद—९, कुल ११३१। इनमें से आजकल दो-चार शाखाएं मिलती हैं। इनमें विज्ञान, स्तुति व इतिहास मुख्य विषय हैं। इनके अतिरिक्त सूत्ररूप से, कर्म, उपासना, ज्ञान का निरूपण किया गया है। मंत्र, ब्रह्म, ऋषि, आदि विविध नामों से प्रसिद्ध हैं। इनका एक भाग ब्राह्मण कहलाता है। कर्म, उपासना, ज्ञानभेद से क्रमशः विधि, आरण्यक, उपनिषद्—ये तीन विभाग हो गये हैं। विधि-भाग को ब्राह्मण, उपासना को आरण्यक और ज्ञान को उपनिषद् कहते हैं। संहिता, विधि, आरण्यक और उपनिषद्—यह चार पर्व मिलकर एक शाखा होती है। संहिता मूल वेद है। शेष तीनों का समुच्चय 'तूल' वेद है। संहिता ब्रह्म है, शेष तीनों ब्राह्मण कहलाते हैं। ब्रह्म-ब्राह्मण का समुच्चय वेद है। मंत्र—ब्राह्मणात्मक वेदों का अन्तिम भाग उपनिषद् है। उपनिषद् वेदान्त नाम से प्रसिद्ध है। वेदादेश का चरम लक्ष्य ज्ञानप्राप्ति है। ज्ञान ही वेदान्त है। वेद ईश्वर की वाणी है—निवास है। ईश्वर साक्षात् वेदमूर्ति है। वेद भारतीय धर्म तथा दर्शन के प्राण हैं। भारतीय धर्म में जो जीवनीशक्ति दीखती है, उसका मूल कारण वेद ही हैं। वेद अक्षय विचारों का मान-सरोवर है, जहां से विचारधारा प्रवृत्त होकर भारत-भूमि के मस्तिष्क को उर्वर बनाती हुई निरन्तर बहती है तथा अपनी सत्ता के लिए उसी उद्‌गम भूमि पर अवलम्बित रहती है। यह केवल भारतीय साहित्य के ही सर्वप्रथम ग्रन्थ नहीं हैं, प्रत्युत् मानवमात्र के इतिहास में इनसे बढ़कर प्राचीन ग्रन्थ अभी तक नहीं मिले हैं। भारतीय कल्पना के अनुसार वेद नित्य हैं, निखिल ज्ञान के अमूल्य भाण्डागार हैं, धर्म को साक्षात् करनेवाले महर्षियों के द्वारा अनुभूत परमतत्त्व के परिचायक हैं। इष्ट-प्राप्ति तथा अनिष्ट-परिहार के अलौकिक उपाय को बतानेवाले ग्रन्थ वेद ही हैं। वेद की 'वेदता' इसीमें है कि वे प्रत्यक्ष से अगम्य तथा अनुमान के द्वारा अनुद्भावित अलौकिक उपाय का बोध कराते हैं।

वेद के दो विभाग हैं—मन्त्र तथा ब्राह्मण। किसी देवता-विशेष की स्तुति में प्रयुक्त होनेवाले अर्थ-स्मारक वाक्य को मन्त्र कहते हैं तथा यज्ञानुष्ठान का विस्तारपूर्वक वर्णन करनेवाले ग्रन्थ को ब्राह्मण। मन्त्रों के समुदाय को संहिता कहते हैं।

वेदों का दूसरा नाम श्रुति भी है। साक्षात् कृतधर्मा महर्षियों के प्रातिभ चक्षुओं के द्वारा अपरोक्ष रूप से अनुभूत अध्यात्म तत्त्वों की राशि ही का दूसरा नाम श्रुति है। इसीलिए भारतीय दर्शन में वेदों की इतनी महत्ता है।

अव्यय ब्रह्म सर्वथा एक-रस रहते हुए भी उपाधिभेद से ब्रह्म, विद्या, और वेद इन तीन स्वरूपों में बंट जाता है। प्रातिस्विक—सूक्ष्म—दृष्टि से ब्रह्म, विद्या, वेद तीनों पृथक् तत्त्व हैं। किन्तु अव्यय दृष्टि से तीनों अभिन्न हैं। यही कारण है जो "त्रयंब्रह्म सनातनम्" (मनुः) "त्रयोवेदाः" "सैषात्रयी विद्यातपति" इत्यादि रूप से ऋषि तीनों का अभेद-रूप में व्यवहार करते हैं।

वेद सच्चिदानन्द-घन अव्यय ईश्वर का निःश्वास, सत्ता अस्तित्व, अस्तित्व एवं जिसका परिज्ञान है वही तीसरा तत्त्व 'रस' (आनन्द) है, वस्तु की उपलब्धि (प्राप्ति) वेद है। दूसरे शब्दों में उपलब्ध पदार्थ ही वेद है। इस उपलब्धि में रस, चित्, सत् तीनों अंश हैं। आप एक पुस्तक उपलब्ध करते हैं। "पुस्तक है। उसे आप जानते हैं", इस वाक्य में 'पुस्तक' 'है' 'जानते हैं' तीन अंश हैं। इसमें पुस्तक 'रस' है—'है' सत्ता है, 'जानते हैं'—'चिदंश' है। तीनों के समन्वय से पुस्तक का रूप सम्पन्न हो रहा है। यही वेद है। वेद में तीनों हैं, अतएव वेद पदार्थ का—'विद्यते इति वेदः' 'वेत्ति इति वेदः' 'विन्दति इति वेदः' तीनों प्रकार से निर्वचन किया जा सकता है। सत्तार्थक 'विद्' से विद्यते, ज्ञानार्थक 'वेद' से वेत्ति, लाभार्थक 'विद्' से विन्दति बनता है। 'विद्यते' सत्ता-भाव का, 'वेत्ति' ज्ञान-भाव का सूचक है एवं विन्दति रस-भाव समर्पक है। अतः प्रत्येक पदार्थ सच्चिदानन्द है, वेद है।

अग्नि-सोमात्मक यज्ञ द्वारा वेद-सत्य वितत होता है। ऋग्वेद अग्नि की प्रतिष्ठा, यजुर्वेद वायु की, सामवेद आदित्य की, और अथर्व सोम की प्रतिष्ठा है। इस तरह अग्नि, वायु, आदित्य और वरुण (सोम) की प्रतिष्ठा रूप, ऋक्, यजु-साम-अथर्व-भेद-भिन्न वेद अग्नि रूप हैं। प्राकृतिक नित्य अपौरुषेय वेद का मूर्ति-पिण्ड ऋग्वेद, बहिर्वितत तेजोमण्डल साम, साम एवं ऋगन्तः पाती गतिभावापन्न प्राण-तत्त्व यजुः है। तीनों का अधिष्ठाता ब्रह्म सोम अथर्व है।

: ८ :

गांधीजी ब्रह्मचर्य-सम्बन्धी के विचार

"ब्रह्मचर्य सत्य अर्थात् परमेश्वर-प्राप्ति का साधन है। जिसने सत्य का आश्रय लिया है, उसकी उपासना करता है, वह दूसरी किसी भी वस्तु की आराधना करे तो व्यभिचारी बन गया। फिर विकार की आराधना की ही कैसे जा सकती है? जिसकी प्रवृत्तियां सत्य के दर्शन के लिए ही हैं, वह सन्तान-उत्पन्न करने या घर-गिरस्ती चलाने में पड़ ही कैसे सकता है? भोगविलास द्वारा किसीको सत्य प्राप्त होने की आज तक एक भी मिसाल हमारे पास नहीं है। अहिंसा के पालन को लें तो उसका पूरा-पूरा पालन भी ब्रह्मचर्य के बिना असाध्य है। अहिंसा अर्थात् सर्व-व्यापी प्रेम। जिस पुरुष ने एक स्त्री को या स्त्री ने एक पुरुष को अपना प्रेम सौंप दिया, उसके पास दूसरे के लिए क्या बच गया? इसका अर्थ यह हुआ कि हम दो पहले और दूसरे सब बाद को। पतिव्रता स्त्री पुरुष के लिए और पत्नीव्रती पुरुष स्त्री के लिए सर्वस्व होमने को तैयार होगा। इससे स्पष्ट है कि उसमें सर्व-व्यापी प्रेम का पालन हो ही नहीं सकता, क्योंकि उसके पास अपना माना हुआ एक कुटुम्ब मौजूद है या तैयार हो रहा है। जितनी उसकी वृद्धि उतना ही सर्व-व्यापी प्रेम में विक्षेप होगा। सारे जगत् में हम यही होता हुआ देख रहे हैं। इस-लिए अहिंसाव्रत का पालन करनेवाला विवाह के बन्धन में नहीं पड़ सकता। विवाह के बाहर के विकार की तो बात ही क्या?

"तब जो विवाह कर चुके हैं, उनकी क्या गति? उन्हें सत्य की प्राप्ति न होगी? हमने इसका रास्ता निकाल लिया है—विवाहित अविवाहित-सा हो जाय। इस बारे में इससे बढ़कर मुझे दूसरी बात नहीं मालूम हुई। इस स्थिति का मजा जिसने चखा है, वह गवाही दे सकता है। विवाहित स्त्री-पुरुष का एक-दूसरे को भाई-बहन मानने लग जाना सारे झगड़े से मुक्त हो जाना है। संसार भर की सारी स्त्रियां बहन हैं, माता हैं, लड़की हैं, यह विचार ही मनुष्य को एकदम ऊंचा ले जानेवाला है। बन्धन से मुक्त कर देनेवाला हो जाता है। इसमें पति-पत्नी कुछ खोते नहीं उल्टे अपनी पूंजी बढ़ाते हैं। कुटुम्ब बढ़ाते हैं। प्रेम भी विकाररूप मैल के निकल जाने से बढ़ता है। विकार चले जाने से एक-दूसरे के बीच कलह के अवसर कम होते हैं। जहां स्वार्थी एकांगी प्रेम है, वहां कलह के लिए ज्यादा गुंजाइश है।

"पूर्वोक्त प्रधान विचार कर लेने और उसके हृदय में बैठ जाने के बाद ब्रह्मचर्य से होनेवाले शारीरिक लाभ, वीर्य-रक्षा आदि बहुत गौण हो जाते हैं। जान-बूझकर भोगविलास के लिए वीर्य खोना और शरीर को निचोड़ना कितनी बड़ी मूर्खता है? वीर्य का उपयोग तो दोनों की शारीरिक और मानसिक शक्ति को बढ़ाने के लिए है। विषय-भोग में उसका उपयोग करना दुरुपयोग है। और इस कारण वह बहुत-से रोगों की जड़ बन जाता है।

"ऐसे ब्रह्मचर्य का पालन मन, वचन और काया से होना चाहिए। हमने गीता में पढ़ा है कि जो शरीर को बस में रखता हुआ जान पड़ता है पर मन से विकार का पोषण किया करता है, वह मूढ़, मिथ्याचारी है। सबको इसका अनुभव होता है। मन को विकारी रहने देकर शरीर को दबाने की कोशिश करना हानि-कारक है। जहां मन है वहां अन्त को शरीर भी घसिटाये बिना नहीं रहता। यहां एक भेद समझ लेना जरूरी है। मन को विकारवश होने देना एक बात है, और मन का अपने-आप अनिच्छा से बलात् विकार को प्राप्त हो जाना या होते रहना दूसरी बात है। इस विकार में यदि हम सहायक न बने तो अन्त में जीत ही है। हम प्रति-पल यह अनुभव करते हैं कि शरीर तो काबू में रहता है पर मन नहीं रहता। इस-लिए शरीर को तुरन्त ही वश में करके मन को वश में करने का हम सतत यत्न करते रहें तो हमने अपने कर्त्तव्य का पालन कर लिया। हम मन के अधीन हुए कि शरीर और मन में विरोध खड़ा हो जाता है। मिथ्याचार का आरम्भ हो जाता है। पर कह सकते हैं कि मनोविकार को दबाते ही रहने तक दोनों साथ-साथ जाने-वाले हैं।

"इस ब्रह्मचर्य का पालन बहुत कठिन लगभग असम्भव माना गया है। इसके कारण की खोज करने से मालूम होता है कि ब्रह्मचर्य का संकुचित अर्थ किया गया है। जननेन्द्रिय विकार के निरोध-मात्र को ही ब्रह्मचर्य-पालन मान लिया गया है। मेरी राय में यह अधूरी और गलत व्याख्या है। विषय-मात्र का निरोध ही ब्रह्म-चर्य है। जो और इन्द्रियों को जहां-तहां भटकने देकर केवल एक ही इन्द्रिय को रोकने का प्रयत्न करता है, वह निष्फल है। इसमें सन्देह क्या है? कान से विकार की बात सुनना, आंख से विकार उत्पन्न करनेवाली वस्तु देखना, जीभ से विकारो-त्तेजक वस्तु का स्वाद लेना, हाथ से विकारों को उभारनेवाली वस्तु को छूना और जननेन्द्रिय को रोकने का इरादा रखना आग में हाथ डालकर जलने से बचने का

उपाय करने जैसा है। इसलिए जो जननेन्द्रिय को रोकने का निश्चय करे उसका सभी इन्द्रियों को अपने-अपने विकारों से रोकने का निश्चय पहले किया हुआ होना चाहिए। मुझे सदा ऐसा जान पड़ रहा है कि ब्रह्मचर्य की संकुचित व्याख्या से नुकसान हुआ है। मेरा तो यह निश्चित मत और अनुभव है कि यदि हम सब इन्द्रियों को एक साथ वश में करने का अभ्यास करें तो जननेन्द्रियों को वश में करने का प्रयत्न शीघ्र ही सफल हो सकता है। इनमें मुख्य वस्तु स्वादेन्द्रिय है।"

: ९ :

ज्ञानदेव के अहिंसा-सम्बन्धी विचार

"अहिंसा का अनेक प्रकार से वर्णन किया गया है। और मताभिमानियों ने उसका निरूपण अलग-अलग किया है, परन्तु वह ऐसा है जैसे वृक्ष की शाखाएं काटकर तने के चारों ओर उनकी बागुर बनाई जाय अथवा जैसे अपने बाहु तोड़कर पकाये जायं व उनसे भूख की पीड़ा शान्त की जाय, अथवा किसी देवता का मन्दिर तोड़ बाग बनाई जाय, क्योंकि कर्मकाण्ड का निर्णय ऐसा है कि हिंसा से ही अहिंसा उत्पन्न होती है। वे कहते हैं कि अनावृष्टि के उपद्रव से सम्पूर्ण विश्व पीड़ित होता है। इसलिए अनेक पर्जन्यवृष्टि-यज्ञ करने चाहिए। परन्तु इन यज्ञों के मूल में स्पष्ट पशु-हिंसा ही रहती है। तो फिर उनसे अहिंसा का तट कैसे दिखाई दे सकता है ? केवल हिंसा बोइये तो क्या अहिंसा उपजेगी ? वास्तव में अहिंसा का शरीर में व्याप्त हो जाना मनुष्य के आचरण से जाना जाता है। जैसे कसौटी से सोने की जाति व्यक्त होती है वैसे ही ज्ञान व मन की भेंट होते ही अहिंसा का रूप प्रकट होता है। उसका स्वरूप सुनो—तरंगों को न लांघते हुए, लहरों को पांवों से न तोड़ते हुए, पानी की स्थिरता न मिटाते हुए, आमिष पर दृष्टि रखकर जैसे बगुला जल में झपटकर किन्तु धीरे-से पांव रखता है, अथवा भ्रमर जैसे केसर के टूटने के डर से कमल पर धीरे-से पांव रखता है वैसे ही परमाणुओं में छोटे-छोटे जीव भरे हुए जान जो पुरुष उनपर से अपने पांव करुणा से आच्छादित कर चलता है, जो जिस मार्ग से चलता है उसे करुणा से भर देता है, जिस दिशा की ओर देखता है उसे प्रेमपूरित कर देता है और जो अन्य जीवों के तले अपना जी बिछा देता है, इस प्रकार जिसके जतन से चलने का वर्णन अथवा परिमाण नहीं हो सकता; बिल्ली प्रेम से बच्चों को मुंह

में पकड़ती है तो जैसे उन्हें उसके दांतों की अणियां नहीं लगतीं अथवा वात्सल्यमयी माता बालक की बाट जोहती है तो उसकी दृष्टि में जैसी कोमलता होती है, अथवा कमल-दल को धीरे-धीरे हिलाकर ली हुई वायु जिस प्रकार नेत्रों को मृदु लगती है; वह आहिस्ता चलते हुए यदि कृमि-कीटक देख ले तो सोचकर धीरे-से पलट जाता है। जीव जानकर तृण को भी नहीं बांधता तो फिर किसी जीव की अवगणना करके जाने की बात ही क्या? जिसकी चाल में कृपा-रूपी फूल और फल आते हैं और जिसके वाचिक कर्म यदि देखो तो ऐसा मालूम होता है मानो उसकी वाणी से दया जीवन धारण करती है, जिसका श्वास लेना ही सुकुमार है, जिसका मुख प्रेम का नैहर—अटूट भण्डार—है और दांत क्या हैं, मानो माधुर्य के अंकुर फूटते हैं। वाणी के आगे-आगे प्रेम पसीजता है और अक्षर उसके पीछे-पीछे चलते हैं, शब्द पीछे प्रकट होते हैं; परन्तु कृपा पहले, यह समझकर कि कुछ बोलूं तो कदाचित् मेरे वचन किसीको लग न जायं। अतः अव्वल तो बोलता ही नहीं और यदि बोलते हुए कोई अधिक शब्द निकल जायं तो जिसके मन में यह भाव रहता है कि किसी का मर्म-भेद न हो और किसीके मन में सन्देह उत्पन्न न हो या प्रचलित बात न कट जाय अथवा सुनकर कोई डर न जाय अथवा उलटकर गिर न पड़े, एवं किसीको क्लेश न हो तथा कोई आंख उठाकर न देखे और यदि कदाचित् किसीकी प्रार्थना से बोलने को उद्यत हो तो जो श्रोताओं को माता-पिता के समान प्रेमी जान पड़ता है, मानो शब्द-ब्रह्म ही मूर्तिमान् हो आया हो, अथवा गंगा का जल ही उछलता हुआ दिखाई देता हो, अथवा जैसे पतिव्रता को वृद्धावस्था प्राप्त हुई हो। जिसके शब्द सत्य और मृदु, परिमित और सरस होते हैं, मानो अमृत की लहरें हों, विरुद्धवाद का बल, प्राणी को व्याकुल करना, उपहास करना, छल करना, मर्म-स्पर्श करना, प्रतिज्ञा, अवसान, कपट, आशा, शंका और प्रतारणा आदि दुर्गुणों का जिसकी वाणी में आभास भी नहीं रहता। जिसकी दृष्टि भी स्थिर रहती है, मानो भूत-मात्र में जो परब्रह्म भरा है उसमें कदाचित् दृष्टि चुभ जाय, इसलिए जो प्रायः किसी ओर देखता ही नहीं और यदि किसी समय आन्तरिक कृपा से आंखें खोलकर देखे तो जैसे चन्द्रबिम्ब से निकलती हुई धाराएं गोचर नहीं होतीं किन्तु चकोरे एकदम आनंद में झूमने लगते हैं, वैसा ही प्राणियों का हाल होता है। जो किसी ओर भी देखे परन्तु ऐसे प्रेम के साथ कि वैसा अवलोकन-प्रेम कूर्मी भी नहीं जानती, भूतमात्र की ओर जिसकी दृष्टि इस प्रकार की रहती है। जिसके पर भी स्थिर रहते हैं; कृतकृत्य हो जाने

के कारण जैसे सिद्ध पुरुषों के मनोरथ व्यापार-रहित हो जाते हैं वैसे ही जिसके हाथ क्रियारहित, कर्म करने में असमर्थ और कर्म का त्याग किये हुए रहते हैं, जैसे ईंधनरहित व बुझी हुई अग्नि हो अथवा गूंगे ने मौन धारण किया हो वैसे ही जिसके हाथों को कुछ कर्तव्यता बाकी नहीं रहती और वे अकर्ता होकर ब्रह्म के पद पर आ बैठते हैं—वायु का धक्का पहुंचेगा, आकाश को नख लग जायगा—इस बुद्धि से हाथों को हिलने नहीं देता तो फिर शरीर पर बैठी हुई मक्खियां उड़ाना अथवा आंखों में घुसते हुए कीड़े उड़ाना अथवा पशु-पक्षियों को डर की मुद्रा दिखाना इत्यादि बातें कहां रहीं ? जिसे डण्डा-लकड़ी भी नहीं भाती तो फिर शस्त्रों का कहना ही क्या है ? अगर अवसर आवे तो जिसके हाथों को यही अभ्यास रहता है कि वे जुड़ जायं अथवा अभय देने के लिए उठ जायं, अथवा गिरे हुए को उठाने के लिए फैल जायं, अथवा आर्त्त को कोमलता से स्पर्श करें, पशुओं पर भी जिसके हाथ ऐसे फिराये जाते हैं कि उनके स्पर्श के सामने मलयानिल भी तीव्र जान पड़ता है और जो सर्वदा मुक्त रहते हैं जैसे चन्दन के शीतल अवयव न फलने पर भी निष्फल नहीं जान पड़ते । सार बात यह है कि जब मन में खूब अहिंसा भरी रहती है तब पके हुए फल की सुगंध की तरह प्रेम से प्रकट हो निकलती है, एवं इन्द्रियां मन की ही सम्पदा खर्च कर अहिंसा-रूपी व्यापार करती हैं । पंडित जैसे बालक का हाथ पकड़कर आप ही स्पष्ट अक्षरों की रेखाएं लिखते हैं वैसे ही मन अपनी दयालुता हाथ-पांवों को पहुंचाता है और उनसे अहिंसा प्रकट करवाता है ।

: १० :

गांधीजी के अहिंसा-सम्बन्धी विचार

"सत्य की, अहिंसा की राह जितनी सीधी है उतनी तंग भी है । खांडे की धार पर चलने के समान है । ज़रा चूके कि आये नीचे धम-से; पल-पल की साधना से ही उसके दर्शन होते हैं । जिज्ञासु या साधक के सामने यह सवाल खड़ा हुआ कि मार्ग में आनेवाले संकटों को सहे या उसके लिए जो नाश करना पड़े, वह करता हुआ आगे बढ़े । उसने देखा कि जो नाश करता है, वह तो आगे नहीं बढ़ता, दर पर ही रह जाता है, संकट सहता है तो आगे बढ़ता है । पहले ही नाश में उसने देखा कि जिस सत्य की उसे तलाश है वह बाहर नहीं, भीतर है । इसलिए जैसे-जैसे नाश

करता जाता है वैसे-वैसे पीछे रहता जाता है। सत्य दूर हटता जाता है।

"हमें चोर सताते हैं। अपनी रक्षा के लिए हमने उन्हें दण्ड दिया। उस समय वहां से जरूर भाग गये, लेकिन दूसरी जगह जाकर सेंध मारा। पर वह जगह भी हमारी है। यानी हम अंधेरी गली में जाकर टकराये। चोर का उपद्रव बढ़ता गया; क्योंकि उसने तो चोरी को अपना कर्त्तव्य मान लिया है। हम देखते हैं कि इससे तो अच्छा यही है कि चोर का उपद्रव सह लिया जाय। इससे उसे समझ आवेगी। इतना सहने पर हम देखेंगे कि चोर हमसे भिन्न नहीं है। हमारे तो सब सगे हैं, सब दोस्त हैं, उन्हें सजा नहीं दी जा सकती। लेकिन उपद्रव सहते जाना भी बस नहीं। इससे कायरता पैदा होती है। अतः हमें अपना दूसरा विशेष धर्म दिखाई दिया। चोर जब अपने भाई-बन्धु हैं तो उनमें वह भावना उत्पन्न करनी चाहिए। अर्थात्, हमें उन्हें अपनाने का उपाय खोजने तक का कष्ट सहने को तैयार होना चाहिए। यह अहिंसा का मार्ग है। इसमें उत्तरोत्तर दुःख सहन करने की जरूरत है, अटूट धीरज सीखने की जरूरत है, और यदि यह सफल हो जाय तो अन्त में चोर साहूकार बन जाता है। हमें सत्य के अधिक स्पष्ट दर्शन होते हैं। इस प्रकार हम जगत को मित्र बनाना सीखते हैं। ईश्वर की, सत्य की महिमा अधिक समझते हैं, संकट सहते हुए भी शान्ति-सुख बढ़ता है, साहस भी बढ़ता है और हम शाश्वत-अशाश्वत का भेद अधिक समझने लगते हैं, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का विवेक अच्छा लगने लगता है, गर्व गल जाता है, नम्रता बढ़ती है, परिग्रह अपने-आप घट जाता है और देह का मैल रोज-रोज कम होता जाता है।

"यह अहिंसा वह स्थूल वस्तु नहीं है, जिसे आज हम देखते हैं। किसीको न मारना तो है ही। बुरे विचारमात्र हिंसा हैं। उतावली—जल्दबाजी—हिंसा है, मिथ्या भाषण हिंसा है, जगत के लिए जो वस्तु आवश्यक है, उसपर कब्जा रखना भी हिंसा है। लेकिन जो हम खाते हैं, वह जगत के लिए आवश्यक है। जहां खड़े हैं वहां सैकड़ों जीव पड़े पैरों तले कुचल जाते हैं। यह जगह उनकी है तो फिर क्या आत्महत्या कर लें? तो भी निस्तार नहीं। विचार में देह का संसर्ग छोड़ दें तो अन्त में देह हमें छोड़ देगी। यह मोहरहित स्वरूप सत्यनारायण है। यह दर्शन अधीरता से नहीं होते। यह देह हमारी नहीं है। हमें मिली हुई धरोहर है, ऐसा समझकर इसका उपयोग करते हुए हमें आगे बढ़ना चाहिए।

"इतना सब समझ लें कि अहिंसा बिना सत्य की खोज असंभव है। अहिंसा व

सत्य सिक्के की अथवा चिकनी चिकती के दोनों पहलुओं की भांति बिल्कुल एक-समान है। उसमें उलटे-सीधे की पहचान कैसे हो? तथापि अहिंसा को साधन और सत्य को साध्य मानना चाहिए। साधन हमारे हाथ की बात है। इससे अहिंसा परम धर्म माना गया। सत्य परमेश्वर हुआ। साधन की चिन्ता करते रहेंगे तो साध्य के दर्शन किसी दिन कर ही लेंगे। इतना निश्चय कर लिया तो जग जीत लिया।"

: ११ :

प्राण

प्राण-वायु व प्राण-तत्त्व दो भिन्न हैं। 'प्राणो वै बलम्' 'प्राणो वा ज्येष्ठः श्रेष्ठश्च' 'प्राणो वा अमृतम्। आयुर्न प्राणाः। राजा मे प्राणाः।' आदि प्रकार से प्राण की महत्ता उपनिषदों में बताई गई है। प्रश्नोपनिषद् के,

'अथादित्य उदयन् यत् प्राचीं दिशिं प्रविशति तेन प्राच्यान् प्राणान् रश्मिषु सन्निधत्ते। यद्दक्षिणां यत् प्रतीचीं यदुदीचीं यदधो यदूर्ध्वं यदन्तरा दिशो यत्सर्वं प्रकाशयति तेन सर्वान् प्राणान् रश्मिषु सन्निधत्ते।' इन वचनों से पता लगता है कि सूर्यदेव अपने रश्मिजाल से द्युलोक का प्राण पृथ्वी पर लाते हैं। अथर्व वेद की एक ऋचा है—

नमस्ते प्राण क्रन्दाय नमस्ते स्तनयित्नवे।
नमस्ते प्राण-विद्युते नमस्ते प्राण-वर्षते॥

इसकी टीका में 'स्तनयित्नवे' पद की टीका 'विद्युदात्मना विद्योतमानाय' इस प्रकार की है। अर्थात् प्राण विद्युदात्मक है। 'योगदीपिका' में ज्ञानकोश अर्थात् विज्ञानमय कोश में जो प्राण-शक्ति है, उसीको प्राण कहा गया है। प्राणवायु से यह प्राणशक्ति अधिक सूक्ष्म है।

मदाम ब्लावत्स्की ने रक्त के लाल-बिन्दुओं के भीतर के अयस्कण को प्राण-परमाणु का घटक माना है। उनके मत में जीवन एक सूक्ष्म गति है। जिसे प्राण कहते हैं, वह एक स्वयंभू शक्ति है। जगत् के धाता सूर्य से यह मनुष्य को प्राप्त हुई है।

पदार्थ विज्ञानवेत्ताओं का मत है कि रक्तबिन्दुओं के अन्दर जो विद्युदाकर्षण शक्ति है, उसके द्वारा जागरित शिराओं के पुंजों में से होकर रक्त-मिश्रण-क्रिया

होती है। प्राणशक्ति रक्तविन्दुओं के अयस्कणों में जो विद्युदाकर्षण शक्ति है, वही है। वान डेन फेंक का कहना है कि हृदय और रक्ताभिसरण का नियमन शिखरी स्थान (Medulla Ablangata) से होता है। हमारे यहां के योगियों का भी यही मत है कि हृदय-क्रिया को शिखरी के द्वारा जब चाहे बन्द और जारी किया जा सकता है।

रक्तविन्दु का अयस्कण ही पाश्चात्य विज्ञान का अणु है। अणु (Atom) एक सौर-मण्डल या सूर्य-ग्रहमाला ही है। सूर्य-मण्डल के जैसे मध्य में सूर्य है वैसे ही अणु में धनविद्युत केन्द्र (Proton) है और उसके चौतर्फा ऋणविद्युत्कण (Electron) बड़ी तेजी से घूमा करते हैं। इन दोनों प्रकार के अणुओं से शक्ति की लहरें उठा करती हैं। ऋणाणु शक्ति-तरंगों का केन्द्र है।

कुछ पाश्चात्य विद्वान् एक प्रवाहशील पार्थिव अंश को, जिसे इन नेत्रों से नहीं देख सकते, प्राण कहते हैं। मानव-विद्युदाकर्षण (Human Magnatism) को ही कुछ लोग प्राण जानते हैं। जीवन में जो एक निजी शक्ति है (Metobolism) को ही कुछ लोग प्राण जानते हैं और कुछ लोग जीवन-रस (Protoplasm) तथा अव्यक्त जीवन-रस (Ecloplasm) को प्राण मानते हैं। परन्तु ये चारों प्राणों के गुण हैं, स्वयं प्राण नहीं।

बुद्ध के मतानुसार प्राणशक्ति सर्वत्र विद्यमान् है, अभेद्य है और अविभाज्य है। प्रकाश के तरंगवाद (Wave Theory) या आन्दोलन की क्रिया का निरीक्षण करने से यह देख पड़ता है कि एक प्रकाश-तरंग के अन्तिम विन्दु और दूसरे आरम्भ-विन्दु के बीच थोड़ा अन्तर हुआ करता है। मैगासफाक्स अथवा आइन्स्टीन के अंश-परमाणुवाद से भी यह बात सिद्ध होती है कि प्रकाश का विभाजन होता है।

वसिष्ठ ने प्राण की व्याख्या यह की है कि प्राण (Cosmic Energy) अखिल ब्रह्माण्ड की ओत-प्रोत शक्ति है और प्राणियों के शरीरों में वह विशेष रूप से प्रकट होती है।

पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने पता लगाया है कि प्राण-शक्ति के अन्दर जो विद्युदा-कर्षण है, उसीकी क्षमता से शरीर के सारे व्यापार होते हैं। यह तो ठीक, किन्तु मानव विद्युदाकर्षण मनःशक्ति पर निर्भर करता है। मन और शरीर के बीच सम्बन्ध जोड़नेवाला एक महत्तर विद्युद्वेग-शक्ति-केन्द्र (मस्तिष्क) शरीर में है और इसी केन्द्र से विद्युत् शक्ति निकलकर शरीर के व्यापार चलाने में समर्थ होती

है। प्रो० जे० एडविक कोहेन का निकाला तथ्य इस प्रकार है—

"जीवन शक्ति (Protoplasm) के मुख्य परमाणु स्नायुवर्धक परमाणु हैं। इनसे विद्युत्-शक्ति निकलती है। ये ही विद्युत्पादक परमाणु नाड़ी-जाल में रहते हैं। इन्हीं स्नायुवर्द्धक परमाणुओं के घटक एनिमोएसिड (जीवन-क्षार) में भी देख पड़ते हैं। एनिमोएसिड के परमाणुओं के एक छोर पर ऋणाणु और दूसरे छोर पर धनाणु रहते हैं। इनसे विद्युद्वेग रूप लघु परमाणु उत्पन्न होते हैं। वे प्राण-शक्ति और शरीरेन्द्रियों के बीच सम्बन्ध जोड़ते हैं। अनन्तर स्नायुवर्धक परमाणु और एनिमोएसिड परमाणुओं का एक मण्डल बनता है। ये परमाणु महत्तर होने के कारण इनका एक आकर्षण-पुंज बनता है। इस आकर्षण-पुंज से अनन्त विद्युत्कण निकलते हैं। ऐसे एक छोर पर धनाणु और दूसरे छोर पर ऋणाणु रहते हैं। इसलिए इन परमाणुओं को द्विशक्तिशाली परमाणु कहते हैं। ये अपने-अपने स्थान में स्थिर रहते हैं। इनके अगल-बगल जो धनाणु हैं, उनकी ओर इन द्विशक्तिशाली कणों का ऋण-विद्युदग्र प्रवृत्त होता है और ऋणाणु की ओर इनका धन विद्युदग्र। इस प्रकार द्विशक्तिशाली परमाणुओं की एक माला बन जाती है। एक द्विशक्तिशाली परमाणु का धन विद्युदग्र उससे अलग होता और दूसरे द्विशक्तिशाली परमाणु के ऋण विद्युदग्र से जा मिलता है। एक क्षण के शतांश काल में यह क्रिया होती है और बराबर उसी प्रकार जारी रहती है। इन द्विशक्तिशाली कणों के क्रियाकलाप से एक गति का निर्माण होता है और उस गति से देहगत नाड़ियों का आकुंचन-प्रसरण हुआ करता है। उसीसे नेत्रों और हस्तपादादि इन्द्रियों के व्यापार होते हैं। यह क्रिया करनेवाली शक्ति मन है।

"द्विशक्तिशाली परमाणुओं के अन्तर्गत प्राण-परमाणु होते हैं। वे पृथक्-पृथक् देख पड़ते हैं; पर होते हैं सब प्राणशक्ति से ही एकत्र। इसलिए प्राण-परमाणुओं के विभाज्य होने पर भी प्राणशक्ति अविभाज्य है। उसके अविभाज्य होने से तथा प्राण-परमाणु भी प्राण-शक्ति-प्रेरित होने से प्राण-परमाणुओं को भी अविभाज्य कह सकते हैं। मधु-मक्खियों का छत्ता अनेक पेशियों से युक्त होता है; परन्तु मधु-मक्खियां उन्हें अपना एक ही घर समझती हैं। यथार्थ में वह एक ही होता भी है। प्राण-परमाणु प्राण-शक्ति के कारण जैसे अविभाज्य है, तैसे ही मधु-मक्खियों का छत्ता मधुरस के कारण अविभाज्य है।"

: १२ :

मन्वन्तर

पौराणिकों के मतानुसार चारों युग—कृत, त्रेता, द्वापर और कलि—की एक चौकड़ी कहलाती है, जिसमें ४८०० दिव्य वर्ष कृत के, ३६०० त्रेता के, २४०० द्वापर के और १२०० कलियुग के माने जाते हैं। १००० चौकड़ी का अर्थात् ४ अरब २ करोड़ वर्ष का ब्रह्मा का एक दिन और इतनी ही बड़ी एक रात होती है। ब्रह्माजी का दिन सृष्टि का स्थिति-काल है, जिसे कल्प कहते हैं। इसमें चौदह मनु हो जाते हैं। अतः प्रत्येक मनु ७१ हजार चौकड़ी से कुछ अधिक समय (७१ ६/१४ चौकड़ी) तक अपना-अपना अधिकार भोगता है। प्रत्येक मन्वन्तर में मनु, मनुवंशी नृपतिगण, सप्तर्षि, देवता, इन्द्र तथा उनके अनुयायी गन्धर्वादि साथ-साथ ही अपना अधिकार भोगते हैं।

मौजूदा कल्प वाराह के नाम से प्रसिद्ध है। इस समय वैवस्वत मन्वन्तर चल रहा है और २८वीं चौकड़ी का कलियुग वर्तमान है।

इस समय सूर्यपुत्र वैवस्वत मनु हैं, जिनका यह सातवां मन्वन्तर वर्तमान है। प्रथम मनु स्वायम्भुव थे। उनके अनन्तर क्रमशः स्वारोचिष, उत्तम, रैवत और चारुण हुए। फिर वैवस्वत।

: १३ :

अजन्मा

"हे महाभागगण, आप शोक न करें। आप श्रीकृष्णचन्द्र को शीघ्र ही अपने पास देखेंगे। ईंधन में व्याप्त अग्नि के समान वे सभी प्राणियों के अन्तःकरणों में स्थित हैं।"

"भगवान् मन-रहित हैं, उनका प्रिय वा अप्रिय नहीं है, वे समदर्शी हैं। इसलिए उनकी दृष्टि में कोई उत्तम, अधम या असम भी नहीं है।"

"उनकी न कोई माता है, न पिता है, न स्त्री है, न पुत्रादि हैं, न अपना है, न पराया है और न देह या उसका जन्म है।"

"इस लोक में उनको कोई कर्म नहीं करना है, तथापि साधुओं की रक्षा और केवल क्रीड़ा करने के लिए ही वह उत्तम (देवादि सात्विक) अधम (मत्स्यादि

तामस) और मिश्र (मनुष्यादि राजस) योनियों में शरीर धारण करते हैं।"

"वे अजन्मा भगवान् वस्तुतः गुण-रहित हैं। तथापि केवल लीला के लिए सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों को स्वीकार करते हैं तथा गुणातीत होकर भी वह माया के गुणों से संसार की रचना, पालन और संहार किया करते हैं।"

(भाग० १०।८८।३६ से ४०)

: १४ :

लक्ष्मी

लक्ष्मीजी के सौन्दर्य और वरण का सुललित वर्णन भागवत में जिस प्रकार किया है, वह यहां पढ़ने योग्य है—

"विप्रगण द्वारा स्तुति वाचन-पूर्वक दिग्पालों ने भरे हुए कलशों से परम साध्वी पद्महस्ता श्रीलक्ष्मीदेवी का अभिषेक किया, उस समय समुद्र ने दो रेशमी पीताम्बर, वरुण ने मधु से मधुकरों को मतवाले बना देनेवाली वैजयन्ती माला, प्रजापति विश्वकर्मा ने भांति-भांति के आभूषण, सरस्वती ने हार, ब्रह्माजी ने कमल और नागों ने दो कुण्डल समर्पण किये।

"ऋषियों द्वारा स्वस्तिवाचन किये जाने पर हाथ में भ्रमरों से गुंजायमान कमलों की माला लेकर कुण्डलमण्डित कपोल और सलज्जहास से शोभायमान सुमुखी लक्ष्मीजी अत्यन्त कृशोदरी जहां-तहां नूपुरों की सुमधुकर झंकार करके चलती हुई सुवर्णलता के समान जान पड़ती थीं।"

"उन्होंने देखा, जिन दुर्वासा आदि में तपस्या है, उन्होंने क्रोध को नहीं जीता, कहीं बृहस्पति आदि में ज्ञान है, तो निःसंगता नहीं है, कोई ब्रह्मा आदि बड़े महत्त्वशाली हैं तो भी उन्होंने कामदेव को नहीं जीता है, और जो इन्द्रादि दूसरों के आश्रय की इच्छा करते हैं, उन्हें ईश्वर भी कैसे कहा जाय? कहीं परशुराम आदि में धैर्य है तो प्राणियों के प्रति सौहार्द नहीं है, कहीं राजा शिवि आदि में त्याग है, किन्तु वह उनकी मुक्ति का कारण नहीं है। किन्हीं (कार्तवीर्यादि) में बल है तो वे काल के वेग से मुक्त नहीं हैं, तथा दूसरे (सनकादि) लोग विषयासक्ति से रहित होने पर भी (निरन्तर समाधिनिष्ठ रहने के कारण) वरण करने योग्य नहीं हैं। कहीं मार्कण्डेय आदि में दीर्घायु है तो स्त्रियों को प्रसन्न रखने योग्य शील और मंगल नहीं है, कहीं हिरण्यकशिपु आदि में वैसा स्वभाव देखा जाता है तो उनकी

आयु का कोई निश्चय नहीं और कहीं श्रीमहादेव आदि में ये दोनों गुण भी हैं तो अमंगल-रूप दिखाई देते हैं। हां, एक पुरुष विष्णु भगवान् तो मंगलमय भी हैं, परन्तु उन्हें मेरी इच्छा नहीं है।"

यहां श्रीएकनाथ-वर्णित रुक्मिणी-रूप वर्णन भी, जो कि अध्यात्म-परक है, पढ़ना ठीक होगा—

"सौन्दर्य सुर, नर, पन्नगों में बहुत भटका, पर उसे कहीं विश्रान्ति नहीं मिली। तब वह दौड़ गया रुक्मिणी की देह में और वहां उसे विश्राम मिला। रुक्मिणी की यह सुन्दर मूर्ति ब्रह्मा ने नहीं रची, यह श्रीकृष्ण के प्रभाव से इस रूप को प्राप्त हुई। वह अच्छाई के शिखर पर चढ़कर सौन्दर्य के ही आकार में प्रकट हुई। मस्तक के नील कुण्डल क्या थे, अति सुनील नभोमण्डल था, जिसके नीचे निर्मल मुखचन्द्र रुक्मिणी-वदन में उदय हुआ था। चन्द्रमण्डल के आगे-पीछे जैसे तारागणों के वृत्त, वैसे ही रुक्मिणी के कानों में मोतियों के कुण्डल जगमगा रहे हैं। श्रीकृष्ण के रंग में रंगा हुआ उसका अभंग सौभाग्य-कुंकुम मुखचन्द्र में चन्द्रमा बनकर शोभा पा रहा है। मस्तक पर मोतियों की जाली वैसी ही सोह रही है जैसे नभोमण्डल में नक्षत्र शोभा पाते हैं। श्रीकृष्ण-दर्शन की प्रतीक्षा में दृश्य को देखते-देखते उसके नयन थक गये थे और सारा दर्शनीय दृश्य एकत्र होकर उसके नेत्रों में आ गया था। घन-सांवरे को देखने के लिए उसकी पुतलियों में घनश्यामता आ गई थी—दोनों नेत्रों में एक ही आशा आकर बैठ गई थी। अन्दर-बाहर का देखना एक हो गया था। दृष्टि सम हो गई थी। मुख में दंतपंक्तियां ऐसी शोभा दे रही थीं जैसी ॐकार में श्रुति। नाक में नथ के भारी मोती ऐसे चमक रहे थे जैसे वेदान्त में 'सोऽहम् अस्मि'। अधर पर नथ का सोने का अंकड़ा लटक रहा था और नाक पर मोती चमक रहे थे मानो कृष्ण को मोहित करने का उपाय कर रहे थे। सौभाग्य का कृष्ण-मणि कण्ठ में ऐसे धारण किया था कि कभी न टूटे और किसीको दिखाई भी न दे, मानो कण्ठ में प्राणनाथ के साथ एकान्त किये हुए थी। एक ही अंग में भिन्न-भिन्न रूप से जीव और शिव दोनों बढ़े। इससे कुचकामिनी कुच-भार से धन-सम्पन्न हो उठी। विद्या व अविद्या दो पंखों ने दोनों ओर से उन्हें ढांक रखा था, ऐसी वह त्रिगुण की अंगिया उसके वक्षस्थल पर कसी हुई थी, जिसे श्रीकृष्ण के सिवा और कौन खोलता? रुक्मिणी-कृष्ण-आलिंगन ही जीव-शिव-समाधान है। इसीसे दोनों स्तन उभरे थे, श्रीकृष्ण का स्पर्श चाहते थे। प्रकृति-पुरुष का जो

आलिंगन हुआ, उससे अंगिया की गांठें मजबूत बंध गईं। इस गांठ को पुरुषोत्तम ही खोल सकते हैं। यह और किसीसे खुलनेवाली नहीं। दोनों हाथों में बाहर जो चूड़ी, बाजूबन्द, कंगन आदि अलंकार हैं वे भीतर के शम, दम आदि सुभट हैं। हाथ के कंकण जो मधुर ध्वनि कर रहे हैं, वह श्रीकृष्ण-निष्ठा के कारण है। करतलों का रंग ऐसा मनोहर है कि सन्ध्या-राग भी उसके सामने फीका पड़ जाता है। ये करतल सदा श्रीरंग की चरण-तल-सेवा करते हैं।

: १५ :

श्रीकृष्ण-स्वरूप और रुक्मिणी-स्वयंवर

यहां सन्त एकनाथ वर्णित श्रीकृष्ण-स्वरूप और उनकी पटरानी रुक्मिणी के स्वयंवर का हृदयहारी व बोध-पूर्ण वर्णन पढ़ने योग्य है। अपने 'रुक्मिणी-स्वयंवर' नामक ग्रन्थ में वह लिखते हैं—

"जो निर्गुण, निर्विकार, निष्कर्म, निरुपचार हैं वही श्रीकृष्ण साकार लीला-विग्रह हुए हैं। उनके चरणतलों का रंग इतना शोभायमान है कि लाल कमल भी फीका जान पड़ता है। उनके पैरों की गोल एड़ियां बाल-सूर्य के समान उज्ज्वल हैं। चरणों का सामुद्रिक भी देखिये। कैसी सुन्दर ध्वज-वज्रांकित रेखाएं हैं, जो ब्रह्मादिकों के लिए भी अलक्ष्य और सहस्र मुख से भी अवर्णनीय हैं। कटि में पीताम्बर की भी कैसी दिव्य शोभा है, घनश्याम के अंग से जैसे दामिनी चौगुनी तेज के साथ चमक रही हो और यह दामिनी चमककर छिपनेवाली नहीं, अस्तमान होना भूल गई है। चरणों के नूपुरों से सोऽहंभाव के छन्द निकल रहे हैं, मानो मुमुक्षुओं के सोये हुए मन को जगा रहे हैं। शून्य-रहित जो निरवकाश है, वही सावकाश श्रीकृष्ण-हृदय है। वृत्ति-शून्य होकर सन्त उसीमें रहते हैं। ज्ञान, वैराग्य, शुक्ति-सम्पुट से जो मुक्त-पुरुष-रूप मोती निकले, उन्हींकी माला कण्ठ में शोभा पा रही है। भिन्न-भिन्न पंचमहाभूत हैं, वैसी ही उनकी अंगुलियां हैं, जिनका अधिष्ठान उनका करतल है, जिसकी मुट्ठी में पांचों मिले हुए हैं। चारों क्रिया शक्तियां उनकी चार भुजाएं हैं। एक-एक भुजा में एक-एक आयुध है। आत्यन्तिक तेज से तेजाकार बना हुआ वह चक्र देखिये जो द्वैत-दलन में तेज धारवाला और अरि-मर्दन में अत्यन्त उद्भट है।"

रुक्मैया द्वारा कृष्ण की निन्दा भी एकनाथ ने बड़ी मार्मिकता व सार्थकता के साथ कराई है—

"इसने अपने अहंभाव को मार डाला। इसके कुल का कोई ठिकाना नहीं है। कोई कहते हैं नन्द-नन्दन है, कोई कहते हैं वसुदेव-सुत है। इसके बाप तक का पता नहीं। कोई कुल-गोत्र ही नहीं। कृष्ण का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व भी नहीं। यह तो अपने प्रेमियों का दास है। इसका कर्म देखिये तो दूसरों के घर में घुसकर गो-रस की चोरी करना है। इस चोर-विद्या में इतना पक्का है कि कोई इसे पकड़ भी नहीं सकता। ऐसा निपट चितचोर है। इसका कोई काम खुले मैदान नहीं होता। संसार में सदा लुका-छिपा रहता है। कभी तो वैकुण्ठ के पर्वत में जाकर छिपता है, कभी क्षीरसागर में गोता लगाता है, कभी शेषनाग के फण पर सोने का बहाना करके पड़ा रहता है। कोई बड़ा संकट उपस्थित हुआ देखता है तब यह कभी मत्स्य बन जाता है, कभी वाराह, कभी पीठ को मजबूत करके कछुए का रूप धारण कर लेता है। दैत्य को बलवान् देखकर यह भिखारी बन गया। बलि ने इसे अपना द्वारपाल बनाया। इसका न कोई रूप है, न इसमें कोई गुण है, न इसके रहने का कोई ठिकाना है। इसका सिंहासन क्या होगा? इसके तो वृत्ति ही नहीं है। इसके न कोई देहाभिमान है, न मानापमान है। इसकी गांठ में धन भी कहां से होगा। यह तो साग का बचा-खुचा पात खानेवाला है। इसकी मां भी दो हैं, जो दो जगह रहती हैं—एक देही है तो एक विदेही। एक देवकी व दूसरी यशोदा। कुल-कर्म को मिटाना हो, अपने साथ सबको मिट्टी में मिलाना हो, जीव तक का अन्त करना हो तो कोई कृष्ण को वरण करे।"

अब श्रीकृष्ण का वर-पूजन भी देख लीजिये—

"रुक्मिणी ने श्रीकृष्ण का जो रूप देखा तो चारों ओर श्रीकृष्ण-ही-श्रीकृष्ण दिखाई देने लगे। भीष्मक सोचने लगे कि इन अनन्त रूपवाले श्रीपति का पूजन मैं कैसे करूं। पूज्य-पूजकता की अवस्था भी वह भूल गये। शुद्धमति जल दे रही हैं और राजा चरण धो रहे हैं। सब तीर्थ यह कहकर वह चरणतीर्थ मांग रहे हैं कि श्रीकृष्ण-पद की प्राप्ति बड़ी दुर्लभ है। शुद्ध सत्व के शुभ्र वस्त्र और चिद्रत्न के अलंकार अर्पण कर भीष्मक ने कृष्ण वर का पूजन किया। शुद्धमति चरण पोंछने आई तो श्रीकृष्ण का मुख निहारने लगीं। घनश्याम का वह अनुपम रूप-सौन्दर्य देखकर शुद्धमति के नेत्र पूर्ण तृप्त हुए। श्रीकृष्ण-चरणों में हल्दी लगाते हुए उनका

अहंभाव नष्ट हो गया, वह लाज खो बैठीं। मेरा-तेरा की उपाधि भी हार चुकीं। श्रीकृष्ण प्रभा के दीप की दीप्ति से तव श्रीकृष्ण की आरती की। कृष्ण में परम प्रीति लगने से चित्तवृत्ति तद्रूप हो गई।

"रुक्मिणी श्रीकृष्ण के चरण-वन्दन करने चली। सखियां उसकी ओर वक्र-दृष्टि से देखने लगीं। यह देख रुक्मिणी लज्जित हुई—चित्त में शंका उठी। अभिन्नभाव में यह भेद उठा। इसमें नमन भी ठीक नहीं हुआ। उसने नमन तो किया; पर समचरण उसके मस्तक में नहीं लगे। मां हँसेंगी, सखियां हँसेंगी, यह जो भाव उसके चित्त में उठा, यह उसका अभिमान था। अभिमान से ही उसने अपने करतल से अंगूठा पकड़ा और यह निश्चय किया कि अबके वन्दन में भूल न होने दूंगी। पर जब उसने फिर मस्तक नवाया तब समचरणों ने एक-दूसरे का आलिंगन किया और उसका मस्तक धरती पर लगा, समचरणों में नहीं। तब वह अत्यन्त खिन्न हुई कि ललाट में चरण नहीं लगे। बात यह है कि अभिमान का जितना बल होता है उतना ही घना पटल दृष्टि पर पड़ता है। इसीसे चरण-कमल नहीं प्राप्त हुए। उसके नेत्रों से अश्रुधारा बहने लगी। शरीर थरथर कांपने लगा। चरणों के वियोग से शरीर का भार असह्य हो गया। वह अचेत-सी हो नीचे गिर पड़ी। उद्धव ने यह देखा। वह दौड़ गये रुक्मिणी के पास और उसकी बांह पकड़कर बोले—मां उठो, श्रीकृष्ण के चरणों को वन्दन करो। लज्जा और अभिमान को छोड़ दो। मन को निर्विकल्प कर लो और वृत्ति को सावधान करके हरिचरण को वन्दन करो। उद्धव के वचनों से रुक्मिणी को धीरज बंधा। उसने लाज छोड़ दी और वह हरि-चरणों में आ गई। वृत्ति समाहित हुई, शब्द की गति बन्द हो गई, मौन भंग हो गया और रुक्मिणी समचरणों को वन्दन करती हुई परमानन्द को प्राप्त हुई। विषय-दृष्टि उपराम हुई, सारी सृष्टि निजानंद में समा गई। त्रिपुटी का लय हो गया। न वर का चरण रहा, न वधू का, सारा दृष्टान्त ही बह गया और अर्थ, स्वार्थ और परमार्थ अनन्त होकर अनन्त में मिल गया।

"चरणों का आलिंगन होते ही अहं-सोऽहम् की गांठें खुल गईं। सारा संसार आनन्दमय हो गया। सेव्य-सेवकभाव का कोई चिह्न ही नहीं रह गया। विवाह का कोई कारण भी न रहा देवी और देव एक हो गये।"

: १५ अ :

ईश्वर-सम्बन्धी ज्ञान-विज्ञान

यहां चतु:श्लोकी भागवत व उसका एकनाथकृत अनुवाद पढ़ लेना लाभदायी होगा—

"अहमेवासमेवाग्रेनान्यद्यत्सदसत्परम् ।
पश्चादहं यदेतञ्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम् ॥"

सृष्टि के पूर्व में मैं निज-स्वरूप शुद्ध निर्विकल्प स्वानन्दकन्द-स्वरूप अनूप पूर्ण ब्रह्म था। उस पूर्ण में न सत् था, न असत्। सत् अर्थात् सूक्ष्ममूल, असत् अर्थात् नश्वरमूल। सृष्टि के पूर्व में मैं इन सदसत् के परे निर्मल स्वरूप में था।

जो चीनी की मिठास है, वही चीनी है। वैसे ही चिदात्मा जो है, वही यह लोक है। संसार में मुझसे भिन्न और कुछ भी नहीं है। सुवर्ण ही सुवर्णालंकार बनता है, तन्तु से पट भिन्न नहीं रहता, मृत्तिका से भिन्न घट नहीं रहता, उसी प्रकार स्थूल-सूक्ष्म संसार मेरी चित्सत्ता से भिन्न नहीं रहता। जैसे वट और वट की जड़ें हैं वैसे ही मैं परमात्मा और ये लोक हैं। प्रलय के पश्चात् भी मैं कैसे हूं, यह देखो। कछुआ अपने अवयव बाहर फैलाता है और फिर समेट लेता है। दोनों अवस्था में कछुआ कछुआ ही है। वैसे ही माया के फैलाव में भी और माया के समेटने में भी मैं ही एक परमात्मा हूं। तात्पर्य सृष्टि के आदि मध्यान्त में एक नारायण के सिवा और कुछ भी नहीं है। वैसे ही सब नाम-रूप सम्बन्ध हैं। भूत-भूतादि भेद हैं। उनके लय हो जाने पर मैं ही स्वानन्द-कन्द परमानन्द निज रूप में रह जाता हूं। जिसे वस्त्र कहते हैं, यथार्थ में वह तन्तु ही है। वैसे यह जगत् यथार्थ में चिद्रूप है। इसलिए सृष्टि के आरम्भ में मैं हूं। सृष्टि के रूप में मैं हूं, अन्त में सृष्टि का नाश होने पर मैं ही अविनाशी सच्चिदानन्द रह जाता हूं।

ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि ।
तद्विद्यात्मनो मायां यथाभासो यथातमः ॥

मैं परमात्मा अधिष्ठान हूं। उस मुझ सत्वार्थ को न देखकर जो-जो कुछ द्वैत भान होता है, वही माया है। कनक बीज खाने से जैसे मनुष्य सुध-बुध खो देता है फिर जहां कुछ भी नहीं होता वहां व्याघ्र, वानर शश आदि नाना प्रकार देखता है वैसे ही मोह में माया का यह भास है। सूर्य के अदर्शन होने से तम प्रबल होकर

बढ़ता है, पर सूर्योदय होते ही तम कहीं नहीं रह जाता। माया की भी वैसी ही बात है। आत्म-स्वरूप स्वयं आनन्दघन है, नित्य है, निर्धर्म है, निर्गुण है। उस स्वरूप में जो मैं-पन स्फुरित होता है, वही माया का जन्म-स्थान है।

देह मिथ्या छाया है। स्वरूप-प्राप्ति मिथ्या माया है। यह सच जानो कि छाया-माया समान है। यह भी जानो कि निजात्म-प्राप्ति के बिना निज माया नहीं छूट सकती। उस आत्म-प्राप्ति के लिए सद्गुरुचरणों की सेवा करनी चाहिए।

"यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु।
प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तेषु न तेष्वहम्॥"

जिस प्रकार पृथ्वी आदि महाभूत अपने छोटे-बड़े ऊंच-नीच सभी कामों में घुसे हुए हैं, वे उन कामों में दिखाई देते हैं, परन्तु तत्त्वतः देखा जाय तो वे घुसे हुए नहीं हैं। क्योंकि ये कार्य होने के पूर्व ही कारण-रूप से वे वहां मौजूद हैं। उसी प्रकार मैंने इस संसार में प्रवेश किया ऐसा मालूम होता है; क्योंकि इस विश्व में मैं सर्वत्र व्याप्त हूं और सर्वत्र मिलता हूं। परन्तु तत्त्वतः मैंने इस संसार में कभी प्रवेश किया हो ऐसा नहीं है। क्योंकि संसार-निर्माण करने के पूर्व कारण-रूप से मैं मौजूद ही था।

मैंने इस सृष्टि में प्रवेश न करके भी प्रवेश किया है। स्वयं न चल करके भी मैं संसार को चलाता हूं। यहां छोटे-बड़े सब शरीरों में महाभूत कार्यरूप में घुसे हुए दिखाई देते हैं। परन्तु कारण-रूप में घुसे हुए नहीं हैं, क्योंकि पहले से ही हैं। समुद्र को देखिये तो उसमें करोड़ों कल्लोल दिखाई देते हैं। पर इन कल्लोलों के भीतर सागर कैसे समा सकता है?

मुझसे भिन्न क्या है, जिसमें जाकर मैं बैठूं या जिसमें मेरा प्रवेश न हो और मैं उससे अलग रहूं? मेघ-मुख से गिरनेवाले ओले क्या हैं? सिवा इसके कि जल-बिन्दु जमे हुए हैं। उनके गलते ही उनके सर्वांग से जल-ही-जल निकलेगा। उसी प्रकार जन जो है, वही जनार्दन है। जनार्दन जो है स्वयं वही जन है। ऐसे अभिन्न जनार्दन या जगत् में प्रविष्ट करके भी अप्रविष्ट है। समाकर भी समाये हुए नहीं हैं।

श्री रामकृष्ण परमहंस कहते हैं—"एक ज्ञान ज्ञान है, बहुत ज्ञान अज्ञान है।"

: १६ :

वर्णाश्रम-व्यवस्था-सम्बन्धी विचार

"'इस देश के पुराने विचार में, कुटुम्ब को ही मानव-समाज का आधार और आरम्भक 'अणु' (यूनिट) मानते हैं।

'एतावानेव पुरुषोयज्जायात्मा प्रजेतिह।' (मनु० ९४५) अकेला पुरुष पुरुष नहीं है, लेकिन पुरुष, स्त्री व संतति तीनों मिलकर सम्पूर्ण पुरुष अथवा मनुष्य बनता है।

"आजकल की प्रवृत्ति, 'व्यक्ति' को समाज का आधार और आरम्भक मानने की ओर है। एक हद पर व्यक्तिवाद और दूसरी हद पर राष्ट्रवाद यही आधुनिक काल का आदर्श है। कुटुम्बवाद एक कोटि और सर्व-मानववाद दूसरी कोटि, यह प्राचीन आदर्श है। जब समाज-रूपी जंजीर को बनानेवाली कड़ी कुटुम्ब माना जाता है, और माता, पिता, तथा संतति सदा के लिए एक-दूसरे से जुड़े हुए समझे जाते हैं, तब मातृ-पितृ-सम्बन्ध के अनन्त विस्तार का स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि संपूर्ण समाज, न केवल मानसिक दृष्टि से किन्तु शारीरिक दृष्टि से भी, परस्पर-संबद्ध, संयुक्त दिखाई देता है और उसका आधार परस्पर का सहयोग हो जाता है। इसी प्रकार सभी लोग एक ही शरीर और एक ही आत्मा के अंग वास्तव में हो जाते हैं।

"रोटी-बेटी-सम्बन्ध, अन्न-सम्बन्ध और योनि-सम्बन्ध ये ही प्राण-सम्बन्ध हैं। पर जब प्रत्येक व्यक्ति ही समाज का स्वतंत्र अंग समझा जाता है तब जिस समुदाय में वह रहता है, उसके साथ उसका सम्बन्ध मनमाना और प्रतिस्पर्धामूलक हो जाता है; और इस कारण से, वह समाज मजबूत होने के बदले और कमजोर हो जाता है। यही कारण है, जो आज हम, व्यक्तियों के, और ऐसे व्यक्तियों से निर्मित राष्ट्रों के बीच इतना उग्र द्वेष-भाव देख रहे हैं, जिससे आज सारा मानव-वायुमंडल व्याप्त हो रहा है। न केवल राष्ट्र-राष्ट्र में संघर्ष हो रहा है, बल्कि प्रत्येक राष्ट्र के भीतर भी, अमीर और गरीब में, शासक और शासित में, बलवान और दुर्बल में, स्त्री और पुरुष में, पिता और पुत्र में, बूढ़े और जवान में, पुरानी पुश्त और नई पुश्त में, संघर्ष की पराकाष्ठा हो रही है।

"आरम्भ में मानव-समाज की सांगोपांग व्यवस्था ही वर्ण-व्यवस्था थी। इसे

पश्चिम में 'सोशियल आर्गेनिजेशन' कहते हैं। इसमें चार परस्पर सम्बन्ध-व्यूह थे—(१) शिक्षा-व्यूह, ('एजूकेशनल आर्गेनिजेशन', 'लर्नेड प्रोफेशन्स') जिसके अवयव तपस्वी विद्वान ब्राह्मण वर्ण के शिक्षक और ब्रह्मचारी आश्रम के विद्यार्थी थे; (२) रक्षा-व्यूह, राजनैतिक प्रबंध, ('प्रोटेक्टिव आर्गेनिजेशन, 'एक्जीक्यूटिव प्रोफेशन्स'), जिसमें साहस, निर्बल-रक्षक, 'क्षतात् त्राता', क्षत्रिय वर्ण और (साधारण दृष्टि से) वानप्रस्थ आश्रम के लोग थे; (३) जीविका-व्यूह, आर्थिक संघटन, ('इकोनोमिकल आर्गेनिजेशन,' 'कमर्शल प्रोफेशन्स') जिसमें कृषि—गो-रक्षा—वाणिज्य-व्यापारवाले वैश्य वर्ण, और (सामान्यतः) गृहस्थाश्रम के लोग थे और (४) सेवा-व्यूह, सहायता-व्यूह, श्रमजीवी-संघटन, (इन्डस्ट्रियल आर्गेनिजेशन', 'लेबर प्रोफेशन्स') जिसमें शूद्र वर्ण के शारीरिक सेवक और संन्यासी आश्रम के आध्यात्मिक सेवक थे।

"इस चतुर्विध सामाजिक संग्रथन के आधारभूत, कुछ मौलिक और व्यापक सिद्धान्त, विविध शास्त्रों के थे; यथा शरीरशास्त्र, चित्तशास्त्र, अर्थशास्त्र, शिक्षा-शास्त्र, भोजनशास्त्र, विवाह-शास्त्र, राजशास्त्र, चिकित्सा-शास्त्र, आदि शास्त्रों, 'आगम' की परम्परा से 'आगत' शब्दों में इन सब शास्त्रों का चतुर्विध राशीकरण, चार पुरुषार्थों के चार शास्त्रों में किया है—धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र और मोक्षशास्त्र। आर्य-जाति के बुजुर्गों ने, ऋषियों ने पूर्वकाल में, ज्ञान-चक्षु से, इन सब तत्वों को प्रत्यक्ष करके, उनकी नींव पर, मानव-जाति के हित के लिए, इस समाज-व्यवस्था का निर्माण किया था—इस लक्ष्य से कि भारत की बहु-संख्यक जातियां ही नहीं, अपितु समग्र पृथ्वी-तल के रहनेवाले मनुष्य-मात्र, उचित वर्ण में समाविष्ट हों, और जो भी इसके सम्पर्क में आये 'आर्य' हो जाय, चाहे उसकी जीविका, व्यसन, मनोवृत्ति, आचार-विचार, रीति-रस्म आदि कुछ ही क्यों न रहा हो।

"शरीर-शास्त्र—(आयुर्वेद) का सिद्धान्त यह है कि देहधारी जन्तुओं की पार-स्परिक पीढ़ियों की उत्पत्ति में दो नियम सदा कार्य करते रहते हैं—(१) पितृ-क्रमाऽगम-नियम, पितृ-परम्परा-नियम, जन्मना सिद्ध-स्वभाव-नियम, आनुवंशि-कता; (२) स्वतोविशेषण नियम, नवोन्मेष नियम, कर्मणासाधित—(व्यक्ति-कृत, व्यंजित)—स्वभाव नियम, वैयक्तिक विशेषता। आधुनिक पाश्चात्य वैज्ञा-निक, (१) को 'ला आफ हेरिडिटी', (२) को 'ला आफ स्पान्टेनियस वेरियेशन'

या 'म्यूटेशन' कहते हैं। अर्थात् (१) कुछ गुण तो जन्म से ही माता-पिता के द्वारा प्राप्त होते हैं और कुछका स्वतः व्यक्तिविशेष में प्रादुर्भाव होता है। इनका फल यह होता है कि (१) एक ही मां-बाप की सन्तति, शरीर और बुद्धि में, अपने मां-बाप के सदृश और एक-दूसरे के सदृश कुछ अंशों में होते हैं, और (२) साथ ही दूसरे अंशों में उनमें विलक्षणता भी होती है। पुराने शब्दों में इन्हें 'जन्म-सिद्ध गुण' और 'कर्म-सिद्ध गुण' अथवा 'योनिकृत गुण' और 'तपः श्रुतकृत गुण' कह सकते हैं। इन परस्परभेदी नियमों का मूल कारण ब्रह्म-विद्या में मिलता है। परमात्मा की 'एकता' ही संसार में जो कुछ एकता, समता, स्थिरता, सन्नत-भाव, अविच्छिन्न परम्परा देख पड़ती है, उसकी हेतु है; और परमात्मा की स्वभाव-रूप प्रकृति की 'अनेकता' ही संसार में जो-कुछ बहुता, विचित्रता, विभिन्नता, और परिवर्तनशीलता है, उसका कारण है।

"अन्तःकरण शास्त्र, चित्तशास्त्र, अध्यात्मशास्त्र का सिद्धान्त यह है कि चित्त के तीन गुण हैं, जिनमें से प्रत्येक व्यक्ति में एक का प्राधान्य होता है; और 'द्विज' अर्थात् सुशिक्षित, सुसंस्कृत, व्यक्ति जो द्वितीय बार, आत्मज्ञान में जन्म पा चुके हैं, वे इसी हेतु से, तीन प्रकार के होते हैं—(१) ज्ञान-प्रधान, (२) क्रिया-प्रधान तथा (३) इच्छा-प्रधान; और बाकी लोग चतुर्थ प्रकार की श्रेणी के हैं, जो अव्यक्त बुद्धि, बालक-बुद्धि के हैं और ऊंची शिक्षा ग्रहण करने की शक्ति नहीं रखते, शारीरिक श्रम का ही काम अधिकतर कर सकते हैं। ज्ञान-प्रधान मनुष्य के लिए हृदय का आप्यायन और सत्कार्य का प्रेरक विशेषकर प्रेम-पूर्ण सम्मान ही होता है। और इसको वह अधिक चाहता है। 'मानो हि महतां धनम्'। क्रिया-प्रधान पुरुष आज्ञाशक्ति, ऐश्वर्य, 'ईश्वर-भाव' 'अधिकार' को अधिक चाहता है। इच्छा-प्रधान पुरुष धन-धान्य को और श्रमजीवी मनुष्य खेल-तमाशा, क्रीड़ा-विनोद अधिक पसन्द करता है। यह अच्छी तरह से स्मरण रखना चाहिए कि चार सहोदर भाई भिन्न-भिन्न श्रेणी, वर्ग, राशि, प्रकृति, आकृति, मनोवृत्ति के हो सकते हैं और अक्सर होते हैं। यह विचित्रता उनमें स्वतः उत्पन्न होती है तथा यह भी ठीक है कि परम्परागत प्रकृति के कारण वे प्रायः स्वल्प-भेद से, एक ही श्रेणी, एक ही आकार-प्रकार और स्वभाव के भी बहुधा होते हैं।

"अन्तःकरण-शास्त्र का दूसरा सिद्धान्त यह है कि स्त्री-पुरुष की राजस-तामस काम-वासना जो होती है, वह सात्विक स्नेह-प्रीति, स्वार्थ-त्याग, उत्तरदायित्व-

संवेदन और कर्तव्य-परायणता के भाव में परिवर्तित हो जाती है, जब उन्हें सन्तति उत्पन्न होती है। पर जैसे अन्य बातों में, वैसे ही सन्तति में भी 'अति' से बहुत दुःख पैदा होता है।

"अर्थशास्त्र का सिद्धान्त, वर्ण-धर्मात्मक-समाज-व्यवस्था की जड़ में, यह है कि जीविकोपार्जन में अनियमित विनाशकारी प्रतिद्वन्द्विता दूर की जाय या कम-से-कम उसकी खराबियां कम की जायं। इसलिए चार वर्णों के लिए चार, भिन्न-भिन्न प्रकार की, जीविका-वृत्तियां नियत कर दीं। जो लोग अपनी शारीरिक और मानसिक प्रकृति के कारण पैतृक-जीविका के योग्य हों, वे निश्चयेन उसीका अवलम्बन करें। पर जब किसी व्यक्ति में दूसरे प्रकार का स्वभाव पाया जाय, तो उसको यह इजाजत रहे कि वह अपनी प्रवृत्ति के अनुकूल जीविका का कार्य उठा सके; पर, धनोपार्जन के लिए, किसी दूसरे वर्ण के लिए निर्धारित जीविकोपाय का कार्य न करने पावे। इस प्रकार से प्रत्येक मनुष्य, अपनी शक्ति और बुद्धि के अनुसार, सारे समाज की सेवा के लिए कार्य कर सकेगा और समाज की तरफ से उसे उपयुक्त पुरस्कार और जीविकोपार्जन का साधन मिलेगा और काम, दाम और आराम का न्यायोचित विभाग हो सकेगा; क्योंकि कोई भी व्यक्ति जीविका के लिए, स्ववर्णोचित कार्य के सिवा, दूसरा काम न कर सकेगा।

"समाज-शास्त्र का सिद्धान्त यह है कि जिस प्रकार से व्यक्ति के शरीर में सिर, हाथ, धड़ और सर्वधारक पैर होते हैं और जिस तरह व्यक्ति के चित्त में ज्ञान, क्रिया व इच्छा का भण्डार रहता है तथा सर्वधारिणी चेतना-शक्ति रहती है, उसी प्रकार सामाजिक संगठन में अर्थात् प्रत्येक सर्वांग पुष्ट, सुविकसित, उन्नत और सभ्य समाज में भी चार ऐसी श्रेणियां होती हैं, जो स्थूल रूप से, जीविका की दृष्टि से एक-दूसरे से विभक्त की जा सकती हैं—(१) विद्योपजीवी वर्ग, (२) (शासनात्मक) अधिकारोपजीवी वर्ग, (३) व्यापारोपजीवी वर्ग तथा (४) शारीरिक श्रमोपजीवी वर्ग। इन चारों श्रेणियों में चार प्रकृतियों के अनुरूप अधिकार (हक) और कर्त्तव्य (फर्ज) कार्य और जीविका, परिश्रम और पुरस्कार, मिहनत और उज्रत का उचित बंटवारा होना चाहिए तथा किसीको किसी दूसरे क्षेत्र पर (विशेष जीविका के साधन पर) आघात करने का कोई अवसर न मिलना चाहिए, न किसी वर्ग या व्यक्ति को दो या तीन या चारों प्रकार से जीविका उपार्जन कर सकने की इजाजत होनी चाहिए।

"दूसरा सामाजिक सिद्धान्त, जिसका प्रभाव बहुत ही व्यापक है और जो पुरातन सामाजिक व्यवस्था में अनुस्यूत था, यह है कि व्यक्ति नहीं, कुल या कुटुम्ब समाज का आरम्भ अवयव—इकाई—है।

"समाज-शास्त्र का एक और बहुत गौरवपूर्ण सिद्धान्त वर्ण-धर्म में गुंथा हुआ यह भी है कि प्रत्येक व्यक्ति के जीवन के मोटे तौर से चार विभाग होने चाहिए; पहला भाग अध्ययन में, दूसरा गार्हस्थ्य और जीविकोपार्जन में; तथा सन्तति के पालन-पोषण में; तीसरा बिना किसी वेतन या प्रतिफल या कीमत के सार्वजनिक सेवा में, और चौथा अध्यात्म-ज्ञान व मोक्ष-साधन में व्यतीत होना चाहिए। स्वार्थ-प्रधान वैयक्तिक भावों और वासनाओं का नियंत्रित-नियमित सेवन, प्रथम दो विभागों में होने देना चाहिए और परार्थ-प्रधान लोकोपकारी भाव और शुभेच्छा का अधिकाधिक, प्रतिदिन वर्धमान मात्रा में सेवन, अन्तिम दो विभागों में होना चाहिए। आश्रम-धर्म के नाम से प्रसिद्ध व्यवस्था का यह मूल सिद्धान्त है, जिससे वैयक्तिक जीवन का प्रबन्ध किया गया है। इसका अटूट सम्बन्ध वर्ण-धर्म से है, जिसके द्वारा सामाजिक जीवन का प्रबन्ध किया गया है। इन दोनों का—वर्ण-धर्म और आश्रम-धर्म का, वैसा ही सम्बन्ध है जैसा कपड़े में ताने-बाने का।

"राजनीति-शास्त्र (धर्मशास्त्र के अन्तर्गत) का सिद्धान्त, जो इस व्यवस्था में है, वह यह है कि चारों जीविकाओं के अनुसार विभक्त श्रेणियों का पृथक्-पृथक् ओत-प्रोत परन्तु परस्पर अवलम्बित, व्यूह न हो। उनमें आपस में शक्ति का उचित बंटवारा रहे और शास्त्र-शक्ति (ज्ञान-बल), शस्त्रशक्ति (सेनाबल), अन्न-शक्ति (धनबल) और सेवा-शक्ति (श्रमबल) सबके-सब किसी एक समुदाय अथवा व्यक्ति में केन्द्रीभूत न हो सकें; क्योंकि एक ही हाथ में कई शक्तियों के आने का खामख्वाह यह नतीजा होता है कि अहंकार, उच्छृङ्खलता, निर्मर्यादिता अवश्यमेव उभरते हैं; प्रजा के शिक्षण-रक्षण-पालन के सौम्य भाव दब जाते हैं; और अनियन्त्रित अधिकार का दुरुपयोग करके दूसरों को पीड़ा देने का भाव निश्चयेन बढ़ता है।

"शिक्षा-शास्त्र (धर्मशास्त्र के अन्तर्गत) का सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक बच्चे को, जो ज़रा भी शिक्षा पाने योग्य है, सांसारिक (कल्चरल) शिक्षा के साथ-साथ उसी प्रकार व्यावहारिक (वोकेशनल), अर्थकरी, जीविका-साधनी, विशेष शिक्षा दी जाय, जिसके प्रति उसकी स्वभाव से प्रवृत्ति हो और इस प्रवृत्ति को

समझने, पहचानने के लिए उसके शिक्षकों को, विशेष प्रकार से अध्यात्मवेदी होकर, ध्यान देना और यत्न करना चाहिए।

"स्वस्थ्य-शास्त्र और विवाह-शास्त्र (आयुर्वेद और कामशास्त्र) का सिद्धान्त यह है कि भोजन और भोजन के बारे में सब प्रकार की सावधानी रखनी चाहिए। हर तरह की शुचिता, सफाई की फिक्र करनी चाहिए और ऐसे ही लोगों के साथ भोजन और विवाह करना चाहिए, जो समान-शील और व्यसनवाले हों, जिनका स्वभाव मिलता हो। ऐसा ही करने से व्यक्ति-जीवन में, कुटुम्ब-जीवन में और जाति-जीवन में स्वास्थ्य और सुख की वृद्धि हो सकती है।

"यह वर्णाश्रम-व्यवस्था तो एक ऐसा सांचा—ढांचा चारखानों का है, जिसमें सब प्रकार से मनुष्य अपनी प्रकृति, अपने स्वभाव, गुण (जीविका) कर्म के अनुसार सहज में ढाले जा सकते हैं और जाते थे। प्राचीन व्यवस्था के मौलिक सिद्धान्तों के अनुसार कोई कारण नहीं है कि संसार में बसनेवाले सभी लोग चीनी, जापानी, ईरानी, अरबी, फ्रांसीसी, जर्मन, अंग्रेज चाहे वे ईसाई, मुस्लिम, यहूदी या और किसी मज़हब के हों, इन्हीं चार जीविकानुसार गिरोहों या पेशों में विभक्त न किये जायं।"

: १७ :

माया

श्री शंकराचार्य ने माया तथा अविद्या शब्दों का प्रयोग समानार्थक रूप से किया है। (शारी० भाष्य १।४।३) परन्तु परवर्ती दार्शनिकों ने इन दोनों शब्दों में सूक्ष्म-अर्थ-भेद की कल्पना की है। परमेश्वर की बीजशक्ति का नाम 'माया' है। माया-रहित होने पर परमेश्वर में प्रवृत्ति नहीं होती और न वह जगत् की सृष्टि करता है। यह अविद्यात्मिका बीज-शक्ति 'अव्यक्त' कही जाती है। यह परमेश्वर में आश्रित होनेवाली महासुप्ति-रूपिणी है, जिसमें अपने स्वरूप को न जाननेवाले संसारी जीव शयन करते हैं। अग्नि की पृथग्भूत दाहिका शक्ति के अनुरूप ही माया ब्रह्म की अपृथक्भूता शक्ति है। माया त्रिगुणात्मिका ज्ञान-विरोधी भावरूप पदार्थ है। अर्थात् वह अभाव-रूप नहीं है। माया न तो सत् है, न असत्; इन दोनों से विलक्षण होने के कारण उसे 'अनिर्वचनीय' कहते हैं। जो पदार्थ सद्-

रूप से या असद्रूप से वर्णित न किया जा सके, उसकी शास्त्रीय संज्ञा 'अनिर्वचनीय' है। माया को सत् कह नहीं सकते, क्योंकि ब्रह्म-बोध से उसका बाध होता है। 'सत्' तो त्रिकालाबाधित होता है। अतः यदि वह सत् होती तो कभी बाधित नहीं होती। अथ च उसकी प्रतीति होती है। इस दशा में उसे 'असत्' कहना भी न्याय-संगत नहीं। क्योंकि 'असत्' वस्तु कभी प्रतीयमान नहीं होती। इस प्रकार माया में बाधा तथा प्रतीति उभयविध विरुद्ध गुणों के सद्भाव रहने से माया को 'अनिर्वचनीय' ही कहना पड़ता है। प्रमाण-असहिष्णुता ही अविद्या की अविद्यता है। तर्क की सहायता से माया का ज्ञान प्राप्त करना अन्धकार की सहायता से अन्धकार का ज्ञान प्राप्त करना है। सूर्योदय-काल में अन्धकार की भांति ज्ञानोदय-काल में माया टिक नहीं सकती। अतः यह भ्रान्ति आलम्बनहीन तथा सब न्यायों से नितान्त विरोधिनी है। माया विचार को नहीं सह सकती। इस प्रकार प्रमाण-असहिष्णु और विचार-असहिष्णु होने पर भी इस जगत् की उपपत्ति के लिए माया को मानना तथा उसकी अनिर्वचनीयता स्वीकार करना नितान्त युक्तियुक्त है।

माया की दो शक्तियां होती है—आवरण तथा विक्षेप। इन्हींकी सहायता से वस्तुभूत ब्रह्म के वास्तव-रूप को आवृत कर उसमें अवस्तु रूप जगत् का प्रतीति का उदय होता है। लौकिक भ्रान्तियों में भी प्रत्येक विचारशील पुरुष को इन दोनों शक्तियों की निःसन्दिग्ध सत्ता का अनुभव हुए बिना नहीं रह सकता। अधिष्ठान के सच्चे रूप को जबतक ढंक नहीं दिया जाता और नवीन पदार्थ की स्थापना उसपर की नहीं जाती तबतक भ्रान्ति की उत्पत्ति नहीं हो सकती। भ्रमोत्पादक जादू के खेल इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। ठीक इसके अनुरूप ही भ्रान्ति-स्वरूप माया में दो शक्तियां पाई जाती हैं। आवरण-शक्ति ब्रह्म के शुद्ध स्वरूप को मानो ढंक लेती है और विक्षेप शक्ति उस ब्रह्म में आकाशादि प्रपंच को उत्पन्न कर देती है। जिस प्रकार एक छोटा-सा मेघ नेत्र को ढंक देने के कारण अनेक योजन-विस्तृत आदित्य-मण्डल को आच्छादित-सा कर देता है, उसी प्रकार परिच्छिन्न अज्ञान अवुभवकर्त्ताओं की बुद्धि को ढंक देने के कारण अपरिच्छिन्न अ-संसारी आत्मा को आच्छादित-सा कर देता है। इसी शक्ति की संज्ञा 'आवरण' है, जो शरीर के भीतर दृष्टा व दृश्य के तथा शरीर के बाहर ब्रह्म और सृष्टि के भेद को आवृत कर देती है। जिस प्रकार रज्जु का अज्ञान अज्ञानावृत रज्जु में अपनी शक्ति से सर्पादिक की उद्भावना करता है, ठीक उसी प्रकार माया भी अज्ञानाच्छादित

आत्मा में इस शक्ति के बल पर आकाश आदि जगत्प्रपंच को उत्पन्न करती है। इस शक्ति का नाम—'विक्षेप' है। मायोपाधिक ब्रह्म ही जगत् का रचयिता है। चैतन्य पक्ष के अवलम्बन करने पर ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण है और उपाधि-पक्ष की दृष्टि से वही ब्रह्म उपादान-कारण है। अतः ब्रह्म की जगत्-कर्त्तृता में माया को ही सर्व-प्रधानतया कारण मानना उचित है। (भारतीय दर्शन)

भागवत में भगवान् की शक्ति को 'माया' कहा है, जिसका स्वरूप इस प्रकार है—"वास्तव वस्तु के बिना भी जिसके द्वारा आत्मा में किसी अनिर्वचनीय वस्तु की प्रतीति होती है (जैसे आकाश में एक चन्द्रमा के रहने पर भी दृष्टि-दोष से दो चन्द्रमा दीख पड़ते हैं) और जिसके द्वारा विद्यमान रहने पर भी वस्तु की प्रतीति नहीं होती। 'सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और लय तैसे ही बन्ध और मोक्ष—यह भ्रान्ति-जनित आभास है। इस भ्रान्ति का कारण प्रत्यक् चैतन्य में अज्ञान और ईश्वर-पुरुष में ज्ञान-पूर्वक उपाधि। अज्ञान या उपाधि ही माया अथवा प्रकृति है। प्रत्यक् चैतन्य एवं ईश्वर के भेद की प्रतीति भी मायाकृत आभास ही है। 'इस माया का स्वरूप अगम्य है', ऐसा भी नहीं कह सकते। और 'नहीं' कहें तो वह प्रतीत होती है, अतः 'अनिर्वचनीय' है। इसका भास अनादिकाल से चला आता है।"

"मायावादी को भी यह तो मानना ही पड़ता है कि माया में नियमाधीनता है। जगत् केवल आभास हो तो भी वह अव्यवस्थित आभास नहीं कहा जा सकता। मायावाद के मूल में वास्तविक अवलोकन तो इतना ही है—(१) हमको जगत् का या देह का भान तभी हो सकता है जब मन का व्यापार चालू हो, (२) जगत् हमको कैसा दिखाई देता है, यह हमारी मनोदशा पर भी अवलम्बित है। और इसलिए हम यह निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि जगत् के पदार्थों को हम जिस नाम-रूप से जानते हैं, वही नामरूप सचमुच उन पदार्थों के अवश्य ही हैं और (३) मन के मूल में या जगत् के मूल में कोई स्थिर तत्व यदि हो तो वह सत्ता-मात्र चैतन्य ही है। इस अवलोकन का अर्थ तो इतना ही हुआ कि जैसे रंग व रूप का भान हमें, यदि आंखों का व्यापार बन्द हो जाय तो नहीं हो सकता, उसी तरह हमें अपने अस्तित्व से लेकर जगत् तक के किसी भी पदार्थ या भाव का भान बिना मन के व्यापार के नहीं हो सकता। ज्ञाता बनने के लिए मन आवश्यक साधन है। ज्यों-ज्यों मन का व्यापार अधिक विकसित व शुद्ध होता जायगा त्यों-त्यों ज्ञातापन भी

अधिक स्पष्ट होता जायगा और उसके द्वारा मिलनेवाला अनुभव अधिक सूक्ष्म और तलस्पर्शी होता जायगा, यहांतक कि अन्त को उसके द्वारा अपने तथा जगत् के अस्तित्व के मूल में स्थित चैतन्य-सत्ता को भी वह ग्रहण कर सकता है।"

(जीवन-शोधन)

अर्थात् मन की मलिनता, अशुद्धता, अविकसितता को अविद्या या माया या भ्रान्ति कहना चाहिए; शुद्ध, अभ्युदित, विकसित मन की क्रिया को 'विद्या' व प्रतीति या अनुभव को 'ज्ञान' कह सकते हैं।

"ब्रह्म में मूल माया उत्पन्न हुई। उसीको (सूक्ष्म) अष्टधा प्रकृति कहते हैं। क्योंकि मूल माया ही पंचभूत व त्रिगुण से व्याप्त है। वह वायु-स्वरूप है। उसीको 'इच्छा' किंवा 'संकल्प' कहते हैं। परन्तु उसका सम्बन्ध ब्रह्म से नहीं। वायु-रूप माया में जो ज्ञान-कला है, उसे 'ईश्वर', 'सर्वेश्वर' कहते हैं। वह ईश्वर सगुण हुआ और उसमें त्रिगुण-भेद उत्पन्न हुआ। यही ब्रह्मा, विष्णु, महेश हुए। इनका स्वरूप सत्व-रज-तमात्मक है। ज्ञानयुक्त भगवान् विष्णु, ज्ञान-अज्ञान-युक्त ब्रह्मदेव, अज्ञान-युक्त अर्थात् भोले भगवान् शंकर।

"ईश्वर ने ही गुण माया का अंगीकार करके ब्रह्मा, विष्णु, महेश का रूप धारण किया। ब्रह्मदेव ने संकल्प-मात्र के द्वारा सृष्टि निर्माण की।

"चैतन्य व वायु—इन्हींको पुरुष-प्रकृति या शिव-शक्ति एकरूप होने के कारण मूल माया का नाम हुआ अर्द्धनारीनटेश्वर। मूल माया के चैतन्य का विस्तार सारे ब्रह्माण्ड में है।

"निश्चल आकाश में चंचल वायु बहने लगी। गगन व वायु में भेद है। तैसे ही निश्चल परब्रह्म में चंचल माया-रूप भ्रम उत्पन्न हो गया। फिर भी ब्रह्म व भ्रम में भेद है। जैसे आकाश में वायु चलती है, उसी प्रकार निश्चल में चलन—एकोऽहं बहुस्याम—इच्छा, आदिस्फूर्ति, मूल प्रकृति, मूल माया, आदि नामोंवाली अहं स्फुरण-रूप, चेतना ही ब्रह्माण्ड की महाकारण माया है। पिण्ड के जैसे स्थूल, सूक्ष्म, कारण, महाकारण ऐसे चार देह हैं, वैसे ही ब्रह्माण्ड के विराट्, हिरण्यगर्भ, अव्याकृत व मूलमाया ये चार देह हैं। इसे ईश्वर-तनु-चतुष्टय कहते हैं। अहं-स्फुरण रूप चेतना ही मूल माया है। इसके परमेश्वरवाचक अनन्त नाम हैं। नाम-रूप, लिंग-भेद न होने के कारण उसके कुछ नाम पुरुषवाचक व कुछ स्त्रीवाचक व कुछ नपुंसक हैं। ये केवल संकेतार्थक हैं।

"माया नदी को उलटे क्रम से तैरते हुए उद्गम तक जाने पर वहां सबकी भेंट हो जाती है। क्योंकि वही सबका विश्रान्ति-स्थान है।

"आदि संकल्प ही मूल माया है। उसे षड्गुणैश्वर्य-सम्पन्न कहते हैं। सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, साक्षी, द्रष्टा, ज्ञानघन, परेश, परमात्मा, जगज्जीवन, मूल पुरुष—ये सब नाम मूल माया के ही हैं। यही मूल माया अधोमुख होकर गुण-माया हो जाती है।

"ब्रह्म से उलटी माया। निर्गुण-सगुण; अनन्त-सान्त; निर्मल, निश्चल, निरुपाधिक चंचल, चपल, उपाधि रूप। माया भासती है व मिटती है; ब्रह्म इससे मुक्त है। माया उपजती है, मरती है, विकारी है, ब्रह्म सदा-सर्वदा निर्विकारी। माया सबकुछ करती है—ब्रह्म कुछ भी नहीं करता। धारणा माया तक पहुंच सकती है, ब्रह्म तक नहीं। माया का नाम-रूप है। माया पांच-भौतिक है; ब्रह्म शाश्वत व एक है। माया छोटी व असार, ब्रह्म बड़ा व सार। माया इस पार की, ब्रह्म उस पार का। माया ने ब्रह्म को ढांक लिया है। साधु-सन्त उसे पहचान लेते हैं। काई दूर करके साफ पानी लेने, पानी छोड़कर दूध लेने की तरह माया का परदा हटाकर ब्रह्म को ले लेना चाहिए।

ब्रह्म	माया
आकाश जैसा निर्मल	पृथ्वी जैसी गंदली
सूक्ष्म	स्थूल
अप्रत्यक्ष (इन्द्रिय-अगोचर)	प्रत्यक्ष (इन्द्रियगोचर)
सदासम	विषमरूपी, नानात्वपूर्ण
अलक्ष्य	लक्ष्य
असाक्षी	साक्षी
पक्ष नहीं	दो पक्ष—जीव-शिव, बन्ध-मोक्ष, पाप-पुण्य, प्रवृत्ति-निवृत्ति
सिद्धान्त पक्ष	पूर्व-पक्ष (खण्डन-मण्डन)
निरन्तर परिपूर्ण	पुरानी गुदड़ी
मौन उचित	जितना कहो उतना थोड़ा
अभंग	नाना रूप, नाना रंग, नाना कल्पना—भंगशील।

"उपाधि-रहित आकाश को ही निराभास ब्रह्म समझो। उसमें मूलमाया

प्रकटी। वह वायु रूप है। वायु में चेतना, वासना, वृत्ति इत्यादि रूपों में जगज्ज्योति अर्थात् चेतन-कला है। आकाश से वायु हुई। वह मुख्यत: दो प्रकार की है—एक तो वह जो बहती है, दूसरी यह जगज्ज्योति। इस जगज्ज्योति में ही देवी-देवताओं की अनेक मूर्तियां हैं। तेज भी उष्ण व शीतल दो प्रकार का है। उष्ण तेज से प्रकाश, सूर्य व सर्वभक्षक अग्नि व विद्युत ये तीन हुए, शीतल तेज से पानी, अमृत, नक्षत्र, तारा, बर्फ इत्यादि बने।" (दासबोध)

"ब्रह्म की जिस शक्ति से सृष्टि, स्थिति, प्रलय होता है, उसीका नाम माया है। वह दो प्रकार की है विद्या-अविद्या। जिसके अन्तर्गत किये हुए कर्मों से जीव ईश्वर की ओर झुकता है, जिसके घेरे में विवेक और वैराग्य की क्रियाएं पाई जाती हैं, उसे विद्या-माया कहते हैं। जहां काम, क्रोध आदि शत्रुओं के कार्य पाये जाते हैं, जिसके घेरे में किये हुए कामों से जीव संसार में दिन-दिन बंधता जाता है, उसे अविद्या-माया कहते हैं। अविद्या-माया के हाथ से छुटकारा पाने के लिए विद्या-माया का आश्रय लेना पड़ता है। पीछे जब ईश्वर मिल जाता है, ज्ञान होता है तब दोनों ही माया चली जाती हैं। एक कांटा चुभ जाने पर उसको निकालने के लिए दूसरे कांटे का सहारा लेना पड़ता है। लेकिन जब पहला कांटा निकल जाता है तो दोनों को फेंक देते हैं।

"बिल्ली अपने बच्चे को दांत से पकड़ती है पर दांत उन्हें नहीं गड़ते। परन्तु वही जब चूहों को पकड़ती है तो वे मर जाते हैं। इसी प्रकार माया भक्त को बचा लेती और दूसरों को मिटा डालती है।

"कामिनी व कांचन ही माया है। इनके आकर्षण में पड़ने से जीव की सब स्वाधीनता चली जाती है। इनके मोह में पड़कर जीव संसार के बन्धन में पड़ जाता है।

"चावल का धोवन पीने से शराब का नशा उतर जाता है। ऐसे ही साधु-संग करने से जीव का माया-रूपी नशा उतर जाता है। (परमहंसदेव)

: १८ :

जीव

वेदान्त मतानुसार अन्त:करण-अवच्छिन्न चैतन्य जीव है। शंकराचार्य की सम्मति में शरीर तथा इन्द्रिय-समूह के अध्यक्ष और कर्मफल के भोक्ता आत्मा

को ही जीव कहते हैं। जीव की वृत्तियां उभयमुखीन होती हैं। यदि वे बहिर्मुख होती हैं तो विषयों को प्रकाशित करती हैं और जब वे अन्तर्मुखी होती हैं तो 'अहं'-कर्त्ता को अभिव्यक्त करती हैं। जीव की उपमा नृत्यशाला-स्थित दीपक से दी जा सकती है। जिस तरह रंगस्थल में दीपक, सूत्रधार, सभ्य तथा नर्तकी को समभाव से प्रकाशित करता है और इनके अभाव में स्वतः प्रकाशित होता है, उसी तरह साक्षी आत्मा अहंकार, विषय तथा बुद्धि को अवभासित करता है और इनके अभाव में स्वतः चमकता है। बुद्धि में चंचलता होती है और बुद्धि से युक्त होने से जीव चंचल-सा प्रतीत होता है। वस्तुतः वह शान्त है।

वैष्णव तन्त्रानुसार वासुदेव से 'जीव' (संकर्षण) की उत्पत्ति होती है। यह जगत् भगवान् की लीला का विलास है। भगवान् के संकल्प या इच्छा-शक्ति का ही नाम 'सुदर्शन' है, जो अनन्त रूप होने पर भी प्रधानतया पांच प्रकार का होता है—उत्पत्ति, स्थिति तथा विनाशकारिणी शक्तियां, निग्रहशक्ति (माया, अविद्या आदि नामधारिणी तिरोधान शक्ति) तथा अनुग्रहशक्ति। जीव स्वभावतः सर्व-शक्तिशाली, व्यापक तथा सर्वज्ञ तो है, परन्तु सृष्टिकाल में भगवान् की तिरोधान-शक्ति जीव के विन्दुत्व, सर्वशक्तिमत्व और सर्वज्ञत्व का तिरोधान कर देती है, जिससे जीव क्रमशः अणु, किंचित्कर तथा किंचितज्ञ बन जाता है। इन्हीं अणु-त्वादिकों को 'मल' कहते हैं। इन्हींसे जीव बद्ध बन जाता है और पूर्व-कर्मों के अनुसार जाति, आयु तथा भोग की प्राप्ति करता है। इस विकट भवचक्र में वह निरन्तर घूमता रहता है। जीव के क्लेशों को देखकर भगवान् के हृदय में कृपा का स्वतः आविर्भाव होता है—इसीका नाम है अनुग्रहशक्ति, जिसे आगम में 'शक्ति-पात' कहते हैं। जीवों की दीन-हीन दशा को देखकर करुणा-वरुणालय भगवान् का हृदय द्रवीभूत हो जाता है और वह जीवों पर अपनी नैसर्गिक करुणा की वर्षा करने लगते हैं। अब जीव के शुभ-अशुभ कर्म सम होकर फलोत्पादन के प्रति व्यापारहीन हो जाते हैं। जीव इस दशा में वैराग्य तथा विवेक को प्राप्त कर मोक्ष की ओर स्वतः प्रवृत्त हो जाता है।

अद्वैत-मत में जीव स्वभावतः एक है; परन्तु देहादि उपाधियों के कारण वह नाना प्रतीत होता है। परन्तु रामानुज-मत में जीव अनन्त हैं—वे एक-दूसरे से नितान्त पृथक् हैं। देह तथा देही के समान जीव भी ब्रह्म से कदापि अभिन्न नहीं है। ब्रह्म से जीव नितान्त भिन्न है। जीव आध्यात्मिकादि दुःखत्रय से नितरां

पीड़ित है, ऐसी दशा में उसकी ब्रह्म के साथ अभिन्नता कैसी मानी जा सकती है ? ब्रह्म जगत् का कारण तथा करणाधिप (जीव का अधिपति) है। दोनों अज हैं—एक ईश है, दूसरा अनीश। एक प्राज्ञ है, दूसरा अज्ञ। चिनगारी जिस प्रकार अग्नि का अंश है, देह देही का अंश है, उसी प्रकार जीव ब्रह्म का अंश है। जीव-ब्रह्म में अंशांशी-भाव या विशेषण-विशेष्य-भाव-सम्बन्ध है।

माध्वमत में जीव अज्ञान, मोह, दुःख, भयादि दोषों से युक्त तथा संस ा रशील होते हैं। ये प्रधानतया तीन प्रकार के होते हैं—मुक्तियोग, नित्य-संसारी और तमोयोग्य। मुक्ति प्राप्त करने के अधिकारी जीव देव, ऋषि, पितृ, चक्रवर्ती तथा उत्तम मनुष्य रूप में पांच प्रकार के होते हैं। नित्य-संसारी जीव सदा सुख-दुःख के साथ मिश्रित रहता है और स्वीय कर्मानुसार ऊंच-नीच गति को प्राप्त कर स्वर्ग, नरक तथाभूलोक में विचरण करता है। इस कोटि के जीव 'मध्यम मनुष्य' कहे जाते हैं और वे कभी मुक्ति नहीं पाते। तमोयोग्य जीव चार प्रकार के होते हैं जिनमें दैत्य, राक्षस तथा पिशाचों के साथ अधम मनुष्यों की गणना है। संसार में प्रत्येक जीव अपना व्यक्तित्व पृथक् बनाये रहता है। वह अन्य जीवों से भिन्न है तथा सर्वज्ञ परमात्मा से तो सुतरां भिन्न है। केवल संसार दशा में ही जीवों में तारतम्य नहीं है, प्रत्युत् मुक्तावस्था में भी वह विद्यमान रहता है।

निम्बार्क मत में चित् या जीव ज्ञानस्वरूप है। इन्द्रियों की सहायता बिना इन्द्रिय-निरपेक्ष जीव विषय के ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ है। जीव ज्ञान का आश्रय-दाता भी है। वह ज्ञानस्वरूप तथा ज्ञानाश्रय दोनों एक ही काल में है। जीव का स्वरूपभूत ज्ञान, तथा गुणभूत ज्ञान, यद्यपि ज्ञानाकार तथा अभिन्न ही है तथापि इन दोनों में धर्माधर्मी-भाव से भिन्नता है। जीव कर्त्ता है। मुक्त हो जाने पर भी कर्तृत्व की सत्ता रहती है। जीव अपने ज्ञान तथा योग की प्राप्ति के लिए स्वतन्त्र न होकर ईश्वर पर आश्रित रहता है। जीव नियम्य है, ईश्वर नियन्ता है। वह ईश्वर के सदा अधीन है। मुक्त दशा में भी ईश्वर के आश्रित रहता है। जीव परिमाण में अणु तथा नाना है। वह हरि का अंश-रूप अर्थात् शक्तिरूप है।

वल्लभ-मत में जब भगवान् को रमण करने की इच्छा होती है तब वह अपने आनंदादि गुणों के अंशों को तिरोहित कर स्वयं जीवरूप ग्रहण कर लेते हैं। इस व्यापार में क्रीड़ा की इच्छा ही प्रधान कारण है, माया का सम्बन्ध तनिक भी नहीं रहता। ऐश्वर्य के तिरोधान से जीव में दीनता उत्पन्न होती है और यश के तिरो-

धान से हीनता। श्री के तिरोधान से वह समस्त विपत्तियों का आस्पद है, ज्ञान के तिरोधान से अनात्मरूप देहादिकों में आत्मबुद्धि रखता है तथा आनन्द के तिरोधान से दुःख को प्राप्त करता है। ब्रह्म से आविर्भूत जीव अग्नि-स्फुलिंगवत् नित्य है। वह ज्ञाता, ज्ञानस्वरूप तथा अणु-रूप है। भगवान् के अविकृत सदंश से जड़ का निर्गमन और अविकृत चिदंश से जीव का निर्गमन होता है। जड़ के निर्गमन-काल में चिदंश तथा आनन्दांश दोनों का तिरोधान रहता है। परन्तु जीव के निर्गमन-काल में केवल आनन्द-अंश का ही तिरोभाव रहता है। जीव अनेक प्रकार का होता है—शुद्ध, मुक्त व संसारी। संसारी जीव दैव व आसुर दो प्रकार के होते हैं। मुक्त जीवों में भी कतिपय जीवन्मुक्त होते हैं और कतिपय मुक्त। जीव सच्चिदानन्द भगवान से नितान्त अभिन्न है।

जीवन-शोधनकार के मत में चैतन्य दो प्रकार से हमें उपलब्ध होता है—एक तो सजीव प्राणियों में देखा जानेवाला और दूसरा स्थावर-जंगम तथा जड़-चेतन सारी सृष्टि में व्याप्त। शास्त्रों में पहले के लिए जीव अथवा प्रत्यगात्मा शब्द का प्रयोग किया गया है और दूसरे के लिए परमात्मा, परमेश्वर, ब्रह्म आदि नाम दिये गए हैं। दोनों की विशेषताएं इस प्रकार हैं—

प्रत्यगात्मा	परमात्मा
१. विषय-सम्बद्ध होने से ज्ञाता, कर्त्ता और भोक्ता है।	१. विषय और प्रत्यगात्मा दोनों का उपादान कारण-रूप ज्ञान क्रिया-शक्ति है। ज्ञातापन, कर्त्तापन तथा भोक्तापन के भान का कारण अथवा आश्रय है।
२. कामना व संकल्पयुक्त है।	२. कामना अथवा संकल्प (अथवा व्यापक अर्थ में कर्म) की फल-प्राप्ति का कारण है और इस अर्थ में कर्मफल प्रदाता है।
३. पाप-पुण्यादि तथा सुख-दुःखादि के विवेक से युक्त अतएव लिप्त है।	३. अलिप्त है।
४. ज्ञान-क्रियादि शक्तियों में अल्प अथवा मर्यादित है।	४. अनन्त और अपार है।

५. पूर्ण स्वाधीन नहीं है।	५. तन्त्री या सूत्रधार है।
६. इसकी मर्यादाएं नित्य बदलती रहती हैं, अतः स्वरूप दृष्टि से नहीं बल्कि विकास अथवा सापेक्ष्य दृष्टि से, परिणामी है।	६. अपरिणामी है और परिणामों का उत्पादक कारण है।
७. 'मैं' रूप में जाना जाता है।	७. 'वह' रूप में जाना जाता है और इसलिए 'तू' रूप से सम्बोधित होता है।
८. उपासक है।	८. उपास्य, ऐष्य, वरेण्य और शरण्य है।

गीता के अनुसार परमात्मा की दो प्रकार की प्रकृतियां अथवा स्वभाव हैं—एक अपर प्रकृति और दूसरी पर प्रकृति। अपर प्रकृति के आठ प्रकार के भेद विश्व में दिखाई देते हैं—पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि तथा आकाश—इन पंच महाभूतों के रूप में तथा मन, बुद्धि और अहंकार के रूप में। अर्थात् इन आठ प्रकारों में से परमात्मा के स्वरूप के साथ कम-से-कम एक स्वभाव उसकी अपर प्रकृति के रूप में जुड़ा हुआ दीखता है। इसके सिवा परमात्मा का एक परस्वभाव भी, विश्व में जहां-जहां अपर प्रकृति विदित होती है, वहां-वहां, सर्वत्र उसके साथ ही रहता दिखाई देता है। इसको परमात्मा का जीवस्वभाव कहा जा सकता है। परमात्मा का जीवस्वभाव उसकी परप्रकृति इसलिए कहलाता है कि वह स्थिर, ज्ञानयुक्त तथा एक-रूप है और अपर प्रकृति को आधार देकर विश्व को धारण करता है। अर्थात् इस विश्व का अस्तित्व इस चेतन जीव-प्रकृति के कारण ही है।

"जिस प्रकार पानी के जुदा-जुदा बिन्दु पानी ही हैं और अलग होने पर भी शामिल हो सकते हैं, उसी तरह जुदा-जुदा जीव रूप दिखाई देनेवाले पदार्थ भी उस अच्युत ब्रह्म के, यों कहना चाहिए कि अंश ही हैं। जिस प्रकार छोटा-सा बीज अपने में रहनेवाली नैसर्गिक शक्ति के द्वारा आसपास की भूमि, पानी और हवा में से तत्त्व खींचकर अपने में से मूल, तना, डाल, पत्ते फूल तथा फल आदि का विस्तार करता है, उसी प्रकार जीव के मूल में ही रहनेवाली स्वभाव-सिद्ध शक्ति द्वारा वह चारों ओर फैली हुई प्रकृति में से आवश्यक तत्व खींचकर मन तथा पंचेन्द्रियों का विस्तार करता है और स्थूल शरीर का निर्माण करता है।"

(गीता-मंथन)

"चित्त का जो व्यापार व विचार अपने शरीर तक ही सीमित रहता है, वह उसका जीव-स्वभाव और जो ब्रह्माण्ड पर अपना असर डालता है, वह उसका ईश्वर-स्वभाव है।"

"आत्मा जब शरीर-परिमित ही प्रतीत होता है तब उसकी अल्पता के कारण वह मेरा अंश जान पड़ता है। वायु के कारण समुद्र का जल जब तरंगाकार होकर उछलता है तो जैसे वह समुद्र का थोड़ा-सा अंश ही दिखाई देता है, वैसे ही इस जीव-लोक में मैं जड़ को चेतना देनेवाला, देह में अहन्ता उपजानेवाला जीव जान पड़ता हूं।"
(ज्ञानेश्वरी)

"लोहे व चुम्बक की तरह ईश्वर व जीव का सम्बन्ध है। लोहा साफ होगा तो चुम्बक उसे झट खींच लेगा। किन्तु यदि लोहे में मैल लगी होगी तो चुम्बक नहीं खींचेगा। उसी प्रकार जीव माया से घिरा रहने के कारण ईश्वर के निकट नहीं जा सकता।

"जीव चार प्रकार के हैं—बद्ध, मुमुक्षु, मुक्त और नित्य मुक्त। बद्ध जीव कामिनी-कांचन में लिप्त रहते हैं। वे भूलकर भी ईश्वर की ओर मन नहीं लगाते। गरम लोहे पर जल का छींटा पड़ते ही जैसे वह सूख जाता है वैसे ही भगवान् की चर्चा भी बद्ध जीवों के निकट व्यर्थ हो जाती है। जो जीव संसार के जाल से मुक्त होने के लिए विकल होकर यत्न करते हैं, वे मुमुक्षु हैं। जो कामिनी-कांचन से छुटकारा पा चुके हैं, जिनके मन में विषय-वासना बिलकुल नहीं है और जो सदा भगवान् के चरणों का ही चिन्तन करते हैं वे ही मुक्त जीव हैं। नित्यमुक्त संसार में कभी लिप्त नहीं होते। उनका ईश्वर में विश्वास स्वतःसिद्ध है। वे सदा हरि-रस-पान में ही मत्त रहते हैं। वे विषय-रस को ज़रा भी नहीं छूते।

"मुक्त जीव नमक की तरह समुद्र में घुलमिल जानेवाले; सांसारिक जीव कपड़े की गांठ के समान—उसमें जल प्रवेश कर जाता है, पर वह जल में मिल नहीं जाती। इच्छा होने पर उसे जल से बाहर निकाल भी सकते हैं। बद्ध जीव पत्थर के जैसे होते हैं, जिनमें जल बिलकुल प्रवेश नहीं करता।

"जैसे पत्थर में कांटी नहीं घुसती, मिट्टी में घुस जाती है वैसे ही साधु के उपदेश बद्ध जीवों के हृदय में प्रवेश नहीं करते; विश्वासी के हृदय में सहज ही प्रवेश कर जाते हैं।

"लोहार की दूकान में लोहा जबतक भट्टी में रहता है तबतक लाल रहता

है, फिर काला-का-काला हो जाता है। वैसे सांसारिक जीव जबतक धर्म-मन्दिर में या धार्मिक लोगों के समीप सत्संग में रहते हैं तबतक धर्मभाव से पूर्ण रहते हैं, बाहर निकलते ही वह भाव चला जाता है।

"मगर के शरीर पर अस्त्र मारने से वह उसके शरीर में नहीं धंसता, बाहर ही फिसल जाता है, उसी तरह बद्ध जीव के समीप चाहे कितनी ही धर्म की बातें हों, वे उसके मन में किसी प्रकार नहीं धंसतीं।

"हाथ में तेल लगाकर कटहल काटने से उसका लसा हाथ में नहीं लगता। वैसे ही ईश्वर में भक्ति व विश्वास करके संसार का सब काम करने से जीव संसार के बन्धन में नहीं पड़ता।

"वर्षा का जल जैसे एक ओर से आता है और दूसरी ओर बह जाता है, उसी प्रकार सांसारिक बद्ध जीव भी धर्म की बातें एक कान से सुनते हैं और दूसरे से निकाल देते हैं।

"कितनी ही मछलियां जाल में फंसी होने पर विपत्ति में भी भागने की चेष्टा नहीं करतीं। वहीं चुप पड़ी रहती हैं। कितनी ही मछलियां भागने के लिए छटपटाती हैं, परन्तु भाग नहीं सकतीं। और कितनी ही मछलियां जाल में फंसने पर उसे तोड़कर भाग निकलती हैं। इसी प्रकार संसार में तीन प्रकार के जीव—बद्ध, मुमुक्षु व मुक्त होते हैं।" (श्रीरामकृष्ण परमहंस)

"जीव चार प्रकार के हैं—जाननेवाला जीव प्राण है, न जाननेवाला अज्ञान, जन्म-मरणशील जीव—वासनात्मक व ब्रह्म से ऐक्य पा जानेवाला जीव ब्रह्मांश—ये चार प्रकार के जीव चंचल होने के कारण नाशमान हैं, निश्चल परब्रह्म ही एक आदि-अन्त में स्थिर, शाश्वत-सत्य है।" (दासबोध)

: १८ अ :

सत्य की व्याख्या

ज्ञानदेव-कृत सत्य की व्याख्या—"जैसे अपराध के समय माता का स्वरूप ऊपर से क्रोध से युक्त और लालन करने में पुष्प के समान कोमल होता है वैसे ही जो सुनने में सुखदायक और परिणाम में यथार्थ होता है, उस विकार-रहित भाषण को 'सत्य' कहते हैं।"

शंकराचार्य-कृत सत्य की परिभाषा—"यद्रूपेण यन्निश्चितं तद्रूपं नव्यभिचरति तत् सत्यम्' अर्थात् जिस रूप से जो पदार्थ निश्चित होता है, यदि वह रूप सन्नत, समभाव से, विद्यमान रहे तो उसे 'सत्य' कहते हैं।"

श्री मश्रुवाला 'सत्याग्रह' के सम्बन्ध में लिखते हैं—"श्रेयार्थी के लिए सबसे महत्व की बात है सत्य के लिए आग्रह। 'सत्याग्रह' राजनैतिक अर्थ में नहीं, परन्तु हमारे प्रत्येक आचार या विचार के प्रसंग पर उसी बात को स्वीकार करने की तैयारी जो तात्विक रूप से और सबके हित की दृष्टि से उचित प्रतीत हो। 'सत्य को पहला स्थान दिया जाय या दूसरा', इसमें जमीन-आसमान का अन्तर है।

"अपनी किसी मान्यता या विचार को मैं नहीं छोड़ूंगा—ऐसा आग्रह सत्य-शोधन में बाधक है। शोधन का विषय शास्त्र नहीं बल्कि चित्त या आत्मा है और वह शास्त्रों में नहीं खुद हमारे अन्दर है।

"सत्य-शोधक में इतने गुण अवश्य होने चाहिए—व्याकुलता, जिज्ञासा, शोधक-बुद्धि, सत्वसंशुद्धि, विचारमय व पुरुषार्थी जीवन, पूज्य व गुरुजनों के प्रति भक्ति, आदर व जगत् के प्रति निष्काम प्रेम, धैर्य, श्रमशीलता, कृतज्ञता, धर्म-शीलता, आत्मा या परमात्मा के सिवा दूसरे आलम्बन के लिए निःस्पृहता।"

आप 'गीता-मन्थन' में लिखते हैं—"जिस प्रकार हाथी के पांव में सब पांव समा जाते हैं, उसी प्रकार सत्य में सब व्रत समा जाते हैं। जिस प्रकार बीज पर्वत के टीलों को भी फोड़कर बाहर फूट निकलता है, उसी प्रकार अनेक वर्षों तक ढका रहनेवाला सत्य अद्भुत प्रकार से बाहर आये बिना नहीं रहता।

"जिसकी यह निष्ठा हो गई है कि सत्य-रूप परमात्मा ही सब जगत् का मूल तथा आधार है, वह जीवन की सब क्रियाओं में सत्य के ही साक्षात्कार का प्रयत्न करता है। विशेष अनुभव से यह भी जान लेता है कि सत्य का दुष्कर प्रतीत होने-वाला मार्ग ही अन्त में सरल, संक्षिप्त और निश्चयपूर्वक फलदायी है।"

इस सिलसिले में श्री विनोबा के कुछ विचार भी मनन करने योग्य हैं—

"सत्य की व्याख्या नहीं हो सकती। क्योंकि व्याख्या का आधार ही सत्य पर होता है।"

"सूर्यनारायण सत्यनारायण की प्रतिमा है। सूर्योपासना सत्यदर्शन के लिए है।"

"सत्य = धर्म = ब्रह्म।"

"सन्त की अपेक्षा सत्य श्रेष्ठ है। सत्य के अंश-मात्र से सन्त निर्माण हो गये हैं।"

"सत्य व्यावहारिक अपूर्णांक नहीं, आध्यात्मिक पूर्णांक है।"

"संसार में दो महिमाएं काम कर रही हैं—१. सत्यमहिमा व २. नाममहिमा।"

गांधीजी 'मंगल प्रभात' में लिखते हैं, "सत्य शब्द सत् से बना है। सत् अर्थात् होना, सत्य है होना और सत्य के सिवा दूसरी चीज की हस्ती ही नहीं है, इसलिए परमेश्वर का नाम ही सत् अर्थात् 'सत्य' है। इसलिए परमेश्वर सत्य है, यह कहने के बजाय 'सत्य' ही परमेश्वर है, यह कहना अधिक उपयुक्त है। और जहां सत्य है वहां ज्ञान—शुद्ध ज्ञान—है ही। इसीलिए ईश्वर नाम के चित् अर्थात् ज्ञान शब्द की योजना हुई है। और सत्य, ज्ञान है, वहां आनन्द ही होगा, शोक होगा ही नहीं। और सत्य शाश्वत है, इसलिए आनन्द भी शाश्वत होता है। इसी कारण हम ईश्वर को सच्चिदानन्द नाम से पहचानते हैं।

"विचार में, वाणी में और आचार में जो सत्य है, वही सत्य है।"

"यह सत्य अभ्यास व वैराग्य से प्राप्त होता है। सत्य का ही निरन्तर चिन्तन और पालन अभ्यास है और सत्य के सिवा दूसरी सब बातों से उदासीनता वैराग्य है।

"सत्य के सम्पूर्ण दर्शन इस देह से असम्भव हैं। उसकी केवल कल्पना की जा सकती है। क्षणिक देह द्वारा शाश्वत धर्म का साक्षात्कार सम्भव नहीं होता। इसलिए अन्त में श्रद्धा के उपयोग की आवश्यकता रह ही जाती है।

"हम देखेंगे कि एक के लिए जो सत्य है वह दूसरे के लिए असत्य है। सभी सत्य एक ही पेड़ के असंख्य पत्तों के समान हैं, जो भिन्न-भिन्न दीख पड़ते हैं। परमेश्वर भी क्या हर आदमी को भिन्न नहीं दिखाई देता ? फिर भी हम जानते हैं कि वास्तव में वह एक ही है। परन्तु सत्य नाम ही परमेश्वर का है, अतः जिसे जो सत्य जान पड़े उसीके अनुसार आचरण करे तो इसमें दोष नहीं, बल्कि वही कर्त्तव्य है। सत्य की खोज करते हुए कोई आखिर तक गलत रास्ते नहीं चल सकता। क्योंकि सत्य की खोज में तपश्चर्या व कष्ट सहन करना पड़ता है।"

: १९ :

वैदिकी तान्त्रिकी दीक्षा

कलियुग के लिए तान्त्रिक साधना की उपयोगिता विशेष रूप से मानी गई है। चारों युगों में चार प्रकार की पूजा का विधान मिलता है—सत्ययुग में वेद तथा वैदिक उपासना का, त्रेता में स्मृति तथा स्मार्त पूजा का, द्वापर में पुराण तथा पुराण-सम्मत पद्धति का तथा कलि में तन्त्र तथा तान्त्रिकी उपासना का विशेष महत्व है। 'महानिर्वाण तन्त्र' के अनुसार कलि में साधारण मानव-जनों के कल्याणार्थ शंकर ने पार्वती को स्वयं इन तन्त्रों का उपदेश दिया है। अतः कलियुग में उन्हीं आगमों के अनुसार पूजा-विधान से मानवों को सिद्धि मिलती मानी गई है। देवता के स्वरूप, गुण, कर्म, आदि का जिनमें चिन्तन किया गया हो, तद्विषयक मन्त्रों का उद्धरण किया गया हो, उन मन्त्रों को यन्त्र में संयोजित कर देवता का ध्यान तथा उपासना के पांचों अंग—पटल, पद्धति, कवच, नामसहस्र और स्तोत्र व्यवस्थित रूप से दिखलाये गए हों, उन ग्रन्थों को तन्त्र कहते हैं। वाराही तन्त्र के अनुसार सृष्टि, प्रलय, देवार्चन, सर्वसाधन, पुरश्चरण, षट्कर्म (शान्ति, वशीकरण, स्तम्भन, विद्वेषण, उच्चाटन तथा मारण) साधन तथा ध्यानयोग—इन सात लक्षणों से युक्त ग्रन्थों को आगम कहते हैं।

तन्त्रों की विशेषता 'क्रिया' है। वैदिक ग्रन्थों में निर्दिष्ट 'ज्ञान' का क्रियात्मक रूप या विधानात्मक आचार आगमों का मुख्य विषय है।

तन्त्र दो प्रकार के हैं—वेदानुकूल व वेद-बाह्य पंचरात्र तथा शैवागम वेद-विहित हैं। शाक्तागम भी वेदानुकूल ही समझना चाहिए। निगम ने अपने सिद्धान्तों तथा क्रिया-कलापों को ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य त्रिवर्ण के लिए सीमित कर रक्खा है, तहां आगम ने अपना द्वार प्रत्येक वर्ण के लिए, शूद्र तथा स्त्री-जनों के लिए भी खोल रक्खा है।

तान्त्रिक आचार रहस्यपूर्ण है। गुरु के द्वारा दीक्षा ग्रहण करने के समय शिष्य को इसका रहस्य समझाया जाता है। वैदिकी तथा तान्त्रिकी पूजा में अन्तर यह है कि जहां वैदिक पूजा-पद्धति सर्व-साधारण के उपयोग के लिए है, वहां तान्त्रिकी पूजा केवल चुने हुए कुछ अधिकारी व्यक्तियों के लिए ही है। अतः वह सर्वदा तथा सर्वथा गोप्य रक्खी जाती है। वैदिक काल में भी वैदिक पद्धति के साथ-साथ

तान्त्रिक पद्धति का प्रचार कम न था। उपनिषदों में वर्णित विभिन्न विद्याओं की आधार-भित्ति तान्त्रिक प्रतीत होती है।

शाक्तमत में तीन भाव सात आचार होते हैं। पशुभाव, वीर भाव व दिव्य भाव तथा वेदाचार, वैष्णवाचार, शैवाचार, दक्षिणाचार, वामाचार, सिद्धान्ताचार व कौलाचार। भाव मानसिक अवस्था है, और आचार बाह्य आचरण। प्रथम चार आचार पशु-भाव के लिए, वाम तथा सिद्धान्त वीर भाव के लिए तथा कौलाचार पूर्ण अद्वैत भावना भावित 'दिव्य' साधक के लिए है। चौरासी सिद्धों में अन्यतम मत्स्येन्द्रनाथ 'कौल' थे। नाथ-सम्प्रदाय का सम्बन्ध 'कौलमत' से ही है।

तन्त्र के तीन प्रधान भेद हैं—ब्राह्मण तन्त्र, बौद्ध तन्त्र, व जैन तन्त्र। उपास्य देवता की भिन्नता के कारण ब्राह्मण तन्त्र अनेक प्रकार का है—सौर, गाणपत्य, वैष्णव, शैव तथा शाक्त। भागवत का सम्बन्ध वैष्णव तन्त्र से है।

तान्त्रिक साधन दो प्रकार का है—बहिर्याग व अन्तर्याग। बहिर्याग में गन्ध, पुष्प, धूप-दीप, तुलसी, बिल्व पत्र, नैवेद्यादि के द्वारा पूजा की जाती है। अन्तर्याग में इन सब बाह्य वस्तुओं की आवश्यकता नहीं होती। वह मानसोपचार है। पहली शोडषोपचार कहलाती है।

हिन्दू-धर्म में अनेक सम्प्रदाय हैं। उनमें तान्त्रिक सम्प्रदाय सबसे पुराना है। तन्त्र मनुष्य को शिक्षा देता है, पशुत्व को छोड़कर देवत्व में पहुंचने की, जीव से शिव होने की। तन्त्र की यह विशेषता है कि वह भोग-प्रवण मन को बलपूर्वक अकस्मात् धक्का देकर त्याग के मार्ग पर नहीं ठेलता। धीरे-धीरे भोग के अन्दर से ही मन की स्वाभाविक गति का मुख त्याग की ओर मोड़ देता है। इस दृष्टि से तान्त्रिक साधना सबकी अपेक्षा अधिक स्वाभाविक और सार्वजनीन है। मूर्ति-पूजा तान्त्रिक साधना का ही एक अंग है।

दीक्षा—श्रीगुरु-कृपा और शिष्य की श्रद्धा—इन दो पवित्र धाराओं का संगम ही दीक्षा है। गुरु का आत्मज्ञान और शिष्य का आत्म-समर्पण—दान और क्षेप—यही दीक्षा का अर्थ है। ज्ञान, शक्ति व सिद्धि का दान एवं अज्ञान, पाप और दारिद्र्य का क्षय, इसीका नाम दीक्षा है। दीक्षा एक दृष्टि से गुरु का आत्म-दान, ज्ञान-संचार अथवा शक्तिपात है तो दूसरी दृष्टि से शिष्य में सुषुप्त ज्ञान और शक्तियों का उद्बोधन है। दीक्षा के तीन भेद हैं—शाक्ती, शाम्भवी और मान्त्री। कुण्डलिनी को जाग्रत करके ब्रह्मनाडी में से होकर परमशिव में मिला देना ही

शाक्ती दीक्षा है। श्री गुरु का अपनी प्रसन्नता से दृष्टि अथवा स्पर्श के द्वारा एक क्षण में स्वरूपस्थित कर देना शाम्भवी दीक्षा है। इसमें गुरु की दृष्टि मात्र से शिष्य का सहस्रार प्रफुल्लित हो जाता है और वह समाधिस्थ हो जाता है। मान्त्री वा आणवी दीक्षा मन्त्र-पूजा, आसन, न्यास, ध्यान आदि से सम्पन्न होती है। इसमें गुरुदेव शिष्य को मन्त्रोपदेश करते हैं। प्रथम दो दीक्षा तत्काल सिद्धि लाभ करती है, किन्तु मान्त्री दीक्षा से उसका अनुष्ठान करने पर क्रमशः सिद्धि लाभ होता है।

दीक्षा के चार भेद—क्रियावती, वर्णमयी, कलावती व वेधमयी—भी किये गए हैं। एक पंचायतनी दीक्षा भी होती है। इसमें शक्ति, विष्णु, शिव, सूर्य और गणेश इन पांचों की पूजा होती है।

: २० :

सूर्य

संसार है या नहीं, इसका निश्चय हमें 'सूर्य' से होता है। परमात्मा की कोई श्रेष्ठ स्पष्ट विभूति या प्रतिनिधि हमें दिखाई देता है तो वह सूर्य ही है। सूर्य-सत्ता ही आस्तिभाव की प्रतिष्ठा है। यह विश्व-सत्ता को प्रत्यक्ष दिखाता है व ब्रह्म-सत्ता की झलक बताता है। अतः आत्म-सत्ता का आश्रय भी सूर्य ही है।

'सूर्य-आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'

यह सूर्य एक ओर जहां हमारी आत्मा को प्रतिबिम्बित करता है, तहां हमारे भौतिक पदार्थों का प्रभव बनता हुआ हमारे शरीर को भी बनाता है। इसके ये दो रूप 'मित्र' व 'वरुण' नाम से प्रसिद्ध हैं। मित्र रूप से वह हमारा आत्मा व वरुण रूप से शरीर का आश्रय है। या यों कहें कि मित्र-रूप से आत्म-सृष्टि का प्रवर्तक है तो वरुण-रूप से भूत-सृष्टि का जनक है। इसी मित्र-तत्व को इन्द्र भी कहते हैं। इन्द्र ज्योति के व वरुण पानी के देवता माने गए हैं। अर्थात् ज्योतिर्मय प्राण का नाम इन्द्र, आप्य प्राण का वरुण है। इन्द्र देव-सृष्टि के मूलाधार, वरुण असुर-सृष्टि के प्रवर्त्तक।

आधुनिक वैज्ञानिक व खगोलिक शोधों के अनुसार पृथ्वी पर जो कुछ चुम्ब-कीय विद्युत की शक्ति है, उसका भी सम्बन्ध सूर्य ही से है। सूर्य की किरणों में रोगों को दूर करने की भी शक्ति है। हमारा भरण-पोषण और सर्जन-उत्सर्जन एक बड़े

अंश में सूर्य पर निर्भर है। प्रसिद्ध ज्योतिषी शिपा पेरेसी का कथन है कि पृथ्वी-वासियों के लिए सूर्य परमात्मा की सर्व-श्रेष्ठ कृति है। उनके मतानुसार सूर्य एक तारा है। सूर्य कई ग्रहादि पिण्डों को प्रकाश व ताप देता है, परन्तु वह अपने ताप के लिए किसीपर निर्भर नहीं है। सूर्य हमसे ९ करोड़, ३० लाख मील दूर है। प्रकाश की गति प्रति सेकंड ९३,०००कोस है। सूर्य के प्रकाश को इतने वेग से चलते हुए पृथ्वी तक पहुंचने में ८$\frac{1}{3}$ मिनिट लगते हैं। उसका व्यास ८,६६,००० मील अर्थात् पृथ्वी के व्यास का १०८ गुना बड़ा है। जितना स्थान अकेले सूर्य ने घेर रक्खा है उतने में १२,५०,००० पृथ्वी के बराबर पिण्ड आ जायंगे। यदि हम प्रति घण्टा एक पिण्ड पृथ्वी के बराबर बनावें तो सूर्य-पिण्ड १५० वर्षों में बना पावेंगे। सूर्य की तौल २०० शंख टन है। एक सेकंड में १० शंख से अधिक कोयले जला दिये जायं तो जितनी गर्मी उनसे निकलेगी उतनी सूर्य से प्रति सेकंड निकलती है। सूर्य के तल पर १५ से २० हजार डिग्री की गर्मी है।

सूर्य का भार पृथ्वी से कम है; क्योंकि वह पृथ्वी की तरह ठोस नहीं है। १५,७५० शंख मोमबत्तिमों की रोशनी के बराबर प्रकाश सूर्य से प्रतिक्षण निकलता रहता है। यदि गर्मी के स्थान पर सूर्य रुपया देता हो, और मान लो प्रतिवर्ष १८ अरब रुपये बांटता तो पृथ्वी के हिस्से में केवल ९ रुपये पड़ते।

सूर्य के पृष्ठ पर बहुत-से काले धब्बे हैं। इनके चारों ओर प्रचण्ड प्रकाश हो रहा है और बीच में ये घोर अन्धकार के कूपों के सदृश प्रतीत होते हैं। फरवरी १८९२ में एक धब्बा ९२,००० मील लम्बा और ६२,००० मील चौड़ा पड़ा था। परन्तु प्राय: धब्बे इस परिमाण तक नहीं पहुंचा करते। इन लांछनों को देखने से पता चलता है कि सूर्य भी पृथ्वी की भांति अपने अक्ष पर घूमता है। जिस साल इन धब्बों की संख्या बढ़ जाती है उस साल पृथ्वी पर चुम्बकीय क्षोभ या तूफान होते हैं। अनेक विद्युत-सम्बन्धी दृग् विषय देख पड़ते हैं। जिस साल अधिक लांछन देख पड़ते हैं उस साल वर्षा अधिक होती है।

सूर्य पर तीन आवरण हैं। पहला वह है, जो हमको नित्य देख पड़ता है। इसको प्रकाश-मण्डल कहते हैं। सूर्य के प्रकाश का मुख्य क्षेत्र यही है। यह अत्यन्त गम्भीर व निश्चल है। इसके ऊपर दो आवरण हैं—प्रत्याकर्षक स्तर और वर्ण-मण्डल। वर्ण-मण्डल को अग्नि का समुद्र कहना चाहिए। इसमें दूर-दूर तक लपटें उठती रहती हैं। इनको शिखर कहते हैं। ये रक्त-ज्योति के पहाड़ या बादल से प्रतीत

होते हैं। १८८५ में एक शिखर १४२००० मील की ऊंचाई तक पहुंच गया था। जब इतनी ऊंचाई तक पहुंचकर ये शिखर टूटते हैं, उस समय विचित्र भैरव दृश्य होता है। 'ज्वाला व्याप्त दिगम्बरम्'-सा प्रतीत होता है। सूर्य के आस-पास दो लाख मील के घेरे तक उनकी पहुंच होती है।

इन सबके पीछे सूर्य का अन्तिम आवरण प्रभा-मण्डल है। यह अत्यन्त शान्त, निश्चल व शीतल है। इसकी ज्योति चन्द्र-ज्योति से मिलती है। यह सूर्य-मण्डल के चारों ओर लाखों कोस तक फैला हुआ है।

सूर्य है क्या ? इसका कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिलता है। किन्तु उसमें लोहा, कार्बन, तांबा, जस्ता आदि का होना सिद्ध होता है। प्रसिद्ध ज्योतिषी प्राक्टर ने कहा है—"यदि कोई वस्तु सर्वशक्तिमान् ईश्वर की शक्ति व मंगलमयता की मूर्ति व्यंजक मानी जा सकती है तो वह 'सूर्य' है।"

: २१ :

तन्मात्रा

तन्मात्राओं के स्पष्टीकरण के लिए भागवत स्कं० ३ का २६ वां अध्याय पढ़ने योग्य है। श्लोक—३३ से ५० तक का अनुवाद तो यहीं दे दिया जाता है—

"शब्द तन्मात्रा—अर्थ का प्रकाशक होना, द्रष्टा को दृश्य के संबंध का बोध कराना और आकाश का कारण होना—विद्वानों के मत में यही शब्द तन्मात्रा के लक्षण हैं।

"भूतों को अवकाश देना, सबके भीतर-बाहर वर्तमान रहना तथा प्राण, इन्द्रिय और मन का आश्रय होना—ये आकाश की वृत्तियों के लक्षण हैं।

"फिर शब्द जिसकी तन्मात्रा है, उस आकाश में काल-गति से विकार उत्पन्न होने पर स्पर्श तन्मात्रा का जन्म हुआ और उससे वायु तथा स्पर्श का ग्रहण करनेवाली त्वचा हुई। मृदुता, कठिनता, शीतलता, और उष्णता तथा वायु का कारण होना—ये स्पर्श के लक्षण हैं। (वृक्ष की शाखादि का) हिलना (तृण आदि को) इकट्ठा कर देना, सर्वत्र गतिशील होना, सर्व द्रव्य और शब्द का संचालक होना तथा समस्त इन्द्रियों को कार्य-शक्ति देना—ये वायु की क्रिया-शक्ति के लक्षण हैं।

"तदनन्तर देव की प्रेरणा से स्पर्श-तन्मात्रा-विशिष्ट वायु के विकृत होने पर

उससे रूप तन्मात्रा उत्पन्न हुई तथा उससे तेज और रूप को उपलब्ध करनेवाले नेत्र गोलक का प्रादुर्भाव हुआ। वस्तु के लम्बाई-चौड़ाई आदि आकार का बोध कराना, उसके पीत, शुक्लादि वर्ण का ज्ञान कराना, उसकी बनावट को प्रकट करना, तथा तेज की तन्मात्रा होना—ये रूप तन्मात्रा के भेद हैं। चमकना, पकाना, शीत को दूर करना, सुखाना, भूख-प्यास उत्पन्न करना, तथा उनकी (निवृत्ति के लिए) जलपान व भोजन करना–ये तेज की वृत्तियां हैं।

"फिर दैव की प्रेरणा से रूप तन्मात्रावाले तेज के विकृत होने पर उससे रस तन्मात्रा उत्पन्न हुई और और उससे रस तथा जल को ग्रहण करनेवाली जिह्वा की उत्पत्ति हुई। रस अपने शुद्ध-स्वरूप में एक ही है, किन्तु अन्य भौतिक पदार्थों के संयोग से वह कसैला, मधुर, तीखा, कड़ुआ, खट्टा, और खारा आदि कई प्रकार का होता है। गीला करना, मृत्तिका आदि को पिण्डाकार कर देना, तृप्त करना, जीवित रखना, प्यास मिटाना, पदार्थों को तरल कर देना, ताप की निवृत्ति करना और जलाशयों में से निकाल लेने पर भी फिर बढ़ जाना—ये जल के कार्य हैं।

"फिर दैव के प्रति रस-स्वरूप जल के विकृत होने पर उससे गन्ध तन्मात्रा हुई और उससे पृथ्वी तथा गन्ध को ग्रहण करनेवाली नासिका प्रकट हुई। गन्ध एक ही है तथापि विभिन्न पदार्थों के संसर्ग से वह मिश्रगन्ध, दुर्गन्ध, सुगन्ध, शान्त, उग्र और आमल आदि अनेक प्रकार का है। प्रतिमा आदि रूप से सगुण ब्रह्म की भावना का आश्रय होना, दूसरे तत्वों की अपेक्षा किये बिना अपने आधार से स्थित रहना, अन्य जल आदि को धारण करना, आकाशादि का अवच्छेदक होना तथा सम्पूर्ण वस्तुओं के गुणों को प्रकट करना—ये पृथ्वी के कार्य-रूप लक्षण हैं।

"आकाशादि कारण-तत्वों के गुण भी पृथ्वी आदि कार्य-तत्वों में अनुगत रूप से मिलते हैं, इसलिए समस्त भूतों के शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये केवल पृथ्वी में ही पाये जाते हैं। जब मह-त्तत्व, अहंकार और पंचभूत—ये सातों तत्व अलग-अलग रहने के कारण सृष्टि-रचना में असमर्थ रहे तो जगत् के आदि कारण श्री-नारायण ने काल, कर्म, अदृष्ट और सत्वादि गुणों के सहित उनमें प्रवेश किया।"

●

'मंडल' द्वारा प्रकाशित प्रमुख साहित्य

पुस्तक	लेखक	मूल्य
आत्मकथा	(गांधीजी)	४·००
आत्मकथा (संक्षिप्त)	,,	१·००
प्रार्थना-प्रवचन (२ भाग)	,,	५·५०
गीता माता	,,	४·००
पन्द्रह अगस्त के बाद	,,	२·००
धर्मनीति	,,	२·००
द० अफ्रीका का सत्याग्रह	,,	३·५०
मेरे समकालीन	,,	५·००
आत्म-संयम	,,	३·००
गीता-बोध	,,	०·५०
अनासक्तियोग	,,	१·५०
ग्राम-सेवा	,,	०·३७
मंगल-प्रभात	,,	०.३७
सर्वोदय	,,	०·३७
नीति-धर्म	,,	०·३७
आश्रमवासियों से	,,	०·४०
हमारी मांग	,,	१·००
एक सत्यवीर की कथा	,,	०·२५
हिन्द-स्वराज्य	,,	०·७५
अनीति की राह पर	,,	१·००
बापू की सीख	,,	०·५०
गांधी-शिक्षा (तीन भाग)	,,	०·६२
आज का विचार (दो भाग)		०·७४
ब्रह्मचर्य (दो भाग)	,,	१·७५
गांधीजी ने कहा था (६ भाग)		२·७०
शांति-यात्रा	(विनोबा)	१·५०
विनोबा के विचार (२ भाग)		३·००
जीवन और शिक्षण	,,	२·००
स्थितप्रज्ञ-दर्शन	,,	१·००
ईशावास्यवृत्ति	,,	०·७५
ईशावास्योपनिषद्	,,	०·१२
सर्वोदय-विचार	,,	१·१२
स्वराज्य-शास्त्र	(विनोबा)	०·५०
सर्वोदय-संदेश	,,	१·५०
गांधीजी को श्रद्धांजलि	,,	०·३७
भूदान-यज्ञ	,,	०·२५
राजघाट की संनिधि में	,,	०·६२
विचार-पोथी	,,	१·००
सर्वोदय का घोषणा-पत्र	,,	०·२५
उपनिषदों का अध्ययन	,,	१·००
कुछ पुरानी चिट्ठियां	(नेहरू)	१०·००
इतिहास के महापुरुष	,,	३·००
मेरी कहानी संपूर्ण	,,	८·००
,, संक्षिप्त	,,	२·५०
हिन्दुस्तान की समस्याएं	,,	२·५०
राष्ट्रपिता	,,	२·००
राजनीति से दूर	,,	२·००
विश्व-इतिहास की झलक (सं०)		६·००
हिंदुस्तान की कहानी	,,	२·५०
गांधीजी की देन	(राजेंद्रप्रसाद)	१·५०
आत्मकथा	,,	८·००
राजाजी की लघु कथाएं	(राजाजी)	१·५०
महाभारत-कथा	,,	५·००
कुब्जा-सुंदरी	,,	२·२५
शिशु-पालन	,,	०·५०
दशरथनन्दन श्रीराम	,,	५·००
मैं भूल नहीं सकता		२·५०
बापू की कारावास-कहानी		७·५०
गांधी की कहानी	(लुई फिशर)	१·५०
इंग्लैंड में गांधीजी		१·२५
बा, बापू और भाई		०·५०
गांधी-विचार-दोहन		१·५०
संत-सुधासार संक्षिप्त		६·००
श्रद्धाकण		०·७५

अयोध्याकांड	१·००
भागवत-धर्म	५·५०
मानवता के झरने	१·५०
बापू	२·००
रूप और स्वरूप	०·७५
डायरी के पन्ने	१·००
ध्रुवोपाख्यान	०·३०
स्त्री और पुरुष (टॉल्स्टाय)	१·००
मेरी मुक्ति की कहानी ,,	१·५०
प्रेम में भगवान ,,	२·५०
जीवन-साधना ,,	१·२५
कलवार की करतूत ,,	०·३५
हमारे जमाने की गुलामी ,,	१·००
बुराई कैसे मिटे ? ,,	१·००
बालकों का विवेक ,,	०·५०
हम करें क्या ? ,,	४·००
धर्म और सदाचार ,,	१·२५
अंधेरे में उजाला ,,	१·५०
ईसा की सिखावन ,,	१·००
सामाजिक कुरीतियां	२.५०
कल्पवृक्ष	२·५०
साहित्य और जीवन	२·००
कब्ज	१·००
हिमालय की गोद में	२·००
कहावतों की कहानियां	२·२५
जीवन-संदेश	१·२५
अशोक के फूल	३·००
कांग्रेस का इतिहास (संक्षिप्त)	६·००
सप्तदशी	२·००
रीढ़ की हड्डी	१·५०
अमिट रेखाएं	३·५०
तामिल-वेद	१·५०
हमारे गांव की कहानी	१·५०
खादी द्वारा ग्राम-विकास	०·७५
साग-भाजी की खेती	३·५०
पशुओं का इलाज	०·७५

रामतीर्थ-संदेश (३ भाग)	१·१२
रोटी का सवाल (क्रोपाटकिन)	३·००
नवयुवकों से दो बातें ,,	०·५०
पुरुषार्थ	६·००
काश्मीर पर हमला	२·००
शिष्टाचार	०·५०
तट के बन्धन	२·५०
नवीन यात्रा	२·५०
तूफान और ज्योति	२·५०
भारतीय संस्कृति	३·५०
आधुनिक भारत	५·००
फलों की खेती	३·००
मैं तंदुरुस्त हूं या बीमार ?	०·५०
गांधीजी की छत्रछाया में	२·५०
भागवत-कथा	३·५०
जय अमरनाथ	१·५०
हमारी लोक-कथाएं	१·५०
संस्कृत-साहित्य-सौरभ (३६ पुस्तकें) प्रत्येक	०·४०
समाज-विकास-माला (१५१ पुस्तकें) प्रत्येक	०·३७
कृषि-ज्ञान-कोष	४·००
प्रकाश की बातें	१·५०
ध्वनि की लहरें	१·५०
गरमी की कहानी	१·५०
धरती और आकाश	१·५०
समुद्र के जीव-जंतु	१·५०
रूस में छियालीस दिन	३·००
मैं इनका ऋणी हूं	२·२५
सुभाषित-सप्तशती	२·५०
शारदीया	१·५०
आंसू और मुस्कान	१.००
अमृत की बूंदें	१·००
प्राकृतिक जीवन की ओर	१·५०
कोई शिकायत नहीं	२·५०